भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का उदय और अस्त

[भाग १ : उदय]

भारत में ब्रिटिश साम्राज्य
का
उदय और अस्त

[भाग १ : उदय]

लेखक
इन्द्र विद्यावाचस्पति

१९५६
आत्माराम एण्ड संस
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
काश्मीरी गेट
दिल्ली-६

प्रकाशक
रामलाल पुरी
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

मूल्य सात रुपये

मुद्रक
श्यामकुमार गर्ग
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस
क्वीन्सवे, दिल्ली

भारत के सुपूतों के बलिदानों से
पूर्ण स्वाधीनता-संग्राम
की
यह सच्ची कहानी
स्वतन्त्र भारत
के
प्रथम राष्ट्रपति
कर्मयोगी डॉ० राजेन्द्रप्रसाद
की सेवा में
समर्पित

भूमिका

१

योरप के प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता हेन्री पाइरेन ने इतिहास की यह व्याख्या की है—

"History is the story of deeds and achievements of men living in societies."

—समाज बनाकर रहने वाले मनुष्यों के कार्यों और कारनामों की कहानी का नाम इतिहास है।

मि० जी० एम० ट्रैविलियन की सम्मति है कि इतिहास वस्तुतः एक कहानी है, और इतिहास-लेखक का मुख्य काम कहानी कहना है।

हालैण्ड के इतिहास-लेखक मि० जिंगा ने लिखा है कि 'इतिहास' इस शब्द का सबसे अधिक प्रचलित अर्थ है, 'जो कुछ हो चुका है, उसकी कहानी'। इतिहास एक कहानी है, परन्तु ऐसी कहानी नहीं कि जो कल्पना पर आश्रित हो। इतिहास उस कहानी को कहते हैं, जो सत्य पर आश्रित हो। असत्य या अर्ध-सत्य पर आश्रित कहानी कोरी कहानी कहलायेगी, इतिहास नहीं।

२

सर्वथा सत्य पर आश्रित कहानी का नाम इतिहास मान लें तो हमारे लिए यह जान लेना अत्यन्त सरल है कि इतिहास-लेखक का क्या कर्त्तव्य है? इतिहास-लेखक का पहला कर्त्तव्य यह है कि वह अपनी कहानी का ऐसा विषय चुने जिससे वह भली प्रकार परिचित हो। यदि उसे यह भरोसा न हो कि वह उस विषय से भली प्रकार परिचित है, तो उसका लेखनी उठाना दुःसाहस मात्र है।

विषय का चुनाव करने के पश्चात् उसका कर्त्तव्य हो जाता है कि वह जो कहानी लिखना चाहता है, उसकी घटनाओं के सम्बन्ध में यथासम्भव पूरी जानकारी प्राप्त करे, और बीती हुई घटनाओं के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करने के जितने साधन सम्भव हों, उन्हें काम में लाकर अपने अंकनीय चित्र को सच्चा बनाने का यत्न कर ले।

३

इस प्रकार इतिहास नाम की कहानी लिखने के लिए साधन-सम्पन्न हो जाने के पश्चात् लेखक के सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वह किस लेखशैली का अनुकरण करे। कुछ विद्वानों का मत है कि इतिहास एक विज्ञान (साइंस) है, इस कारण उसकी भाषा विज्ञान की पुस्तकों की भाँति शुष्क और अभिधाप्रधान रहनी चाहिए। उनका मत है कि यदि इतिहास की भाषा को साहित्यिक रूप दिया जायगा, तो उसकी सत्यता में कमी आ

जायगी। यदि उनके मत के अनुसार इतिहास लिखा जाय तो वह तिथिवार घटनाओंका ऐसा विवरण हो जायगा जिसके बीच-बीच कोष्ठकों और नीचे फुटनोटों की भरमार होगी। जो विद्वान् इतिहास को केवल एक विज्ञान मानते हैं, उनके लिए विद्यालय के छात्रों के काम आने वाली पाठ्य-पुस्तकों की कुजी को ही इतिहास की आदर्श पुस्तक कह सकते हैं।

अत्यन्त प्राचीन काल से, इतिहास के प्रसिद्ध लेखक, व्यवहार द्वारा यह स्वीकार करते रहे हैं कि जहाँ इतिहास का आधार सर्वथा सत्य होना चाहिए वहाँ उसकी लेख-शैली ऐसी होनी चाहिए कि पढने वाले के लिए वह कथा बन जाय। कथा तो हो, परन्तु हो सत्य

४

इतिहास की भाषा के सम्बन्ध में भी दो मत हैं। कुछ इतिहास-लेखकों का मत है कि इतिहास एक विज्ञान है, इस कारण उसकी भाषा सर्वथा शुष्क होनी चाहिए। जैसे गणित में बतलाया जाता है कि दो और दो चार, उसी प्रकार इतिहास मे बतलाया जाना चाहिए कि क्लाइव अपने आप चाकू मारकर मर गया, और झाँसी की रानी एक सिपाही की तलवार से मारी गई, बस। भाषा का अधिक प्रयोग करने की आवश्यकता नही। ऐसा मत रखने वाले विद्वानों की इंगलैण्ड में बहुतायत है। लार्ड क्रौफोर्ड ने १९३९ मे इंगलैण्ड की ऐतिहासिक समिति (Historical Association) के सामने भाषण देते हुए कहा था—

"Many of our historians seem to fear that attention to prose, or rather the effort to make it attractive, must detract from the merit of history, in short, that history is a picture which require no frame, a precious stone which needs no setting."

कुछ इतिहासाचार्य मानते हैं कि इतिहास लिखने मे पद्य पर ध्यान देने से, या उसे रोचक बनाने का यत्न करने से इतिहास का मूल्य घट जाता है। सक्षेप मे उनका मत यह प्रतीत होता है कि इतिहास एक ऐसा चित्र है, जिसे फ्रेम की आवश्यकता नही। वह ऐसा हीरा है, जिसे जड़ने के लिए अँगूठी नहीं चाहिए।

इतिहास की लेखशैली कैसी हो इस प्रश्न का उत्तर इस बड़े प्रश्न के उत्तर पर अवलम्बित है कि इतिहास का लिखना एक विज्ञान है या कला? वस्तुत: इतिहास के दो भाग हैं, पहला अन्वेषण, अर्थात् इतिहास की विश्वासयोग्य सामग्री एकत्र करने का काम। वह विज्ञान की सीमा मे आता है, परन्तु उसका लेखबद्ध करना लेखन-कला का एक भाग है। इस विषय में अपनी "History, Its purpose and method" नामक पुस्तक में जी० जे० टैनियर ने लिखा है—

"We know, however, that history, though not a science, is a discipline which approaches its subject matter in the same spirit as science. It has the same way of looking upon the gradual acquisition of accurate knowledge; like science, it seeks knowledge for the sake of action, and tests the value of its knowledge in the process of acting. If art has any thing to do with history, it will be when the stage is reached at which the histo-

rian communicates his results. Here is difference with science. When the scientist takes to writing, he is drawing up a report of what he has done, and of the conclusion he has reached about the theoratical implications of his achievements... ... In history the writing is the essential operation. It is the ultimate test of the value of the trace-event inference made by the historian at an earlier stage. In these circumstances it is reasonable that the historian, in whose work ethical standards and intellectual integrity play such a significant part, shall do his utmost."

"हम जानते हैं कि इतिहास यद्यपि विज्ञान नहीं है, तथापि वह एक ऐसा अनुशासन है जिसका प्रयोग विज्ञान की भावना से ही करना चाहिए। ठीक परिणाम पर पहुँचने का उसका वही ढग है जो विज्ञान का है। विज्ञान की भाँति वह ज्ञान की प्राप्ति इसलिए करता है कि क्रिया में सहायक हो सके, और वह अपने ज्ञान की परीक्षा क्रिया के फलो से करता है। इतिहास-लेखक को कला का सहायता उस समय लेनी पड़ती है जब वह अपनी खोज के परिणामों को औरो के सामने रखने लगता है। विज्ञान से इतिहास का यही भेद है। जब एक विज्ञानवेत्ता अपने विचारो को लेखबद्ध करने लगता है तब वह अपने अन्वेषणो और उनके सम्भावित परिणामों का विवरण तैयार करता है। वह यह भी लिखता है कि उसने जो भविष्यवाणियाँ की थी, वह सच्ची सिद्ध हुई या नहीं, और क्यो ? वह लिखना तब प्रारम्भ करता है, जब उसका पहला कार्य पूरा हो जाता है, परन्तु इतिहास में 'लिखना' उसका अनिवार्य अंग है। इतिहास का लेखक किसी समाज की भूतकाल की अनुभूतियों को लेखबद्ध करके ही उन पर ध्यान को केन्द्रित करने के कर्त्तव्य का पालन कर सकता है। परन्तु कहानी लिखने के लिए कुछ और भी चाहिए। इतिहास के लेखक ने लिखने से पूर्व घटनाओं की जाँच से जो परिणाम निकाले थे, वे सत्य की कसौटी पर कसे जाते हैं। ऐसी दशा में, यह उचित है कि इतिहास का लेखक लिखने के समय, यथासम्भव, अधिक से अधिक सावधानता से काम ले, और अपने लेख को शक्ति भर सब गुणो से युक्त बनाए, क्योंकि आदर्श की उच्चता और मानसिक सचाई उसके कार्य के आवश्यक अंग है।"

इतिहास शब्द 'इति, ह, और आस' इन तीन शब्दो से मिलकर बना है, जिनका 'निश्चय से ऐसा था' यह शब्दार्थ है। शब्दार्थ पर ध्यान देने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि बीती हुई घटनाओं के सच्चे वृत्तान्त का नाम इतिहास है। सच्चा वृत्तान्त लिखने से पहले यह आवश्यक है कि ईमानदारी से छानबीन करके इतिहास का विद्यार्थी घटना के यथार्थ रूप को जान ले। इतिहास का यह उद्योग पर्व 'विज्ञान' का अंग कहलायेगा, क्योंकि उसमें वैज्ञानिक विधियों से काम लेकर, असत्य को सत्य से और गौण को मुख्य से पृथक् करना होगा।

जब इतिहास के लेखक ने अपनी सारी शक्ति लगाकर घटनाओं के रूप और क्रम को निश्चित कर लिया तब वह उन्हें लेखबद्ध करने बैठता है। उस समय वह कलाकार बन जाता है। उसे घटनाओं का वृत्तान्त ऐसी भाषा में लिखना चाहिए, जो जहाँ असत्य या अत्युक्ति के दोष से शून्य हो, वहाँ इतना परिष्कृत अवश्य हो कि पाठक न केवल वर्णनीय

घटना को हस्तामलकवत् देख सकें, साथ ही उसके कार्य-कारण-भाव को भी आसानी से समझ सकें। उस समय इतिहास का लेखक एक कलाकार बन जाता है।

५

इतिहास के रूप और इतिहास-लेखक के कर्त्तव्य के सम्बन्ध में यह थोड़े से प्रारम्भिक शब्द लिखने का उद्देश्य यह है कि पाठक पुस्तक पढ़ने से पूर्व, मेरी इतिहास लिखने की शैली से परिचित हो जायँ, जिससे मेरा और उनका मानसिक एकीभाव हो सके। लगभग २२ " पूर्व जब मेरी 'मुग़ल साम्राज्य का पतन और उसके कारण' नाम की इतिहास सम्बन्धी पुस्तक प्रकाशित हुई थी, तब उसकी आलोचना करते हुए कई आलोचकों ने यह आपत्ति उठाई थी कि पुस्तक की भाषा वैज्ञानिक न होकर साहित्यिक है। यदि इतिहास की घटनाओं के संग्रह और छानबीन में वैज्ञानिक प्रक्रिया से कार्य लिया गया हो तो उसके लेखबद्ध करने के समय साहित्यिक या परिष्कृत भाषा का प्रयोग गुण है, दोष नहीं। मैं जानता हूँ कि मेरी भाषा न बहुत साहित्यिक है और न परिष्कृत तथापि मेरा प्रयत्न यही रहा है कि मैं अपने भावों को यथासम्भव स्पष्ट और परिष्कृत ढंग पर पाठकों के सामने रख सकूँ।

६

भारत में ब्रिटिश काल के इतिहास की सामग्री का संग्रह करने में मैंने लगभग १० वर्षों तक प्रयत्न किया है। पुस्तकें, पुस्तिकायें, लेख तथा पत्र-व्यवहार जो कुछ भी प्राप्त हो सका है, उनसे उपयोग लिया है। जहाँ तक सम्भव हुआ है, अंग्रेज़ों के दृष्टिकोण को अंग्रेज़ लेखकों के तत्कालीन ग्रन्थों से जानने का यत्न किया है। इस प्रसंग में कई अंग्रेज़ राजनीतिक नेताओं और इतिहास-लेखकों की प्रशंसा में कुछ शब्द लिखना आवश्यक प्रतीत होता है। अंग्रेजी शासन-काल के प्रारम्भिक और सन् सत्तावन की क्रान्ति के समय की ऐतिहासिक घटनाओं का अध्ययन करते समय यह देखकर आश्चर्य होता है कि अंग्रेज़ शासकों अथवा योद्धाओं के निन्दायोग्य कार्यों का सच्चा वृत्तान्त यदि कहीं उपलब्ध हो सकता है तो वह अंग्रेज वक्ताओं के भाषणों और अंग्रेज लेखकों के लेखों में। वारन हेस्टिंग्ज़ के विरुद्ध एडमण्ड बर्क के भाषणों को पढ़कर एक भारतवासी का ख़ून खौल उठता है। प्रतीत होने लगता है कि हेस्टिंग्ज़ के अत्याचारों की कड़वाहट को शायद किसी भारतवासी ने भी उतनी तीव्रता से अनुभव न किया हो, जितनी से उस तेजस्वी अंग्रेज ने किया था। क्रान्ति के जो वृत्तान्त उस समय के अंग्रेज़ों ने लिखे हैं, उनमें भारतवासियों के विरुद्ध बहुत सा विष उगला गया है, परन्तु इतिहास का लेखक ढाल के एक ही पार्श्व को नहीं देख सकता। लक्ष्मीबाई की असाधारण वीरता, तात्या टोपे की अद्भुत चतुरता, और कुमारसिंह की युद्ध-कुशलता की खुले दिल से प्रशंसा पढ़नी हो तो वह अंग्रेज़ लेखकों की पुस्तकों में मिलेगी। अंग्रेज़ सिपाहियों तथा सेनापतियों ने क्रोध तथा बदले की भावना से प्रेरित होकर भारत की निर्दोष प्रजा पर जो पाशविक अत्याचार किये उनकी कहानी भी आपको अंग्रेज़ लेखकों के लेखों से ही प्राप्त होगी। अंग्रेज़ों में अनेक दोष थे, और हैं, परन्तु पक्षपातहीन दृष्टि से देखें तो यह स्वीकार

करना पड़ता है कि अनेक अंग्रेजों में विरोधी के पक्ष को सहानुभूति से देखने और पक्षपात से अलग होकर विचार करने का प्रयत्न करने की जो स्वाभाविक प्रवृत्ति विद्यमान है, उसी ने बीसियों उतार-चढ़ाव होने के बाद भी इंग्लैण्ड के गौरव को सुरक्षित रखा है। ब्रिटिश काल के भारतीय लेखक का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह उन अंग्रेजों के प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करे, जिनके भाषणों और लेखों से उसे मूर्ति के दोनों पार्श्वों के देखन में सहायता मिलती है।

७

पुस्तक के इस प्रथम भाग में भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के उदय की कहानी सुनाई गई ह। इतिहास का कोई भी लेखक, चाहे वह कितनी ही मनोवैज्ञानिक मनोवृत्ति का क्यों न हो, लिखते समय अपने व्यक्तित्व से सर्वथा अलग नहीं हो सकता। व्यक्ति से सम्बद्ध देश, धर्म, संस्कृति आदि जितनी वस्तुयें हैं, वह उनसे ऊपर उठने का यत्न करने पर भी उनसे पृथक् नहीं हो सकता। इस कारण मैं यह दावा नहीं करना चाहता कि भारत के इस भाग्यपूर्ण काल के इतिहास को लिखते हुए मैंने अपने को भारतवासी समझना छोड़ दिया था। जिस समय वह घटनायें हुईं जिनका इस इतिहास में वर्णन है, उस समय के भारतवासियों पर उनकी जैसी प्रतिक्रिया हुई होगी, स्वभावतः उन घटनाओं का वर्णन करते हुए मुझ पर भी वैसी मानसिक प्रतिक्रियायें हुई होंगी। फलतः मैं यह नहीं कह सकता कि यह इतिहास सर्वथा तटस्थ होकर लिखा गया है, तथापि अपने पाठकों को यह विश्वास दिला सकता हूँ, कि मैंने प्रत्येकह प्रश्न के दोनों पहलुओं पर दृष्टि डालने, और उन्हें लेखबद्ध करने का यत्न किया है। य प्रणाली प्रचलित है कि प्रत्येक पुस्तक के अन्त में उन ग्रन्थों या लेखों की सूची दी जाती है, जिनके आधार पर पुस्तक लिखी गई है। यह कार्य कठिन भी है और सरल भी। कठिन तो इसलिए है कि कोई लेखक बड़ी आयु में इतने बड़े ग्रन्थ में जो कुछ लिखता है, वह प्रायः उसके जीवन भर के अध्ययन और अनुभव का परिणाम होता है। उस सारे अध्ययन और अनुभव की सूची तैयार करना कठिन ही नहीं, असम्भव है। यह कार्य आसान तब हो जाता है, जब प्रतिपाद्य विषय पर कुछेक प्रमुख पुस्तकों की सूची देकर सन्तोष कर लिया जाय। मैंने पुस्तक के अन्त में ऐसी सूची देना आवश्यक नहीं समझा, क्योंकि जिस स्थल पर मैंने किसी ग्रन्थ का प्रमाण देना आवश्यक समझा है, वहीं उसका नाम लिख दिया है, या उद्धरण दे दिया है। जो पाठक इस विषय में मेरे निर्दिष्ट ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहें, वह पुस्तकों की बड़ी दूकान की पुस्तक सूची, यूनिवर्सिटी के बी० ए०, एम० ए० के कोर्स तथा पुस्तकालयों के भारतीय इतिहास विषयक सूचियों से लाभ उठा सकते हैं। मैंने जो कुछ लिखा है, वह उन व्यक्त तथा अव्यक्त जानकारियों का परिणाम है, जो अपने सम्पूर्ण अनुशीलनमय जीवन में एकत्र की गई हैं। इतना कह सकता हूँ कि उनमें से कोई भी निराधार नहीं है।

इन्द्र विद्यावाचस्पति

विषय-क्रम

भारत में ब्रिटिश साम्राज्य

का

उदय और अस्त

पहला अध्याय

अंग्रेज़ व्यापारी कैसे आये ?

यह १५७८ की घटना है । इंग्लैण्ड का साहसी सामुद्रिक नेता सर फ्रेंसिस ड्रेक अपनी डकैती-यात्रा के प्रसंग में समुद्र में घूम रहा था कि पुर्तगाल का एक जहाज़ उसके रास्ते में पड़ गया । उस समय के यूरोपियन नाविक विरोधी देशों के जहाजों को लूटना बुरा नहीं मानते थे । समुद्री डाकू हीरो माने जाकर पूजे जाते थे । सर फ्रेंसिस भी अपने समय का एक ऐसा ही हीरो था । उसने पुर्तगाल के जहाज़ को लूट लिया । लूट के सामान में उसे कुछ नक़्शे मिले, जिनसे उसे 'केप ऑव गुड होप' के पास से हो कर भारत तक पहुँचने के मार्ग का पता चल गया ।

भारत का नाम यूरोप में अतुल धन-सम्पत्ति के लिए विख्यात था । उधर से आने वाले आततायियों की लूट, और मुग़ल बादशाहों के दरबार की भड़कीली शान की कहानियाँ मध्य एशिया से होकर यूरोप में पहुँचती रहती थीं, जिससे यूरोप के लोग भारत तक पहुँचने और उसकी अनहद दौलत के हिस्सेदार बनने के लिए लालायित रहते थे । यूरोप के जिस देश को सोने के अंडे देने वाली चिड़िया तक पहुँचने में सबसे पहले सफलता हुई वह पुर्तगाल था । वास्को-डि-गामा 'केप ऑव गुड होप' के पास से होता हुआ १४९८ में कालीकट पहुँचने में सफल हो गया । उस समय से लेकर लगभग १०० वर्ष तक भारत का क्षेत्र पुर्तगाल निवासियों के लिए



वास्को-डि-गामा

खुला रहा। पुर्तगाल के जिस वायसराय ने साम्राज्य की कल्पना की वह अल्बुकर्क था। उस देश के व्यापारियों ने खूब धन कमाया। उनकी विभूति से यूरोप के अन्य देशों में भी भारत तक पहुँचने की अभिलाषा बढ़ गई, परन्तु उन दिनों भूमण्डल का बड़ा भाग पानी की ओट में छुपा हुआ था, इंग्लैण्ड के जहाज़ी कप्तान बहुत यत्न करके भी चिरकाल तक भारत पहुँचने में समर्थ न हुए। अन्त में सर फ्रेंसिस ड्रेक के हाथ भारत के मार्ग का मानचित्र लग गया, जिसने अंग्रेज़ों के लिए भारत का द्वार खोल दिया।



अल्बुकर्क

अंग्रेज़ों का प्रवेश

पुर्तगाल के व्यापारी तब तक भारत में निर्बल हो चुके थे। एलफैंजो डि सौजा ने १५४५ में लिखा था कि 'पुर्तगाल के निवासी जब भारत में घुसे तो उनके एक हाथ में तलवार और दूसरे हाथ में क्रूसिफिक्स था। जब सोने का ढेर उनके सामने आया तो उन्होंने क्रूसिफिक्स को ताक में रखकर जेबों में सोना भरना आरम्भ कर दिया। परन्तु सोना अधिक था, एक हाथ में न आ सका, इस कारण उन्होंने तलवार भी एक ओर रख दी। पुर्तगाल के निवासी इस दशा में थे, जब यूरोप के अन्य निवासी भारत आ पहुँचे, और हावी हो गये।' यह संक्षेप में पुर्तगाल के भारत-साम्राज्य की कहानी है। आज केवल गोआ पुर्तगाल की उन प्रारम्भिक हलचलों का स्मारक है। भारत का केवल वही शहर अब तक (१९५४ तक) पुर्तगाल के अधिकार में है।

भारत का रास्ता मिल जाने पर, इंग्लैण्ड के कुछ साहसिक लोगों ने, भारत से व्यापार करके धन कमाने के निमित्त से एक कम्पनी संगठित की, जिसका प्रारम्भिक नाम था 'दि गवर्नर एण्ड कम्पनी ऑव मर्चेण्ट्स ऑव लन्दन ट्रेडिंग इन टू दि ईस्ट इण्डीज़'। उस कम्पनी की ओर से ब्रिटेन की रानी एलिज़ाबेथ की सेवा में प्रार्थना की गई कि उसे भारत से व्यापार करने का आज्ञापत्र (चार्टर) दिया जाय। रानी एलिज़ाबेथ ने जो चार्टर दिया, वह 'साहसिकों की मण्डली' के नाम पर था। यहाँ साहसिक शब्द का अभिप्राय समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि उस समय की अंग्रेज़ी भाषा में दो पारिभाषिक शब्द परस्पर विरोधी समझे जाते थे। वे शब्द थे भद्रजन (Gentleman) और साहसिक (Adventurer)। इन दोनों के आचारशास्त्र अलग-अलग थे। भद्रजनों के आचारशास्त्र का मुख्य सिद्धान्त था 'भलमनसाहत', और साहसिक लोगों की विशेषता थी 'सफलता के लिए भले-बुरे सब उपायों को काम में लाना'। साहसिकों के धर्म-शास्त्र में डकैती या क्रूरता का बहुत ऊँचा

स्थान था। तभी तो उस समय के नाविक डाकुओं को इंग्लैण्ड में देवता की भाँति पूजा जाता था। सफल साहस ही साहसिक श्रेणी के लोगों का विशेष गुण था। अगले इतिहास को समझने के लिए यह बात विशेषरूप से ध्यान मे रखनी चाहिए कि इंग्लैण्ड के जो लोग भारत से व्यापार करने के लिए पहले-पहल आये वे साहसिक श्रेणी के थे, भद्रजन श्रेणी के नहीं। कम्पनी के डायरेक्टरों ने प्रारम्भ में ही घोषणा कर दी थी कि 'कोई भद्रजन (Gentleman) कम्पनी के किसी कार्य पर नियुक्त नहीं किया जायगा। १६०० में कम्पनी को पहला चार्टर (अधिकार पत्र) प्राप्त हुआ था, तब से १९४७ तक के ३४७ वर्षों में भारत में लाखों अंग्रेज़ आये होगे। यह तो नहीं कह सकते कि उनमें से कोई भद्रजन था ही नहीं, परन्तु यह कहे बिना नहीं रहा जाता कि यहाँ का सरकारी वातावरण पहले से ही ऐसा बन गया कि इंग्लैण्ड से जो भूला-भटका भद्रजन यहाँ आया, वह भी उसी रंग में रंगा गया। भारत में पाँव रखते ही वह हीरो (साहसिक) बन गया।

व्यापार का विस्तार

चार्टर मिलने के ८ वर्ष पश्चात् हैक्टर नामक जहाज़ का कप्तान हौकिन्स अपने जहाज द्वारा सूरत पहुँचा। वह भारत में सरकारी हैसियत से आने वाला पहला अंग्रेज़ था। उसके पास इंग्लैण्ड के राजा प्रथम जेम्स का मुगल बादशाह जहांगीर के नाम एक पत्र था। कप्तान हौकिन्स आगरे जाकर बादशाह जहांगीर से मिला। इंग्लैण्ड के बादशाह का पत्र पाकर जहांगीर बहुत खुश हुआ, जिससे अंग्रेज़ों को सूरत में डेरा जमाने और व्यापार करने की अनुमति आसानी से ही मिल गई, परन्तु जब हौकिन्स ने कुछ विशेष रियायतें प्राप्त करने का प्रयत्न आरम्भ किया तो कई वजीरों और दरबारियों ने भाँति-भाँति के अड़ंगे लगा दिये। हौकिन्स लगभग ढाई वर्ष तक आगरे में रहा, परन्तु सूरत में बसकर व्यापार करने के अतिरिक्त कोई विशेष अधिकार प्राप्त न कर सका।

हम देख आये है कि भारत में सबसे प्रथम आने वाले यूरोपियन व्यापारी पुर्तगाल के निवासी थे। उनके पश्चात् हालैण्ड के लोग आये, और फिर फ्रांस के व्यापारी पहुँचे। इंग्लैण्ड के व्यापारियों को सूरत में बसने का अधिकार कैसे मिला, यह हम देख ही चुके हैं। हम यदि भारत में यूरोपियन जाति के प्रभुत्व के समय को खण्डों में बाँटना चाहें तो हम कह सकते हैं कि पहला खण्ड १७वीं शताब्दी भर रहा, जिसकी विशेषता यह थी कि पुर्तगाल, हालैण्ड और इग्लैण्ड भारत के व्यापार में प्रभुत्व पाने के लिए परस्पर संघर्ष करते रहे। उस खण्ड के भाग ये हैं—(१) पुर्तगालवासियों और हालैण्डवासियों (डचों) में संघर्ष, (२) पुर्तगालवासियों और अंग्रेज़ों में संघर्ष, और (३) डच लोगों और अंग्रेज़ों में संघर्ष। इस ग्रन्थ का उद्देश्य मुख्यरूप से भारतवासियों पर अंग्रेज़ी प्रभुत्व के उत्थान और पतन का इतिहास सुनाना है, इस कारण हम यूरोपियन जातियों के परस्पर संघर्ष की उलझनों में नहीं पड़ेंगे। हमारे लक्ष्य की पूर्ति के लिए इतना बता देना ही पर्याप्त है कि सत्रहवीं शताब्दी के ५० वर्षों में भारत के प्रभाव क्षेत्र में पुर्तगाल का स्थान हालैण्ड ने ले लिया। इसी बीच में इंग्लैण्ड और पुर्तगाल का विरोध आरम्भ हो गया, जिसमें इंग्लैण्ड ने पुर्तगाल को पछाड़ दिया। हालैण्ड और इंग्लैण्ड—दोनों

देशों से पछाड़ खाकर पुर्तगाल १७वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में ही भारत के प्रभुत्व की घुड़दौड़ में से निकल गया।

हालैण्ड भी अधिक समय तक मैदान में न टिक सका। डच लोग १६वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में भारत में आ गये। यहाँ आकर उन्होंने बहुत से अड्डे स्थापित किये, और पुष्कल धन कमाया। तब तक तो उनका कारोबार भली प्रकार चलता रहा जब तक वह राजनीतिक उलझनों में नहीं पड़े, परन्तु जब प्लासी के युद्ध के पश्चात् अंग्रेज़ों की राजनीतिक शक्ति को बढ़ता देखकर, उनके अनुकरण में डच लोगों ने भी विजय के मार्ग में क़दम रखना चाहा, तभी अंग्रेज़ों से टकरा गये, और एक ही टक्कर में समाप्त हो गये, भारत में हालैण्ड का कोई विजित प्रदेश न रहा।

फ्रांस के साहसिक लोग यूरोप के अन्य देशों के पश्चात् भारत में पहुँचे, परन्तु अपनी तीव्र प्रतिभा के बल से वह शीघ्र ही विजेताओं की पहली पंक्ति में खड़े हो गये। फ्रांसीसियों ने १६६८ में अपना पहला कारखाना स्थापित किया। उसके पश्चात् वह निरन्तर अपने प्रभाव के दायरे को बढ़ाते गये, यहाँ तक कि १७४२ में हम उनके सेनापति डूप्ले को, भारतवर्ष के राजाओं और नवाबों को मोहरे बनाकर राजनीतिक शतरंज खेलता देखते हैं। उन्हीं दिनों इंग्लैण्ड की कम्पनी का प्रभाव भी बड़े वेग से बढ़ रहा था, इस कारण दोनों देशों की शक्तियों का टकराना स्वाभाविक था। उधर वही समय यूरोप में भी इंग्लैण्ड और फ्रांस के संघर्ष का था, इस कारण दोनों देशों के निवासियों की भारत में मुख्यता प्राप्त करने की प्रतिस्पर्धा उग्ररूप से प्रारम्भ हो गई, और लगभग एक सौ वर्ष तक जारी रही। अन्त में अंग्रेज़ों ने फ्रांसीसियों को परास्त करके भारत के एकच्छत्र शासक होने का मार्ग निष्कण्टक कर लिया। इंग्लैण्ड और फ्रांस के संघर्ष की लम्बी कहानी भारत के इतिहास में पूरी तरह ओतप्रोत है, इस कारण वह हमारे ग्रन्थ में यथास्थान आ जायगी।



डूप्ले

दूसरा अध्याय

उस समय के इंग्लैण्ड और भारत

भारत से इंग्लैण्ड का सम्पर्क किस प्रकार स्थापित हुआ—इस प्रश्न का उत्तर हमें मिल गया, अब हम इसी से सम्बद्ध एक दूसरे प्रश्न का उत्तर इतिहास में तलाश करेंगे। वह यह है कि उस समय इंग्लैण्ड और भारत किस दशा में थे ? जब दो रंग की वस्तुएँ एक दूसरे के समीप आयें, तो वह दोनों एक दूसरे पर थोड़ा-बहुत प्रभाव डालती हैं, परन्तु जो मिश्रित रंग बनता है, उसमें प्रधानता उसी रंग की रहती है जो गहरा हो। इंग्लैण्ड और भारत की तत्कालीन अवस्थाओं की तुलना करने से हम यह जान सकेंगे कि उनके सम्पर्क का परिणाम भारत में अंग्रेज़ी राज्य के रूप में क्यों प्रकट हुआ ?

यदि ऐश्वर्य, शिष्टाचार और संस्कृति की दृष्टि से देखा जाय तो उस समय का भारतवर्ष इंग्लैण्ड से बहुत ऊँचा था। भारत में जो यूरोपियन यात्री उन दिनों आये, वे यहाँ की विभूति और संस्कृति से बहुत प्रभावित हुए। भारत की सामाजिक दशा में बहुत सी त्रुटियाँ थीं, और शासनयन्त्र भी दोषपूर्ण था, फिर भी यहाँ की विभूति और संस्कृति की उत्कृष्टता से विदेशी यात्री चकित-से हो गये। विशेषत: बादशाह और उसके सरदारों की धन-दौलत और शान-शौकत से वह बहुत आश्चर्यित हुए। उससे भी अधिक आश्चर्य में वह तब आये जब उन्होंने यह देखा कि जिस देश में वह असभ्य अशिक्षित लोगों से मिलने की आशा रखकर आये थे, वहाँ उन्हें यूरोप से भी अधिक शिष्ट और उदार विचार रखने वाले शासक और विद्वान् मिले। अकबर के समय की शान्ति, विभूति और उदार नीति के प्रमाण उस समय के जैस्विस्ट पादरियों के ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। डच व्यापारी पैल्सरे (Pelsaret) ने जहाँ भारत के शासन के अन्दर अनेक दोष दिखाये हैं, वहाँ उसकी धन-दौलत की बहुत प्रशंसा की है। टैवर्नियर, बर्नियर, मैण्डलस लोई आदि यात्रियों ने मुग़लों के उन्नत काल की दशा का विस्तृत वर्णन किया है। उन्होंने जहाँ अकबर के पश्चात् शासनयन्त्र के बिगड़ने के सम्बन्ध में बहुत-कुछ लिखा है, वहाँ भारत की विभूति और संस्कृति की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। औरंगज़ेब से पूर्व के मुग़ल बादशाहों की धार्मिक दृष्टि से उदार राजनीति का तो प्राय: सभी यूरोपियन यात्रियों ने बखान किया है। अकबर ने जिस उदार नीति का निर्माण किया था, उसके दो उत्तराधिकारियों ने उसका न्यूनाधिक रूप में पालन किया। उस युग में यूरोप भयानक धार्मिक असहिष्णुता का अखाड़ा बना हुआ था। शान्ति के पैग़म्बर हज़रत ईसा के अनुयायी दो दलों में बँटकर एक दूसरे के रक्त की नदियाँ बहा रहे थे। ईसाई पादरियों को भारत में आने पर यह देखकर आश्चर्य हुआ कि यहाँ हिन्दू और मुसलमान सामान्यरूप से शान्तिपूर्वक निवास करते हैं। यहाँ के विद्वानों से मिलकर भी वह बहुत प्रभावित हुए। अकबर के दरबार में संसार भर के धर्माचार्यों का निर्भयतापूर्वक परस्पर वाद-विवाद करना धर्मान्ध जैस्विस्ट पादरियों को एक

चमत्कार-सा प्रतीत होता था।

मनूची वैनीशिया का एक डाक्टर था। वह भारत में ४८ वर्षों तक रहा। भारत से स्वदेश में जाकर उसने अपने जो संस्मरण प्रकाशित किये, उनमें मुग़ल-काल की मुख्य-मुख्य घटनाओं के अतिरिक्त भारत की तत्कालीन दशा का भी ख़ूब विस्तृत वर्णन है। संस्मरणों के अन्तिम कुछ वाक्यों में उसके प्रभाव का निचोड़ आ जाता है जो यहाँ की दशा देखकर पक्षपातहीन विदेशी यात्री पर पड़ा। उसने लिखा है—

"जिस विशाल साम्राज्य का इतिहास हमने लिखा है—उसके रीति-रिवाजों का वर्णन ऊपर किया गया है। हम यह तो नहीं कह सकते कि वह रीति-रिवाज निर्दोष है, परन्तु पाठक को उनमें असभ्यता और न्याय का ऐसा मेल मिलेगा कि जिसके कारण मुग़लों का शासन अन्य जातियों के शासन की अपेक्षा घटिया नहीं समझा जा सकता। इस समय हिन्दुस्तान में जो शाहंशाह राज्य करता है वह दूरदर्शिता द्वारा अपने राज्य की रक्षा करता है, और वीरता द्वारा उसका विस्तार करता है। इसी कारण वह साम्राज्य स्थापना काल से अब तक घटा नहीं, बढ़ता ही गया है।"

ध्यान रहे कि मुग़लिया हुकूमत का यह वर्णन औरंगज़ेब के राज्य-काल के उत्तरार्ध में साम्राज्य की जो दुरवस्था हुई, उससे पहले ही लिखा गया था।

विदेशी यात्रियों ने उस समय के भारतवर्ष में जो कुछ देखा उसका चमकीला पहलू हमने देख लिया। उसका काला पहलू भी है। उन लोगों ने लिखा है कि देश के शासन में बहुत अधिक फिज़ूलख़र्ची होती थी, बादशाह और उसके अमीर-उमरा विलासी और स्वार्थी थे, साधारण प्रजा सुखी नहीं थी, रास्ते डाकुओं और लुटेरों से भरे हुए थे—इत्यादि।

उस समय के भारत की दशा की तुलना यदि हम उसी समय के यूरोप से करें तो हम देखेंगे कि उसमें यूरोप कुछ हल्का ही रहेगा। विशेषरूप से इंग्लैण्ड की दशा तो बहुत ही जघन्य थी। इतिहास-लेखक ड्रेयर ने १७वीं सदी के समय का इतिहास लिखते हुए इंग्लैण्ड की दशा का जो लम्बा वर्णन किया है, उसका कुछ भाग निम्नलिखित है—

'किसानों की झोंपड़ियाँ नरसलों और छड़ियों की बनी हुई होतीं थीं, जिनके ऊपर गारा फेर दिया जाता था। घर में आग घास जलाकर तैयार की जाती थी, और धुएँ के निकलने के लिए कोई जगह नहीं रखी जाती थी। जिस तरह का सामान उस समय के एक अंग्रेज के घर में होता था, उससे मालूम होता था कि गाँव के पास नदी के किनारे जो ऊद-बिलाव मेहनत से माँद बनाकर रहता था, उसकी और इंग्लैण्ड के किसान की हालत में अधिक भेद न था।"

"शहर के लोगों की हालत गाँव के लोगों से कुछ अच्छी नहीं थी। शहरियों का बिछौना भुस का एक थैला होता था और और तकिये की जगह लकड़ी का एक गोला।"

"कहीं कोई कारख़ाना न था, जिसमें कोई कारीगर आराम से बैठ सके। ग़रीबों के लिए कोई वैद्य नहीं था। सफाई का कहीं कोई प्रबन्ध नहीं था···"

"जिस तेज़ी के साथ गर्मी की बीमारी उन दिनों तमाम यूरोप में फैली उससे साफ़

पता चलता है कि उन लोगों में दुराचार भयंकर रूप में फैला हुआ था।...''

"सारी अंग्रेज जाति इतनी अशिक्षित थी कि पार्लमेण्ट और हाउस ऑव लार्डस के बहुत से सदस्य लिख-पढ़ भी नहीं सकते थे...बरसात में सड़कें इतनी खराब हो जाती थी कि उन पर चलना कठिन था। देहात में जब लोग रास्ता भूल जाते थे तो उन्हें रात भर बाहर ठण्डी हवा में पड़ना पड़ता था।...''

"टाइन नदी के स्रोत पर जो लोग रहते थे वे अमरीका के आदिम निवासियों से कम न थे। उनकी स्त्रियाँ आधी नंगी रहती थी, और जंगली गाने गाती फिरती थीं, और पुरुष अपनी कटार घुमाते हुए लड़ाई के नाच नाचते थे।''

"पति अपनी पत्नी को कोड़ों से पीटता था। अपराधियों को टिकटिकी में बाँधकर पत्थर मार-मार कर मार दिया जाता था।''

देश की सामान्य दशा का अनुमान प्रायः राजधानी को देखकर लग सकता है। जिस समय कैप्टेन हाकिन्स इंग्लैण्ड के बादशाह जेम्स का पत्र लेकर हिन्दुस्तान के शाहंशाह जहांगीर के दरबार मे आया था, तब इंग्लैण्ड की राजधानी लन्दन थी, और भारत की राजधानी आगरा। आप ज़रा दोनों राजधानियों की तत्कालीन अवस्था का वर्णन पढ़िये, और उनकी तुलना कीजिये—

लन्दन के सम्बन्ध में ड्रेयर ने लिखा है कि सत्रहवीं सदी के अन्त मे लन्दन एक गन्दा शहर था, मकान भद्दे बने हुए थे, और सफ़ाई का कोई इन्तजाम नही था। लन्दन की गलिय में लालटेनों का कोई प्रबन्ध नही था। उच्च श्रेणी के लोगों मे आचार-भ्रष्टता की यह दशा थी कि जब उसमें से कोई व्यक्ति मरता था तो यही समझा जाता था कि किसी ने विष देकर मारा है।

अब आप विदेशी यात्रियों द्वारा किया हुआ आगरे का वर्णन पढ़िये। यूरोप के प्रख्यात यात्री एल्बर्ट मैण्डलस्लो ने १०वी सदी के मध्यभाग में भारत को देखा, और अपने संस्मरणों में भारत की राजधानी आगरे का बहुत विस्तृत वर्णन किया। वह लिखता है कि आगरा भारतवर्ष का सबसे श्रेष्ठ शहर है। उसके बाज़ार सुन्दर और चौड़े हैं, उनमें से बहुत से छते हुए हे। वह शहर के चारों ओर बने हुए राजाओं तथा नवाबों के महल्ले से बहुत प्रभावित हुआ, और नगर के ऐश्वर्य और व्यापार ने उसे चकित कर दिया। उसे आगरे में सब ओर सुन्दरता, सम्पत्ति और राज्यशक्ति के चिन्ह दिखाई दिये। लन्दन की उस समय जो गन्दी अवस्था थी, प्रतीत होता है कि आगरे की वैसी नही थी। उस समय की भारत की राजधानी इंग्लैण्ड की राजधानी की अपेक्षा बहुत समृद्ध और सुन्दर थी।

धार्मिक सहिष्णुता की दृष्टि से भी उस समय का भारत यूरोप की अपेक्षा बहुत ऊँचा था। सहिष्णुता के लिए अकबर और उसके दो उत्तराधिकारियों का शासन प्रख्यात था। उससे पहले और पीछे के मुसलमानकालीन इतिहास से औरंगजेब से पूर्व के मुग़ल बादशाहों के समय की तुलना करें तो यह मानना पड़ेगा कि अकबर की नीति उदारता और विशालता की दृष्टि से बहुत ऊँचे दर्जे की थी। उधर यूरोप उस समय धार्मिक संघर्ष

का अखाड़ा बना हुआ था। रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदायों ने यूरोप को दो लड़ाकू दलों में बाँट दिया था। एक ही धर्म के मानने वाले लोग सम्मति-भेद के कारण एक-दूसरे के जानी दुश्मन बने हुए थे।

इन उपर्युक्त परिस्थितियों को सामने रखकर ही प्रसिद्ध ग्रन्थ यूटोपिया (Utopia) के लेखक ने १६वीं सदी के इंग्लैण्ड की दुर्दशा का वर्णन किया है। उसके लिखने से प्रतीत होता है कि उस समय इंग्लैण्ड में चोर-उचक्कों की बहुतायत थी, कारीगरी का अभाव-सा था, प्रमादी और मुफ़्तख़ोरे बहुत अधिक थे। खेती-बाड़ी का ह्रास हो रहा था। राजा प्रजा का रक्त चूसने के लिए कड़े से कड़े साधन काम में लाता था, जिस कारण साधारण प्रजा राजा से बहुत असन्तुष्ट रहती थी।

तीसरा अध्याय

भारत और इंग्लैण्ड में भेद

हमने गत अध्याय में दिखाया है कि १६वीं या १७वीं शताब्दी में दोनों देशों की जो दशा थी यदि उसका तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो भारत इंग्लैण्ड से अधिक सभ्य और अधिक समृद्ध दिखाई देता है। कुछ बातें ऐसी हैं, जिनमें दोनों लगभग समान थे। लोगों के चरित्र की अच्छाई-बुराई का नपैना बहुत ओछा था। सामान्य जनता में शिक्षा का प्रचार कम था, कारीगरों की दशा शोचनीय थी और सार्वजनिक सफ़ाई की ओर न राज्य का ध्यान था और न प्रजा का। उस समय की चरित्र सम्बन्धी भावनाओं का कुछ अनुमान उन दोनों शासकों के निजी जीवनों पर दृष्टि डालने से हो सकता है, जिनका भारत और इंग्लैण्ड का सम्पर्क होने पर पत्रों का पहला आदान-प्रदान हुआ। कप्तान हाकिन्स इंग्लैण्ड के बादशाह जेम्स का हिन्दुस्तान के बादशाह जहांगीर के नाम पत्र लेकर सूरत के बन्दरगाह पर उतरा था। जेम्स और जहांगीर के निजू जीवनों का सापेक्षक अध्ययन इस बात की सूचना देगा कि अनेक अंशों में भिन्न होते हुए भी दोनों देश, समय के प्रभाव के कारण, मध्यकालीन सभ्यता के लगभग एक से वातावरण में से गुजर रहे थे।

जेम्स और जहांगीर के नामों के आद्याक्षर ही एक नहीं थे, उन दोनों के राज्यकाल की लम्बाई भी एक ही सी थी। दोनों ने २२ वर्षों तक राज्य किया। दोनों का सौभाग्य या दुर्भाग्य था कि वे महान् व्यक्तियों के उत्तराधिकारी बनकर गद्दी पर बैठे थे, जेम्स (प्रथम) एलिज़ाबेथ का उत्तराधिकारी था, और जहांगीर अकबर का। दोनों स्वभाव के नर्म, आरामपसन्द और हृदय के उदार व्यक्ति थे। ऐसी तबीयतों की यह विशेषता होती है कि वे सदा किसी न किसी दूसरे व्यक्ति के प्रभाव में रहते हैं। जेम्स का शासन-काल मुंहलगों (Favourits) के लिए प्रसिद्ध है। पहला मुंहलगा अर्ल ऑव सालिसबरी था, दूसरा अर्ल ऑव सोमरसेट था, और तीसरा ड्यूक ऑव बकिंघम था। जेम्स का राज्यकाल वस्तुतः इन तीन मुंहलगों का राज्य-काल था।

जहांगीर के शासन की बागडोर कभी पूरी तरह उसके अपने हाथों में नहीं रही। वह महाबत खाँ और नूरजहां के हाथों में आती-जाती रही।

यदि अब तक के निरीक्षण से कोई परिणाम निकालना चाहें तो यह होगा कि सामान्यरूप से भारत और इंग्लैण्ड १७वीं शताब्दी के आरम्भ में एक ही सी दशा में थे, परन्तु सभ्यता के धरातल और सम्पत्ति की दृष्टि से देखें तो भारत का स्थान ऊँचा था। यदि बात इतनी ही होती, तो परिणाम यह होना चाहिए था कि जो सम्पर्क स्थापित हो रहा था, उसमें भारत का स्थान ऊँचा रहता, और भविष्य में जो संघर्ष उत्पन्न हुआ उसमें भारत की जीत होती। परन्तु ऐसा नहीं हुआ, इसके पर्याप्त कारण थे, और वे कारण दोनों देशों को

उस समय की परिस्थितियों में ही सन्निहित थे। अब तक हमने उस समय के ऐतिहासिक चित्रपट के एक भाग पर दृष्टि डाली, अब हम उसके दूसरे भाग पर दृष्टि डालकर पूरे चित्र-पट की परीक्षा करेंगे।

यदि गहराई में जाकर देखें तो हमें दोनों देशों की तत्कालीन दशाओं में बहुत बड़ा भेद दिखाई देगा। मान लीजिये कि दो राही पहाड़ की आधी ऊँचाई पर आपस में मिलते हैं। देखने में दोनों एक जगह खड़े है परन्तु उनकी मानसिक परिस्थितियों का भेद हमारी समझ में तब आयगा, जब हमें यह मालूम होगा, कि उनमें से एक पहाड़ की चोटी से नीचे उतर रहा है, और दूसरा नीचे से चोटी की ओर जा रहा है। एक की चढ़ती कला है, और दूसरे की उतरती कला। खड़े दोनों एक ही स्थान पर हैं, परन्तु एक ऊपर को देख रहा है, दूसरा नीचे को।

इंग्लैण्ड और भारत के राजनीतिक शरीर उस समय उन्हीं दो राहियों की स्थिति में थे। इंग्लैण्ड एक नये जीवन में प्रवेश कर रहा था। वह स्वतन्त्रता की ओर, एकता की ओर और विस्तार की ओर जा रहा था। इंग्लैण्ड की महारानी एलिजाबेथ और मुग़ल सम्राट् अकबर समकालीन थे। दोनों के नाम शासकों की श्रेणी में बहुत ऊँचे स्थान पर लिखे गये हैं। वह यात्रियों का सम्मिलन-स्थान था। वहाँ से दोनों यात्री दो रास्तों पर चल पड़े। अंग्रेज़ी राष्ट्र पहाड़ की चोटी पर चढ़ने लगा, और मुग़ल साम्राज्य विनाश की खाई की ओर जाने लगा। अकबर के राज्यकाल को हम भारत में इस्लामी शासन का मध्याह्न कहें तो अत्युक्ति न होगी। उसके पश्चात् मध्याह्नोत्तर हुआ और फिर सन्ध्या का काल आ गया। इंग्लैण्ड का सूर्य धीरे-धीरे मध्याह्न के शिखर की ओर जा रहा था। जब दोनों देशों का संघर्ष हुआ, तब उनकी यह परिस्थिति थी कि एक उत्साह और उमंग से भरा हुआ नौजवान था, और दूसरा थका-मांदा अधेड़। ऐसे संघर्ष का परिणाम जो होना था—वही हुआ। थके हुए अधेड़ को ताजा नौजवान ने पछाड़ दिया।

उस समय केवल इंग्लैण्ड में ही नहीं, अपितु सारे यूरोप में नवजीवन का प्रभात उदित हो रहा था। वह नवजीवन आकस्मिक नहीं था। वह एक दृढ़ इतिहास-परम्परा का फल था। वह घटनाओं की उस लम्बी ज़ंजीर की आख़िरी कड़ी थी, जिसकी पहली कड़ी यूरोप में पुनर्जागरण के प्रादुर्भाव के साथ घड़ी गई।

यूरोप में 'जागरण' का प्रारम्भ ईसा की १५वीं सदी में हुआ। इससे पूर्व की कई सदियाँ यूरोप के इतिहास में 'मध्य युग' और 'अन्धकार युग' के नाम से पुकारी जाती हैं। उन सदियों में यूरोप में जागीरदारी प्रथा का दौर-दौरा था, साधारण प्रजा के अधिकार शून्य के समान थे, लोगों के धार्मिक-जीवन पादरियों की मुट्ठी में थे, और पादरी रोम के पोप के एजेण्ट मात्र थे। शिक्षा कुछ इने-गिने व्यक्तियों की बपौती समझी जाती थी, और क़ानून बादशाह और उसके वज़ीरों का खिलौना था। सबसे बड़ा रोग अन्धकार-युग का यह था कि प्रजा के मन दासता की ज़ंजीरों से जकड़े हुए थे। इन्हीं विशेषताओं के कारण वह अन्धकार-युग कहलाता है।

१५वीं सदी में प्रकाश की वह किरणें यूरोप के आकाश में प्रकट हुईं, जिन्होंने उस अन्धकार का नाश किया। पहली किरण का नाम इतिहास लेखकों ने 'जागरण' रखा है। उसका स्थूल ध्येय यह था कि यूरोप के पढ़े-लिखे लोग, जो अब तक अपनी देश-भाषा के अतिरिक्त, ज्ञानभण्डार की भाषा समझकर लेटिन भाषा को पढ़ते, और लेटिन के साहित्य का ही मुख्य रूप से अध्ययन करते थे, वे यूनानी भाषा और उसके साहित्य का अध्ययन करने लगे। पुराने यूनान में प्रजातन्त्र और विचार-स्वातन्त्र्य के जो विचार थे, उनके अध्ययन से यूरोप में मानसिक जागृति का प्रारम्भ हो गया, जो धीरे-धीरे विकसित होता गया। उसका विकास चौमुखा—चारों दिशाओं में—होने लगा। राजनीति में, धर्म में, साहित्य में और कारोबार में, सभी क्षेत्रों में असाधारण हलचल और स्फूर्ति उत्पन्न हो गई। जागीरदारी प्रथा के किले की दीवारें टूटने लगीं, धार्मिक मामलों में लोग बुद्धि का प्रयोग करने लगे, कारीगरी की उन्नति होने लगी, और तरह-तरह के आविष्कार उद्भूत हुए। यूरोप में बारूद वाले शस्त्रों का प्रयोग पहले-पहल १४वी सदी में हुआ, परन्तु उसका विधिपूर्वक प्रयोग १५वी सदी में होने लगा। इन्हीं सदियों में यूरोप मे मुद्रण की कला का भी प्रचार हुआ।

इस प्रकार १५वीं सदी का अन्त होने से पूर्व ही इंग्लैण्ड में जागृति उत्पन्न हो चुकी थी। उस जागृति की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वह जनता के एक बड़े भाग को जगा रही थी। मानसिक जागृति कुछेक जागीरदारों या पादरियों के घोंसलों में से निकलकर समाज के सम्पूर्ण उपरले भाग का स्पर्श करने लगी थी।

१६वी सदी के आरम्भ में यूरोप में धार्मिक सुधार का सूत्रपात्र हुआ। लूथर ने ईसाइयों के महागुरु पोप के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। लूथर का विरोध प्रारम्भ में केवल पोप की प्रमुखता के विषय में था. परन्तु शीघ्र ही वह उस समय के ईसाई धर्म की रूढ़ियों और बुराइयों तक पहुँच गया, और ५० वर्ष व्यतीत होने से पूर्व ही वह यूरोप-व्यापी मानसिक सुधार (Reformation) के रूप में परिणत हो गया। उस सुधार आन्दोलन ने मध्यकालीन अन्धकार को छिन्न-भिन्न करने में 'जागरण' की सहायता दी। सोलहवीं सदी के यूरोप को हम मानों गहरी नींद से जागता हुआ पाते हे।

यह समाज की प्रगति का अटल सिद्धान्त है कि जो राष्ट्र मानसिक दासता में फँसा हुआ हो वह चिरकाल तक राजनीतिक दृष्टि से स्वाधीन नही रह सकता। मानसिक जागृति पहले और नैतिक जागृति पीछे। यूरोप में भी यही हुआ। पुनर्जागरण और धर्म-सुधार का यह परिणाम हुआ कि सम्पूर्ण यूरोप में नये जीवन की एक प्रबल बाढ-सी आ गई, जिसने यूरोप की सभी जातियों में ऊपर उठने और आगे बढ़ने की अदमनीय भावना उत्पन्न कर दी, फलतः हम देखते हैं कि १७वीं और १८वी सदी में यूरोप की जातियाँ भूमण्डल पर छा गई—जिससे संसार के इतिहास में एक नया दौर आरम्भ हो गया। यूरोपियन जातियों के उस अद्भुत विस्तार की पहली महत्त्वपूर्ण घटना कोलम्बस द्वारा अमरीका का अन्वेषण, और दूसरी वैसी ही घटना वास्को-डि-गामा द्वारा भारत का अन्वेषण था। इंग्लैण्ड यद्यपि इस दौड़ में कुछ पीछे चला, परन्तु अपने योग्य पुत्रों की साहसिकता और दृढ़ता के कारण यूरोप की अन्य

जातियों से आगे निकल गया। भारत में अंग्रेज़ों के प्रवेश का यही प्रारम्भिक इतिहास है।

दूसरी ओर उस समय के भारतीय चित्रपट पर दृष्टि डालिये तो आपको विदित होगा कि इस पर भयंकर मानसिक अन्धकार छाया हुआ था। मुसलमानों के भारत पर आक्रमण होने के समय से लेकर शाहजहां के राज्यकाल तक भारत के निवासियों में कोई व्यापक जागृति पैदा नहीं हुई, जिसने उनकी धार्मिक, मानसिक और सांस्कृतिक भावनाओं को चेतन कर दिया हो। राजपूत बहुत वीरता से लड़े, परन्तु वीरता व्यक्तिगत या वांशिक थी, राष्ट्रीय नहीं थी। उनका प्रेरक कारण राजपूती शान या वंश का अभिमान था, व्यापक राष्ट्रीय जागरण नहीं। उन्हीं सदियों में कई बड़े-बड़े भक्त कवि हुए। उन्होंने अपने-अपने आराध्य देवताओं की स्तुति में काव्य और महाकाव्य लिखे; परन्तु वे समाज के अन्तस्थल को न छू सके, और न राष्ट्र के मस्तिष्क को ही प्रभावित कर सके। एक हल्की-सी धार्मिक एकता की लहर उत्पन्न हुई थी। अकबर और कबीर उसके नेता समझे जा सकते ह, परन्तु वह केवल परिमित लोगों की मनोवृत्ति तक फैलकर ही रह गई, मानसिक तथा सामाजिक क्रान्ति के रूप में परिणत न हो सकी। इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस समय इंग्लैण्ड और भारत में प्रथम सम्पर्क स्थापित हुआ, उस समय जहाँ सारे यूरोप के साथ-साथ इंग्लैण्ड भी अन्धकार काल को छिन्न-भिन्न करके प्रकाश काल में प्रवेश कर चुका था, वहाँ भारतीय आकाश का अन्धकार गहरा हो रहा था, क्योंकि अकबर की मृत्यु के साथ ही मुग़ल साम्राज्य क्षय की ओर जाने लगा था। अकबर ने उदारता और मनुष्यता का जो छोटा-सा दीपक जलाया था, उसकी मृत्यु के पश्चात् कुछ समय तक टिमटिमाकर वह भी बुझ गया। १७वीं सदी में इंग्लैण्ड और भारत का सम्पर्क चढ़ती जवानी के युवक और ढलती आयु के प्रौढ़ का सम्पर्क था। जब वह सम्पर्क संघर्ष के रूप में परिणत हुआ तो उसका वही परिणाम हुआ जो होना सम्भावित था। इंग्लैण्ड जीत गया और भारत हार गया।

चौथा अध्याय

सिराजुद्दौला का राज्यारोहण

मुग़ल साम्राज्य उस युग का सबसे विशाल और समृद्ध साम्राज्य था। देश-विदेश में महान् मुग़ल बादशाह की कथायें ऐसे सुनाई जाती थीं, जैसे बहुत पुराने समय के राजा विक्रमादित्य और खलीफ़ा हारूं रशीद की कथायें सुनाई जाती थीं। मुग़ल साम्राज्य के उस यश और गौरव के दो मुख्य आधार थे। पहला आधार मुग़ल वंश के पहले तीन बादशाहों की व्यक्तिगत वीरता और महत्ता थी और दूसरा कारण अकबर की धार्मिक उदारता और दूरदर्शिता से पूर्ण नीति थी। बाबर में यद्यपि नीति सम्बन्धी विशेष गुण नहीं थे, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि निर्भयता, शूरता, विशालता और सहृदयता आदि गुणों के कारण उसकी गणना संसार के महापुरुषों में की जा सकती है। हुमायूं में पिता की बहुत सी विशेषतायें विद्यमान थीं, कमी थी केवल दो वस्तुओं की। वह वीर तो था परन्तु बाबर के समान युद्ध-कुशल नहीं था, और वह सहृदय तो था, परन्तु भाग्य का धनी नहीं था। इन दोनों कारणों से वह साम्राज्य को आगे न बढ़ा सका, पर खोकर भी फिर प्राप्त करके उसे इस योग्य बना दिया कि अकबर उसे उन्नति के शिखर पर पहुँचा सके।

अकबर में अपने वंश के भावी गुण तो थे ही, साथ ही उसने अद्भुत मस्तिष्क भी पाया था। स्वयं अधिक शिक्षित न होते हुए भी वह बुद्धि में अनुपम था। उसकी राजनीति का सिक्का न केवल उसके समकालीन अपितु पीछे आने वाले शासकों और इतिहास-लेखकों ने भी माना है। यह सर्वसम्मत-सी बात है कि अंग्रेज़ों ने भारत पर शासन करने के लिए जिस नीति का आश्रय लिया था, उस पर अकबर की नीति की गहरी छाप थी।

अकबर के पीछे जहांगीर गद्दी पर बैठा। उसमें अपने पिता के महान् गुणों का अभाव था, फिर भी वह बुरा बादशाह नहीं था। उसने अकबर की बनाई लीक पर चलने का यत्न किया। शाहजहां में अनेक गुण थे, पर वह इतना अधिक विलासी और सुखैषी था कि मृत्यु से पहले ही वह न केवल स्वयं शक्तिहीन और लड़के का कैदी हो गया था, उसका साम्राज्य भी क्षय की ढलान पर लुढ़कने लगा था।

मुग़ल साम्राज्य का पतन

औरंगज़ेब में अपने वंश के वीरता आदि व्यक्तिगत गुण तो थे, परन्तु विशालता, दूरदर्शिता और उदारता का सर्वथा अभाव था। इतना ही नहीं कि कुछ गुणों का अभाव हो, उनके स्थान पर धर्मान्धता और वहमीपन के ऐसे दुर्गुण भी विद्यमान थे, जिन्होंने उसके राज्य के ४६ वर्षों में मुग़ल साम्राज्य को जड़मूल से हिला दिया। औरंगज़ेब की मृत्यु के समय मुग़ल साम्राज्य के कई हिस्से सर्वथा स्वतन्त्र हो चुके थे, कई हिस्सों में ज़ोरदार विद्रोह की अग्नि प्रचण्ड हो रही थी, और शेष हिस्सों में अशान्ति थी, निर्बलता थी, और फूट थी।

औरंगज़ेब के उत्तराधिकारी मुग़ल वंश के नाम को डुबोने वाले ही थे। वे न वीर थे, और न शासक थे। वे अपनी इन्द्रियों के ग़ुलाम अतएव वजीरों के ग़ुलाम थे। वे अपनी ही रक्षा नहीं कर सकते थे, साम्राज्य की रक्षा क्या करते।

शाहजहां के समय से ही मुग़लराज्य की गद्दी के उत्तराधिकार के लिए भाइयों में जो भयंकर गृह-युद्ध हुए, उन्होंने साम्राज्य का नाश करने में पूरा हिस्सा लिया। उन्होंने दुश्मन के गोलों से हिली हुई दीवारों पर भूकम्प का काम किया। बादशाहों की अयोग्यता, जनता की जागृति, और पक्षपातपूर्ण नीति ने जिस साम्राज्य की ईंट-ईंट हिला दी थी उसे गृह-कलह ने ऐसा ज़ोर का धक्का दिया कि जब १८वीं शताब्दी में यूरोप की जातियाँ व्यापार के बहाने से भारत में प्रविष्ट होकर उस पर प्रभुत्व जमाने का स्वप्न देखने लगीं, तब उन्हें मैदान साफ़ दिखाई दिया। मुग़ल साम्राज्य का केवल नाम शेष था। सारा देश सैकड़ों टुकड़ों में बँटा हुआ था, जिनमें से हरेक टुकड़ा दूसरे पर अविश्वास रखता था, उसे अपना शत्रु समझता था और उसे परास्त करने के लिए किसी तीसरे की सहायता लेने को उद्यत रहता था।

कहने को मुगल बादशाह सारे देश का शाहंशाह था, परन्तु वस्तुतः उसका राज्य दिल्ली और आगरे की सीमाओं में ही परिमित था। प्रान्तों के सूबेदार, रियासतों के शासक और कहीं-कहीं छोटे ज़मींदार तक सोलहों आना स्वच्छन्द शासकों की तरह राज्य करते थे। उनकी धाक मुग़ल बादशाह से भी अधिक थी। मराठा राज्य के सेनापति प्रायः साम्राज्य पर छाये हुए थे, उन्हें मनमानी करने से रोकना दिल्ली की हुकूमत की शक्ति से बाहिर था। हैदराबाद के निजाम लगभग स्वतन्त्र हो चुके थे, अवध का नवाब मुग़ल बादशाह के नाम की दुहाई तो देता था, परन्तु उस दुहाई का उद्देश्य अपनी शक्ति को बढ़ाना था। वैसे वह पूर्णरूप से स्वतन्त्र था। बंगाल का नवाब भी स्वच्छन्द शासक था। वह मुगल नाम का प्रयोग वहीं तक करता था जहाँ तक उसके लिए उपयोगी था। उस समय के मुग़ल सम्राट् की हैसियत पेटेण्ट का लाइसेन्स देने वाले अफसर से अधिक नही थी। जो जीवट का व्यक्ति मुगल बादशाह को डरा-धमकाकर या भेंट-पूजा करके वश में कर लेता था, दिल्ली से उसे हुकूमत करने का लाइसेन्स मिल जाता था।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी और बंगाल के नवाब

जिस समय अंग्रेज़ों की ईस्ट इण्डिया कम्पनी की ओर से भारत की स्वाधीनता पर पहला सफल प्रहार किया गया, उस समय बंगाल की राजगद्दी पर नवाब सिराजुद्दौला विराजमान था। बंगाल का नवाब नाम को तो दिल्ली के बादशाह का सूबेदार था, परन्तु वस्तुतः वह स्वाधीन शासक ही था। नवाब अलीवर्दी खां ने १५ वर्षों तक शासन किया। बहुत दूरदर्शी या सफल शासक न होते हुए भी वह सामान्यरूप से अच्छा हाकिम था। उसने ज़मीदारों को दबाकर रखा और चोर-डाकुओं का दमन करके प्रजा को प्रसन्न करने का यत्न किया। वह १७५६ में मर गया। उसके पीछे नवाब की गद्दी पर उसका दौहित्र सिराजुद्दौला आरूढ़ हुआ। सिराजुद्दौला की आयु गद्दी पर बैठने के समय २० वर्ष से भी कम थी।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने उन दिनों हिन्दुस्तान में कई प्रान्तों में अपने कारखाने

(फैक्टरियाँ) खोल रखे थे। सूरत, बम्बई, मद्रास और कलकत्ता में जो कारखाने स्थापित हुए, वह धीरे-धीरे क़िले के रूप में परिणत हो गये थे। वह केवल व्यापार के स्थान ही नहीं रहे थे, वह सैनिक शक्ति के प्रारम्भिक केन्द्र भी बनते जा रहे थे। बंगाल में कम्पनी का जो केन्द्र था, वह फोर्ट विलियम के नाम से प्रख्यात था। फोर्ट विलियम ऐतिहासिक स्मारक के रूप में कलकत्ते में अब भी विद्यमान है।

नाम को ईस्ट इण्डिया कम्पनी व्यापार करती थी, परन्तु वस्तुतः वह हिन्दुस्तानी शासकों की नर्मी से लाभ उठाकर देश से रुपया लूटने में लगी हुई थी। उसके एजेण्ट छल और बल से पैसा बटोरने में व्यस्त थे। उस समय के यूरोपियन लोग भारत को किस गृद्ध-दृष्टि से देखते थे, इसका परिचय एक अंग्रेज़ सैनिक कर्नल मिल के निम्नलिखित उद्धरण से मिलेगा जो उसने जर्मनी के फ्रेंसिस को १७४६ में लिखा था। उसने लिखा था—

"मुग़ल साम्राज्य सोने और चाँदी से भरपूर है। वह साम्राज्य सदा निर्बल और रक्षा-रहित रहा है। यह आश्चर्य की बात है कि सामुद्रिक शक्ति रखने वाले किसी यूरोपियन राजा ने बंगाल को जीतने का प्रयत्न नही किया। एक ही मार में अनन्त धनराशि प्राप्त की जा सकती है जिसके सामने ब्राज़ील और पेरू की खानें मात पड़ जायँगी।"

कम्पनी द्वारा लूट-खसोट

भारत पर यूरोपियन जातियाँ ऐसे टूटी थी, जैसे मुर्दे पर गीध टूटते हैं। यदि भारत के शासकों में दूरदर्शिता होती, और यदि वे अपने मुसाहिबों और शराब के ऐसे ग़ुलाम न होते तो पश्चिम के व्यापारियों का अपने राज्य में पाँव न जमने देते। वे चूक गये, जिसका फल यह हुआ कि इन व्यापारी भेष में आये हुए मेहमानों ने घर पर कब्ज़ा करने का प्रयत्न आरम्भ कर दिया। कम्पनी के कार्यकर्ता न केवल कम्पनी के नाम पर व्यापार करते थे, वे स्वयं निजू कारोबार भी करते थे। राज्य की ओर से जो हिदायतें कम्पनी को मिलती थीं, उनसे स्वयं पूरा लाभ उठाने के अतिरिक्त वे धींगा-मस्ती और जोर-ज़बर्दस्ती से भी बहुत से काम लेते थे। यदि नवाब की ओर से उन्हें रोकने का प्रयत्न किया जाता तो बात-बात पर झगड़ने को तैयार हो जाते थे। उनके इसी व्यवहार से तंग आकर अलवर्दी खाँ ने मरते समय सिराजुद्दौला को सलाह दी थी—"यूरोप की जातियों की गतिविधि पर सदा दृष्टि रखना। यदि मेरा जीवन लम्बा होता तो मैं तुम्हें इस डर से मुक्त कर देता—अब तो बेटा यह कार्य तुम्हें ही करना पड़ेगा। तैलिंग देश में उनकी लड़ाइयों और चालों के विषय में सचेत रहना। बादशाहों की आपसी लड़ाइयों के बहाने से, उन्होंने हमारे शाहशाह के प्रान्तों को छीनकर आपस में बाँट लिया है, और यहाँ की सम्पत्ति को अपने लोगों में वितीर्ण कर दिया है।··· (इनमें से) अंग्रेज़ों की शक्ति बहुत अधिक है। बेटा, उन्हें क़िले या सेना में आगे मत बढ़ने देना—यदि बढ़ने दिया तो तुम मुल्क खो बैठोगे।"

अलीवर्दी खां का यह सन्देश मि० हालवेल ने प्रकाशित किया था। कुछ लोग इसे हालवेल की मनगढ़न्त कहानी बतलाते हैं, परन्तु अलीवर्दी खां उस समय के अंग्रेज़ों की ज़बर्दस्ती और कूटनीति से इतना परेशान हो गया था कि उसने अपने नौजवान उत्तराधिकारी को



सिराजुद्दौला

उपर्युक्त आशय का आदेश दिया हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

सिराजुद्दौला का चरित्र

सिराजुद्दौला नवाब की गद्दी पर बैठने के समय शासन की दृष्टि से निरा बच्चा ही था। कई अंग्रेज़ लेखकों ने उसे पूरे राक्षस के रूप में चित्रित किया है, और कुछ भारतीय लेखकों ने उनका उत्तर देते हुए उसे केवल एक भोला शिकार सिद्ध करने की चेष्टा की है। हम उन दोनों ही चित्रों को अतिरंजित समझते हैं। सिराजुद्दौला के सारे जीवन पर और उसके सम्बन्ध में प्रकट की गई समकालीन सम्मतियों पर विचार करें, तो हमें इतिहास-लेखक सर शफात अहमद खां के निम्नलिखित वर्णन से सहमत होना अधिक संगत प्रतीत होता है—

"सिराजुद्दौला अदूरदर्शी, हठी और मूढ़ था। उसे बूढ़े अलीवर्दी खां के अनुचित लाड़ ने बिल्कुल बिगाड़ दिया था। गद्दी पर बैठने पर भी उसमें कोई सुधार न हुआ। वह झूठा था, कायर था, नीच और अकृतज्ञ था। उसमें अपने पूर्व पुरुषों के कोई गुण नहीं थे, और अपने जो गुण थे, उनको प्रयोग में लाने की शक्ति नहीं थी।"

सिराजुद्दौला में गुण भी थे और दोष भी, परन्तु तीन कारणों से उसके गुण निकम्मे हो गये, और दोष फलीभूत हुए। वह बूढ़े नाना की मोही गोद में पला था, जब गद्दी पर बैठा तब अभी उसके मुँह पर मूंछें भी अच्छी तरह नहीं निकली थीं, और गद्दी पर बैठते ही उसे जिस वातावरण और जिन शत्रुओं का मुकाबिला करना पड़ा, वे बहुत ही भयानक और शक्तिशाली थे। सिराजुद्दौला वस्तुतः अपनी परिस्थितियों का शिकार बना। वह अपने समय के भारतीय शासकों का एक सामान्य नमूना था, जो चारों ओर की परिस्थितियों पर हावी नहीं हो सका।

पांचवां अध्याय

ब्लैक होल की कहानी

जिन दिनों भारत के पूर्व में एक अनुभवहीन और कच्ची बुद्धि का नौजवान नवाब की गद्दी पर बैठ रहा था, उन्हीं दिनों देश के दक्षिण में अंग्रेज जाति के लोग अपने फ्रांसीसी प्रतिद्वन्द्वियों को परास्त करके साम्राज्य बनाने की दौड़ में अग्रसर हो रहे थे। भिन्न-भिन्न यूरोपियन देशों के जो निवासी प्रारम्भ में केवल व्यापारी के रूप में मुग़ल बादशाह की कृपा के भिखारी बनकर आये थे, वह भारत की आन्तरिक निर्बलता से लाभ उठाकर अब शक्ति के प्यासे लड़ाकू बन गये थे, और रंगस्थली में एक-दूसरे को खड़ा देखकर आपस में ही उलझ रहे थे।

हमने पहले अध्याय के अन्त में भारत की प्रभुता के मैदान में इंग्लैण्ड और फ्रांस के एजेण्टों की प्रतिस्पर्धा की ओर निर्देश किया था। वह प्रतिस्पर्धा अठारहवीं शताब्दी के मध्य में उग्रतम हो गई थी। उन दिनों यूरोप में इंग्लैण्ड और फ्रांस में युद्ध हो रहा था। उसकी प्रतिक्रिया भारत में भी हो रही थी। दोनों देशों के एजेण्टों का संघर्ष दक्षिण में शुरू हुआ। उस संघर्ष में पहले फ्रांस का हाथ ऊँचा रहा। पाण्डिचेरी का फ्रांसीसी गवर्नर ड्यूप्ले असाधारण प्रतिभा का व्यक्ति था। वही पहला यूरोपियन था, जिसने इस बात को समझा कि यूरोप के लोग भारतवासियों के आपसी झगड़ों से लाभ उठाकर भारत के स्वामी बन सकते हैं, और यह भी समझा कि उत्तम सैनिक शिक्षण देकर भारत के सिपाहियों को ही भारत के जीतने का साधन बनाया जा सकता है। हैदराबाद और कर्नाटक के शासकों के घरू झगड़ों से लाभ उठाकर ड्यूप्ले ने अपना प्रभाव बढ़ाना आरम्भ कर दिया, कई शानदार सफलतायें प्राप्त कीं, और १७४९-५० में ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी कि भारत के शासकों पर फ्रांस की शक्ति का आतंक बैठ गया। यह समझा जाने लगा कि फ्रांस की सेनायें सारे देश पर छा जायेंगी। ड्यूप्ले की शान का कोई ठिकाना नहीं था। पाण्डिचेरी में बड़ा भारी विजयोत्सव मनाया गया। नया मिर्ज़ा फाजंग स्वयं ड्यूप्ले के हाथी से राजतिलक कराने के लिए विजयोत्सव में सम्मिलित हुआ। ड्यूप्ले को कृष्णा नदी और कुमारी अन्तरीप के मध्यवर्ती प्रदेश का गवर्नर उद्घोषित किया गया। वह देश का सबसे अधिक प्रभावशाली शासक माना जाने लगा।

क्लाइव का उत्कर्ष

इस प्रकार जब ड्यूप्ले की शक्ति और ख्याति, अंग्रेज़ों को परास्त करने के कारण दिन दूनी और रात चौगुनी बढ़ रही थी उस समय अंग्रेज़ों की मद्रास की फैक्टरी में काम करने वाला एक नौजवान क्लर्क कलम के पेशे का परित्याग करके तलवार के पेशे में प्रवेश करने का मन्सूबा बांध रहा था। उसका नाम राबर्ट क्लाइव था।

रावर्ट क्लाइव उन अंग्रेज़ों का एक उज्ज्वल नमूना था, जिन्होंने इंग्लैण्ड के लिए भारत को जीता। वह सब गुण और दोष क्लाइव में उग्रता से विद्यमान थे, जिनका प्रयोग इस देश में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना में हुआ। क्लाइव ने प्लासी की लड़ाई में विजय प्राप्त करके भारत पर अंग्रेज़ी प्रभुत्व की नींव डाली। जैसे क्लाइव भारत पर विजय प्राप्त करने वाले अंग्रेज़ों का एक चमकदार नमूना था, वैसे ही प्लासी की लड़ाई इंग्लैण्ड और भारत की एक सदी लम्बी लड़ाई का एक दृष्टान्त था। अकेली प्लासी की लड़ाई का अध्ययन और विवेचन करने से हम समझ सकते हैं कि उस एक सदी लम्बी लड़ाई में भारतवर्ष क्यों हारा, और अंग्रेज़ कैसे जीते ?

रावर्ट क्लाइव बचपन में एक आवारा, नटखट और निकम्मा लड़का समझा जाता था। उसके मां-बाप उसे पढ़ाना चाहते थे, पर वह खेलना चाहता था। आस-पास के लड़कों को बटोरकर गली के लोगों को परेशान करना उसका मुख्य काम था। पिता के बहुत प्रयत्न करने पर भी जब क्लाइव न पढ़ा तो उन्होंने परेशान होकर उसे ईस्ट इण्डिया कम्पनी में क्लर्क के काम पर नियुक्त कर भारत के लिए रवाना कर दिया और इस तरह समझा कि एक आवारा लड़के से पिण्ड छूट गया।

क्लाइव भारत आकर मद्रास के कारखाने में क्लार्क का काम करने लगा। पेशा बदल गया, पर स्वभाव नहीं बदला। कभी अपने अफ़सर से उलझता, कभी झगड़ों में सम्मिलित होता, तो कभी लेखक के शुष्क जीवन से खिन्न होकर आत्महत्या का प्रयत्न करता।

क्लाइव के दिन इसी जीवन-मरण की द्विविधा में व्यतीत हो रहे थे कि मद्रास की फैक्टरी में ड्यूप्ले की सफलता और अंग्रेज़ों के पराजय के समाचार पहुँचने लगे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी का सितारा डूबता-सा प्रतीत हुआ तब कम्पनी के अधिकारियों ने अनुभव किया कि कुछ न कुछ करना चाहिए। इधर क्लाइव के अन्दर से शब्द उठा कि यदि अवसर मिले तो मैं कुछ न कुछ कर सकता हूँ। क्लाइव ने अपने अधिकारियों के सामने अपना विचार रखा जिसे उन लोगों ने पसन्द किया, और २०० अंग्रेज़ और ३०० हिन्दुस्तानी सिपाहियों की टुकड़ी देकर अर्काट पर आक्रमण करने की अनुमति दे दी। यहाँ से क्लाइव का उत्थान आरम्भ हुआ। उसे अर्काट जीतने, और फिर ५३ दिनों तक अधिक संख्या वाले शत्रुओं का सफल मुक़ाबिला करके फ्रांस की उमड़ती हुई शक्ति पर प्रतिबन्ध लगाने में जो सफलता मिली, उसने क्लाइव पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के ऊँचे अधिकारियों की दृष्टि को केन्द्रित कर दिया। यही कारण था कि जब कलकत्ते से अंग्रेज़ों के पराजित और अपमानित होने के समाचार आने लगे तो अधिकारियों ने सहायता के लिए जाने वाली


क्लाइव

स्थल सेना का नेतृत्व उसी को सौंपा।

सिराजुद्दौला के सिंहासनारूढ़ होने पर

सिराजुद्दौला के गद्दी पर आरूढ़ होने के पश्चात् बंगाल में घटनाचक्र तेज़ी से चलने लगा था। अंग्रेज़ लोग अलीवर्दी खां के समय में ही नवाब से नई-नई रियायतें ऐंठने का प्रयत्न कर रहे थे। साथ ही वह अपनी रक्षा और नवाब पर दबाब डालने की योग्यता बढ़ाने के लिए क़िलों को दृढ़ कर रहे थे, और सेनाओं की संख्या में वृद्धि कर रहे थे। सिराजुद्दौला के अधिकार सम्पन्न होने पर अंग्रेज़ों की कार्रवाइयाँ और भी तेज़ हो गईं। वे नवाब के वज़ीरों और प्रान्त के प्रभावशाली व्यापारियों को साथ मिलाकर नवाब के विरुद्ध षड्यन्त्र करने लगे। उस षड्यन्त्र में उन्होंने मुसलमानों को भी शामिल कर लिया, और हिन्दुओं को भी। षड्यन्त्र में शामिल होने वाले मुसलमान वे थे, जो सिराजुद्दौला को गद्दी से उतारकर स्वयं नवाबी सत्ता पर अधिकार करना चाहते थे, और हिन्दू व्यापारी वे थे, जिन्हें अंग्रेजों ने विश्वास दिला दिया था, कि यदि शक्ति अंग्रेज़ों के हाथ में आगई, तो उन लोगों को बहुत भारी इनाम मिलेंगें। वे लोग अंग्रज़ों की बात पर विश्वास करके सिराजुद्दौला के विरुद्ध गाँठ-साँठ में शामिल हो गये। अंग्रेज़ों की बात कहाँ तक विश्वास योग्य थी, इसका पता मुख्य षड्यन्त्रकारी मीर जाफ़र अमीचन्द जैसे देशद्रोहियों को शीघ्र ही मिल गया। उन दोनों का जीवनान्त इस सम्यता का जीता-जागता प्रमाण था कि देशद्रोह की बेल देर तक हरी-भरी नहीं रह सकती।

सिराजुद्दौला को समाचार मिला कि अंग्रेज़ लोग कलकत्ता तथा अन्य स्थानों के कारख़ाना नाम के क़िलों को दृढ़तर बना रहे हैं। यह स्वाभाविक था कि वह इस कार्य को पसन्द न करता। उसने कलकत्ते के अंग्रेज़ अधिकारियों को इस आशय का पत्र लिखा कि क्योंकि देश की शान्ति-रक्षा का मैं जिम्मेवार हूँ, आप लोगों को अलग क़िलाबन्दी करने की कोई आवश्यकता नहीं। ऐसा ही पत्र उसने फ्रांसीसी अधिकारियों को भी लिखा। फ्रांसीसी अधिकारी तो कुछ दब गये, परन्तु अंग्रेज़ों ने न केवल कोई सन्तोषजनक उत्तर दिया, अपितु नवाब के राजदूतों को अपमानित भी किया। नवाब के दूत को अंग्रेज़ अफ़सर मि० ड्रेक ने जो उत्तर दिया, उसके विषय में मि० जीन लॉ ने लिखा है—

'यह अफ़वाह थी, कि मि० ड्रेक ने दूतों को उत्तर दिया कि क्योंकि नवाब की इच्छा है कि क़िले के चारों ओर की खाई भर दी जाय, हम उसमें राज़ी हैं, शर्त यह है कि हमें वह खाई मूरों (मुसलमानों) के सिरों से भरने दी जाय। मैं समझता हूँ कि उस (ड्रेक) ने ऐसा नहीं कहा होगा परन्तु शायद किसी जवान अंग्रेज़ के मुँह से यह बात निकली होगी।"

ड्रेक ने ठीक यह शब्द कहे या नहीं, इस बहस में न जाकर हम इतना अनुमान अवश्य लगा सकते हैं कि सिराजुद्दौला को जो उत्तर दिये गये, वह उद्धत और अपमानजनक थे। इसके अतिरिक्त नवाब को यह भी शिकायत थी कि अपने जिन कर्मचारियों या प्रजाजनों को अपराधी समझकर दण्ड देना चाहता है, उन्हें अंग्रेज़ अपने क़िलों में आश्रय दे देते हैं।

ज़ब कहने-सुनने से कोई लाभ न हुआ तो सिराजुद्दौला ने अंग्रेज़ों की कासिम बाज़ार

वाली फैक्टरी पर आक्रमण करके उसे अपने अधिकार में ले लिया, और कलकत्ते पर धावा बोल दिया। फोर्ट विलियम के गवर्नर ड्रेक ने क़िले की रक्षा के लिए भरसक तैयारी की थी, परन्तु जब सिराजुद्दौला की सेनायें कलकत्ते के पास पहुँचीं तब अंग्रेजों के दिल दहल गये, और अंग्रेज़ सिपाहियों में अव्यवस्था फैल गई। इतिहास-लेखक मि० एस० सी० मिल ने लिखा है—

"वे लोग (अंग्रेज़ सिपाही) नियन्त्रण से बाहिर हो गये थे, उनमें से बहुत से शराब के नशे में चूर थे, और कइयों ने उन अफ़सरों को किर्चें दिखा दीं जिन्होंने उन्हें नियन्त्रण में रहने की आज्ञा दी।"

परिणाम यह हुआ कि नवाब की सेना के समीप पहुँचने पर अंग्रज़ों के शिविर में अव्यवस्था, विद्रोह और गड़बड़ का राज्य हो गया : अंग्रेज़ लोग क़िला छोड़कर भाग निकले और जहाज़ों की शरण ली। कलकत्ता बिना विशेष युद्ध के सिराजुद्दौला के हाथ आ गया।

ब्लैक होल की वास्तविकता

सिराजुद्दौला के कलकत्ता-विजय के साथ अंग्रेज़ लेखकों ने एक ऐसी कहानी जोड़ दी है जिसके ऐतिहासिक प्रमाण बहुत ही निर्बल हैं। उसे 'ब्लैक होल की दुःखान्त घटना' के नाम से पुकारा जाता है। अंग्रेज़ लेखकों का अनुकरण करते हुए कई हिन्दुस्तानी लेखकों ने भी उस मनघड़न्त कहानी को सच्चा इतिहास मान लिया है। अंग्रेज़ लेखकों के कथनानुसार संक्षेप में वह कहानी निम्नलिखित है—

कलकत्ते पर अधिकार करने के समय बहुत से अंग्रेज़ नवाब के क़ैदी बन गये। उनका अगुआ हालवेल था। रात के समय, जब सिराजुद्दौला आरामगाह में चला गया, तब उनमें से १४६ क़ैदी एक कमरे में बन्द कर दिये गये, जिसका क्षेत्रफल केवल १८ वर्गफीट था। पहरियों ने धक्के देकर उन १४६ अभागे व्यक्तियों को काल-कोठरी में ठूँस दिया, और ऊपर से दरवाज़ा बन्द कर दिया। गर्मी का मौसम था, और उस कोठरी में ऊँचाई पर केवल एक रोशनदान था। जून की गर्मी, जगह की कमी, और प्यास का ज़ोर—इन सब बलाओं ने मिलकर अंग्रेज क़ैदियों पर जो मुसीबत ढाई, वह अवर्णनीय थी। क़ैदियों ने पानी माँगा, तो नवाब के सिपाहियों ने गालियाँ दीं। इस प्रकार रात भर नरक में व्यतीत करके जब क़ैदियों को प्रातःकाल के समय कोठरी से बाहर निकाला गया तो उनमें से केवल २३ अधमुए बाहिर निकले, शेष १२३ मर चुके थे। जिस कोठरी में अंग्रेज़ क़ैदी बन्द किये गये थे, उसका नाम अंग्रेज़ लेखकों ने ब्लैक होल रखा।

मनघड़न्त कहानी

ब्लैक होल की घटना पर अंग्रेज़ लेखकों ने बहुत-सी किताबें लिख डाली हैं, और बड़े-बड़े साहित्यिकों ने क़लम के जौहर दिखाये हैं। अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध लेखक मैकाले ने इस घटना का उल्लेख करते समय अंग्रेज़ी भाषा का निन्दात्मक शब्दों का कोष ही समाप्त कर दिया है। बहुत समय तक ब्लैक होल की कहानी सच मानी जाती रही, और उसके आधार पर अंग्रेज़ नौजवानों को भारतवासियों से बदला लेने के लिए उकसाया जाता रहा, परन्तु जब

गहरी छानबीन की गई तो प्रतीत हुआ कि भूत-प्रेतों की कहानियों की तरह ब्लैक होल की कहानी भी एक कहानी ही थी, जो समय की ज़रूरत को पूरा करने के लिए बनाई गई।

ब्लैक होल की कहानी के निराधार होने के पक्ष में अनेक युक्तियाँ दी गई हैं। कहा जाता है कि वह कोठरी केवल १८ वर्ग फीट की थी। कैप्टेन ग्राण्ट ने तो उसका क्षेत्रफल केवल १६ वर्गफीट ही बतलाया है। इतने छोटे स्थान में १४६ व्यक्तियों का ठूँसा जाना भी सम्भव नहीं। इसके अतिरिक्त एक बड़ी बात यह है कि कलकत्ते के पतन के जो सामयिक वृत्तान्त मिलते हैं, उनमें मूलरूप से ब्लैक होल की घटना का कोई वर्णन नहीं, उस समय के मुसलमान लेखकों ने घटना की कोई चर्चा नहीं की, कलकत्ते से भागने वाले अंग्रेज़ों ने भी उसके बारे में कुछ नहीं कहा, और सबसे महत्त्वपूर्ण युक्ति यह है कि प्लासी के युद्ध के पूर्व क्लाइव या वाटसन ने नवाब को जो पत्र लिखे उनमें भी ब्लैक होल का निर्देश नहीं किया। प्रतीत होता है कि ब्लैक होल की कहानी हालवैल ने अंग्रेज़ों को उकसाने के लिए पीछे से घड़ी। यह सम्भव है कि कुछ अंग्रेज़ क़ैदी, एक रात के लिए किसी ऐसे हवालात में बन्द किये गये हों, जिसमें आमतौर पर क़ैदी रखे जाते थे, और यह भी सम्भव है कि गर्मी और प्यास की अधिकता से और हवा के लिए दरवाज़े के पास पहुँचने की गुत्थमगुत्था में चोट खाकर कुछ अंग्रेज़ मर गये हों, परन्तु कमरे का आकार, क़ैदियों की संख्या और लाशों की राशि आदि की कहानी तो निश्चित रूप से कल्पित ही थी। उसका उद्देश्य अंग्रेज़ों के क्रोध को सिराजुद्दौला के विरुद्ध भड़काना, और बदले के लिए तैयार करना भी था। वास्तविक बात यह है कि यदि ब्लैक होल की कोई घटना हुई भी हो तो सिराजुद्दौला का उसमें कोई हाथ नहीं था। यह अंग्रेज़ गवाहों ने भी माना है कि न वह घटना सिराजुद्दौला की आज्ञा से हुई और न जानकारी में हुई। ऐसी दशा में सिराजुद्दौला को एक मनघड़न्त अपराध के लिए दोषी ठहराना और फिर उससे खूनी बदला लेने की पुकार करना कहाँ तक न्यायसंगत था?

छठा अध्याय

प्लासी की लड़ाई का उद्योग पर्व

इतिहास-लेखकों ने यह ठीक ही लिखा है कि प्लासी की लड़ाई न केवल भारत के इतिहास में, अपितु संसार के इतिहास में, विशेष महत्त्व रखती है, क्योंकि यह एक निर्णायक लड़ाई थी। इस लड़ाई ने इस प्रश्न का निश्चित उत्तर दे दिया कि अंग्रेज़ व्यापारी भारत में केवल व्यापारी बनकर रहेंगे, या शासक बनकर। उसने लगभग दो शताब्दियों के लिए भारत के नैतिक भविष्य का निर्णय कर दिया। प्लासी की लड़ाई में क्षीणता की ओर जाते हुए भारत के नैतिक संगठन की उन्नतिशील यूरोप के नैतिक-संगठन से टक्कर हुई, भारत का नैतिक संगठन परास्त हो गया, और यूरोप का नैतिक संगठन जीत गया। इस घटना ने २०० वर्षों के लिए भारत के भाग्यों पर मुहर लगा दी। वह दास बन गया।

प्लासी की लड़ाई में दोनों पक्षों के दो व्यक्ति मुख्य थे। एक ओर सिराजुद्दौला था, और दूसरी ओर क्लाइव। दोनों के व्यक्तित्व सर्वथा भिन्न थे। सिराजुद्दौला पुष्प-शय्या पर पला हुआ, विस्तृत संसार की दशा से अपरिचित, अदूरदर्शी नौजवान था—और क्लाइव कठिनाइयों की भट्टी में तपकर पका हुआ, संसार की दशाओं से परिचित, धूर्त और साहसी सिपाही था। प्लासी की लड़ाई में भारत के पराजय का पहला कारण यह था। यदि सिराजुद्दौला में थोड़ी-सी अधिक दूरदर्शिता और कार्यशक्ति होती तो वह अंग्रेज़ सिपाहियों के हाथों में इस प्रकार न नाचता, जैसे अब नाचा, और सम्भव था कि भारत की गत दो शताब्दियों का इतिहास दूसरी तरह लिखा जाता।

सिराजुद्दौला द्वारा कलकत्ता के हस्तगत करने और प्लासी के युद्ध के मध्य में जो घटनायें हुईं, वह सिराजुद्दौला और क्लाइव के स्वभावों के अनुरूप था। कलकत्ते के पराजय ने अंग्रेज़ों की छावनियों में हलचल पैदा कर दी। उन दिनों मद्रास का फोर्ट सेण्ट डेविड अंग्रेज़ों का मुख्य केन्द्र था। वहाँ यथासम्भव शीघ्र कलकत्ते को फिर से हस्तगत करने की योजना तैयार की गई। जिस सेना के सुपुर्द यह काम किया गया, उसका नेतृत्व क्लाइव के हाथ में सौंपा गया। क्लाइव ने बड़ी फुर्ती और दृढ़ता से कार्य करते हुए थोड़े ही समय में कलकत्ते के क़िलेदार मानिकचन्द को परास्त कर दिया, और उस पर अंग्रेज़ी झंडा फहरा दिया। मानिकचन्द के पास सेना और युद्ध-सामग्री की कमी नहीं थी, परन्तु वह केवल एक छोटी झपट के पश्चात् शीघ्रता से कलकत्ते को छोड़कर भाग गया। कई इतिहास-लेखकों ने उसको सिराजुद्दौला का विश्वासघाती सेवक होने की सम्भावना प्रकट की है। उनका विचार है कि उसे बड़ी रिश्वत देकर अंग्रेज़ों ने अपने स्वामी के प्रति विश्वासघाती और द्रोही बना दिया था। २ जनवरी, १७५७, के दन किलकत्ते पर अंग्रेज़ों का अधिकार हो गया, और ९ फरवरी को नवाब और अंग्रेज़ों में एक संधि हुई जिसके द्वारा नवाब ने कलकत्ते पर अंग्रेज़ों के

स्वामित्व और अपना सिक्का ढालने के अधिकार को स्वीकार कर लिया।

अंग्रेज़ों की सैनिक स्थिति

उस समय अंग्रेज़ों की सैनिक स्थिति पर्याप्त दृढ़ दिखाई देती थी। नवाब का ख्याल था कि शायद क्लाइव और आगे बढ़े, परन्तु अंग्रेज़ सन्धि के लिए राज़ी हो गये, इससे नवाब को आश्चर्य हुआ। यद्यपि ऊपर से देखने में अंग्रेज़ों की स्थिति प्रबल प्रतीत हो रही थी, तो भी अन्दर खोखलेपन की कई बातें ऐसी थी जिन्होंने क्लाइव को सुलह करने के लिए बाधित किया। यूरोप से समाचार आ रहे थे कि फ्रांस और इंग्लैण्ड में युद्ध की आशंका है। उसका यह परिणाम हो सकता था कि भारत के फ्रांसीसी अंग्रेज़ों के विरुद्ध नवाब से जा मिलें। इधर घर में क्लाइव की स्थिति निर्बल थी। अभी वह अंग्रेज़ी सेना का सर्वेसर्वा नहीं हुआ था। कई पुराने अंग्रेज़ अफ़सर क्लाइव को कल का छोकरा समझते थे। इधर कलकत्ते की कौंसिल भी क्लाइव पर अपना रोब जमाने का यत्न करती रहती थी, फलतः यह जानते हुए भी कि अंग्रेज़ नवाब के मित्र बनकर नहीं रह सकते, क्लाइव ने समय टालने के लिए सन्धि करना आवश्यक समझा। वह सन्धि वस्तुतः नवाब के विरुद्ध अंग्रेज़ों की तैयारी को गुप्त रखने के लिए एक आवरण थी—उसमें असलियत कुछ नहीं थी। क्लाइव इस कूटनीति का मुख्य निर्माता था, और सिराजुद्दौला इस माया-जाल का मुख्य शिकार।

उस समय अंग्रेज़ों की बंगाल पर प्रभुता पाने की अभिलाषा में दो बाधक थे—एक सिराजुद्दौला और दूसरे फ्रांसीसी लोग, जिनका मुख्य क़िला चन्द्रनगर में था। क्लाइव ने दोनों को अलग-अलग नष्ट करने का निश्चय करके पहले नवाब को झूठे आश्वासनों और मीठे शब्दों की लोरियों से सुला दिया, और फिर अगले ही महीने में चन्द्रनगर पर आक्रमण कर दिया। यह सिराजुद्दौला की घोर अदूरदर्शिता और निपट मूर्खता का फल था कि जब अंग्रेज़ों ने चन्द्रनगर पर आक्रमण किया तब बंगाल का नवाब दूर खड़ा मुँह ताकता रहा। उन दिनों क्लाइव नवाब को ऐसे चिकने-चुपड़े पत्र भेज रहा था कि नवाब पूरे धोखे में आ गया। अंग्रेज़ों ने थोड़े से युद्ध से ही चन्द्रनगर पर कब्ज़ा कर लिया।

सिराजुद्दौला अदूरदर्शी और भीरु

फ्रांसीसियों से निबटकर क्लाइव ने अपनी कूटनीति की तोपों का मुँह नवाब की ओर घुमा दिया। सिराजुद्दौला में उन गुणों का नितान्त अभाव था, जिनसे कोई व्यक्ति सफल शासक बन सकता है। उसमें न दूरदर्शिता थी और न शूरता। वह शासन की कला में निपट अबोध था, और लड़ाई में शून्य था। सभी कामों में उसे अपने मन्त्रियों और रिश्तेदारों का मुंह देखना पड़ता था, और दुर्भाग्यवश वे प्रायः सभी स्वार्थी और विश्वासघाती थे। कभी-कभी अपनी ज़िद से कोई पग उठा बैठता था, तो विवेक और अनुभव न होने से प्रायः गढ़े में ही गिरता था।

ऐसे निर्बल शासक के दुर्ग की दीवारों में छिद्र करना क्लाइव जैसे धूर्त अंग्रेज़ के लिए कुछ कठिन नहीं था। क्लाइव ने ऊपर से तो कलकत्ते पर कब्ज़ा करने के पश्चात् नवाब से सुलह कर ली, परन्तु अन्दर ही अन्दर से गहरे षड्यन्त्र द्वारा नवाब की जड़ें खोखली करने का कार्य आरम्भ कर दिया।

सिराजुद्दौला के विरुद्ध जो षड्यन्त्र तैयार हो रहा था, उसमें तीन मुख्य पात्र थे—अंग्रेजों का प्रतिनिधि वाट्स, सिराजुद्दौला का रिश्तेदार मीर जाफर और हिन्दू व्यापारी अमीचन्द। क्लाइव षड्यन्त्र का मुख्य संचालक था, वाट्स उसके प्रतिनिधि की हैसियत से मुर्शिदाबाद में रहकर षड्यन्त्र का ताना-बाना बुनता था, अमीचन्द विश्वासघात के गन्दे जाल को रचने के लिए वाट्स का एजेण्ट बना हुआ था, और मीर जाफर षड्यन्त्र के नीचतापूर्ण नाटक का प्रधान नायक था। मीर जाफर को यह आशा दिलाई गई कि सिराजुद्दौला को गद्दी पर से उतारकर उसे नवाब बनाया जायगा। वाट्स और मीर जाफर के मध्य में दूत-कर्म करने के लिए अमीचन्द को यह प्रलोभन दिया गया कि उसे नवाब के खज़ाने से ३० लाख रुपयों के अतिरिक्त खज़ाने की सारी राशि का ५ फ़ीसदी भाग भी दिया जायगा। मीर जाफर के के अतिरिक्त कुछ हिन्दू सेठ और नवाब के अहलकार भी षड्यन्त्र में सम्मिलित हो गये थे।

अमीचन्द का देशद्रोह

इधर क्लाइव के आदेशानुसार वाट्स सिराजुद्दौला के चारों ओर इस भयानक माया-जाल की रचना कर रहा था, और उधर सिराजुद्दौला इस विश्वास पर सुख की नींद सो रहा था, कि अंग्रेज़ों से जो सुलह हो गई है, वह सच्ची है। वह समझ रहा था कि उन विदेशी सचाई पुतलों से उभयपक्षी रक्षा-सन्धि हो जाने के कारण अब उसे किसी शत्रु का भय नहीं रहा।

जब षड्यन्त्र पूरा होने लगा तो एक कठिनाई खड़ी हो गई। जो दूसरे से विश्वास-घात करता है, वह स्वयं विश्वासी कैसे हो सकता है। विश्वासघाती अमीचन्द के मन में यह खटका बना हुआ था कि सफलता हो जाने पर कहीं उसे मक्खन में से बाल की तरह निकालकर बाहिर न फेंक दिया जाय। उसने अपने मन का खटका प्रकट कर दिया। अंग्रेज़ सेनापतियों को डर लगा कि कहीं अमीचन्द सारे षड्यन्त्र का भण्डाफोड़ न कर दे। उनकी यह मंशा बिल्कुल नही थी कि उसे लूट के माल में कोई विशेष हिस्सा दिया जाय। तब सचाई के ठेकेदार अंग्रेज़ सेनापतियों ने अमीचन्द को धोखा देने का निश्चय करके दो सन्धि-पत्र तैयार किये। एक सन्धिपत्र असली था और दूसरा जाली। असली सन्धिपत्र की मुख्य-मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं—

'सिराजुद्दौला के परास्त होने पर मीर जाफर गद्दी पर बैठेगा। मीर जाफर के शासन में वह सब रियायतें और सहूलियतें अंग्रेज़ व्यापारियों को प्राप्त होंगी, जो सिराजुद्दौला के समय में प्राप्त थीं। नवाब के इलाके में जितने फ्रांसीसी तथा उनके कारखाने हैं वह सब अंग्रेज़ों को सौप दिये जायेंगे। कलकत्ते के पिछले आक्रमण में जो हानि पहुँची थी, मीर जाफर उसके हर्जाने के तौर पर अंग्रेज़ कम्पनी को एक करोड़ रुपये देगा। साथ ही हर्जाने के तौर पर कलकत्ते के अंग्रेज़ निवासियों को ५० लाख, हिन्दू निवासियों को २० लाख और आर्मीनियन निवासियों को ७ लाख रुपये दिये जायेंगे। कलकत्ते पर कम्पनी का पूरा अधिकार होगा।"

इन खुली शर्तों के अतिरिक्त क्लाइव और अन्य अंग्रेज़ अफ़सरों को इनाम या रिश्वत की बड़ी-बड़ी राशियाँ देने के जो वायदे मीर जाफर से लिये गये, वह सन्धिपत्र से अलग थे।

जाली सन्धिपत्र

दूसरा सन्धिपत्र केवल अमीचन्द को दिखाने के लिए लिखा गया था। उसमें अमीचन्द की माँगों को स्वीकार कर लिया गया था। असली सन्धिपत्र पर क्लाइव के और वाट्सन के हस्ताक्षर थे। जब जाली सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर करने का समय आया, तो क्लाइव ने निःसंकोच अपने हस्ताक्षर कर दिये। जाली सन्धिपत्र बनाकर अमीचन्द को ठगने का प्रस्ताव स्वयं क्लाइव का ही था। परन्तु वाट्सन ने जाली सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया। इस कठिनाई का हल भी क्लाइव ने ही किया। उसने वाट्सन के नक़ली हस्ताक्षर बनवा दिये। अमीचन्द को जाली सन्धिपत्र दिखाकर सन्तुष्ट कर लिया गया, और इस प्रकार धोखे की नींव पर भारत में अंग्रेज़ी राज्य के भवन की पहली ईंट रखी गई।

क्लाइव को बहुत से अंग्रेज़ लेखकों ने भारत में अंग्रेज़ी प्रभुत्व का जन्मदाता, महान् सेनापति, महापुरुष और Heaven-born General आदि विशेषणों से विशेषित किया है। उसने युद्धों में जो सफलता प्राप्त की, उससे अंग्रेज भारत के स्वामी बन गये, इस कारण अंग्रेज़ों द्वारा क्लाइव की बड़ाई करना या आभार प्रदर्शित करना तो स्वाभाविक ही है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि क्लाइव ने भारत में ब्रिटिश राज्य का बीजारोपण करते हुए बीज में छल और प्रवंचना का जो विष मिला दिया, ब्रिटिश राज्य उसके प्रभाव से ओतप्रोत हो गया। अनेक अंग्रेज़ लेखकों और राजनीतिक लोगों को भी क्लाइव के उस प्रवंचनाजाल की निन्दा करनी पड़ी। भारत में अंग्रेज़ी राज्य झूठ और विश्वासघात पर क़ायम हुआ था, अतः अन्त तक वह उस अभिशाप से मुक्त न हो सका।

प्लासी की लड़ाई की समाप्ति पर जब अमीचन्द ने अपना पारितोषिक माँगा तो उसे उत्तर मिला कि तुम्हें जो लाल रंग का सन्धिपत्र दिखाया गया था, वह जाली था। असली सफेद सन्धिपत्र में तुम्हारे सम्बन्ध में कोई चर्चा नहीं है, तुम्हें कुछ नहीं मिलेगा। अमीचन्द को इस उत्तर से निराशा की ऐसी ठोकर लगी कि वह अर्द्ध-विक्षिप्त हो गया। यह ठीक है स्वामी के प्रति द्रोह करने वाले विश्वासघाती को जो दण्ड मिला, वह उचित ही था, साथ ही यह भी ठीक है कि अंग्रेज़ सेनापति ने जो मित्रद्रोह और विश्वासघात किया, उसके दण्ड से अंग्रेज़ भी बच न सके। लगभग दो सौ वर्ष बाद अंग्रेज़ों को अत्यन्त अपमानित होकर भारत से भागना पड़ा। भगवान् के राज्य में देर है, अन्धेर नहीं।

सातवाँ अध्याय

प्लासी की लड़ाई

जिन दिनों क्लाइव सिराजुद्दौला के वजीरों, सेनापतियों और साथियों को राज्य और धन का लालच देकर राजद्रोही और मित्रद्रोही बना रहा था, उन्हीं दिनों उसने सिराजुद्दौला को जो पत्र लिखे, वह फरेब और धूर्तता के उज्ज्वल नमूने हैं। वह अपने पत्रों में सिराजुद्दौला से मित्रता का दम भरता रहा, और अंग्रेजी न्यायालयों की शैली के अनुसार खुदा को हाज़िर-नाज़िर मानकर झूठ बोलता रहा। अन्दर से नवाब की जड़ें खोखली कर रहा था, और ऊपर से उसे अमर मित्रता का भरोसा दिला रहा था।

१७५७ के जून मास में क्लाइव का तैयार किया हुआ षड्यन्त्र पक गया। उधर क्लाइव मद्रास से जो सैनिक सहायता प्राप्त करना चाहता था, वह भी आ गई। समय उपयुक्त समझकर अंग्रेज़ सेनापति ने फरेब का बुर्का उतार फेंका, और अपने प्रतिनिति वाट्स को आज्ञा दी कि वह मुर्शिदाबाद से निकल आये। वाट्स ने यह बहाना बनाकर नवाब से बाहिर जाने की आज्ञा माँगी कि हवा खाने और शिकार खेलने की इच्छा है। इसे सिराजुद्दौला की कमसमझी और अदूरदर्शिता का प्रमाण समझना चाहिए कि उसके आसन के नीचे बारूद इकट्ठा होता रहा और वह बिल्कुल अनजान रहा। नवाब से छल द्वारा अनुमति प्राप्त करके वाट्स मुर्शिदाबाद से निकल भागा, और अंग्रेज़ सेनाओं के उपनिवेश में जा पहुँचा।

जब पानी गले से भी ऊपर पहुँच गया, तब नवाब की नींद खुली। वाट्स के मण्डली सहित निकल भागने पर उसका माथा ठनका। उस समय उसने अनुभव किया कि अंग्रेज़ उस पर आक्रमण करना चाहते हैं। उसने क्लाइव को एक चिट्ठी लिखी जिसमें अपनी आशंका प्रकट कर दी।

तैयारी पूरी हो चुकी

क्लाइव अब दम्भ का पर्दा उतार देने के लिए तैयार था। १२ जून, १७५७, के दिन क्लाइव को मीर जाफर का संदेश मिला कि तैयारी पूरी हो चुकी है, आगे बढ़ो। १३ जून को क्लाइव की सेना ने नवाब पर आक्रमण के लिए कूच कर दिया। उसी दिन क्लाइव ने सिराजुद्दौला को एक पत्र लिखा जिसमें तरह-तरह के आरोप लगाकर यह निश्चय प्रकट किया गया था कि मैंने सेना सहित कासिम बाज़ार पहुँचकर अपना झगड़ा मीर जाफर, रामदुर्लभ और जगत् सेठ के न्यायालय के सामने उपस्थित करने का निश्चय किया है। क्लाइव को सिराजुद्दौला के बुद्धूपन का इतना भरोसा था कि वह अब भी उसे धोखे में रखने की आशा रखता था। परन्तु अब सिराजुद्दौला जाग चुका था। वह भी अपनी सेनाओं के साथ प्लासी नामक स्थान पर पहुँचकर मोर्चाबन्दी कर रहा था।

प्लासी का मैदान मुर्शिदाबाद से २० मील की दूरी पर था। वहाँ पलाश के पेड़

अधिक थे, उन्हीं के कारण वह प्लासी कहलाता था। अंग्रेजों की सान पर चढ़कर वह प्लासी बन गया। नवाब की सेनाओं ने वहीं अपनी मोर्चाबन्दी की थी। क्लाइव की सेनाएं २२ जून को प्लासी के रणक्षेत्र में पहुँच गईं।

दोनों सेनाओं की तुलना

स्थूल दृष्टि से देखने पर दोनों सेनाओं की संख्याओं में बड़ा अन्तर था। अंग्रेजों की सेना में ९५० यूरोपियन, २०० दोगले, २,१०० हिन्दुस्तानी सिपाही थे। उनके पास ८ बड़ी और २ छोटी तोपें थीं।

नवाब की सेना में ५०,००० पैदल सिपाही, १८,००० घुड़सवार और ५३ तोपें थीं।

दोनों में पहला भेद तो यह था कि अंग्रेजों की सेना के सिपाही नियन्त्रण में बँधे हुए और युद्ध-कला में सुशिक्षित थे, और नवाब की सेना के सिपाही हथियारबन्द भीड़ के सिवा कुछ नहीं थे। वे भिन्न-भिन्न सरदारों के साथ नत्थी थे, किसी एक केन्द्र के प्रति उनकी भक्ति नहीं थी, और न युद्ध-कला में शिक्षित ही थे।

दूसरा बड़ा भेद यह था कि नवाब की सेना विश्वासघाती राजद्रोहियों से भरी पड़ी थी। सिराजुद्दौला का सब से मुख्य सेनापति मीर जाफर विश्वासघातियों का सरदार था। वह एक ओर सिराज के सामने मित्रता की कसमें खाकर प्रतिज्ञा करता था कि यदि अंग्रेजों ने भागीरथी को पार किया तो मैं उन्हें तबाह कर दूंगा, और दूसरी ओर क्लाइव को प्रतिदिन गुप्त संदेशे भेजकर तत्काल आक्रमण करने की प्रेरणा कर रहा था। नवाब का दूसरा विश्वासपात्र सेनापति राजा दुर्लभराम भी शत्रुओं के षड्यन्त्र का मुखिया था। घरू फूट और द्रोह के कारण नवाब की देखने में विशाल सेना वस्तुतः शून्य से भी हीनतर थी। प्रारम्भ से ही उसमें पराजय और नाश के पूरे लक्षण विद्यमान थे।

लड़ाई की वास्तविकता

जिसे प्लासी की लड़ाई कहते हैं—उसमें वस्तुतः कुछ बारूदी नोंक-झोंक के सिवा कुछ भी नहीं हुआ। क्लाइव तो केवल विश्वासघातियों पर ही भरोसा रखता था। लड़ाई से दो दिन पहले उसे समाचार मिला कि मीर जाफर नवाब से मिल गया है तो उसकी हिम्मत छूट गई, उसने अपने सहायकों की युद्ध समिति बुलाकर यह प्रस्ताव रखा कि अभी युद्ध न किया जाय। यह निश्चय करके वह एक पेड़ के नीचे बैठ गया, और चिन्तातुर होकर किंकर्तव्यता पर सोचने लगा। इतने में मीर जाफर की ओर से दूसरा सन्देश आ गया—जिसमें निश्चिन्त होकर आगे बढ़ने की प्रेरणा की गई थी। क्लाइव का क्लैव्य नया हो गया, और वीरता जाग उठी। अपने शिविर में जाकर उसने सेना के नाम आगे बढ़ने का आदेश लिख दिया।

क्लाइव की सेना २३ जून के प्रातःकाल १ बजे प्लासी के मैदान में पहुँचा। वहाँ आमों का एक बाग था, जिसके चारों ओर मिट्टी की चारदीवारी-सी बनी हुई थी। चार-दीवारी के चारों ओर खाई थी। इस प्रकार उस छोटे से क़िले में, जिसकी लम्बाई ८०० गज़ और चौड़ाई ३०० गज़ थी, अंग्रेज कम्पनी की फ़ौज ने डेरा जमाया।

२३ जून को प्रातःकाल प्रकाश हो जाने पर नवाब की सेना ने अपने शिविरों से

निकलकर कम्पनी की सेना की ओर बढ़ना आरम्भ किया। नवाब की सेना के आगे चालीस-पचास फ्रांसीसी सिपाहियों का एक दस्ता था, जो संख्या में थोड़ा होता हुआ भी शिक्षित और नियन्त्रित होने के कारण नवाब का बहुत विश्वासपात्र था। फ्रांसीसी दस्ते के पीछे मीर मर्दान के सेनापतित्व में ५,००० घुड़सवार आगे बढ़ रहे थे। घुड़सवारों के पीछे पैदल सेना थी। नवाब का अधिकतर भरोसा पैदल सेना पर ही था। वह हिन्दुस्तानी सेना की रीढ़ की हड्डी थी, और वही सबसे अधिक निर्बल थी, क्योंकि उसके तीनों प्रमुख सेनापति—मीर जाफर, यार लुत्फ ख़ां और दुर्लभराम—अंग्रेजों से मिले हुए थे। नवाब की सेना उस हाथी के समान थी, जो बाहिर से बहुत विशालकाय हो, परन्तु अन्दर से बिल्कुल खोखला केवल खालमात्र ही हो।

६ बजे के लगभग लड़ाई आरम्भ हुई। लड़ाई का अभिप्राय इतना ही है कि नवाब के तोपखाने ने गोले बरसाने शुरू किये। दोपहर तक वह गोलाबारी जारी रही, परन्तु तोपची अशिक्षित थे, इस कारण प्रायः गोले व्यर्थ ही गये। उत्तर में कम्पनी की तोपों ने भी अपने मुँह खोल दिये, परन्तु प्रतीत होता है कि विशेष हानि उनसे भी नहीं हुई।

लगभग आध घण्टे की दुतर्फा गोलाबारी से क्लाइव की सेना के १० अंग्रेज़ और २० हिन्दुस्तानी सिपाही मारे गये और घायल हो गये, यह देखकर क्लाइव ने अपनी बढ़ी हुई सेनाओं को पीछे हटा लिया।

दोपहर बाद आकाश काले-काले बादलों से घिर गया, और मूसलधार वर्षा होने लगी। पानी लगभग एक घण्टे तक बरसा। उससे नवाबी फ़ौज का गोला-बारूद गीला हो गया, जिस कारण उसे गोलाबारी बन्द कर देनी पड़ी। इधर कम्पनी की तोपें पहले ही चुप हो चुकी थीं। यह समझ कर कि अंग्रेज़ घबराकर पीछे हट रहे हैं, मीर मर्दान के घुड़सवार उनका पूर्ण संहार करने के लिए आगे बढ़े। कम्पनी की तोपें पीछे हट गई थी, परन्तु बिल्कुल तैयार खड़ी थीं। ज्योंही घुड़सवार आगे बढ़े, तोपों ने मुंह खोल दिये। नवाब के चुने हुए घुड़सवारों का स्वागत गर्म गोलों से हुआ, जिससे स्वयं मीर मर्दान और अन्य बहुत से वीर सिपाही मारे गये। तोपों की मार खाकर और सेनापति के मारे जाने से बेदिल होकर वह ५,००० की अश्व-सेना थोड़े ही समय में रेत की दीवार की तरह बिखर गई।

जब मीर मर्दान की मृत्यु का समाचार सिराजुद्दौला को मिला तो वह बहुत घबरा गया, और घबराहट को दूर करने के लिए मीर जाफर के पास गया। मानों प्यासा प्यास बुझाने के लिए आग के पास पहुँचा हो। मीर जाफर के पास पहुँचकर सिराजुद्दौला ने अपनी पगड़ी उतारकर विश्वासघाती के पाँव में रख दी, और करुण स्वर से कहा 'जाफर, इस पगड़ा की रक्षा करो'। विश्वासघाती ने फिर झूठा वायदा दोहरा दिया, और अपने शिविर में आकर क्लाइव को कहला भेजा कि काम तैयार है, जोर का हमला कर दो, और यदि इस समय हमला न कर सको, तो रात को मत चूकना।

एक विश्वासघाती गया ही था कि दूसरा आ गया। मीर जाफर के जाने पर राजा दुर्लभराय आ पहुँचा। उसने गर्म लोहे पर चोट की। नवाब तो पहले ही घबराया हुआ था, राजा ने उसे समाचार दिया कि दुश्मन आगे बढ़ रहा है, और हमारे सिपाही पीठ दिखा रहे

हैं। ऐसी दशा में लड़ना बिल्कुल व्यर्थ है, भागकर जान बचाने में ही कुशल है।

अदूरदर्शी अभागा सिराजुद्दौला विश्वासघातियों के चक्कर में आ गया। 'यः पालायति स जीवति' के भ्रान्त सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए वह २,००० घुड़सवारों को साथ लेकर प्लासी के युद्ध-क्षेत्र से भाग निकला। सिराजुद्दौला के उस एक कायरतापूर्ण कार्य ने इंग्लैण्ड को लगभग २०० साल की साम्राज्य-विभूति और भारत को राजनीतिक दासता प्रदान की। कभी-कभी एक क्षण की भूल शताब्दियों तक का अभिशाप बन जाती है। नवाब का भागना था कि उसकी सेनाएँ तितर-बितर हो गईं। विश्वासघाती सेनापति अपने-अपने सिपाहियों को लेकर अलग हो गये, और क्लाइव से मिलने की प्रतीक्षा करने लगे। नवाब के थोड़े से फ्रांसीसी सिपाहियों ने कुछ अड़ने का यत्न किया, परन्तु सबकी भगदड़ में उनके भी पाँव उखड़ गये। इस तरह दिन के २ बजते-बजते प्लासी का युद्ध समाप्त हो गया। भारत के आकाश पर इस्लामी हुकूमत का सितारा डूबने लगा, और अंग्रेज़ी हुकूमत का सितारा चढ़ने लगा।

यह थी प्लासी की वह प्रसिद्ध लड़ाई, जिसे अंग्रेज लेखक संसार की बड़ी निर्णायक लड़ाइयों की सूची में प्रमुख स्थान देते हैं। हमें तो सन्देह होता है कि वह लड़ाई भी थी या नहीं, वह तो एक ऐसे विशाल और गहरे षड्यन्त्र का प्रदर्शन था, जिसमें एक ओर एक कुटिल नीति निपुण घाघ था और दूसरी ओर एक भोला शिकार। अदूरदर्शिता की हार हुई, और कुटिल नीति की जीत हुई। यदि इसका नाम युद्ध है तो प्लासी का प्रदर्शन भी युद्ध था। जिसे सामान्य भाषा में युद्ध कहते हैं, वह तो प्लासी में हुआ ही नहीं।

अग्रेज़ लेखक क्लाइव की गिनती संसार के दर्जन भर प्रसिद्ध सेनापतियों में करते हैं। यदि प्लासी का युद्ध जीतने के कारण वह प्रसिद्ध है तो हमें कहना पड़ेगा कि दावा सर्वथा निर्मूल है। अंग्रेज प्लासी में धोखे और जालसाजी से जीते, और सिराजुद्दौला अपनी अदूरदर्शिता और बुद्धूपन से परास्त हुआ। प्लासी की लड़ाई के कारण क्लाइव का विश्वविख्यात सेनापतियों में नाम आना तो एक ओर रहा, उसकी साधारण सेनापतियों में भी गिनती नहीं हो सकती। उस नाममात्र की लड़ाई में उसे दो बार अपने सहायकों की कॉन्फ्रेंस बुलानी पड़ी, और उनमें क्लाइव की अपनी राय लड़ने के विरुद्ध ही रही। उसे तो विश्वासघाती मीर जाफर के तकादों के अंकुश ने युद्ध-क्षेत्र तक पहुँचाया, अन्यथा वह तो रास्ते में ही साँस छोड़ चुका था।

यह ब्रिटिश साम्राज्य का दुर्भाग्य था कि उसका बुनियादी पत्थर छल और प्रवंचना की भूमि पर रखा गया था। उसका परिणाम यह हुआ कि ब्रिटिश राज जितने समय तक भारत पर छाया रहा, वह दम्भ और वायदा-भंग की दीवारों पर ही खड़ा रहा। यदि अंग्रेज़ भारत को तलवार के बल पर जीतते तो शायद कुछ अधिक समय तक राज्य कर सकते। जिस राज्य की जड़ों में ही छल और कपट हो वह वास्तविकता की स्थिरता को कैसे पा सकता था? प्लासी के युद्ध ने आगामी अंग्रेज़ विजेताओं के सामने एक मॉडल बनाकर रख दिया जिस पर वह लगभग १०० वर्ष तक चलते रहे।

प्लासी के युद्ध के परिणामों का संक्षेप से निर्देश कर देना पर्याप्त है। युद्ध में अंग्रेज़ों

की सेना के ७ यूरोपियन और १६ हिन्दुस्तानी सिपाही मारे गये, और १३ यूरोपियन और ३६ हिन्दुस्तानी सिपाही घायल हुए। नवाब की सेना के मृतकों और घायलों की संख्या कम से कम एक हज़ार कूती जाती है। भागती हुई सेना अधिक मार खाती ही है।

अगले दिन मीर जाफर अपने विश्वासघात का पारितोषिक पाने के लिए क्लाइव की सेवा में हाज़िर किया गया। क्लाइव ने उसे बंगाल, बिहार और उड़ीसा—इन तीन प्रान्तों का सूबेदार घोषित कर दिया, और उसने वह सब रियायतें अंग्रेज़ व्यापारियों को देनी स्वीकार कीं, जो सिराजुद्दौला के समय प्राप्त थीं। साथ ही उसने कलकत्ता और उसके दक्षिण में समुद्र तक की सब भूमि कम्पनी को बख्श दी।

यह तो प्रारम्भिक शर्त थी। इसके साथ लगी हुई जो अन्य लिखित और अलिखित शर्तें थीं, वह कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं थीं। कलकत्ते की क्षति-पूर्ति के लिए ७७ लाख रुपयों का दण्ड लगाया गया था। अंग्रेजों के प्रत्येक सेनापति और सिपाही के लिए उनकी हैसियत के अनुसार बड़ी-बड़ी रिश्वतें तय की गई थीं। क्लाइव को क्या मिला यह पूर्णरूप से कभी मालूम नहीं हो सका। जब विलायत लौटने पर क्लाइव पर पार्लमेण्ट के सामने अभियोग लगाये गये, तब संसार को यह जानकर आश्चर्य हुआ कि विश्वविख्यात विजेता क्लाइव ने केवल हिन्दुस्तानियों को ही धोखा नही दिया, उसने अपने मालिकों को भी जी खोलकर धोखा दिया, क्योंकि नवाब से लूटा या खसूटा हुआ जो धन कम्पनी या सरकार के कोष में जाना चाहिए था, वह क्लाइव की जेबों में चला गया। कहा जाता है कि नवाब के ख़ज़ाने से प्रत्येक अंग्रेज़ सिपाही की जेब में कम से कम ३,००० पौण्ड पहुँच गये। क्लाइव को २,३४,००० पौण्ड मिले और अंग्रेज़ों की कौंसिल के अन्य सदस्यों को ५०,००० से ६०,००० पौण्ड तक प्रति सदस्य दिये गये।

सिराजुद्दौला का अन्त

सिराजुद्दौला का अन्त बुरा हुआ। प्लासी से भागकर वह मुर्शिदाबाद पहुँचा, परन्तु जब वहाँ भी खतरा मालूम हुआ, तब किश्ती द्वारा राजमहल की ओर रवाना हो गया। रास्ते में किश्ती के मल्लाह थक गये, तो उसे एक पुराने बाग़ में रात काटने के लिए ठहरना पड़ा। वहाँ लोगों ने उसे पहचान लिया और वह पकड़कर मुर्शिदाबाद वापिस भेजा गया। मीर जाफर ने उसे हिफ़ाज़त से रखने के लिए अपने बेटे मीरां के सुपुर्द कर दिया। मीरां ने क़ैदी की ऐसी हिफ़ाज़त की कि रात के समय मुहम्मद बेग नामक एक व्यक्ति ने उसकी हत्या कर दी। एक मुसलमान इतिहास-लेखक ने लिखा है कि सिराजुद्दौला की हत्या अंग्रेज़ हाकिमों और जगत्सेठ की प्रेरणा से की गई। मुसलमान इतिहास लेखक का यह मत सत्य है, असत्य है, अथवा अर्द्धसत्य है—उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर यह निश्चय करना सम्भव नहीं, अतः हम इतना ही लिखकर सन्तोष करते हैं कि उस समय यह भी एक सम्भावना लोगों में अभिमत मानी जाती थी कि सिराज का बध अंग्रेज़ों और उसके साथियों की गुप्त प्रेरणा से किया गया है।

आठवाँ अध्याय

बंगाल की दीवानी

मीर जाफर को नवाबी बहुत महँगी पड़ी। उसने सन्धिपत्र में अंग्रेज़ कम्पनी को, अंग्रेज़ सेनापतियों को और उनके सिपाहियों को जितनी धन-राशि देने का वायदा किया था, उसका आधार यह अफवाह थी कि मुर्शिदाबाद के ख़ज़ाने में ४ करोड़ पौण्ड के बराबर धन जमा है। परन्तु जब युद्ध के पश्चात् ख़ज़ाना खोला गया तो उसमें केवल डेढ़ करोड़ पौण्ड के मूल्य का धन मिला। इधर अंग्रेज़ लोग अपने हिस्से में छदाम भर की कमी करने को तैयार नहीं थे। उनका दावा तो प्रतिदिन किसी न किसी बहाने से बढ़ता ही जाता था। बेचारा मीर जाफर बड़ी मुसीबत में फँस गया। यदि अंग्रेज़ों को रुपया नहीं देता तो गद्दी जाती है, और यदि धनी लोगों से नोचकर धन एकत्र किया जाता है तो प्रजा में असन्तोष बढ़ता है। इस दुविधा में मीर जाफर ने अपने स्वभाव के अनुसार कायरों के मार्ग का अनुसरण किया। उसने अपने सूबेदारों को आज्ञा दी कि जैसे भी हो, प्रजा से धन निकाला जाय।

यह तो स्पष्ट था कि अब असली मालिक अंग्रेज़ थे, मीर जाफर तो उनकी कठपुतली था। उसे उस समय के लोग 'लार्ड क्लाइव का गधा' कहा करते थे। वह अंग्रेजों के शतरंज का केवल एक मोहरा था।

इस परिस्थिति से लाभ उठाकर अंग्रेज़ों ने नवाब के सूबे में उचित और अनुचित रास्तों से अपने व्यापार को बढ़ाने का प्रयत्न इतनी तीव्रता से जारी कर दिया कि देसी व्यापार को और नवाब की आमदनी को बहुत भारी धक्का पहुँचा।

मीर जाफर की दुविधा

अंग्रेज़ों को दी गई भेंटों और रिश्वतों तथा व्यापार की क्षीणता के कारण जब मीर जाफर की आर्थिक स्थिति बिगड़ने लगी तो उसे क्लाइव को सन्तुष्ट रखना बहुत आवश्यक प्रतीत होने लगा। इसी बीच में एक और बड़ी घटना हो गई, जिसने मीर जाफर पर अंग्रेज़ों का प्रभुत्व और भी दृढ़ कर दिया। हम देख चुके हैं कि मुग़ल साम्राज्य उस समय अपनी शक्ति को खोकर केवल छायावशेष रह गया था। शब्द क्षीण हो गया था, केवल प्रतिध्वनि बाक़ी थी। कहने को अब भी सारे देश पर मुग़ल सम्राट् का शासन था, परन्तु वस्तुतः वह दिल्ली का भी राजा नहीं था। बड़े-बड़े विशेषणों और परिभाषाओं में वृद्धि हो गई थी, परन्तु वास्तविकता नष्ट हो चुकी थी। मुग़ल साम्राज्य की उस समय की भाषा में बंगाल, बिहार और उड़ीसा के तीनों सूबों का सूबेदार बादशाह को शाहज़ादा कहा जाता था। उस समय का शाहज़ादा अली गौहर वज़ीर के अत्याचारों से तंग आकर दिल्ली से भाग निकला था। उसने अपने लिए एक स्वतन्त्र सिंहासन बनाने की दृष्टि से, अपनी सूबेदारी के अधिकार को दृढ़ करने का निश्चय करके १७५९ में बिहार पर आक्रमण कर दिया। मीर जाफर हर प्रकार

से अशक्त था। कायर तो था ही, आर्थिक कठिनाई के कारण उसकी सेना को महीनों की तनख़्वाहें नहीं मिली थीं। मुग़ल शाहज़ादे का मुकाबला कैसे करता ? उसके पास बस एक ही उपाय था कि क्लाइव की शरण में जाता। उसने वही किया। क्लाइव ने बिहार की रक्षार्थ, मीर जाफर के लड़के मीरां की सहायता के लिए अपनी कुछ सेना भेज दी। अली गौहर कोई अच्छा योद्धा नहीं था, और न उसके पास काम की फ़ौजें थीं। थोड़ी-बहुत झपटों के पश्चात् शाहज़ादा की हिम्मत टूट गई, और क्लाइव के शब्दों में "वे लोग जिस तेज़ी से बिहार में आये थे, उससे अधिक तेज़ी से वहाँ से भागने लगे।"

इस घटना से मीर जाफर पर क्लाइव का दबदबा और अधिक बढ़ गया, जिसका फल यह हुआ कि मीर जाफर ने दिल्ली से क्लाइव को 'मन्सबदार' की उपाधि दिला दी, और स्वयं क्लाइव को इतनी बड़ी जागीर प्रदान कर दी कि जिसकी वार्षिक आय ३० सहस्र पौण्ड थी।

१७५९ के अक्तूबर मास में डच लोगों के जहाज़ों ने बंगाल के समुद्र-तट पर आक्रमण कर दिया। अंग्रेज़ जहाज़ भी शीघ्र ही मैदान में आ गये और चन्द्रनगर और चिन्सुरा के मध्य में दोनों बेड़ों का तुमुल युद्ध हुआ। अंग्रेज़ों की जीत हुई, और डच लोगों को भारी निष्फलता का मुँह देखना पड़ा। इस पराजय ने डच शक्ति को भारतीय समुद्रों से सदा के लिए विदा कर दिया। डच तो परास्त हो गये पर बेचारे मीर जाफर के सिर पर एक नई मुसीबत लाद गये। अंग्रेज़ों को सन्देह हो गया कि आक्रमण करने का निमन्त्रण मीर जाफर ने ही दिया था।

१९६० के आरम्भ में क्लाइव ने अनुभव किया कि उसने बहुत पर्याप्त धन और नाम कमा लिया है, अब उन्हें पचाने के लिए घर जाना आवश्यक है। १७६० के जून मास में मि० हालवेल के हाथ में शासन की बागडोर पकड़ाकर उसने इंग्लैण्ड के लिए प्रयाण किया। क्लाइव का उत्तराधिकारी मि० हेनरी वान्सटार्ट को नियुक्त किया गया था। वान्सटार्ट के आने तक स्थानापन्न तौर पर मि० हालवैल कार्य करता रहा।

नये अधिकारियों के शासन सँभालने पर मीर जाफर का दुर्दैव दिनोंदिन प्रबल होने लगा। क्लाइव की धूर्तता और सिराजुद्दौला की मूर्खता से हिन्दुस्तानी पैसे का रुधिर अंग्रेज़ बाघ के मुँह को लग चुका था। क्लाइव को मिली हुई धन-राशि और जागीर ने अंग्रेज व्यापारियों को लालायित कर दिया था। हालवैल जैसे अंग्रेज़ों ने विचार किया कि यदि बंगाल की गद्दी का शतरंज खेलकर क्लाइव और उसके साथी हाथ रंग सकते हैं, तो हम क्यों नहीं रंग सकते ? उन्होंने ने भी बंगाल में नई 'क्रान्ति' करने का निश्चय किया। बंगाल में अंग्रेज़ों ने जो धींगा-धींगी और लूटखसोट की, उसका नाम उस समय के कई अंग्रेज़ लेखकों ने 'क्रान्ति' रखा है। कलम हाथ में लेकर आप मनचाहे शब्द का प्रयोग कर सकते हैं आप चोरी का नाम योग-साधना भी रख सकते हैं।

अंग्रेज़ों ने अब यह निश्चय किया कि क्योंकि मीर जाफर तो पूरी तरह चुस चुका, अब उसमें रस नहीं है, अतः अब किसी और मुहरे को बंगाल की शतरंजी पर आगे बढ़ाकर

उससे रिश्वत, इनाम और जागीरों की उपलब्धि की जाय। इस निश्चय को कार्य में परिणत करने के लिए एक विश्वासघाती की आवश्यकता थी। उस समय के भारत का दुर्भाग्य था कि ऐसे विशसघाती प्रत्येक प्रान्त और प्रत्येक सम्प्रदाय में मिल जाते थे। चरित्र की इसी निर्बलता ने पहले हिन्दू राजाओं के राज्य नष्ट किये, और फिर अंग्रेज़ों का सम्पर्क होने पर मुसलमान हुकूमतों को तबाह किया। यदि भारतीय दुर्ग में द्रोही और विश्वासघाती लोगों की मात्रा इतनी अधिक न होती, तो यहाँ किसी विदेशी का प्रवेश सम्भव नहीं था। हमारी जाति के नैतिक चरित्र की इस निर्बलता के कारण ही धूर्त शत्रुओं को हमें इतना शीघ्र परास्त कर देने में सफलता होती रही है। मीर जाफर के पदच्युत होने पर उसकी गद्दी पर बैठने की महत्त्वाकांक्षा वाला व्यक्ति अंग्रेज़ों को आसानी से मिल गया। उसका नाम मीर कासिम था।

अंग्रेज़ों की कठपुतली मीर कासिम

मीर कासिम मीर जाफर का दामाद था। जब अंग्रेज़ों ने मीर जाफर का बलिदान करने का निश्चय कर लिया तो बहाना ढूंढ़ना क्या कठिन था? मीर जाफर अत्याचारी है, उसने वायदे पूरे नहीं किये, उसकी प्रजा और सेना असन्तुष्ट है, यह और ऐसे ही राजनीति क्षेत्र में प्रसिद्ध बहानों का शोर मचाकर एक दिन अंग्रेज़ों ने मीर जाफर को गद्दी से उतारकर मीर कासिम को उसके स्थान पर नवाब घोषित कर दिया। मीर जाफर को कलकत्ते में नज़रबन्द कर दिया गया। 'क्लाइव का गधा' क्लाइव के तबेले में पहुँच गया। इस बार अंग्रेज़ों ने इतनी चतुराई और की कि अपने वशवर्ती नाममात्र के मुग़ल सम्राट् शाह आलम से बंगाल, बिहार और उड़ीसा की सूबेदारी का शासनाधिकार मीर कासिम के नाम लिखा लिया।

मीर कासिम को सूबेदारी के जो दाम देने पड़े वह कम नहीं थे। अंग्रेज़ों की कौंसिल को दो लाख पौण्ड का 'पारितोषिक' या 'नजराना' प्राप्त हुआ। उस समय के गवर्नर वन्सीटार्ट की जेब में ५० हज़ार पौण्ड पहुँचे, और कम्पनी को बर्दवान, मिदनापुर और चिटागाँव जैसे समृद्ध ज़िलों पर पूर्णाधिकार मिल गया।

१७५७ ईस्वी के जून मास में प्लासी की लड़ाई हुई। जुलाई में मीर जाफर को नवाब की गद्दी पर बिठाया गया। १७६० में क्लाइव के विलायत जाने के पश्चात् मीर जाफर को गद्दी से उतारकर उसके स्थान पर मीर कासिम को नवाब के आसन पर रख दिया गया। बंगाल की 'क्रान्ति' का यह दूसरा दौर केवल तीन वर्षों तक जारी रह सका। इन तीन वर्षों में दोनों की आँखें खुल गईं। मीर कासिम ने अनुभव कर लिया कि जिसे वह सिंहासन समझे हुए था, वह तो अंग्रेज़ों का केवल खुला कारागार है। उसने नवाब बनकर देखा कि बंगाल के असली मालिक अंग्रेज़ हैं। वह मनमाना व्यापार कर सकते हैं, चुंगी दें या न दें, यह उनकी मर्ज़ी है, उनके कारिन्दों को नवाब या उसके आदमी छू तक नहीं सकते। मीर कासिम की अधीर आत्मा इस खुले अत्याचार के विरुद्ध विद्रोह के लिए उद्यत हो गई। उधर अंग्रेज़ों ने भी तीन वर्षों में जान लिया कि अब मीर कासिम में कोई रस नहीं रहा। वह भी पूरी तरह निचोड़ा जा चुका है। मीर कासिम ने कहना शुरू कर दिया कि अंग्रेज़

उसकी प्रजा पर बलात्कार करते हैं, अंग्रेज़ों ने उत्तर दिया कि नवाब अत्याचारी है, झूठा है, और विश्वासघात है। परिणाम यह हुआ कि अंग्रेज़-कौंसिल ने मीर कासिम नाम के मुहरे को उठाकर अलग रख दिया, कलकत्ते की कैद से मीर जाफर नाम के मुहरे को निकालकर मुर्शिदाबाद में स्थापित कर दिया, और इस तरह बंगाल की 'क्रान्ति' का तीसरा चरण समाप्त हुआ। यह परिवर्तन १७६३ ईस्वी के जुलाई मास में हुआ। लगभग ५ वर्ष में तीन नवाब बनाये गये—एक व्यापारी कम्पनी के लिए सौदा तो बुरा नहीं था।

दो वर्ष बाद मृत्यु अंग्रेज़ कम्पनी की सहायता के लिए आ पहुँची। १७६५ के फरबरी मास में मीर जाफर मर गया। मीर जाफर का बड़ा लड़का मीरां मर चुका था, इस कारण दूसरा लड़का नजमुद्दौला गद्दी पर बैठा।

नजमुद्दौला की नवाबी कुछ महीनों तक ही चली। इस समय क्लाइव दूसरी बार गवर्नर जनरल और सेनापति बनकर भारत वापिस आ चुका था। वह ९ अगस्त, १७६५, को इलाहाबाद में मुग़ल सम्राट् शाह आलम से मिला। शाह आलम स्वयं उस समय राजधानी से भागा हुआ वध के नवाब वजीर के यहाँ शरणार्थी था। उसकी लाचारी से लाभ उठाकर क्लाइव ने उससे ईस्ट इण्डिया कम्पनी के नाम बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी प्राप्त कर ली। मुग़ल सम्राट् ने उस एक आदेश द्वारा तीन प्रान्तों की दीवानी के साथ-साथ अपनी स्वतन्त्रता को भी तिलांजलि दे दी। हम कह सकते हैं कि भारत में मुग़ल सल्तनत के अन्त और अंग्रेज़ सल्तनत के प्रारम्भ का पहला दिन ९ अगस्त १७६५ है।

यह एक स्मरणीय घटना है कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी को दीवानी प्राप्त होने, और नवाब नजमुद्दौला के मरने के बीच में समय का कोई विशेष अन्तर नहीं है। नजमुद्दौला क्लाइव से मिलकर घर को लौट रहा था कि रास्ते में ही उसके पैर में ऐसी सख़्त दर्द आरम्भ हो गई कि वह घर पहुँचते-पहुँचते मर गया। उस मुलाक़ात और इस मृत्यु में कोई सम्बन्ध है या नहीं, इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया जा सकता। दोनों में परस्पर सम्बन्ध का सन्देह उस समय भी था और अब भी है। सन्देह को पुष्ट अथवा निवारण करने योग्य ऐतिहासिक सामग्री अभी तक प्राप्त नहीं हुई।

नवाँ अध्याय

क्लाइव का अन्त

हमने क्लाइव के जीवन की अन्धकारमय समाप्ति पर एक अलग परिच्छेद लिखने का निश्चय इसलिए नहीं किया कि क्लाइव कोई अत्यन्त महान् व्यक्ति था, अपितु इसलिए किया है कि क्लाइव को भारत में अंग्रेज़ी नींव का रखने वाला कहा जाता है। कुछ अंग्रेज़ लेखकों ने उसकी सिकन्दर और नैपोलियन से उपमा दी है, और इंग्लैण्ड के प्रधान मन्त्री पिट ने उसे 'ईश्वर का कृपापात्र सेनापति' बतलाया था। १८वीं शताब्दी में भारत को जीतने और उसका शासन करने के लिए जो अंग्रेज आते रहे, वे क्लाइव को अपना आदर्श मानते थे। क्लाइव की गतिविधि उन्हें पसन्द थी। यही कारण था कि अंग्रेज़ी शासन की बुनियाद ऐसे दूषित मसाले से चुनी गई। अंग्रेज़ी शासन को दो सदियों को भली प्रकार समझने के लिए क्लाइव का जीवन और उसका अन्त दीपक का काम दे सकता है। भारत में अंग्रेज़ों के प्रभुत्व का इतिहास क्लाइव के रंग से रंगा हुआ है। इस कारण हमें उसके जीवन का साद्यन्त निरीक्षण ऐतिहासिक दृष्टि से सार्थक प्रतीत होता है।

क्लाइव भारत में अंग्रेज़ी कम्पनी का क्लार्क बनकर आया, और अवसर पाकर सिपाही बन गया। उसे जिस शत्रु से लड़ना पड़ा वह निर्बल था, उसके घर में फूट थी, और वह अदूरदर्शी था। क्लाइव चतुर था, साहसी था, और उसके पास शिक्षित सेना थी। फलतः क्लाइव को सफलता मिली, और अंग्रेज़ों के पाँव भारतवर्ष की भूमि में दृढ़ता से जम गये।

युद्ध-क्षेत्र में सरल-सफलता के कारण इंग्लैण्ड के कुछ लेखकों ने क्लाइव का नाम संसार के प्रसिद्ध विजेताओं की सूची में लिखने का साहस किया है। अपने देश की सत्ता को बढ़ाने वाले व्यक्ति के प्रति पक्षपात नैसर्गिक अवश्य है परन्तु इतिहास-लेखक में उसे गुण नहीं समझा जा सकता। क्लाइव की सबसे बड़ी जीत प्लासी में हुई। अनेक अंग्रेज़ लेखकों की सम्मति है कि प्लासी के युद्ध की गिन्ती संसार के बड़े युद्धों में नहीं हो सकती, और उसमें अंग्रेज़ों को जो सफलता मिली, उसका कारण क्लाइव का महान् सेनापतित्व अथवा अंग्रेज़ सैनिकों की वीरता नहीं थी। सिराजुद्दौला की अदूरदर्शिता, और घर की फूट ने ही अंग्रेज़ों को विजयी बनाया। 'भारत के निर्णायक युद्ध' नामक पुस्तक के लेखक कर्नल मैलीसन ने लिखा है कि "जब घर की फूट ने अपना काम पूरा कर दिया, नवाब को युद्ध-क्षेत्र से भगा दिया, और उसकी सेनाओं को मज़बूत मोर्चे से हटा दिया, तब निर्भय होकर क्लाइव ने अपनी सेनाओं को आज्ञा दी। प्लासी के युद्ध को हम निर्णायक युद्ध कह सकते हैं, परन्तु कोई बड़ा युद्ध नहीं कह सकते।"

इतिहास-लेखक ओर्म ने लिखा है कि जब प्लासी की लड़ाई हो रही थी तब क्लाइव सो रहा था। स्पष्ट है कि प्लासी की जीत संग्रामिक जीत नहीं थी, वह प्रमाद पर पुरुषार्थ की और मूर्खता पर धूर्तता की जीत थी।

अमीचन्द के साथ जो जालसाज़ी की गई, उसके अतिरिक्त क्लाइव पर दूसरा बड़ा आरोप यह था कि उसने अंग्रेज़ी कम्पनी का नौकर होते हुए मीर जाफर तथा अन्य भारतवासियों से बहुत बड़ी-बड़ी रिश्वतें ली। क्लाइव से जब उन आरोपों के सम्बन्ध में पार्लमेण्टरी कमेटी के सम्मुख प्रश्न किया गया तो उसने उन रिश्वतों को 'भेंट' कहकर हल्का करना चाहा, परन्तु इतिहास का लेखक केवल शब्दों के जाल में पड़कर वास्तविकता को नहीं सुलझा सकता। रिश्वत रिश्वत ही रहेगी, चाहे उसका नाम कुछ ही रख दिया जाय। क्लाइव ने धन के लोभ में पड़कर भारत में आने वाले अंग्रेज़ों के सामने गिरावट का जो दृष्टान्त रखा, उसने भारतीय-ब्रिटिश-राज्य को सदा के लिए गहरे काले रंग में रंग दिया।

कहा जाता है कि जब तीसरी बार क्लाइव को भारत का गवर्नर-जनरल बनाकर भेजा गया तब उसने बहुत से सुधार किये--अंग्रेज़ों के अनधिकार व्यापार को बन्द करने की चेष्टा की, और घूंसखोरी को रोकने का यत्न किया, परन्तु यह बात निश्चित है कि उसे सफलता नहीं मिली। मिलती भी कैसे? उनके तो अपने ही हाथ लहू से रंगे हुए थे, वह दूसरों को रक्त पीने से कैसे रोक सकता था? जिन लोगों को वह अनुचित व्यापार करने से रोकना चाहता था, वह जानते और कहते थे, कि जो स्वयं अपराधी है, हमें रोकने का उसे क्या अधिकार है? लगभग डेढ़ वर्ष तक 'शासन सुधार' की व्यर्थ चेष्टा में घोर निष्फलता प्राप्त करके, टूटे हुए मन और थके हुए शरीर को लेकर क्लाइव अपने देश को वापिस चला गया।

पहली बार जब क्लाइव भारत से इंग्लैण्ड गया था उसका बहुत शानदार स्वागत हुआ था, परन्तु इस बार दशा बदल चुकी थी। भारत से वापिस गये हुए अंग्रेज़ों ने इंग्लैण्ड में क्लाइव के अपराधों की कहानियाँ विस्तार से सुना दी थीं, जिससे वहाँ के लोग उद्विग्न हो उठे थे। उन दिनों भारत से लौटे हुए अंग्रेज़ों को इंग्लैण्ड में नवाब (Nabob) के नाम से पुकारा जाता था। नवाबों के प्रति सामान्य अंग्रेज़ जनता के जो भाव थे, उनका प्रसिद्ध अंग्रेज़ मैकाले ने निम्नलिखित मार्मिक वर्णन किया है—

"नवाब श्रेणी के लोग देश में शीघ्र ही बहुत अप्रिय हो गये। उनमें से कुछेक ने पूर्व में अपने गुणों के कारण नाम पाया था और (ब्रिटिश) राज्य की प्रशंसनीय सेवा की थी, परन्तु घर पर उनके वे गुण प्रशंसनीय नहीं समझे जाते थे, और उनकी सेवाओं से लोग परिचित नहीं थे। लोग यही जानते थे कि उनका जन्म छोटे परिवारों में हुआ है, उन्होंने बहुत-सा धन इकट्ठा कर लिया है, जिसका प्रदर्शन वे बड़ी हिमाकत से करते हैं, वे फज़ूल खर्च हैं, उनके कारण अड़ोस-पड़ोस में सब चीज़ें महँगी बिकने लगती हैं, उनके नौकरों की वर्दी ड्यूकों को मात करती है, उनकी शानदार गाड़ी के सामने लार्ड मेयर की गाड़ी परास्त हो जाती है···यह और ऐसे ही अनेक प्रवाद थे, जिनके कारण नवाब लोग, उस श्रेणी में जिसमें वह उत्पन्न हुए थे, और उस श्रेणी में भी जिसमें वे प्रविष्ट होना चाहते थे, ईर्ष्या और द्वेष की आँखों से देखे जाते थे।"

इस प्रकार नवाबों की श्रेणी का वर्णन करके मैकाले लिखता है—

"और यह स्वाभाविक था कि क्लाइव उन नवाबों में सब से अधिक योग्य, सबसे अधिक प्रसिद्ध और पदवी में और धन में सबसे ऊँचा होने के कारण ईर्ष्या का सबसे अधिक अधिकारी हो। वह बड़ी शान से वर्क्ले स्क्वायर में रहता था। उसका एक महल आयशायर में और दूसरा क्लेयर मौण्ट में था। पार्लमेण्ट में उसका इतना प्रभाव था कि अन्य बड़े परिवारों के प्रभाव से टक्कर लेता था। परन्त उसके इस सारे ऐश्वर्य और शक्ति के प्रदर्शन पर लोग व्यंग्य कसते थे।"

यदि क्लाइव के प्रति जनता के द्वेष-भाव का कारण केवल स्पर्द्धा का भाव ही होता, तो शायद मामला बहुत दूर तक न पहुँचता, परन्तु उसका चरित्र पर्वत जैसे बड़े-बड़े कई दोषों से पूर्ण था। धूर्तता लोभ, और हृदय-हीनता के दृष्टान्त तो हम देख ही चुके हैं, इनके अतिरिक्त चरित्र सम्बन्धी अन्य भी बहुत से ऐसे दुर्गुण थे, जिससे लोग उससे घृणा करने लगे थे। उसकी फिज़ूल ख़र्ची का एक दृष्टान्त प्रसिद्ध है। उसने लन्दन के कपड़ों के एक दूकानदार को आज्ञा भेजी थी कि दो सौ बहुत ही बढ़िया कमीज़ें तैयार करके भेज दो, उनका मूल्य चाहे कुछ ही हो।" और ये दो सौ कमीज़ें केवल क्लाइव के अपने शरीर के लिए आवश्यक थीं।

उसकी चरित्रहीनता का एक दृष्टान्त 'लाइफ़ ऑव क्लाइव' के लेखक ने दिया है। विलायत में पहुँचने पर उच्च कुल की एक महिला पर क्लाइव आसक्त हो गया। सीधी तरह इस महिला से मिलकर प्रेम प्रकट करने का तो साहस न हुआ, क्योंकि मन में पाप था, अतः गुप्त दूत द्वारा इंग्लैंड के उस दैवी शक्ति सम्पन्न सेनापति ने उस कुलीन महिला के टाइलिट के स्थान पर अपना प्रेमपत्र रखवा दिया। उस पत्र में अत्यन्त अलंकृत परन्तु परोक्ष भाषा में बिना नाम के अपने प्रेमोद्गार प्रकाशित किये गये थे। महिला को पत्र की भाषा से यह अनुमान लगाने में कठिनाई न हुई कि पत्र का लेखक गुप्त प्रेमी कौन है। उसने भी क्लाइव को उसी की परोक्ष भाषा में ऐसा करारा मुँहतोड़ जवाब दिया कि सूरमा सेनापति का जोश ठण्डा हो गया और फिर उसने पत्र लिखने का साहस ही न किया।

यह भी प्रसिद्ध है कि बंगाल में क्लाइव ने अनेक भद्र महिलाओं को अपने प्रेम-जाल में फँसाना चाहा, परन्तु उसे सफलता नहीं मिली। उन स्त्रियों की भारतीय धार्मिक भावना ने मकड़ी के जाल में फँसने से उनकी रक्षा कर ली।

ये सब कारण थे, जिनसे क्लाइव के प्रति इंग्लैण्ड के अधिकतर निवासियों के मन में घृणा का भाव उत्पन्न हो गया था। वह उसे चरित्र की दृष्टि से कोढ़ी समझने लगे, और जैसे लोग कोढ़ी की छूत से बचते हैं, वैसे सर्वसामान्य अंग्रेज़ क्लाइव से दूर रहते थे। वह अनन्त धन-सम्पत्ति से घिरे रहने पर भी मानों अकेला सुनसान जंगल में खड़ा था।

जो बादल क्लाइव के सिर पर अमीचन्द वाली घटना और मीर जाफ़र से रिश्वत लेने के समय से घिरने लगे थे, वे उसके तीसरी बार भारत वापिस जाने पर घनघोर घटा के रूप में परिणत हो गये, और पार्लियामेण्ट में क्लाइव पर दोषारोपण के रूप में बरस पड़े। १७७३ के मई मास में कर्नल बोर्गोनी ने पार्लियामेण्ट में क्लाइव के सम्बन्ध में एक आरोपात्मक प्रस्ताव उपस्थित किया। उसमें मुख्य रूप से उन रिश्वतों और भेंटों की निन्दा की गई थी,

जिन्हें पाकर क्लाइव करोड़पति बना था। इससे पूर्व पार्लमेण्ट ने सब मामलों की तहक़ीक़ात के लिए एक कमेटी बनाई थी। उस कमेटी ने क्लाइव से बहुत कड़ी जिरह की थी। उस जिरह की चर्चा करते हुए क्लाइव ने शिकायत की थी कि कमेटी के सदस्यों ने मुझसे ऐसी जिरह की जैसी किसी भेड़ चुराने वाले से की जाती है। बोर्गोनी का प्रस्ताव कमेटी की रिपोर्ट पर ही आश्रित था।

पार्लमेण्ट में कर्नल बोर्गोनी के प्रस्ताव पर गर्मागर्म बहस हुई। विरोधियों ने क्लाइव के अपराधों पर बल दिया, और समर्थकों ने उन सेवाओं का लम्बा-चौड़ा बखान किया, जिनके द्वारा इंग्लैण्ड को पूर्व में विजय, सम्पत्ति और सम्मान एक साथ प्राप्त हुए थे। प्रारम्भ में तो प्रतीत होता था कि पार्लमेण्ट के सदस्यों की न्याय-बुद्धि विजयिनी होगी और क्लाइव के कुकृत्यों की घोर निन्दा की जायगी, परन्तु विवाद लम्बा चल गया, जिसके अन्त में अंग्रेज़ों की न्याय-बुद्धि पर उनकी स्वार्थ-बुद्धि की जीत हुई। जो प्रस्ताव स्वीकार हुआ, उसमें केवल इतना कहा गया था कि क्लाइव ने सेनापतित्व के प्रभाव से प्राप्त दो लाख चौंतीस हज़ार पौण्ड अपने पास रख लिये, परन्तु उसने राज्य की बहुत बड़ी प्रशंसनीय सेवायें सम्पन्न कीं। इस प्रकार ब्रिटिश पार्लमेण्ट ने क्लाइव के अपराध को मानकर भी उसकी निन्दा नहीं की, और उसे साधुवाद देकर सम्मानित किया। इस कृत्य से पार्लमेण्ट ने जहाँ एक ओर अंग्रेज़ जाति की स्वाभाविक स्वार्थमयी प्रवृत्ति को प्रमाणित कर दिया, वहाँ भविष्य में आने वाले अंग्रेज़ भारतीय शासकों को एक प्रकार का अभयदान दे दिया। पार्लियामेण्ट ने यह पद्धति क़ायम कर दी कि भारत को शासन करने वाले अंग्रेज़ों के अपराधों का निर्णय पाप-पुण्य के मानदण्ड से न होकर केवल इंग्लैण्ड की स्वार्थ-सिद्धि के मानदण्ड से होगा। उस प्रारम्भिक काल में ही भारत के ब्रिटिश साम्राज्य की जड़ों में जो विषमिश्रित जल डाला गया, उसका प्रभाव दो सौ वर्षों तक पूर्ण रूप से विद्यमान रहा। भारत में जब तक अंग्रेज़ी राज्य रहा, तब तक अंग्रेज़ों का दृष्टिकोण स्वार्थपूर्ण ही रहा।

अंग्रेज़ों की पार्लियामेण्ट ने क्लाइव को बरी कर दिया, परन्तु उसकी अन्तरात्मा की अदालत ने उसे बरी नहीं किया। प्रतीत होता है कि अमीचन्द का लहू उसे ऊँचे स्वर से पुकार रहा था। अन्दर के पाप ने उसे कायर बना दिया था। जो क्लाइव रणक्षेत्र में और राजनीति में साहसी और निर्भय समझा जाता था, कहते हैं कि वह भारत से इंग्लैण्ड में वापिस जाकर बहुत ही सुस्त और विक्षुब्ध-सा रहता था। जब वह मोटी-मोटी दीवारों वाले महल चुनवा रहा था, तब अड़ोस-पड़ोस के लोग कहा करते थे कि "यह चारों ओर मँडराने वाले शैतान के दूतों से डरकर संगीन मकान बनवा रहा है।" अपने अनियमित जीवन में उसने बहुत-सी बीमारियाँ भी बटोर ली थीं। एक ओर शारीरिक व्यथा, दूसरी ओर आन्तरिक और बाह्य मानसिक दुःख—दोनों से घिरकर क्लाइव बहुत ही उदास और बेजान-सा रहने लगा। उदासी के प्रभाव से बचने के लिए उसने अफीम खाना आरम्भ किया, परन्तु उससे भी कोई सन्तोष न मिला। अन्तरात्मा की जलन को अफीम कैसे बुझा सकती थी। अन्त में उसने मध्य यूरोप की यात्रा द्वारा दिल बहलाने की चेष्टा की, पर वह भी व्यर्थ हुई। उसके शरीर और मन का

अन्तस्ताप बढ़ता गया, जिससे प्रेरित होकर भारत में अंग्रेज़ी राज्य के संस्थापक लार्ड क्लाइव ने २ नवम्बर, १७७४, के दिन चाकू द्वारा अपने हाथ से अपनी हत्या कर ली। उस समय वह अपनी आयु के ५०वें वर्ष में था।

दसवां अध्याय

१७७० का दुर्भिक्ष

अंग्रेज़ों की ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने बंगाल की दीवानी ईस्वी सन् १७६५ में सँभाली। बंगाल सदा से भारत का समृद्धतम प्रान्त रहा है। 'वन्दे मातरम्' गीत की सुजला सुफला और शस्यश्यामला भूमि के साक्षात् दर्शन करने हों तो बंकिम की बंग-भूमि की एक यात्रा कर लीजिये। ऐसे प्रान्त पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन का जो प्रभाव पड़ा, वह पाँच वर्ष पीछे, बंगाल के पहले भयंकर दुर्भिक्ष के समय में प्रकट हुआ। यह आश्चर्य की बात है कि बंगाल में अंग्रेज़ी शासन का आरम्भ और अन्त दोनों ही रोमांचकारी दुर्भिक्षों से अंकित है। उस शासन का आरम्भ १७७० के दुर्भिक्ष से और अन्त १९४४ के दुर्भिक्ष में हुआ।

हमारे देश की पुरानी रिवायत है कि जब राजा के मन में पाप आ जाता है तब देश में अकाल पड़ता है। संसार के सब बड़े-बड़े दुर्भिक्षों के कारणों का विवेचन करने से हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि वर्षा का न होना या अधिक होना दुर्भिक्ष का गौण कारण, और शासकों का कुप्रबन्ध और प्रजा के प्रति उपेक्षा का भाव मुख्य कारण होता है। १७७० का दुर्भिक्ष इस सत्य का स्पष्ट दृष्टान्त है। हम उस दुर्भिक्ष का वर्णन, और उसके कारणों का विवेचन अपने शब्दों में न करके अंग्रेज़ लेखकों के शब्दों में ही करेंगे, ताकि उसमें हमारी ओर से कोई अत्युक्ति न समझी जाय। लार्ड मैकाले ने लार्ड क्लाइव के जीवन की आलोचना करते हुए लिखा है—

"१७७० की गर्मियों में वर्षा नहीं हुई, भूमि कठोर हो गई, तालाब सूख गये, नदियाँ काकपेया रह गईं, और गंगा की सारी घाटी में ऐसा दुर्भिक्ष छा गया, जैसा केवल उन देशों के निवासियों को ज्ञात हैं, जहाँ के परिवार भूमि के छोटे-छोटे टुकड़ों में खेती करके अपनी पेट-पालना करते हैं। कोमल और निर्बल असूर्यंपश्या स्त्रियाँ जो कभी घर की दहलीज़ से बाहर नहीं निकली थीं, सड़कों पर आकर राहियों के सामने ज़मीन को छूती थीं, और पेट भरने के लिए मुट्ठी भर चावल माँगती थीं। विजेता अंग्रेज़ों के मकानों और उद्यानों के समीप, हुगली के प्रवाह में प्रतिदिन हज़ारों दुर्भिक्ष-पीड़ितों की लाशें बहकर समुद्र में जाती थीं। मरते हुओं और मरे हुओं से कलकत्ते के बाज़ारों का रास्ता तक भर गया था। निर्बल लोग अपने सम्बन्धियों की लाशों को मरघट तक या पवित्र नदी तक ले जाने में असमर्थ थे, और न ही वह उन गीधों या सियारों को भगा सकते थे, जो दिन-दहाड़े लाशों को नोचते या खाते थे। कितने व्यक्ति मरे, इसका पूरा पता नहीं लग सका, परन्तु अनुमान है कि मृतकों की संख्या लाखों होगी।"

लार्ड क्लाइव ने दुर्भिक्ष का चित्र तो ठीक दिया है परन्तु उसके कारणों पर पूरा प्रकाश नहीं डाला।

पी० ई० राबर्टस ने ब्रिटिश भारत के इतिहास में १७७० के दुर्भिक्ष के सम्बन्ध में लिखा है—

"सन् १७६९-७० में बंगाल में भयानक अकाल पड़ा। हिसाब लगाया गया है कि सारी आबादी का एक-तिहाई भाग (लगभग ३० लाख व्यक्ति) भूख और बीमारी से नष्ट हो गया और जितनी भूमि पर खेती होती थी उसका तो सारा भाग पट पड़ गया।"

कम्पनी के एक नौकर ने लिखा था—

"दुर्दशा के जो दृश्य देखने में आये, और अब भी आ रहे है, वे इतने वीभत्स हैं कि उनका वर्णन करना असम्भव है। वास्तविक बात यह है कि कई स्थानों पर जीवित प्राणी मुर्दा प्राणियों को खाकर जीवित रहे।"

लार्ड मैकाले ने मुख्यत. इस दुर्भिक्ष का उत्तरदायित्व अनावृष्टि पर रखा है, परन्तु वह यथार्थ नहीं है। केवल अनावृष्टि या अतिवृष्टि से ऐसा भयानक दुर्भिक्ष नहीं पड़ता। शासन की लोलुपता और उपेक्षा से ही ऐसे भयानक परिणाम निकल सकते हैं। उस समय, कम्पनी और उसके कर्मचारियों के जिन कुकृत्यों के कारण बंगाल को इतनी भयानक दुर्दशा में से गुज़रना पड़ा, उनका निर्देश भी मैं अंग्रेज़ लेखकों के शब्दों में ही करूँगा।

क्लाइव ने भारत में आये हुए अंग्रेज़ कर्मचारियों के सम्मुख लोभ और मक्कारी के जो आदर्श स्थापित किये थे, जब वह पूरी तरह फलीभूत होकर कम्पनी के शासन को बिगाड़ने लगे, तो क्लाइव स्वयं घबरा गया। उस समय उसने कम्पनी के डायरेक्टरों को एक पत्र में लिखा था—

"कम्पनी के कर्मचारी अपने निजी स्वार्थों की पूर्ति में इस तेज़ी से लग रहे हैं, कि न उनमें आत्मसम्मान की भावना रही है और न मालिकों के प्रति कर्तव्य की भावना। इन्हें एकाएक धन प्राप्त हो गया है, जिससे विलासिता के गढ़े में मग्न हो रहे है।"

वह धन अंग्रेज़ कर्मचारियों को कैसे मिला, इसके विषय मे क्लाइव ने लिखा है—

"जो यूरोपियन एजेण्ट कम्पनी के कर्मचारियों के अधीन काम करते हैं, उन्होंने अनगिनत हिन्दुस्तानी एजेण्ट और सब-एजेण्ट नियुक्त किये हुए है, जो धन चूसने के लिए प्रजा पर घोर अन्याय और अत्याचार करते है।'

अकाल से पूर्व के वर्षों में बंगाल की जो आर्थिक प्रगति रही, उसके विषय में ह्वीलर ने 'अर्ली रिकॉर्डस ऑव ब्रिटिश इण्डिया' में लिखा है—

"तीन साल के अन्दर पचास लाख पाउण्ड से ऊपर का सोना-चाँदी बंगाल से विदेशों का गया, जब बाहर से बंगाल में केवल पाँच लाख पाउण्ड सोना आया।"

कम्पनी के नौकरों और एजेण्टों के घोर अत्याचारों द्वारा प्रजा का जो शोषण होता रहा उसने बंगाल के निवासियों को इतना निर्बल कर दिया था कि वह अकाल के छोटे-से धक्के को भी न सह सके। कम्पनी की शोषण-नीति ने देश को सोना-चाँदी से विहीन करके उनकी शक्ति को और भी अधिक क्षीण कर दिया था। परिणाम यह हुआ कि अनावृष्टि के आते ही मृत्यु का भयंकर ताण्डव आरम्भ हो गया।

प्रान्त में पूरे ज़ोर से दुर्भिक्ष के आ जाने पर कम्पनी के अंग्रेज़ कर्मचारियों ने जिस प्रकार की लूट-खसोट जारी रक्खी वह भी अंग्रेज़ लेखकों के मुँह से ही सुनिए—

पी० ई० राबर्टस ने लिखा ह—"कम्पनी के अनेक कर्मचारियों पर यह आरोप लगाया गया था, कि उन्होंने अनुचित लाभ उठाने के लिए बहुत-सा चावल ख़रीदकर कीमतें बढ़ा दीं। आरोप निराधार नहीं था। वारेन हेस्टिंग्ज़ ने स्वयं स्वीकार किया था कि लगान बड़ी क्रूरता से वसूल किया गया। जब बहुत कड़ा दुर्भिक्ष पड़ा हुआ था तब केवल ५ फ़ी सदी लगान माफ़ किया गया, परन्तु अगले वर्ष १० फ़ी सदी बढ़ा दिया गया।"

एक और अंग्रेज़ लेखक[1] ने कम्पनी के काग़जों के आधार पर लिखा है—

"कुछ एजेण्टों ने चावलों की कोठियाँ भरने का अच्छा अवसर देखा। उन्होंने अपनी कोठियाँ भर लीं। वे जानते थे कि गण्टू (हिन्दू) मर जायेंगे पर मांस खाकर धर्मभ्रष्ट न होंगे। उनके सामने सर्वस्व त्यागने या मरने के अतिरिक्त तीसरा मार्ग नहीं था, वे मरने लगे। फसलें उन्होंने बोई थीं, पर दूसरे लोग काट ले गये। दुर्भिक्ष आया और उसके परिणाम के रूप में बीमारी आ गई।"

दुर्भिक्ष और बीमारी का कार्य-कारण भाव है। जो लोग दुर्भिक्ष से बच निकलते हैं वे अल्पाहार और दुष्टाहार से इतने निर्बल हो जाते हैं कि बीमारी के पंजे से बचने में असमर्थ हो जाते हैं। जैसे राजा के अत्याचार और दुर्भिक्ष का अटूट सम्बन्ध है, उसी प्रकार दुर्भिक्ष और महामारी का भी अटूट सम्बन्ध है। बंगाल में भी दुर्भिक्ष अभी विदा नहीं हुआ था कि महामारी फैल गई जिससे बचे-खुचे आदमी बरसाती कीड़ों की तरह मरने लगे।

दुर्भिक्ष के सम्बन्ध में कम्पनी की कलकत्ता-कौंसिल के प्रेसीडेण्ट ने कम्पनी के बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स को जो पत्र लिखे, उनके दो भाग विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उनसे कम्पनी की मनोवृत्ति की सूचना मिलती है।

"··क्योंकि यह बहुत अधिक सम्भावित है कि यह कष्ट बढ़ेगा, और आगामी छः महीनों तक इसके कम होने की कोई सम्भावना नहीं, हमने आज्ञा दे दी है कि हमारा सेना को उतने समय में जितने अन्न को आवश्यकता होगी, वह गोदामों में भर लिया जाय। और हम यह भी यत्न करेंगे कि ग़रीब निवासियों के कष्टों को दूर करें···।"

कौंसिल को गोदामों में अन्न भरने की चिन्ता पहले थी, और निवासियों के कष्टों को दूर करने की पीछे।

दुर्भिक्ष के सम्बन्ध में कौंसिल ने लिखा था—

"बहुत से ज़िलों में पानी छः महीनों से बिल्कुल नहीं पड़ा। उसके कारण जो दुर्भिक्ष पड़ा है, जो संहार हुआ है और भिखारीपन बढ़ा है वह वर्णनातीत है। अकेले पूर्निया के समृद्ध प्रदेश के एक-तिहाई मर गये हैं। अन्य प्रान्तों की दुर्दशा भी ऐसी ही है।"

कोर्ट ऑफ़ डायरेक्टर्स के पास यह शिकायत निरन्तर पहुँच रही थी कि कम्पनी के

1. Short history of the English transaction in the East India, P. 145.

अफ़सर और गुमाश्ते अनाज खरीदकर गोदामों में भर रहे हैं और ग़रीब किसानों को बीज का अन्न तक बेचने के लिए मजबूर कर रहे हैं। ऐसी शिकायतों के विषय में कोर्ट ने अपने पत्र में लिखा है—

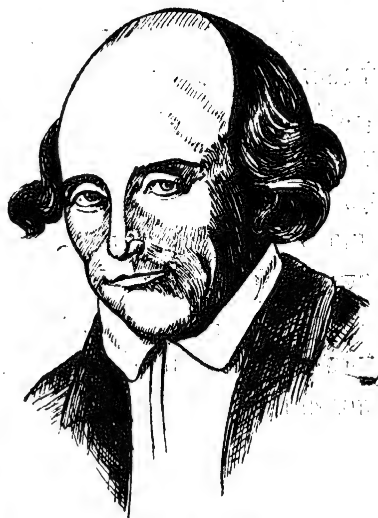
"मि० बेचर और मुहम्मद रजा खां के पत्रों के पढ़ने से हमारे मन में यह विचार उठे हैं, क्योंकि उन्होंने अंग्रेज़ों के गुमाश्तों पर यह दोष लगाया है कि वह केवल सारे अनाज पर एकाधिकार करने का ही यत्न नहीं कर रहे, वह ग़रीब प्रजा को, अगली फसल में बोने योग्य अनाज के बेचने के लिए भी मजबूर कर रहे हैं।"

इन सब उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि बंगाल प्रान्त को कम्पनी के शोषक शासन ने इतना खोखला कर दिया था कि वहाँ की प्रजा छः मास की अनावृष्टि को न सह सकी, और दुर्भिक्ष के लक्षण उतर आये। उस स्थिति से लाभ उठाने के लिए अंग्रेज़ों ने अपने गुमाश्तों द्वारा सब प्रकार का अनाज सौदे से और ज़ोर-ज़बर से ख़रीदकर कोठों में भर लिया, और मुँह माँगे दामों पर बेचा। इस अत्याचार से प्रान्त की जो दुर्दशा हुई, वह वर्णनातीत है। उस समय के कुछ सहृदय अंग्रेज़ भी उस दृश्य को देखकर विचलित हो गये थे। उधर हुगली के जल-प्रवाह में प्रतिदिन हज़ारों नर-नारियों की सड़ी हुई लाशें बहकर समुद्र में जा रही थीं, और उसके तट पर बने हुए बंगलों और प्रमोद काननों में प्रजा की विभूति पर पलने वाले अंग्रेज़ रंगरलियाँ मना रहे थे। यह भारत पर अंग्रेजी प्रभुत्व के पहले अध्याय का अन्तिम भाग था।

ग्यारहवाँ अध्याय

वारन हेस्टिंग्ज़ और नन्दकुमार

क्लाइव भारत से १७६७ में गया, और वारन हेस्टिंग्ज़ बंगाल का गवर्नर १७७२ में नियुक्त हुआ। बीच के ५ वर्षों में देश के उन सूबों का शासन, जो कम्पनी के अधिकार में थे, दो साधारण व्यक्तियों के हाथों में रहा। भारत पर अंग्रेज़ी राज्य के प्रारम्भिक इतिहास में क्लाइव और वारन हेस्टिंग्ज़ दो पहाड़ी चोटियों की तरह सिर उठाये खड़े हैं, वैरेलस्ट और कार्टियर को हम उन दोनों चोटियों को मिलाने वाला झूला-पुल कह सकते हैं। क्लाइव ने ब्रिटिश राज्य की पृष्ठभूमि की तैयारी का कार्य आरम्भ किया तो वारन हेस्टिंग्ज़ ने उस पर पथ-रेखायें खेंचीं। इन ही प्रारम्भिक कारीगरों ने भारत में ब्रिटिश शासन को जो रूप और जो रंग दे दिया, उत्तरवर्ती शासकों के अनेक प्रयत्न भी उन्हें मिटा न सके। भारत के शासन-विधान को नया-नया रूप देने के लिए कई इण्डिया ऐक्ट पास हुए, शासन की बाग़डोर कम्पनी के हाथों से छुटकर ब्रिटिश ताज के हाथ में आ गई, तो भी भारत पर ब्रिटिश शासन की जो नैतिक प्रथायें क्लाइव और वारन हेस्टिंग्ज़ ने प्रचलित कर दी थीं, वह समूल नष्ट न हुईं। यदि हम ब्रिटेन के भारतीय साम्राज्य के उदयास्त के रहस्य को भली प्रकार समझना चाहते हैं तो हमें उपर्युक्त सचाई को सदा ध्यान में रखना चाहिए। क्लाइव की कहानी हम कह चुके, अब वारेन हेस्टिंग्ज़ के कारनामे सुनिये।



वारन हेस्टिंग्ज़

जिस घराने में वारन हेस्टिंग्ज़ ने जन्म लिया वह उससे दो सौ वर्ष पूर्व अच्छा समृद्ध और प्रख्यात घराना समझा जाता था। उनका निवास-स्थान डेलसफोर्ड में था, जहाँ की गढ़ी (Manor) विशालता और विभूति के लिए प्रख्यात थी। वारन हेस्टिंग्ज़ के पूर्व-पुरुषा सिविल वार (घरू युद्ध) के झगड़ों में फँस गये, और घराने की विभूति की रक्षा न कर सके। यहाँ तक कि गढ़ी से भी हाथ धो बैठे। जब वारन हेस्टिंग्ज़ ने जन्म लिया, तब उसके माता-पिता अत्यन्त निर्धन दशा में जीवन व्यतीत कर रहे थे। बचपन में ही उसके पिता का देहान्त हो गया। पालन-पोषण और शिक्षण का बोझ चचा पर पड़ गया, जिसने भतीजे को पढ़ने के लिए स्कूल में डाल दिया। स्कूल में हेस्टिंग्ज़ को खूब सफलता मिली। पढ़ने-लिखने में उसने जितना नाम पाया, उतना ही तैरने और खेलने-कूदने में भी पाया। वह अपनी

श्रेणी के होशियार लड़कों मे समझा जाता था।

लड़का ग़रीबी में उत्पन्न हुआ था, परन्तु उसके मन की उड़ान कुल के पूर्व-पुरुषाओं के योग्य थी। उसने लिखा है कि जब बचपन में वह कभी डेलसफोर्ड की गढ़ी को देखता तो उसके मन में भाँति-भाँति के बलबले उत्पन्न होते थे। वह कल्पना की आँखों से उस गढ़ी को अपने अधिकार में देखता था और स्वप्न भंग हो जाने पर सोचता था कि एक दिन इस गढ़ी को ख़रीदकर छोड़ूँगा। धीरे-धीरे हेस्टिंग्ज़ का वह विचार निश्चय के रूप में परिणत होता गया, यहाँ तक कि उसके जीवन का मुख्य लक्ष्य जैसे भी बने वैसे, धन एकत्र करना, और उससे डेलसफोर्ड की गढ़ी को खरीदकर कुल की परम्परा को फिर से क़ायम करना बन गया। वारन हेस्टिंग्ज़ के सम्पूर्ण क्रियात्मक जीवन की समस्या को सुलझाने को यही एक कुंजी है कि उसके मुख्य मानसिक संकल्प को समझ लिया जाय। सब कार्यों में उसका प्रधान ध्येय धन-प्राप्ति था।

जब हेस्टिंग्ज़ १६ वर्ष का हुआ, तब उसके चचा का देहान्त हो गया। फलतः हेस्टिंग्ज़ की शिक्षा समाप्त हो गई, और उसे ईस्ट इण्डिया कम्पनी में नौकरी कर लेनी पड़ी। १७५० ई० में भारतवर्ष में आकर वह कलकत्ते के एक दफ़्तर में क्लर्क का काम करने लगा।

वारन हेस्टिंग्ज़ को आगे बढ़ने में अधिक देर न लगी। उसका दिमाग़ अच्छा था, शारीरिक दृष्टि से अधिक बलवान न होते हुए भी फुर्तीला, और खेल-कूद में प्रवीण था। सबसे बड़ी बात यह थी कि वह अत्यन्त ठंडे दिमाग़ का व्यक्ति था। इस अंश में वह क्लाइव से बढ़ा हुआ था। क्लाइव सिपाही था। उसकी चतुराई में भी उग्रता थी, परन्तु हेस्टिंग्ज़ नीतिकुशल चतुर था। ठण्डा दिमाग़ उसका सबसे बड़ा सहायक और उसके शत्रुओं का सबसे बड़ा शत्रु था।

वारन हेस्टिंग्ज़, ईस्ट इण्डिया के उन काले दिनों में भारत में ही था, जिनमें कम्पनी के अधिकारियों और नौकरों ने दोनों हाथों से निर्दयतापूर्वक भारत को इतना लूटा कि उसके शरीर का रुधिर भी चूस लिया। हेस्टिंग्ज़ ने भी लूट में भाग लिया। १७६४ में लूट के धन को पचाने के लिए वह इंग्लैण्ड चला गया। चार वर्ष तक वहाँ रहकर जब उसने देखा कि जितना धन एकत्र किया है, वह डेलसफोर्ड के खरीदने के लिए पर्याप्त नहीं है, और भारत में अभी धन प्राप्त करने का मैदान खुला पड़ा है तो उसने ईस्ट इण्डिया कम्पनी में नौकरी के लिए फिर दर्खास्त देकर नौकरी प्राप्त कर ली। १७६९ में वह मद्रास की कौंसिल के सदस्य पद पर नियुक्त होकर दूसरी बार भारतवर्ष पहुँच गया।

दूसरी भारत-यात्रा के समय, जहाज़ में एक ऐसी घटना हुई, जिससे जहाँ एक ओर वारेन हेस्टिंग्ज़ की प्रकृति का झुकाव प्रकट हो गया, वहाँ साथ ही उसकी धन-लालसा में और अधिक वृद्धि हो गई। जिस जहाज़ में हेस्टिंग्ज़ यात्रा कर रहा था, उसमें एक जर्मन यात्री भी था। उसका नाम बैरन इमहाफ था। उसने अच्छे कुल में जन्म लिया था, परन्तु उस समय उसकी आर्थिक दशा गिरी हुई थी। उसकी व्याहता स्त्री स्वभाव की चंचल और विलासिता से प्रेम रखने वाली थी। अपने पति की निर्धनता से वह पहले ही परेशान थी, वारन

हेस्टिंग्ज़ के परिचय ने उसके हृदय की भावनाओं को बहुत अधिक विचलित कर दिया। वह पति से घृणा और हेस्टिंग्ज़ से प्रेम करने लगी। हेस्टिंग्ज़ की सहायता के लिए बीमारी भी आ गई। वह यात्रा में रोगी हो गया जिससे बैरन की स्त्री को हेस्टिंग्ज़ की सेवा करने का अवसर मिल गया। यात्रा समाप्त होने से पूर्व ही हेस्टिंग्ज़ और बैरोनस परस्पर प्रेम के सुदृढ़ सूत्र में बँध चुके थे। बैरन को धन की आवश्यकता थी, हेस्टिंग्ज़ के पास धन तो था पर स्त्री नहीं थी। दोनों का सौदा आसानी से पट गया। बैरन को पुष्कल धनराशि प्राप्त हो गई, तो उसने तलाक दे दिया। वारन हेस्टिंग्ज़ के मन में अब तक एक आकांक्षा थी कि वह बहुत-सा धन इकट्ठा करके डेल्स फोर्ड की गढ़ी को ख़रीद ले। अब उसके साथ एक यह आकांक्षा भी जुड़ गई कि अनन्त विभूति कमाकर शौकीन पत्नी को प्रसन्न किया जाय।

मद्रास में उसने बड़ी मेहनत और चतुराई से कार्य किया जिससे प्रसन्न होकर कम्पनी के डायरेक्टरों ने उसे १७७२ में बंगाल का गवर्नर बना दिया।

बंगाल का गवर्नर बन जाने पर हेस्टिंग्ज़ को अपनी कार्यकुशलता दिखाने का पूरा अवसर मिल गया। उसके सब गुण और अवगुण उग्र रूप में प्रकट हो गये। उसने पहले बंगाल के गवर्नर और फिर गवर्नर जनरल के पद पर सब मिलाकर १३ वर्षों तक भारत के शासन में भाग लिया। इन १३ वर्षों में हेस्टिंग्ज़ ने जो कुछ किया, ब्रिटिश शासन की स्थापना में उसका पर्याप्त भाग है। इतिहास का वह परिच्छेद बहुत महत्वपूर्ण है, क्योंकि उसमें भविष्य के सम्पूर्ण इतिहास के बीज विद्यमान हैं।

वारन हेस्टिंग्ज़ के शासन से सम्बन्ध रखने वाली जिन घटनाओं का विशेष उल्लेख करना आवश्यक है, उनमें से पहली 'महाराजा नन्दकुमार को फाँसी' के नाम से प्रसिद्ध है। जिस समय वारन हेस्टिंग्ज़ ने बंगाल का शासन-कार्य सँभाला, उस समय वहाँ दु अमली चल रही थी। नाम को बंगाल का मुसलमान नवाब हाकिम था, परन्तु वस्तुतः शासन की बाग़डोर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथ में थी। कम्पनी उसका संचालन अपने एक अफ़सर द्वारा करती थी। उस समय वह अफ़सर मुहम्मद रिज़ा खां था। मुहम्मद रिज़ा खां की नियुक्ति क्लाइव ने की थी। सैनिक और विदेश सम्बन्धी सब मामले, कम्पनी के अंग्रेज़ अफ़सरों के हाथ में थे। उन्हें छोड़कर शेष सब महकमे रिज़ा खां की देखरेख में चलते थे। उसे लगभग एक लाख रुपया वार्षिक वेतन मिलता था परन्तु क्योंकि नवाब के सब ख़र्च उसी की मार्फ़त होते थे, और लगान आदि की वसूली उसी के हाथ में थी, इस कारण बंगाल का वास्तविक नवाब वही बना हुआ था। यों मुहम्मद रिज़ा खां उस समय की दृष्टि से बहुत बुरा आदमी नहीं, परन्तु कम्पनी के डायरेक्टर उससे पूरी तरह सन्तुष्ट नहीं थे। डायरेक्टरों को शिकायत थी कि वह बंगाल से खेंचकर पर्याप्त धनराशि विलायत नहीं भेजता। इधर वारन हेस्टिंग्ज़ दु अमली को हटा देना चाहता था। वह इस परिणाम पर पहुँचा कि नवाब और रिज़ा खां दोनों को समाप्त करके बंगाल के शासन-सूत्र को सीधा अपने हाथ में ले लिया जाय ताकि बंगाल से धन चूसकर डायरेक्टरों को सन्तुष्ट करना आसान हो जाय इस उद्देश्य से उसने मुहम्मद रिज़ा खां को पदच्युत करने का निश्चय किया।

वारन हेस्टिंग्ज़ की यह विशेषता थी कि जब वह किसी कार्य को करने का निश्चय कर लेता था, तब उपाय के औचित्य या अनौचित्य पर विचार करने में समय नहीं खोता था, औचित्य-विचार का उसके धर्म-शास्त्र में कोई स्थान नहीं था। एक दिन आधी रात के समय कम्पनी के सिपाहियों ने मुहम्मद रिज़ा खां के महल को घेर लिया, और उसे बन्दी बना लिया। उसके साथ ही उसके साथी राजा शिताबराय को भी घसीट लिया गया। वह भी कम्पनी का बहुत हितैषी मित्र था, और कई लडाइयों में कम्पनी के पक्ष में बड़ी वीरता से लड़ा था। दोनों पर आरोप लगाया गया कि वह कम्पनी के धन का दुरुपयोग करते हैं।

मुहम्मद रिज़ा खाँ पर लगाये गये अभियोगों को सिद्ध करने के लिए वारन हेस्टिंग्ज़ ने जिस व्यक्ति से सहायता प्राप्त की वह था महाराज नन्दकुमार। महाराज नन्दकुमार ऊँचे सम्मानित कुल का ब्राह्मण होने के साथ-साथ अच्छा, समृद्ध और प्रभावशाली व्यक्ति भी था। अंग्रेज़ लेखकों का कहना है कि नन्दकुमार बहुत स्वार्थी, झूठा और मक्कार था। यह भी कहा जाता है कि लार्ड क्लाइव के समय में उसकी धूर्तता से अंग्रेज़ लोग लाभ उठाते रहे, परन्तु प्रतीत होता है कि स्वार्थ और धूर्तता तो उस समय के वायुमण्डल में व्याप्त थे। इतिहास का घटना-चक्र स्पष्ट रूप से सिद्ध करता है कि नन्दकुमार कितना ही बड़ा धूर्त हो, वारन हेस्टिंग्ज़ के सामने वह बच्चा था।

मुहम्मद रिज़ा खां को गिराने के लिए हेस्टिंग्ज़ ने नन्दकुमार को अपना औज़ार बनाया। जब मामला कमेटी के सामने पेश हुआ तो नन्दकुमार से सच्ची-झूठी गवाही दिलाई गई। तहक़ीक़ाती कमेटी का अध्यक्ष स्वयं वारन हेस्टिंग्ज़ था। राजा शिताबराय को तो प्रारम्भ में ही मुक्त कर दिया गया। मुक्ति तो हो गई परन्तु उससे वह आघात शान्त न हुआ जो शिताबराय के कम्पनी भक्त हृदय पर अनुचित अपमान के कारण लगा था। वह बेचारा अधिक समय तक जीवित न रह सका। अंग्रेज़ कम्पनी के उस समय के कर्मचारियों की कृतघ्नता का शिकार होकर परलोक सिधार गया। रिज़ा खां के अभियोग को कुछ दिनों तक घसीटा गया, परन्तु हेस्टिंग्ज़ तो केवल बंगाल की नवाबी पर पूरा अधिकार करना चाहता था, उसे रिज़ा खां को नष्ट करने की इच्छा नहीं थी, अतः अन्त में उसे भी निर्दोष ठहराकर मुक्त कर दिया गया। नन्दकुमार ने हेस्टिंग्ज़ की प्रेरणा से रिज़ा खां के विरुद्ध जो कुछ किया, उसका पारितोषिक केवल इतना मिला कि उसके लड़के गुरदास को नवाब के निजी खज़ाने का खज़ांची बना दिया गया।

इस सारी कार्रवाई से नन्दकुमार के मन में विक्षोभ उत्पन्न होना स्वाभाविक था। नन्दकुमार को आशा दिलाई गई थी कि रिज़ा खां के पदच्युत हो जाने पर रिक्त स्थान पर उसी को नियुक्त किया जायगा। वह पद मिलना तो अलग रहा, उल्टा रिज़ा खां के रूप में एक नया शत्रु पैदा हो गया। कहा जा सकता है कि नन्दकुमार को यह फल अपनी करनी का ही मिला। यह बहुत कुछ ठीक भी है, परन्तु फिर भी नन्दकुमार के मन में रोष उत्पन्न हुआ, इसका एक यह कारण हो सकता है कि वह कोरा रह गया और मिथ्या अभियोग चलाने के दूसरे अपराधी वारन हेस्टिंग्ज़ के हाथ में बंगाल के नवाब की सम्पूर्ण शक्ति आ

गई। फलतः नन्दकुमार हेस्टिंग्ज़ का शत्रु बन गया।

इधर इंग्लैण्ड में यह अनुभव किया जा रहा था कि भारत की शासन-व्यवस्था में कुछ उलट-फेर होना आवश्यक है। फल यह हुआ कि १७७३ में, ब्रिटिश पार्लियामेण्ट में भारत के सम्बन्ध में रैग्यूलेशन ऐक्ट नाम का नया क़ानून पास हुआ। उस क़ानून में यह व्यवस्था की गई थी कि (१) बंगाल प्रेसीडेंसी का गवर्नर भविष्य में गवर्नर-जनरल कहलायगा और अन्य प्रान्तों के गवर्नरों पर नियन्त्रण करेगा, (२) शासन-कार्य में उसकी सहायता करने के लिए कौंसिल के चार सदस्य नियुक्त किये जायेंगे, और (३) न्याय की व्यवस्था करने के लिए कलकत्ते में एक सुप्रीम कोर्ट बनाया जायगा, जिसमें एक चीफ़ जस्टिस होगा और तीन उसके सहायक होंगे। कौंसिल के पहले सदस्य और सुप्रीम कोर्ट के पहले जज क़ानून में ही नामांकित कर दिये गये थे। सदस्यों में विशेष रूप से चर्चा के योग्य नाम फिलिप फ्रेंसिस का था, और सुप्रीम कोर्ट में चीफ़ जस्टिस सर एलीजाह इम्पी का था। इन दोनों ने अपने-अपने ढंग पर हेस्टिंग्ज़ के जीवन नाटक की पूर्ति में पर्याप्त भाग लिया।

उन दिनों भारत में जो अंग्रेज़ आये हुए थे, उनको केवल एक धुन थी, और वह थी धन की। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बोर्ड ऑव डायरेक्टर्स की भी एक यही माँग थी कि धन भेजो। यह तो सामान्य मनोवृत्ति थी। वारन हेस्टिंग्ज़ की धन-लालसा सामान्य अंग्रेज़ों से भी बढ़ी हुई थी। उस पर तो करेला और नीम चढ़ा की कहावत चरितार्थ होती है। शासन के प्रारम्भ काल से ही उसने उचित उपाय से या अनुचित उपाय से, छल से या बल से धन इकट्ठा करना अपना लक्ष्य बना लिया था। जब १७७३ के रेगुलेशन ऐक्ट के अनुसार पहले गवर्नर जनरल के पद पर वारन हेस्टिंग्ज़ को प्रतिष्ठित किया गया, और उसकी सलाहकार कौंसिल के सदस्य विलायत से भारत पहुँचे तो उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि जिस व्यक्ति को गवर्नर जनरल बनाया गया है, वह अपनी धन-लालसा और उसकी पूर्ति के लिए किये गये अन्याययुक्त कार्यों के कारण बहुत बदनाम हो चुका है। कौंसिल के नये सदस्यों में से फ्रांसिस बहुत ही न्याय-प्रेमी और तेजस्वी व्यक्ति था। वह भारत में आने से पूर्व ही 'जूनियस' उपनाम से लिखे हुए कुछ आलोचनात्मक लेखों के कारण स्पष्ट सत्य लिखने में ख्याति प्राप्त कर चुका था। नई कौंसिल के कार्यारम्भ होने के साथ ही गवर्नर जनरल और विलायत से आये हुए ३ सदस्यों में ज़बरदस्त रस्साकशी शुरू हो गई। फांसिस और उसके दोनों साथी वारन हेस्टिंग्ज़ के अन्याय और अत्याचार पर प्रतिबन्ध लगाने का यत्न करने लगे, जिसका उत्तर अपनी प्रवृत्ति के अनुसार अनुचित उपायों से देकर वारन हेस्टिंग्ज़ अपने अपराधों की मात्रा में दिन दूनी रात चौगुनी वृद्धि करने लगा।

वारन हेस्टिंग्ज़ और फांसिस के इस लम्बे संघर्ष के जो कई शिकार हुए, उनमें एक नन्दकुमार भी था। रिज़ा खां का प्रकरण चलने से पूर्व भी नन्दकुमार और हेस्टिंग्ज़ का आपस में वास्ता पड़ चुका था। पहले दोनों संगी रहे, फिर शत्रु हो गये। रिज़ा खां को गिराने में हेस्टिंग्ज़ ने उससे सहायता ले ली—एक प्रकार से व्यतीत काल को भुला दिया, परन्तु अन्त में फिर उसी नाटक को दोहराया। नन्दकुमार के हथौड़े से रिज़ा खां को फोड़ दिया, परन्तु हथौड़ा हथौड़ा

ही रहा। नन्दकुमार को कुछ न मिला। रिज़ा खां भी अन्त में छोड़ दिया गया। नन्दकुमार को जो आशायें दिलाई गई थीं, वह सब तोड़ दी गईं। इससे नन्दकुमार के मन में हेस्टिंग्ज के प्रति क्रोध की ज्वाला भड़क उठी और वह उसके विरोधी फ्रांसिस आदि का सहायक बन गया।

नन्दकुमार की सहायता से फ्रांसिस और उसके साथियों ने गवर्नर जनरल के विरुद्ध एक लम्बा अभियोग-पत्र तैयार किया। उस अभियोग-पत्र में वारन हेस्टिंग्ज़ पर कई संगीन आरोप लगाये गये थे। उस पर रिश्वत और पक्षपात के दोष लगाने के अतिरिक्त कहा गया था कि उसने मुहम्मद रिज़ा खां को मुक्त कर देने के लिए बहुत भारी रिश्वत ली है। जब फ्रांसिस ने कौंसिल में पढकर अभियोग-पत्र सुनाया तो हेस्टिंग्ज, जो उस समय सभापति था, आपे से बाहर हो गया और कौंसिल की बैठक को स्थगित करके उठ गया।

वारन हेस्टिंग्ज़ अपमान और क्रोध से तलमला उठा। वह फ्रांसिस और उसके साथियों का तो कुछ न बिगाड़ सका, मारा क्रोध नन्दकुमार पर निकाला, क्रोध के वशीभूत होकर बदला लेने की जो कार्रवाई वारन हेस्टिंग्ज़ ने की, वह केवल उसके नाम पर ही नही, अपितु सारी ब्रिटिश जाति के नाम पर सदा के लिए अमिट कलंक के समान लगी रहेगी।

जिस समय हेस्टिंग्ज़ के विरोधी यह आशा लगा रहे थे कि कम्पनी की ओर से उस पर दण्ड का प्रयोग किया जायगा, उस समय यह जानकर वह अचम्भे मे रह गए कि उसका सबसे मुख्य विरोधी गवाह महाराज नन्दकुमार गिरफ़्तार हो गया, और उस पर जालसाज़ी का अपराध लगाया गया। उनका विश्वास और अधिक बढ़ गया, जब उन्हें पता चला कि जिस अपराध के कारण नन्दकुमार को पकडा गया है वह कई वर्ष पुराना है। मामला नये बने हुए सुप्रीम कोर्ट के सामने पेश हुआ। सुप्रीम कोर्ट का चीफ़ जस्टिस इम्पी हेस्टिंग्ज़ का सहपाठी और दोस्त था। इम्पी की अदालत ने नन्दकुमार का जो न्याय किया, अन्याय उससे आगे नहीं जा सकता। वर्षो पुराने जालसाजी के अपराध पर नन्दकुमार को फाँसी की सजा दी गई।

जब कलकत्ते में नन्दकुमार के दण्ड का समाचार फैला तो आश्चर्य, क्रोध और दुःख का एक तूफान-सा उमड़ पड़ा। जहाँ उसे फाँसी मिलने वाली थी, उसके चारों ओर लाखों की भीड इकट्ठी हो गई। यह उस समय के भारतवासियों की मानसिक दुर्बलता और पस्तहिम्मती का सबसे बड़ा प्रमाण है कि उस भीड़ ने कोई उपद्रव नहीं किया! एक उच्च कुल के ब्राह्मण को फाँसी, और वह भी केवल इस आरोप के आधार पर कि उसने वर्षों पहले कोई जाली काग़ज बनाया था—लोग रो रहे थे, और अंग्रेजों को कोस रहे थे, परन्तु उनके हृदयों पर अपनी अशक्तता और अंग्रेज़ों की सशक्तता का सिक्का ऐसी दृढ़ता से जम गया था कि नन्द-कुमार को फाँसी देने की घटना निर्विघ्न समाप्त हो गई।

इस प्रकार इंग्लैण्ड की ओर से नियुक्त किये गये भारत के पहले गवर्नर जनरल ने एक विरोधी को, अपने मित्र चीफ़ जस्टिस की सहायता से फाँसी दिलवाकर जहाँ अपना बदला ले लिया वहाँ इंग्लैण्ड के भारत साम्राज्य की जडों में ऐसे घातक विष के कीटाणु डाल दिये जिनके प्रभाव से वह २०० सालों तक छूट न सका, और अन्त मे वह कीटाणु उग्र रूप धारण करके उसके नाश के कारण हुए।

कुछ अंग्रेज़ लेखकों ने नन्दकुमार की फाँसी के मामले में वारन हेस्टिंग्ज़ को निर्दोष सिद्ध करने का व्यर्थ प्रयत्न किया है । निर्दोषता सिद्ध करने के लिये जो युक्तियाँ दी गई हैं, वह इतनी लचर हैं कि उनसे निर्दोषता सिद्ध होना तो एक ओर रहा, उल्टी दोष की कालिमा बढ़ जाती है। वे कहते हैं कि जालसाजी के लिए अंग्रेज़ी क़ानून में मृत्यु का दण्ड निहित था, वही नन्दकुमार को दिया गया, इसमें बुराई क्या हुई ? इसका उत्तर यह है कि यदि सचमुच अंग्रेज़ी राजनियम जालसाजी के लिए ऐसा ही कठोर था तो वसीयत सम्बन्धी जालसाजी के लिए क्लाइव को फाँसी क्यों नहीं दी गई। फिर भारत में भारत का ही राजनियम लगना चाहिए था । यह बहाना भी बिल्कुल लंगड़ा है कि दण्ड तो सुप्रीम कोर्ट ने दिया, इसमें गवर्नर जनरल का क्या दोष था ? उन दिनों कौंसिल के सामने गवर्नर जनरल पर जो अभियोग चल रहे थे, नन्दकुमार उसमें साक्षी था। सर एलीजाह इम्पी हेस्टिंग्ज़ का सहपाठी और पुराना मित्र था। एक वर्षों पुराने बहाने पर, चलते हुए अभियोग के विरोधी गवाह को, फाँसी पर चढ़ाने में वारन हेस्टिंग्ज़ की प्रेरणा नहीं थी, यह कौन मान सकता है ? यह स्पष्ट है कि इस विषय में इतिहास-लेखक को एडमण्ड बर्क और मैकाले जैसे अंग्रेज़ वक्ताओं और लेखकों से सहमत होकर यही व्यवस्था देनी पड़ेगी कि नन्दकुमार की फाँसी के लिए वारन हेस्टिंग्ज़ पूरी तरह ज़िम्मेवार था।

बारहवाँ अध्याय

वारन हेस्टिंग्ज़ के अन्य कारनामे

हेस्टिंग्ज ने बंगाल की गवर्नरी सँभालने पर पहला काम यह किया कि नवाब की सत्ता को समाप्त कर दिया। दुश्रमली को मिटाकर बंगाल की राजसत्ता अपने हाथों में ले ली। रज़ा खां की गिरफ्तारी के साथ नवाबी के रहे-सहे अवशेष भी मिट गये, और मुर्शिदाबाद का ख़ज़ाना कलकत्ते के फोर्ट विलियम में सुरक्षित हो गया। इस प्रकार बंगाल-विजय का जो कार्य प्लासी के रणक्षेत्र में आरम्भ हुआ था, वह वारन हेस्टिंग्ज़ के हाथों पूरा हो गया।

बंगाल का ख़ज़ाना था तो पुष्कल, परन्तु उससे ईस्ट इण्डिया कम्पनी की भूख नहीं मिट सकती थी। दिल्ली के मुग़ल बादशाह ने एक सन्धि द्वारा, वार्षिक राजकर के बदले में कोरा और इलाहाबाद के ज़िले ईस्ट इण्डिया कम्पनी को सौंप दिये थे। कम्पनी ने ज़िले तो सँभाल लिये परन्तु राजकर नियमपूर्वक नहीं दिया। १७७१ में जब बादशाह ने, सिन्धिया की सहायता से, इलाहाबाद के प्रवास को छोड़कर दिल्ली के लाल क़िले में प्रवेश किया, तो वारन हेस्टिंग्ज़ ने यह घोषणा कर दी कि—क्योंकि अब बादशाह मराठों का ग़ुलाम हो गया है, इस कारण उससे की गई सन्धि टूटी हुई समझी जाय। इस आधार पर और कोरा और इलाहाबाद के ज़िले अवध के नवाब शुजाउद्दौला को ५ लाख स्टर्लिंग में बेच दिये। राजकर देने का वायदा करके दो ज़िले प्राप्त कर लिये, राजकर न देकर भी उन पर कब्ज़ा रखा, और अन्त में सन्धि तोड़कर और पराया माल बेचकर एक बड़ी धनराशि हथिया ली, यह ब्रिटिश हुकूमत की सेवा में वारन हेस्टिंग्ज़ का दूसरा कारनामा था।

तीसरा कारनामा इससे भी बढ़िया था। कोरा और इलाबाद का सौदा करने के लिए वारन हेस्टिंग्ज़ बनारस आकर स्वयं शुजाउद्दौला से मिला था। उसी समय दोनों में एक और सौदा भी हो गया। एक प्रान्त और उसके साथ ही एक जाति का सौदा था। उन दिनों उस प्रदेश में, जिसे अब रुहेलखण्ड कहते हैं, रोहिल्ला सरदारों की हुकूमत थी। अवध की सूबेदारी से उसकी सीमा मिलती थी। शुजाउद्दौला ने वारन हेस्टिंग्ज़ के सामने यह प्रस्ताव रखा कि अंग्रेज़ कम्पनी पुष्कल धनराशि के बदले में रुहेलखण्ड को जीतकर अवध में मिला लेने में उसकी सहायता करे। अंग्रेज़ों की रुहेलों से कोई शत्रुता नहीं थी, धन के लोभ से उन पर आक्रमण करने में सहायता करना न राजनीतिक दृष्टि से उचित समझा जा सकता था और न आचारशास्त्र की दृष्टि से, परन्तु उस समय के अंग्रेज़ों का आचारशास्त्र धन-प्रधान था। हेस्टिंग्ज़ ने प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। बदले में नवाब ने वायदा किया कि वह ईस्ट इण्डिया कम्पनी को ४ लाख पौण्ड की भेंट देने के अतिरिक्त सहायता के लिए आये हुए सिपाहियों का ख़र्च भी उठायगा।

१७७४ में नवाब ने अंग्रेज़ी सेना की सहायता से रुहेलखण्ड पर आक्रमण करके उस पर अधिकार कर लिया। रुहेलों का सरदार हाफ़िज़ रहमत खां मारा गया और लगभग २० हज़ार रुहिल्लों को देश-निकाला दे दिया गया। रुहेलखण्ड अवध में सम्मिलित हो गया।

इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि हेस्टिंग्ज़ का यह सौदा न्याय और आचारशास्त्र के सर्वथा प्रतिकूल था। उस समय इंग्लैण्ड में भी इसकी काफ़ी कड़ी आलोचना हुई और जब हेस्टिंग्ज़ पर अंग्रेजी पार्लियामेण्ट में अभियोग चला, तब एडमण्ड बर्क ने रुहेलखण्ड के काले सौदे की पर्याप्त चर्चा की थी. परन्तु आश्चर्य है कि ऐसे अंग्रेज़ लेखक भी हो चुके हैं. जिन्होंने हेस्टिंग्ज़ के अपराध का मार्जन किया है। उनका कहना है कि रुहिल्ला लोग पठान होने के कारण परदेशी थे और उनका शासन देश के असली निवासी हिन्दुओं के लिए कठोर था, इस कारण उनका दमन करना उचित था। ऐसे वकीलों से पूछा जा सकता है कि क्या अवध का नवाब और वारन हेस्टिंग्ज़ के पूर्व पुरुषा भारत के निवासी थे ? क्या वे इस देश में यहाँ के असली निवासियों से पूछकर आये थे, और क्या उनके शासन से प्रजा सर्वथा सन्तुष्ट थी ? दो डाकू धन के लोभ से परस्पर समझौता करके तीसरे डाकू पर भी आक्रमण करके उसे नष्ट कर दें तो क्या उनका कार्य न्यायोचित और आचारशास्त्र के अनुकूल हो जायगा ? रुहेलखण्ड का युद्ध जिस क्रूरता से लड़ा गया उसका वर्णन लार्ड मैकाले ने निम्नलिखित शब्दों में किया है—

"तब रुहेलखण्ड की सुन्दर घाटियों और शहरों पर भारतीय युद्ध पूरे आतंक के साथ अवतीर्ण हो गया। सारे देश में आग-सी छा गई। एक लाख से अधिक व्यक्ति घरों को छोड़कर घनघोर जंगलों में भाग गये। उन लोगों ने, उस अत्याचारी की अपेक्षा जिसे एक अंग्रेज़ ईसाई सरकार ने कुछ लज्जाजनक छदामों के लिए सेनायें उधार दे दी थीं, अपनी बीवी-बच्चों के जीवन और सम्मान की रक्षा के निमित्त दुर्भिक्ष, ज्वर और शेरों से भरे हुए जंगलों को बेहतर समझा।"

यह सभ्य कहलाने वाले अंग्रेज़ गवर्नर जनरल की भारत के एक हरे-भरे प्रदेश को सप्रेम भेंट थी। इतिहास बतलाता है कि नवाब का शासन रुहिल्ला सरदार के शासन की अपेक्षा अधिक क्रूर, अधिक लुटेरा और अमानुषिक था।

रुहिल्ला युद्ध की अनीति और क्रूरता इतनी स्पष्ट और घिनौनी थी, कि उससे गवर्नर जनरल की कौंसिल में और विलायत में भी हलचल-सी मच गई। कौंसिल के सदस्यों ने बहुमत से गवर्नर जनरल के कार्य की निन्दा की। बोर्ड ऑव डायरेक्टर्स ने हेस्टिंग्ज़ को गवर्नर जनरल पद से पृथक् करने का निश्चय कर दिया। हेस्टिंग्ज़ ने इन विरोधी लक्षणों से घबराकर त्यागपत्र दे दिया, परन्तु परिणाम कुछ भी न निकला। अंग्रेज़ जाति की न्याय-बुद्धि इतनी कुण्ठित हो गई थी कि न्याय की दुहाई का तूफ़ान चुपचाप निकल गया और वारन हेस्टिंग्ज़ अपनी गद्दी पर पूर्ववत डटा रहा। भाग्यों ने भी उसकी सहायता की। कौंसिल में उसके तीन विरोधी थे। उनमें से मौसन बीमार होकर मर गया। वारन हेस्टिंग्ज़ का और फ्रांसिस का झगड़ा यहाँ तक बढ़ा कि हेस्टिंग्ज़ ने खुले तौर पर फ्रांसिस पर धोखेबाज़ी का आरोप लगाया। इस पर फ्रांसिस ने उसे द्वन्द्व-युद्ध के लिए ललकारा। दोनों का द्वन्द्व युद्ध हुआ, जिसमें फ्रांसिस

चेतसिंह ने हेस्टिंग्ज़ को प्रसन्न करने के लिए शक्ति-अनुसार सब कुछ किया, परन्तु उसका छुटकारा न हुआ। हेस्टिंग्ज़ की तृष्णा बढ़ती गई। जब कम्पनी के नाम पर उससे इतनी बड़ी माँग की गई जिसे वह पूरा न कर सका तो हेस्टिंग्ज़ सेना लेकर स्वयं कलकत्ते से बनारस पहुँचा और चेतसिंह को गिरफ़्तार कर लिया। राजा ने तो शक्ति के सामने सिर झुका लिया परन्तु उसकी प्रजा और सेना इस बलात्कार को न सह सकी, और विद्रोही हो गई। बहुत से अंग्रेज़ सिपाही मार डाले गये, और चेतसिंह भी उस गड़बड़ से लाभ उठाकर बच निकला। कुछ समय तक तो हेस्टिंग्ज़ बनारसवासियों के विद्रोह के कारण स्वयं संकट में आ गया था, परन्तु वह बहुत ठण्डे दिमाग़ का चतुर व्यक्ति था। उलझन में से शीघ्र ही निकल गया। दण्ड के तौर पर उसने चेतसिंह को राजगद्दी से अलग करके उसके भतीजे को राजा घोषित कर दिया और वार्षिक राजकर की मात्रा साढ़े बाईस लाख से बढ़ाकर ४० लाख कर दी। ऐसे अंग्रेज़ लेखक भी हैं, जो वारन हेस्टिंग्ज़ के इस कार्य की सफ़ाई भी पेश करते हैं, परन्तु इतिहास-लेखक की दृष्टि में उनका कोई मूल्य नहीं। ५ जुलाई, १७७५ के दिन कम्पनी की ओर से चेतसिंह के साथ यह निश्चित और स्पष्ट इकरारनामा किया गया था कि यदि वह साढ़े बाईस लाख रुपया प्रति वर्ष नियम से देता रहे तो उससे और कुछ न माँगा जाय। उस इकरारनामे को पददलित करके, राजा चेतसिंह पर जो बलात्कार और अत्याचार किया गया, उसकी सफ़ाई देना स्वयं अपराध के भागी बनने के समान है।

धन की तृष्णा की यही विशेषता है कि वह धन से शान्त नहीं होती। जैसे तेल डालने से आग भड़कती है वैसे धन मिलने से तृष्णा भी प्रबल होती है। चेतसिंह के रुपयों से न कम्पनी की प्यास बुझी, और न हेस्टिंग्ज़ की। निरन्तर बढ़ती हुई प्यास को बुझाने के लिए हेस्टिंग्ज़ फिर एक बार अवध के नवाब वजीर आसफुद्दौला की ओर झुका। समझा जाता था कि उसके कोष में अनन्त धनराशि जमा है परन्तु उसका राजकर भी कई वर्ष से वसूल नहीं हो रहा था। जब गवर्नर जनरल ने बहुत तकाजा किया तो नवाब ने उत्तर दिया कि मेरे कोष में तो इतना रुपया नहीं है परन्तु मेरे पिता की बेग़मों के पास बहुत बड़ी धनराशि और जवाहिरात विद्यमान हैं, उनसे लेने की व्यवस्था की जाय। गवर्नर जनरल को तो रुपया चाहिए था, चाहे कहीं से मिले। उसने स्वीकृति दे दी। ब्रिटिश रेज़िडेण्ट ने शुजाउद्दौला की विधवा पर ज़ोर डाला, जिस पर बेग़म ने पहले दिये हुए लगभग ढाई लाख पौण्डों के अतिरिक्त तीन लाख पौण्ड और दे दिये। साथ ही यह वायदा ले लिया कि अब इसके पश्चात् धन की कोई माँग पेश न की जायगी।

वायदा तो हो गया, परन्तु वायदे का पालन करना न हेस्टिंग्ज़ के नीतिशास्त्र में लिखा था, और न नवाब आसफुद्दौला के। वायदा करने के ६ वर्ष पश्चात् १७८१ ईस्वी में आसफुद्दौला ने हेस्टिंग्ज़ को सूचना दी कि बेग़मों के पास अब भी बहुत धन बचा हुआ है, और अनुमति माँगी कि छः वर्ष पूर्व किये वायदे को तोड़कर उनसे धन निकाला जाय। अंग्रेज़ गवर्नर जनरल ने न केवल वायदे के पर्चे को फाड़ने की अनुमति दे दी, कुछ अंग्रेज़ सेना भी भेज दी ताकि यदि बेग़मों की ओर से कोई रुकावट पैदा की जाय, तो सेना नवाब की सहायता कर

सके। सेना को भेजते हुए गवर्नर जनरल ने अपने एजेण्ट को आदेश दिया कि बेग़मों का किसी प्रकार का लिहाज़ न किया जाय, और तब तक उन पर दबाव डाला जाय—जब तक खज़ाना अन्दर से बाहर न आ जाय।

अंग्रेज़ सेना की टुकड़ी बेग़मों से रुपया निकालने के लिए फैजाबाद पहुँच गई, और महलों के दरवाज़े ज़बरदस्ती खुलवा लिये। बेग़मों को उनके कमरों में बन्द कर दिया गया, और उनसे खज़ाने की चाबी माँगी गई। जब वह इसके लिए राज़ी न हुई तब बेग़मों के दो पुराने बूढ़े नौकरों को पकड़ लिया गया, और उन पर सब प्रकार के अमानुषिक अत्याचार किये गये। उन्हें जेल में डाला गया, हथकड़ियाँ डाल दी गईं और भूखे-प्यासे तड़पा दिया गया। इस प्रकार की यातनाओं में दो मास रहकर वे मरणासन्न हो गये। तब भी वे न माने तो उन पर मनमाना अत्याचार करके खज़ाने का पता देने के लिए उन्हें लखनऊ लाया गया। लखनऊ ले जाकर उन दोनों को नृशंस यमदूतों के हाथों में दे दिया गया, जिससे वे मनमाना बल प्रयोग कर सकें। उधर बेग़मों की नज़रबन्दी भी जारी रही। इस दुतर्फ़ा अत्याचार का परिणाम यह निकला कि अन्त में बेग़मों को झुकना पड़ा? उन्होंने १ लाख पौण्ड के जवाहिरात देकर अपनी जान छुड़ाई। हेस्टिंग्ज़ के अन्धभक्त अंग्रेज़ लेखक उसकी इस भयंकर अनीति के समर्थन में कुछ ही कहें, इतिहास का निष्पक्ष लेखक यह कहे बिना नहीं रह सकता कि अंग्रेज़ गवर्नर जनरल की आज्ञा से धन के लोभ के कारण अवध की बेग़मों और उनके बूढ़े नौकरों पर जो अत्याचार किये गये, उनकी संसार के अत्याचारियों द्वारा किये गये अत्यन्त काले कारनामों में गिन्ती की जायगी।

हेस्टिंग्ज़ की अवध और अन्यायपूर्ण कार्रवाइयों के समाचार तो इंग्लैण्ड में बहुत दिनों से पहुँच रहे थे, परन्तु बोर्ड ऑव डायरेक्टर्स को पैसे की तृष्णा थी और हेस्टिंग्ज़ जैसे-तैसे करके पैसे भेज रहा था, इस कारण उसका आसन हिल-हिल कर भी जमता रहा। एक बार तो उसका त्यागपत्र विलायत भी पहुँच गया था, और उत्तराधिकारी भी नियत हो गया था पर हेस्टिंग्ज़ अपने पद पर अड़ा रहा और गवर्नर जनरल का आसन छोड़ने से इन्कार कर दिया। अन्त में उसकी जीत हुई क्योंकि बोर्ड उसके पक्ष में था। प्रत्येक रात्रि का अन्त होता है। अन्त में हेस्टिंग्ज़ की अन्धेरगर्दी का भी अन्त हो गया। उसके दो कारण हुए। एक तो उसकी कौंसिल की द्वंद्व-युद्ध से हारे हुए सदस्य फ्रांसिस ने विलायत जाकर वारन हेस्टिंग्ज़ के विरुद्ध घोर आन्दोलन शुरू कर दिया, और दूसरे गवर्नर जनरल के पुराने सहपाठी, सर इम्पी से उसकी खटपट हो गई। दोनों एक ही थैले के चट्टे-बट्टे थे, परन्तु कहावत है कि चोरों की दोस्ती चार दिन की। अन्त में दोनों में बड़प्पन के लिए संघर्ष हो गया। हेस्टिंग्ज़ ने सर इम्पी को कुछ अतिरिक्त वेतन देकर उस संघर्ष को टालना चाहा, परन्तु ब्रिटिश पार्लियामेण्ट इस पर राज़ी नहीं हुई। १७८१ के ऐक्ट से हेस्टिंग्ज़ का किया हुआ समझौता रद्द कर दिया गया और सर इम्पी को अयोग्य मानकर पदच्युत कर दिया गया। इस घटना से विलायत में जो चर्चा चली, उसने देश में वारन हेस्टिंग्ज़ के अवैध कार्यों की बहुत प्रसिद्धि कर दी।

अन्त में १७७३ में ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने नया रेगूलेशन ऐक्ट पास करके जहाँ ईस्ट

इण्डिया कम्पनी के अधिकारों को १० वर्षों के लिए पुनर्जीवित कर दिया वहाँ उस पर राज्य के नियन्त्रण को भी कड़ा कर दिया। अगले वर्ष पार्लियामेण्ट ने दो कमेटियाँ नियुक्त कीं। एक 'सिलेक्ट' कमेटी के नाम से और दूसरी 'सीक्रट' कमेटी के नाम से। दोनों का असली उद्देश्य गवर्नर जनरल के कारनामों की छान-बीन करना था। इन कमेटियों की रिपोर्ट १७८२ में प्रकाशित हुई। उस रिपोर्ट ने इंग्लैण्ड में तहलका-सा मचा दिया। उनमें हेस्टिंग्ज़ के कुकृत्यों का काफ़ी भण्डाफोड़ किया गया था। अब हेस्टिंग्ज़ के लिए गवर्नर जनरल की गद्दी पर बैठना असम्भव हो गया और वह १७८५ में त्यागपत्र देकर इंग्लैण्ड चला गया।

इंग्लैण्ड में, तब तक, हेस्टिंग्ज़ के सिर पर फूटने के लिए तूफ़ान तैयार हो चुका था। प्रारम्भ में तो उसका बहुत आदर-सत्कार हुआ, राजा और रानी की ओर से विशेष आदर दिखलाया गया, डायरेक्टरों ने धन्यवाद और प्रशंसा के पुल बाँधे, परन्तु उसके विलायत पहुँचने के ७ दिनों के ही भीतर इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध राजनीतिक अग्रणी और अपने समय के सर्वोत्कृष्ट वक्ता एडमण्ड बर्क ने पार्लियामेण्ट में उसके विरुद्ध प्रस्ताव उपस्थित कर दिया।

बर्क के प्रस्ताव पर काफ़ी गर्मागर्म बहस हुई। अन्त में वह स्वीकार हो गया। निश्चय हुआ कि हाउस ऑव कामन्स की ओर से हाउस ऑव लार्ड्स में हेस्टिंग्ज़ के विरुद्ध अभियोग चलाया जाय। अभियोग १७८८ के फ़रवरी मास में आरम्भ हुआ। मुख्य अभियोक्ता की हैसियत से बर्क ने हाउस ऑव लार्ड्स की अदालत में जो भाषण दिये, वह इतिहास के उच्चतम राजनीतिक भाषणों में गिने जाते हैं। बर्क ने जब अपने भाषणों में भारत की दशा का ख़ूब मार्मिक वर्णन करते हुए हेस्टिंग्ज़ के भ्रष्टाचार का बड़े विस्तार से भावपूर्ण शब्दों में प्रतिपादन किया, तब एक बार तो इंग्लैण्ड में गवर्नर जनरल के विरुद्ध रोष की आँधी-सी आ गई। बर्क ने हेस्टिंग्ज़ के पापों का बखान करते हुए अदालत (हाउस ऑव लार्ड्स) के सदस्यों से कहा था कि इस अभियोग के निर्णय से केवल भारतवर्ष के हितों का ही फ़ैसला नहीं होगा, अपितु अंग्रेज़ जाति के यश और मान का फ़ैसला भी होगा। बर्क ने सदस्यों के सामने हेस्टिंग्ज़ के उन सब अनाचारों की काली कहानी सुनाई, जिनका सम्बन्ध नन्दकुमार की फाँसी, अवध और बनारस की घटनाओं से था। इस कार्य में इंग्लैण्ड के दो अन्य प्रसिद्ध वक्ताओं ने बर्क की सहायता की। वह वक्ता फौक्स और शैरीडन थे।

पहले ही प्रतीत होने लगा था कि बर्क, फौक्स और शैरीडन जैसे सच्चे और प्रभाव-शाली वक्ताओं के मुँह से हेस्टिंग्ज़ के भ्रष्टाचारों का ब्यौरा सुनकर इंग्लैण्ड की आत्मा जाग उठेगी और हेस्टिंग्ज़ अपराधी करार दिया जायगा। परन्तु जैसे क्लाइव के अभियोग ने सिद्ध कर दिया था, इंग्लैण्ड की आत्मा राजनीतिक सफलता के पाँव के नीचे आकर कुचली जा चुकी थी। अभियोग १७८८ में आरम्भ होकर १७९५ तक चलता रहा। तब तक अभियोग लगाने वाले योग्य वक्ताओं के भाषणों का प्रभाव नष्ट हो चुका था। अदालत के बहुत से वह सदस्य, जिनके सामने अभियोग उपस्थित हुआ था, हाउस ऑव लार्ड्स को छोड़ चुके थे। जो अभियोग आँधी की तरह उठा था, वह झोंके की तरह बैठ गया और अन्त में ८ वर्ष के पश्चात् जब हाउस ऑव लार्ड्स में अभियोगों के सम्बन्ध में मत लिये गये तो बहुत थोड़े सदस्यों ने

पक्ष में सम्मति दी। अधिक सदस्यों ने हेस्टिंग्ज़ के पक्ष में सम्मति दी और वह लगभग निर्दोष प्रमाणित किया गया।

लार्ड मैकाले ने हेस्टिंग्ज़ पर चलाये गये अभियोग के परिणाम पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि ऊँची अदालत ने जो फ़ैसला सुनाया लोगों को उसकी पहले से आशा थी, और साधारणतः उसे पसन्द किया गया। यदि मेकाले का विवेचन ठीक है तो हम कह सकते हैं कि अंग्रेज़ जाति की न्यायपरायणता केवल एक ढकोसला है। जिस जाति की ऊँची अदालत में इतने अक्षम्य अपराध करने वाला निर्दोष प्रमाणित हो सकता है और सारी जाति उससे सहमत हो सकती है, उसके विषय में यदि यह सम्मति दी जाय कि उसकी न्याय-बुद्धि को अवसरवादिता ने सर्वथा नष्ट कर दिया था, तो अत्युचित नहीं। बर्क, फौक्स और शैरीडन जैसे व्यक्ति केवल अपवाद थे, जो अंग्रेज़ी मुहावरे के अनसार नियम को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त थे।

तेरहवाँ अध्याय

व्यापारी से शासक

वारन हेस्टिंग्ज़ के भारत से चले जाने पर इंग्लैण्ड की सरकार ने भारत के शासन की समस्या पर फिर से विचार किया। वारन हेस्टिंग्ज़ पर जो आरोप लगाये गये थे, यद्यपि वह उनसे बरी हो गया तो भी अंग्रेज़ों के मन में यह बात बैठ गई कि जिसे इंग्लैण्ड के ख़ज़ाने का सबसे अधिक मूल्यवान हीरा समझा जाता है, उसकी हालत अच्छी नहीं है। कुछ न कुछ दाल में काला अवश्य है, अन्यथा यह बात न होती कि जो व्यक्ति वहाँ का मुख्य शासक बनाकर भेजा जाता, उसी को अपराधी बनकर अदालत के कटघरे में खड़ा हो जाना पड़ता। वारन हेस्टिंग्ज़ के समय में भारत की व्यवस्था के सम्बन्ध में जो रेगुलेशन ऐक्ट लागू किया गया था, १७८४ में वह रद्द कर दिया गया, और उसके स्थान पर इण्डिया एक्ट नाम का नया विधान लागू किया गया। यह ऐक्ट 'ब्रिटिश इण्डिया ऐक्ट' कहलाता है।

१६०० ईस्वी में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने इंग्लैण्ड की महारानी एलिजबैथ से चार्टर प्राप्त करके पूर्व में व्यापार आरम्भ किया था और आठ वर्ष पश्चात् विलियम हाकिन्स नामक अंग्रेज़ जहाज़ी ने मुग़ल बादशाह जहाँगीर को अपनी भेंटों और मीठी बातों से प्रसन्न करके उससे सूरत में व्यापार करने की आज्ञा प्राप्त की। पुर्तगाल के व्यापारियों तथा पादरियों का घोर विरोध होने पर विलियम हाकिन्स को सफलता प्राप्त होने का मुख्य कारण यह था कि जहांगीर और उसके दरबारी पुर्तगाल के लोगों की कुटिल नीति से बहुत कुछ तंग आ चुके थे।

विलियम हाकिन्स को प्रारम्भिक सफलता तो मिली परन्तु कुछ दूर जाकर रास्ता रुक गया। परिस्थिति से खिन्न होकर वह १६११ में हिन्दुस्तान से विदा हो गया। उसके पश्चात् सर टामसरो ने १६१५ में आगरे पहुँचकर इंग्लैण्ड के बादशाह की चिट्ठी बादशाह जहांगीर की सेवा में उपस्थित की। उसके मार्ग में बहुत-सी बाधायें आईं परन्तु अन्त में वह एक शाही फ़रमान द्वारा अंग्रेज़ों के लिए सूरत में व्यापार करने की प्रामाणिक आज्ञा प्राप्त करने में सफल हो गया।

वह प्रारम्भ था। उसे हम भारत में अंग्रेज़ी साम्राज्य की स्थापना का पहला पर्व कह सकते हैं।

दूसरा पर्व तब आरम्भ हुआ जब लार्ड क्लाइव ने प्लासी की विजय के पश्चात् मुग़ल सम्राट् से बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी का अधिकार प्राप्त किया। बादशाह जहांगीर के फ़रमान ने अंग्रेज़ों को केवल व्यापार करने का अधिकार दिया था, तो दीवानी की सनद ने उन्हें बादशाह के प्रमाणित प्रतिनिधि का पद प्रदान कर दिया। दीवानी की सनद मिलने के पश्चात् बंगाल में जिस शासन-प्रणाली का संचार हुआ उसे 'दोहरी सरकार' के नाम से पुकारा जाता है

'दीवानी' मिलने पर राज्य की जो व्यवस्था हुई उसका निम्नलिखित रूप था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने मुग़ल बादशाह को वार्षिक २,६०,००० पौण्ड कर के रूप में देने का वायदा किया, जिसके बदले में मुग़ल बादशाह ने कम्पनी को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की मालगुज़ारी तथा अन्य कर वसूल करने का अधिकार दे दिया। मालगुज़ारी वसूल करने के अधिकार के साथ थोड़ा-बहुत शासन करने का अधिकार आवश्यक ही है। एक के बिना दूसरा नही चल सकता। वह अधिकार कम्पनी को स्वतः प्राप्त हो गया। आखिर थोड़ा हो या बहुत इसका निश्चय अधिकारी की शक्ति पर रहना है। उस समय कम्पनी विजय प्राप्त करके शक्ति-सम्पन्न हो रही थी। इस कारण अधिकार का 'बहुत' होने की ओर झुकाव होना आवश्यक ही था। वही हुआ भी।

कर वसूल करने का अधिकार तो मिल गया, परन्तु कम्पनी ने उस कार्य को सीधा अपने हाथों में नही लिया। लॉर्ड क्लाइव ने यह व्यवस्था की कि दो हिन्दुस्तानी अफसर कर वसूल करने के कटु कर्तव्य का पालन करे। उसने मुर्शिदाबाद में मुहम्मद रजा खां और पटना में राजा शिताबराय को अपने एजेण्ट के तौर पर नियुक्त कर दिया, और उन्हे बगाल और बिहार का काम क्रमशः सौप दिया।

इस प्रकार कर की उगाही का काम तो कम्पनी के हाथ मे आ गया, परन्तु शासन के अन्य अधिकार नवाब के पास ही रहे। कम्पनी ने वार्षिक व्यय के लिए नवाब को लगभग ५३ लाख रुपये की राशि देने का वायदा किया। स्थिति यह हो गई कि रुपयों की थैली तो कम्पनी के पास आगई और शासन की जिम्मेदारी नवाब पर रही। इसी विशेषता के कारण यह शासन प्रणाली 'दुहरा शासन' के नाम से पुकारी गई। इस प्रणाली के अनुसार ईस्ट इण्डिया कम्पनी व्यापारी से बादशाह का मुख्य गुमाश्ता बन गई।

ऊपर से देखने में यह व्यवस्था सरल प्रतीत होती थी, परन्तु अनुभव ने कुछ ही वर्षों में सिद्ध कर दिया कि यह व्यवस्था सबके लिए अत्यन्त हानिकारक होने के साथ-साथ अव्यवहार्य भी थी। इसमें अनेक दोष थे। पहला बड़ा दोष तो यह था कि अधिकारों और जिम्मेवारियों के बॅट जाने से जिन दोषों को दूर करना अभीष्ट था, वह बढ़ गये। अंग्रेज़ कर्मचारियों में कम्पनी के व्यापार के अतिरिक्त निजू तौर पर अलग व्यापार करने की जो प्रवृत्ति थी, वह दुहरे शासन में और भी अधिक हो गई। कम्पनी को और किसी चीज़ से प्रयोजन नहीं था, उसे तो रुपया वसूल करना था, इस कारण कृषक जनता पर अत्याचारों की मात्रा सौगुना बढ़ गई। कम्पनी के कर्मचारी ग़रीब प्रजा की हड्डियों में से रक्त की बूँदे निचोड़ने लगे। जब कम्पनी के बोर्ड ऑव डायरेक्टर्स का ध्यान उपर्युक्त दोषों की ओर खेंचा गया तो उन्होंने कार्य की देखभाल करने और बुराइयों को रोकने के लिए निरीक्षक (Supervisor) नियुक्त किये परन्तु उससे भी कुछ लाभ न हुआ। भाक्षीतेपित्मशुने न शान्तो व्याधिः। निरीक्षक केवल देखभाल करने लिए बनाये गये थे, उनके हाथ में सुधार करने की कोई शक्ति नही थी। बहुत से निरीक्षक निजी तौर पर व्यापार करने के अपराधी थे। स्वयं अपराधी दूसरों को क्या दण्ड दे सकता था। इस प्रकार मर्ज़ बढ़ता गया ज्यों-ज्यो दवा की। औषध ही रोग की वृद्धि का

कारण बन गई, जिससे घबराकर इंग्लैण्ड की सरकार को भारत के प्रबन्ध मे हस्तक्षप करना आवश्यक प्रतीत होने लगा। फलतः ब्रिटिश पार्लमेण्ट ने १७७३ में रेगुलेशन ऐक्ट (Regulation Act) स्वीकार किया, जो 'नार्थ का रेगुलेशन ऐक्ट' कहलाया।

'रेगुलेशन ऐक्ट' द्वारा अंग्रेज़ी सरकार ने पहले-पहल भारत पर अपना प्रभुत्व जमाने का यत्न किया। इस एक्ट में ईस्ट इण्डिया कम्पनी और उसके बोर्ड ऑव डायरेक्टर्स का विधान इस दृष्टि से परिवर्तित कर दिया गया कि उस पर सरकार की कड़ी आँख रह सके। अब तक भारत के तीनों प्रान्तों के गवर्नर एक दूसरे के समान स्थिति रखते थे। इस ऐक्ट द्वारा कलकत्ते के गवर्नर को बम्बई और मद्रास के गवर्नरों से ऊँचा 'गवर्नर जनरल' का पद दिया गया और उसे सलाह देने के लिए ४ कौंसिलरों की एक कौंसिल नियुक्त की गई। वे चारों सदस्य सलाह देने का अधिकार गवर्नर जनरल के समान ही रखते थे। कलकत्ते में सुप्रीम कोर्ट ऑव जुडीकेच्योर (Supreme Court of Judicature) नाम से बड़ा न्यायालय स्थापित किया गया जो गवर्नर जनरल तथा उसकी कौंसिल से सर्वथा स्वतन्त्र रखा गया था। गवर्नर जनरल और उसके सलाहकारी के बड़े-बड़े वेतन नियत किये गये, और साथ ही यह नियम कर दिया गया कि उनमें से कोई निजी रूप से व्यापार नहीं कर सकेगा। डालियाँ भेंट लेना तथा निजी व्यापार करना सभी सरकारी कर्मचारियों के लिए निषिद्ध कर दिया गया और जो लोग इन नियमों का उल्लंघन करे, उनके लिए भारत में और इंग्लैण्ड में भी दण्ड देने का विधान कर दिया गया। इस प्रकार यद्यपि रेगुलेशन ऐक्ट द्वारा अंग्रेज़ी सरकार ने भारत के शासन की पूरी और सीधी ज़िम्मेवारी अपने कन्धों पर नहीं ली, तो भी उस पर अपना अंकुश भली प्रकार रख दिया।

जो अंग्रेज़ जाति भारत में व्यापारी बनकर आई थी और दीवानी पाकर मुग़ल सम्राट् की गुमाश्ता बन गई थी वही ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा भारत के शासन की हकदार बन गई।

हम देख आये हैं कि रेगुलेशन ऐक्ट भी उस रोग की चिकित्सा न कर सका, जिससे भारत में आये हुए अंग्रेज़ ग्रस्त थे। कौंसिल के सदस्य गवर्नर जनरल के सहायक या सलाहकार बनने के स्थान में प्रतिद्वन्द्वी बन बैठे। सुप्रीम कोर्ट बिल्कुल स्वतन्त्र था, अतः वह शासकों के लिए स्वयं एक समस्या बन गया। नई व्यवस्था द्वारा पालियामेण्ट भारत के शासकों पर अंकुश लगाना चाहती थी, परन्तु रेगुलेशन ऐक्ट द्वारा वह न लग सका। वारन हेस्टिंग्ज़ के शासन-काल के अनुभव ने इंग्लैण्ड के मन्त्रिमण्डल को निश्चय करा दिया कि रेगुलेशन केवल व्यर्थ ही नहीं हानिकारक भी है क्योंकि उसने पुरानी किसी समस्या को तो हल नहीं किया, और शासन की कई नई समस्यायें उत्पन्न कर दीं।

स्थिति को ठीक करने के लिए १७८४ में ब्रिटिश पालियामेण्ट ने एक नया ऐक्ट स्वीकार किया, जो 'पिट का इण्डिया ऐक्ट' कहलाया। उसे संसद् में उस समय के प्रधान मन्त्री मि० पिट ने पेश किया था। प्रस्तावक के नाम पर ही उसका नामकरण हुआ। इण्डिया ऐक्ट की मुख्य धारायें निम्नलिखित थीं—

हिन्दुस्तान सम्बन्धी कार्यों के लिए इंग्लैण्ड के बादशाह की ओर से ६ सदस्यों को

कमिश्नर के तौर पर नियुक्त किया जायगा। अन्यतम सेक्रेटरी ऑव स्टेट और चान्सलर ऑव एक्स्चेकर आवश्यक रूप से कमिश्नर होंगे।

दो कमिश्नर अपने में से न्यून से न्यून ३ सदस्यों का एक बोर्ड ऑव कण्ट्रोल निर्वाचित करेंगे। उस बोर्ड को वे सब अधिकार प्राप्त हो जायेंगे जो कमिश्नरों को दिये जा रहे हैं।

भारत के शासन के लिए सब नियुक्तियाँ तो पूर्ववत् ईस्ट इण्डिया कम्पनी ही करेगी परन्तु अधिकारियों को वापिस बुलाने का अधिकार तथा अन्य सब संरक्षण सम्बन्धी अधिकार बोर्ड को प्राप्त होंगे।

कलकत्ते के अतिरिक्त मद्रास और बम्बई के प्रान्तों में गवर्नरों की परामर्श समितियाँ स्थापित की जायँगी, जिनके सदस्यों की संख्या ३ होगी। प्रारम्भ में ऐसा नियम रखा गया था कि परामर्श समिति की सम्मति को मानना गवर्नरी के लिए आवश्यक होगा, परन्तु कुछ समय पीछे उसमें यह परिवर्तन कर दिया गया कि यदि उचित समझें तो गवर्नर जनरल अपनी परामर्शदात्री समितियों की उपेक्षा भी कर सकेंगे।

इस ऐक्ट द्वारा एक विशेष बचत यह हो गई कि भारत में अंग्रेज़ों की शासन-नीति का ध्येय स्पष्ट रूप से उद्घोषित किया गया। ३४वीं धारा में कहा गया था कि—क्योंकि भारत पर विजय प्राप्त करना या अपने अधिकार-क्षेत्र को बढ़ाना ब्रिटिश राष्ट्र को अभिप्रेत नहीं है, अतः गवर्नर जनरल अथवा गवर्नरों को चाहिए कि वे बोर्ड ऑव कण्ट्रोल अथवा सिलेक्ट कमेटी की स्पष्ट आज्ञा के बिना किसी युद्ध की घोषणा न करें, अथवा ना ही लड़ाई शुरू करें।

ऐक्ट में यह व्यवस्था की गई थी कि उस समय तक भारत के राजाओं अथवा नवाबों के साथ जो सन्धियाँ और इकरारनामे हो चुके हैं, उनकी छानबीन करके सब शिकायतों को दूर किया जाय जिससे भविष्य में लड़ाई-झगड़े की सम्भावना ही न रहे।

इस प्रकार ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने १७८४ के इण्डिया ऐक्ट द्वारा दो नई व्यवस्थाएं कीं। उसने भारत में उस समय विद्यमान अंग्रेज़-शक्ति का ध्येय निर्धारित करते हुए यह घोषणा की कि ब्रिटिश राष्ट्र भारत में विजय और विजय के लिए किये गये युद्धों के विरुद्ध है। यह पहली व्यवस्था थी। और दूसरी व्यवस्था यह थी कि भारत के सम्बन्धी कार्यों की देख-भाल के लिए बोर्ड ऑव कण्ट्रोल की नियुक्ति की। इस प्रकार पार्लियामेण्ट ने भारत के शासन की बागडोर द्राविड प्राणायाम की रीति से अपने हाथों में ली।

ऐक्ट का उद्देश्य अच्छा था, परन्तु उसका पालन कहाँ तक हुआ और भंग कहाँ तक हुआ, यह अगले कुछ वर्षों का इतिहास बतलायेगा।

चौदहवाँ अध्याय

लार्ड कार्नवालिस के सुधार

वारन हेस्टिंग्ज़ के चले जाने पर १८ महीनों तक सर जान मैक्फर्सन ने गवर्नर-जनरल का कार्य किया। वह साधारण योग्यता का व्यक्ति होने के अतिरिक्त निर्बल भी था। उस पर कुछ प्रामाणिक व्यक्तियों द्वारा रिश्वत लेने और रिश्वत देने के अभियोग लगाये गये। उसने स्थायी रूप से गवर्नर-जनरल के पद पर नियुक्त होने का बहुत यत्न किया परन्तु उसे सफलता नहीं हुई।



लार्ड कार्नवालिस

१७८६ में पार्लमेण्ट के विशेष ऐक्ट से प्रमाणित करके, लार्ड कार्नवालिस को गवर्नर-जनरल के पद पर नियुक्त किया गया और इस विशेष अधिकार के साथ भारत भेजा गया कि यदि आवश्यक हो तो गवर्नर-जनरल अपनी कौंसिल के बहुमत की उपेक्षा करके अपनी सम्मति के अनुसार कार्य कर सकता है।

लार्ड कार्नवालिस का इंग्लैण्ड में बहुत मान था यद्यपि अमरीका के स्वाधीनता-युद्ध में अमरीका के प्रधान सेनापति जनरल वाशिंग्टन के सामने पराजित होकर हथियार रख देने का अपयश कार्नवालिस को ही उठाना पड़ा था, तो भी अंग्रेज लोग उसके चरित्र-बल में विश्वास रखते थे। इंग्लैण्ड के प्रमुख नीतिज्ञों से लार्ड कार्नवालिस को गहरी मित्रता था। वारन हेस्टिंग्ज के अभियोग के कारण इंग्लैण्ड में भारत की अवस्था के सम्बन्ध में बहुत चिन्ता उत्पन्न हो गई थी। बर्क और उसके साथियों ने अभियोग के समय भारत में अंग्रेज़ अफ़सरों के अत्याचारों का जो भयानक चित्र खेंचा था, उससे लोग बहुत विक्षुब्ध हो गये थे। लार्ड कार्नवालिस को एक सच्चा और समझदार व्यक्ति माना जाता था। यह समझा गया कि भारत में जाकर वह रिश्वतख़ोरी, अत्याचार और अव्यवस्था का उन्मूलन करके राज्य की जड़ों को दृढ़ करेगा।

लार्ड कार्नवालिस को भारत भेजते हुए अंग्रेज़ी सरकार ने विशेष रूप से निम्नलिखित कार्य सुपुर्द किये थे—

(१) शासन-पद्धति और न्याय-पद्धति को ऐसे ढंग से संगठित करना कि उसकी बुराइयाँ दूर हो जायँ और प्रबन्ध शक्ति बढ़ जाय।

(२) भूमि-कर की व्यवस्था को सुधारकर कम्पनी की आय को बढ़ाना, और स्थिर करना।

(३) ऐसा यत्न करना कि अंग्रेज़ शासक देशी राजाओं के मामलों में हस्तक्षेप न करें, और युद्ध मोल न लें।

कार्नवालिस ने यथाशक्ति शासन-व्यवस्था में सुधार का प्रयत्न किया। यह लगभग सर्वसम्मत है कि उसने ईमानदारी और परिश्रम से कार्य सम्पादित करने में कोई कसर नहीं उठा रखी।

कार्नवालिस से पहले भारत में सरकारी काम करने वाले अंग्रेज़ों की आय तीन हिस्सों में बँटी हुई थी—(१) उन्हें सरकार के ख़ज़ाने से वेतन मिलता था। (२) वे जितनी माल-गुज़ारी वसूल करें उस पर कमीशन मिलता था, और (३) निजी तौर पर जो कारोबार करें उससे कमाई करते थे। यों डायरेक्टरों की आज्ञा तो यह थी कि कम्पनी का कोई कर्मचारी निजी व्यापार न करे, परन्तु इस नियम का अपवाद रूप में ही पालन होता था। प्रायः सभी कर्मचारी निजी ढंग पर व्यापार करते थे, और बड़ी-बड़ी राशियाँ कमाकर विलायत ले जाते थे।

इस अन्धेरगर्दी का क्या परिणाम होता था, वह एक ही दृष्टान्त से स्पष्ट हो जायगा। बनारस में कम्पनी की ओर से जो रेज़ीडेण्ट रहता था, उसका बँधा हुआ वेतन १३५० पौंड था, परन्तु उसकी 'ऊपर की' वार्षिक आय ४० हज़ार पौण्ड थी। इस 'ऊपर की' आय का अधिक भाग प्रायः अनुचित और बेईमानी के उपायों से प्राप्त किया जाता था। कम्पनी के कर्मचारियों द्वारा निजी व्यापार से जो भयंकर हानियाँ होती थीं, उनकी चर्चा इससे पूर्व के अध्यायों में हो चुकी है। उससे न केवल कम्पनी के व्यापार को हानि पहुँचती थी, प्रजा पर भी असह्य अत्याचार होते थे।

कार्नवालिस ने इस दोष को दूर करने के निम्नलिखित उपाय किये—

(१) कर्मचारियों के वेतन का स्तर ऊँचा कर दिया गया।

(२) कमीशन सर्वथा बन्द कर दिया गया।

(३) काम छोड़ने पर निर्वाह योग्य पेन्शन की प्रथा प्रचलित कर दी गई।

(४) निजी व्यापार को कठोरता से रोका गया।

निःसन्देह, ये सुधार आवश्यक थे, और इनसे उस समय के कम्पनी के शासन में पर्याप्त उन्नति हुई। उसके पश्चात् अंग्रेज़ी राज्य में सिविल सर्विस सम्बन्धी अनेक क़ानून बने और उनमें परिवर्तन हुए, परन्तु उनके मूल सिद्धान्त प्रायः वही रहे, जिनके आधार पर लार्ड कार्नवालिस ने सुधार किये थे।

न्याय-विभाग में भी लार्ड कार्नवालिस के किये हुए सुधारों ने कम्पनी के शासन को बहुत कुछ उन्नत किया। उन दिनों न्यायाधीश का कार्य मुसलमान मौलवी और हिन्दू पण्डित करते थे। अर्थसम्बन्धी और फ़ौजदारी मामलों को सुनने वाले न्यायालय एक ही थे। न्यायाधीशों के वेतन बहुत थोड़े थे, इस कारण रिश्वत का बाज़ार गर्म रहता था। कार्नवालिस ने पहला सुधार तो यह किया कि वेतन का स्तर ऊँचा कर दिया। दूसरा सुधार यह किया कि दोनों विभाग अलग कर दिये। न्यायालयों के संघटन को भी अधिक युक्तिसंगत बना दिया। ज़िले-ज़िले में अलग कचहरियाँ नियुक्त की गईं। अपील सुनने के लिए माल

विभाग में सदर दीवानी अदालत, और फ़ौजदारी में सदर निज़ामत अदालत स्थापित की गई। भारत में ब्रिटिश राज्य का भावी न्यायालय विभाग इसी व्यवस्था के आधार पर विकसित हुआ।

इन सब सुधारों के विषय में यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि इनका सम्पूर्ण श्रेय लार्ड कार्नवालिस को नहीं दिया जा सकता। बहुत से इतिहास-लेखकों का और विशेष रूप से वारन हेस्टिंग्ज़ के भक्तों का मत है कि इन सुधारों का सूत्रपात हेस्टिंग्ज़ ने ही कर दिया था, लार्ड कार्नवालिस ने तो इतना ही किया कि उन सुधारों को निश्चित रूप देकर कार्यरूप में परिणत कर दिया।

तीसरा बड़ा कार्य, जिसका भार डायरेक्टरों के बोर्ड ने कार्नवालिस पर डाला था, मालगुज़ारी के सम्बन्ध में सन्तोषजनक फ़ैसला करने का था। अंग्रेज़ जाति ईस्ट इण्डिया कम्पनी से आशा रखती थी कि वह रत्नों की खान भारतवर्ष से कमा-कमा कर सोने की थैलियाँ इंग्लैण्ड में पहुँचाये, और कम्पनी के डायरेक्टर यह चाहते थे कि भारत का शासन करने के लिए उनके भेजे हुए अंग्रेज़ अधिकारी, जैसे भी हो वैसे, सोना बटोरकर उनके ख़ज़ाने को भरें। बोर्ड का गवर्नर-जनरल तथा गवर्नरों को यही आदेश था कि सब सम्भव उपायों से धन इकट्ठा करके हमारे पास भेजो।

भारत में राज्य की आय का बहुत बड़ा भाग सदा भूमि से ही प्राप्त होता रहा है। मुसलमानों के पहले भारत में, उस भाग को, जो कृषक राजा को देता था, बलि कहा जाता था। वह प्रायः उपज का षष्टांश होता था। प्रजा से षष्टांश संग्रह करने का कार्य राज्य के कर्मचारी करते थे। भूमि का स्थायी स्वामी कृषक था। राजा उसकी रक्षा करने के बदले में षष्टांश का अधिकारी समझा जाता था।

मुसलमानों के राज्यकाल में बलि का नाम खिराज हो गया, परन्तु पद्धति में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। सामान्य रूप से भूमि का स्वामित्व कृषक के पास ही रहा—राजकर्मचारी खिराज वसूल करके शाही ख़जाने में भेज देते थे। अंग्रेज़ी समय में जमीन पर लगाये गये कर को Rent (किराया) का नाम दिया गया, जिसका अभिप्राय यह हो गया कि देश की सारी भूमि सरकार की बन गई, कृषक सरकार का किरायेदार मात्र रह गया। उसे भूमि पर खेती करने का कर सरकार को देना पड़ता था। भारत के कृषकों पर अंग्रेज़ सरकार की पहली कृपा तो यह हुई कि वें भूमि के स्वामी न रहकर केवल क़िरायेदार बन गये।

यह परिवर्तन शाब्दिक हुआ, परन्तु केवल इससे उस समय के अंग्रेज़ शासकों का संतोष न हुआ, उनका एक यही ध्येय था, कि भारतवर्ष से धन का अधिक से अधिक शोषण कैसे किया जाय। इस ध्येय की पूर्ति के लिए डायरेक्टरों की ओर से भारत में अंग्रेज़ अधिकारियों पर यह ज़ोर डाला जाता था कि भूमि से प्राप्त होने वाले लगान की मात्रा में वृद्धि करने का यत्न किया जाय। वारन हेस्टिंग्ज़ ने १७७२ में यह पद्धति चलाई कि ऐसे व्यक्तियों को ५ वर्षों के लिए लगान की वसूली का काम सौंपा जाय जो अधिक से अधिक बोली बोलें। पहले तो यह मालूम हुआ कि इस पद्धति से लाभ होगा क्योंकि लोग बहुत ऊँची बोली बोल गये, परन्तु

जब असम्भव शर्तें पूरी न हो सकीं, और लगान की करोड़ों की राशि पीछे पड़ गई तो कम्पनी ने आज्ञा दी कि लगान वसूली की नीलामी वार्षिक की जाया करे। इस परिवर्तन का परिणाम और भी बुरा हुआ। हर साल नये-नये आदमी लगान वसूल करने में असमर्थ सिद्ध होने लगे। इस बिगड़ती हुई दशा को सुधारने के लिए लार्ड कार्नवालिस ने जो पद्धति चलाई, वह 'इस्तमरारी बन्दोबस्त' या Permenent Settlement के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसे हम 'स्थिर-भूमिकर-व्यवस्था' या 'स्थिर व्यवस्था' कह सकते हैं।

स्थिर व्यवस्था प्रारम्भ में दस वर्षों के लिए परीक्षण के तौर पर की गई थी। उसका रूप यह था कि किसान और सरकार के बीच में एक जमीदार श्रेणी को स्वीकार करके जमींदारों को १० वर्षों के लिए अपनी जमींदारियों से लगान वसूल करने का अधिकार दे दिया गया था। इस वसूल किये हुए लगान से निश्चित मालगुज़ारी की राशि सरकार में जमा कर शेष राशि जमींदार अपने पास रख सकता था। जमीदार लोग अधिकार की ज़मीन रैयत को पट्टे पर दे सकते थे, परन्तु उस पर स्वामित्व जमींदारों का ही रखा गया। पहले यह व्यवस्था केवल १० वर्ष के लिए की गई, परन्तु कुछ समय पीछे लार्ड कार्नवालिस ने अत्यन्त आग्रह करके इसे स्थायी करवा दिया। तब यह व्यवस्था 'स्थिर व्यवस्था' कहलायी।

यह व्यवस्था देखने में तो केवल आर्थिक व्यवस्था थी, परन्तु वस्तुतः इसने एक बहुत भारी सामाजिक क्रान्ति उत्पन्न कर दी। इसने राजा, ताल्लुकेदार और जमींदार की एक ऐसी श्रेणी उत्पन्न कर दी जो हमारे देश के समाज शरीर पर चेचक की तरह छा गई। हमारे देश में प्राचीनतम काल से किसान (जिसे 'विश' नाम से पुकारा जाता था) पृथ्वी का असली स्वामी माना जाता था। राजा उससे रक्षा के बदले में 'बलि' या 'भेंट' लेना था। कार्नवालिस की व्यवस्था ने भूमि के स्वामी कृषक के स्वामित्व को तोड़ दिया। भूमि का असली स्वामी राजा और उसके प्रतिनिधि होने की हैसियत से क़ानूनी स्वामी जमींदार लोग बन गये।

अंग्रेज़ सरकार द्वारा इस व्यवस्था के प्रचलित होने के कई कारण थे। मनोवैज्ञानिक कारण तो यह था कि लार्ड कार्नवालिस के दिमाग में इग्लैण्ड की जमींदारी प्रथा ओतप्रोत थी। वह स्वयं अपने देश की जमीदार श्रेणी का एक प्रतिष्ठित व्यक्ति था। इंग्लैण्ड के विचारों का उस समय यह सिद्धान्त था कि राष्ट्र के बिखरे हुए पत्तों को क्रान्ति की आँधी द्वारा उड़ने से बचाने वाली यदि कोई वस्तु है तो वह जागीरदार श्रेणी है। जब लार्ड कार्नवालिस और उसके समकक्ष लोग भारत की सामाजिक और आर्थिक समस्या को सुलझाने बैठे तो उनका ध्यान इस ओर गया कि किसान को वश में रखने और सरकार के अर्थ संचय को दृढ़ करने के लिए एक शक्तिशाली जमींदार श्रेणी की स्थापना की जाय। दूसरा कारण यह था कि हर वर्ष लगान वसूली की नई-नई व्यवस्था करते-करते अंग्रेज अफ़सर थक गये थे। उससे आय बढ़ने की जगह घट रही थी। लार्ड कार्नवालिस को इंग्लैण्ड के प्रधान मन्त्री मि० पिट बहुत मानते थे। इस कारण भारत की दशाओं का ज्ञान रखने वाले अनेक व्यक्तियों का मतभेद होने हुए भी ब्रिटिश सरकार ने बंगाल प्रान्त के लिए भूमिकर की स्थिर व्यवस्था स्वीकार कर ली।

उस व्यवस्था के परिणाम भारत के लिए बहुत ही बुरे हुए। कृषक लोग भूमि के

स्वामित्व से सर्वथा वंचित हो गये। कृषकों की मेहनत पर पलने वाली और मेहनत के बिना उपभोग करने वाली जमींदार श्रेणी स्थिर रूप से देश की छाती पर बैठ गई। किसान जो अब 'रैयत' बन गये, प्रतिदिन निर्धन और अशक्त होने लगे और जमींदारों के मकान महलों और अट्टालिकाओं के रूप में परिणत होने लगे। यह स्थिर व्यवस्था की ही कृपा थी कि कुछ ही वर्षों में कलकत्ता 'महलों का शहर' (City of Palaces) कहलाने लगा। स्थिर रूप से जमींदारी प्रथा की स्थापना ने प्रान्त के आर्थिक तथा सामाजिक संगठन का कायापलट ही कर दिया।

अंग्रेज़ी सरकार को आशा थी कि स्थिर व्यवस्था के लागू होने से कम्पनी की आय बहुत बढ़ जायगी, परन्तु वह आशा पूरी नहीं हुई। सरकार ने कृषकों से छीनकर भूमि का स्वामित्व जमींदारों को तो दे दिया, परन्तु उस समय यह नहीं सोचा कि इससे भूमि पर से सरकार का स्वामित्व भी उठ जायगा। यह सरकार ने तब अनुभव किया जब उसे मालूम हुआ कि जमींदार किसानों से जितना लगान वसूल करते हैं, उसका बहुत थोड़ा भाग सरकार को मालगुजारी के रूप में देते हैं। परिणाम यह हुआ कि प्रान्त की समृद्धि में जो वृद्धि हुई वह सरकार के कोष में पहुँचने के स्थान में जमींदारों की थैलियों में चली गई। भूमि की उपज बढ़ने से सरकार को जो लाभ हो सकता था, स्थिर व्यवस्था से वह सर्वथा लुप्त हो गया। कुछ ही समय पीछे अनेक अंग्रेज़ विचारकों ने यह सम्मति दे दी थी कि स्थिर व्यवस्था भारत के कृषकों के लिए जैसा अभिशाप सिद्ध हुई, वैसा ही अंग्रेज़ी सरकार के लिए भी सिद्ध हुई है। इस व्यवस्था का सबसे अधिक जिषैला प्रभाव यह हुआ कि देश में घोर सामाजिक विषमता का बीज बोया गया, जिसे मिटाने के लिए भारत की स्वतन्त्र सरकार को भगीरथ प्रयत्न करना पड़ा।

कार्नवालिस के न्याय-विभाग सम्बन्धी नव विधान का एक बुरा फल यह निकला कि भारत की परम्पराप्राप्त ग्राम पंचायत प्रथा सर्वथा नष्ट हो गई। वैदिक काल से चली आई स्थानीय प्रजातन्त्र संस्था के स्थान पर बनी हुई नई न्याय-व्यवस्था ने एक सर्वथा विदेशी ढंग की बहिरंग पद्धति को स्थापित करके देश के शरीर पर बँधी हुई पराधीनता की रस्सियों को और भी अधिक दृढ़ कर दिया।

पन्द्रहवाँ अध्याय

साम्राज्य की ओर

अब हम अंग्रेज़ों के भारतीय शासन की उस मंजिल पर पहुँच गये हैं, जहाँ ब्रिटिश राज्य साम्राज्य का रूप धारण करने लगा। अंग्रेज़ लोग भारत में व्यापारी बनकर आये, पहले बंगाल के नवाब के मुनीम बने, फिर मुग़ल बादशाह से दीवानी प्राप्त की और क्रमश: कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में पर्याप्त प्रदेशों के शासक बन गये। वारन हेस्टिंग्ज़ के समय में अंग्रेज़ों का शासक रूप स्पष्ट होने लगा, और कार्नवालिस के शासन-काल में वह व्यवस्था में आ गया। इस तरह इन प्रारम्भ के लगभग ५० वर्षों में ब्रिटिश चीता मानो पहाड़ी चट्टान पर आसन जमाकर बैठ गया ताकि शिकार पर आसानी से झपट सके।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के डायरेक्टर लोग अब तक भी वही पुराना राग गा रहे थे। वे भारत के अंग्रेज़ अधिकारियों को बार-बार लिख रहे थे कि हमारा लक्ष्य भारत राज्य स्थापित करना, या भूमि जीतना नहीं है, अपितु व्यापार से पैसा पैदा करना है। इधर भारत में अंग्रेज़ शासकों को निश्चय हो चुका था कि यहाँ से पैसा चूसने के लिए भूमि को जीतना और राज्य स्थापित करना आवश्यक है। उन्हें यह भी निश्चय हो चुका था कि इस देश को जीतना बहुत आसान है, क्योंकि देश छोटे-छोटे भागों में बँटा हुआ है, और वे भाग भी ऐसे हैं जो एक दूसरे के हितैषी नहीं। भारत में आये हुए अंग्रेज़ अधिकारियों को ऐसे अनुभव होता था कि मानो उन्हें यहाँ यह कहकर भेजा गया हो कि 'देखो कुछ खाना मत'। और यहां आने पर उनके सामने स्वादुतम भोजनों से सुसज्जित थाल परोसकर रख दिया गया। मनुष्य प्रकृति का तकाज़ा था कि वे कम्पनी के हुक्म को रद्दी की टोकरी में डालकर परोसे हुए थाल पर हाथ साफ़ करते।

१७८४ में पार्लमेण्ट में जो इण्डिया ऐक्ट पास हुआ था, उसकी ३४वीं धारा निम्नलिखित थी—

"और क्योंकि हिन्दुस्तान में विजय की योजना को काम में लाना, और राज्य को बढ़ाना इस जाति (अंग्रेज़ जाति) की इच्छा, इज्ज़त और नीति के विरुद्ध है, इसलिए यह भी व्यवस्था की जाती है कि जब तक बोर्ड ऑव डायरेक्टर्स अथवा सीक्रेट कमेटी की निश्चित आज्ञा न हो, तब तक गवर्नर जनरल और उसकी कौंसिल को कोई अधिकार न होगा कि वे किसी युद्ध की घोषणा करें, या लड़ाई आरम्भ कर दें, अथवा देश के किन्हीं शासकों के विरुद्ध युद्ध के लिए गुटबन्दी में शामिल हों···इत्यादि।"

पार्लियामेण्ट की आज्ञा और अंग्रेज़ जाति की इच्छा यह बतलाई गई थी कि भारत में विजय की कोई योजना न बनाई जाय, न बिना विशेष आज्ञा के युद्ध आरम्भ किया जाय। इससे पहले भी डायरेक्टर लोग ऐसी ही आज्ञायें देते रहे थे परन्तु भारत में आये हुए अंग्रेज़

अधिकारियों ने उन आज्ञाओं को कभी नियम नहीं समझा, सदा अपवाद ही समझा।

लार्ड कार्नवालिस के पश्चात् जो चार प्रमुख गवर्नर-जनरल भारत में आये, उन सब ने पिट के इण्डिया एक्ट में दिये गये आदेश का विरोध रूप में ही पालन किया। उनका मुख्य लक्ष्य आदि से अन्त तक भारत के शासकों में परस्पर उत्पन्न भेद करके युद्ध द्वारा भूमि को जोतना और साम्राज्य की स्थापना करना ही रहा।

यह हम पहले ही लिख आये हैं कि अंग्रेज़ों ने भारतवर्ष को उस भाँति नहीं ज़ीता, जैसे प्रायः एक जाति दूसरी जाति को जीतती है। वस्तुतः यह देश तो, यहाँ के निवासियों ने स्वयं जीतकर अंग्रेज़ों को सौंप दिया। अंग्रेज़ों की सेना में ९० फ़ी सदी संख्या हिन्दुस्तानी सिपाहियों की होती थी, उनके सहायक हिन्दुस्तान के राजा और सरदार होते थे—जो एक दूसरे को नष्ट करने के लिए अंग्रेज़ों की सहायता ले लेते थे और फलतः अपने गले में आप फाँसी डालते थे।

अंग्रेज़ों को इस भेद-नीति में ऐसी सुलभ सफलता क्यों मिल गई, इसका उत्तर मैं पहले दे आया हूँ। जिस समय अंग्रेज़ों ने साम्राज्य के मार्ग पर अपना पग बढ़ाया उस समय दुर्भाग्य-वश हमारे देश में कोई केन्द्रीय सत्ता नहीं थी, जो देश की सम्पूर्ण शक्तियों को एकत्र कर सकती। सारा देश छोटे-बड़े सैकड़ों लगभग स्वच्छन्द राज्यों में बँटा हुआ था। चिरकालीन पराधीनता के कारण सर्वसाधारण के हृदयों में स्वाधीनता का प्रेम लगभग शून्य हो चुका था। पानीपत के मैदान में महाराष्ट्रशक्ति के अन्त हो जाने से राष्ट्रीयता भी मृतप्राय हो गई थी। फलतः अंग्रेज़ों को भारत का मैदान शिकार के लिए खुला मिल गया। उन्होंने जिधर घोड़े का मुँह मोड़ा, उधर ही शिकार मारते चले गये। यह बात तो नहीं कि कहीं उनका गतिरोध न हुआ हो। कई जगह खूब जमकर विरोध हुआ, परन्तु अन्त में हमारी राष्ट्रीयता की जर्जरित दीवार को हार माननी पड़ी, और लगभग ६० वर्ष के संघर्ष के अन्त में भारत के मस्तक पर ब्रिटिश साम्राज्य का साइन बोर्ड लग गया।

अगले पृष्ठों में हम भारत में अंग्रेज़ी राज्य के साम्राज्य रूप में परिणत होने का कहानी सुनायेंगे।

सोलहवाँ अध्याय

हैदर अली

अब हम क्रमशः युद्ध और नीति के उस घटनाचक्र का इतिहास सुनाएंगे जिससे भारत पर अंग्रेज़ों का पूर्ण प्रभुत्व स्थापित हुआ, और बतलायेंगे कि जो चार अँगुल की बदली १७वीं शताब्दी के आरम्भ में भारत के पश्चिम में समुद्र-तट पर बसे हुए एक नगर पर दिखाई दी थी, वह १९वीं शताब्दी के मध्य में किस प्रकार देशव्यापी महामेघ बनकर छा गई।



हैदर अली

हम देख आये हैं कि प्रारम्भ बंगाल और बिहार से हुआ। फिर धीरे-धीरे अंग्रेज़ी प्रभाव अवध की ओर बढ़ने लगा। अब हम दक्षिण प्रदेशों में अंग्रेज़ों के प्रवेश की कहानी सुनाते हैं।

अट्ठारहवीं शताब्दी के मध्य तक, दक्षिण भारत के माइसूर प्रदेश में हिन्दू राजा राज्य करते थे। यह भाग्य की बात थी कि उन पर तब तक मुसलमान आक्रान्ताओं की वक्र दृष्टि नहीं पड़ी थी। अट्ठारहवीं शताब्दी के मध्य में नवीन परिस्थितियाँ इकट्ठी हो गईं। माइसूर की राजगद्दी पर एक निर्बल राजा आसीन हुआ, उसने जिस मन्त्री के हाथों में शासन की बागडोर दे दी, वह अदूरदर्शी और अधिकार-लोलुप था और माइसूर की सेना में एक ऐसा सिपाही भर्ती हो गया, जो यद्यपि सर्वथा अनपढ़ था, पर मस्तक और हृदय के उन सब गुणों से युक्त था, जिनकी सहायता से साधारण कुल में उत्पन्न हुए मनुष्य संग्रामों में विजय प्राप्त करते और राजवंशों की स्थापना किया करते हैं। मन्त्री का नाम नंजराज था और अनपढ़ सिपाही का नाम हैदर अली।

नंजराज और उसका भाई देवराज राजा के नाम पर माइसूर का शासन करते थे। युवक राजा एक प्रकार से उनका क़ैदी बना हुआ था। उसकी लगभग वैसी ही दशा थी, जैसी अन्तिम दिनों में मुग़ल सम्राट् की हो गई थी। ऐसे ही लोगों के लिए नवाब बे मुल्क की उपाधि घड़ी गई होगी। उनसे शासन के अधिकार छिन गये थे, केवल गद्दी पर बैठने का अधिकार बना हुआ था।

उन दिनों देश का वातावरण अशान्ति और छीना-झपटी की चर्चाओं से गर्म हो रहा था। प्रत्येक देश का शासक अपनी सैन्यशक्ति को बढ़ाने की चेष्टा कर रहा था। नंजराज की दृष्टि भी अपनी सेना के एक ऐसे सिपाही पर पड़ी, जो प्रतिभासम्पन्न और साहसी प्रतीत होता

था। उसका नाम हैदर अली था। हैदर का दादा मुहम्मद बहलोल फ़क़ीर था और पिता फतेह मुहम्मद माइसूर की सेना में एक फ़ौजदार था। पिता के समान ही हैदर भी माइसूर की सेना में भर्ती हो गया। उसकी युद्ध-कुशलता से प्रसन्न होकर नंजराज ने उसे डिण्डीगुल के क़िले का फ़ौजदार नियुक्त कर दिया।

हैदर प्रारम्भ से ही बहुत ऊँची महत्वाकांक्षा लेकर कार्यक्षेत्र में आया था। उसने फ़ौजदार बनने पर दो कार्य ऐसे किये, जो उसकी अभिलाषा के प्रतीक और चतुराई के चिन्ह थे। उसने निरक्षरता की कमी को पूरा करने के लिए खाण्डेराव नामक ब्राह्मण को अपना सलाहकार नियुक्त किया और अपने क़िले की सेना को नये ढंग की सैनिक-शिक्षा देने के लिए कुछ फ्रांसीसी सिपाहियों को भर्ती किया। ये दोनों ही कार्य ऐसे थे कि यदि नंजराज कुछ समझदार होता तो सावधान हो जाता, परन्तु प्रतीत होता है कि वह उन लोगों में से था जो प्राप्त हुए अधिकार के नशे में मस्त होकर चार हाथ आगे के गढ़े को नहीं देख सकते और उसमें गिर जाते हैं। नंजराज के साथ वैसा ही हुआ। वह आप तो नष्ट हुआ ही, साथ ही राजा को भी ले डूबा।

खांडेराव षड्यन्त्रकारी व्यक्ति था। उसने राजमाता को यह आशा दिलाई कि वह हैदर अली की सहायता से मन्त्री को हटाकर शासन की शक्ति राजा के हाथ में सौंप देगा। राजमाता सहमत हो गई। हैदर अली को ऐसी बलवती सहायता पाकर मन्त्री नंजराज को पदच्युत करके सम्पूर्ण सत्ता अपने हाथ में ले लेने में देर न लगी। नंजराज तो हट गया, परन्तु राजा का कुछ न बना। वह तो मानो खाई से निकलकर कुएँ में गिरा। हैदर अली ने राजा की सारी सत्ता अपने हाथों में ले ली और जब खांडेराव ने विरोध किया तो उसे भी पकड़कर एक लोहे के पिंजरे में बन्द कर दिया। इस प्रकार राजा, मन्त्री और खांडेराव तीनों की छातियों पर पाँव रखकर हैदर अली माइसूर का शासक बन गया।

हैदर अली की महत्त्वाकांक्षा बहुत ऊँची थी। वह आस-पास के राज्यों को जीतकर एक बड़े साम्राज्य की स्थापना करना चाहता था। उसने जब अपने अड़ोस-पड़ोस पर दृष्टि डाली तो दो शक्तियाँ उसके सामने आईं। एक शक्ति मराठों की थी दूसरी अंग्रेज़ों की। अंग्रेज़ों की शक्ति आगे बढ़ने का यत्न कर रही थी, मराठा राज्य उसके सामने दीवार बनकर खड़ा हुआ था। हैदर अली ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए बारी-बारी से दोनों से लाभ उठाने का निश्चय किया, और इस प्रकार नीति में अंग्रेज़ों की शिष्यता को स्वीकार कर लिया। उस नीति का प्रयोग पहले उसने मराठों के विरुद्ध किया। प्रारम्भ से ही मराठों के साथ उसका संघर्ष चल गया था। वह सामयिक भी था, क्योंकि उसके राज्य का विस्तार तभी सम्भव था, यदि वह मराठा राज्य की सीमाओं का उल्लंघन करे। पूना की शासन-शक्ति उस समय महाराष्ट्र के प्रसिद्ध कूटनीतिज्ञ देशभक्त नाना फड़नवीस के हाथ में थी। हैदर अली ने मराठों से कई छोटे-बड़े युद्ध किये, परन्तु उनमें उसे सफलता न मिली। उन निष्फलताओं का बदला उसने तब लिया जब अंग्रेज़ों और मराठों में संग्राम छिड़ने की नौबत आई। नाना फड़नवीस बहुत दूरदर्शी नीतिज्ञ था। उसने अंग्रेज़ों की महत्त्वाकांक्षा और कूटनीति को भली प्रकार

पहिचान लिया था। उस युग के भारतीय शासकों में से वही एक ऐसा व्यक्ति था, जिसने एक बार भी अंग्रेज़ों की सन्धिसम्बन्धी घोषणाओं पर विश्वास नहीं किया। जब मराठों से अंग्रेज़ों की लड़ाई छिड़ने लगी तो नाना ने हैदर अली और निज़ाम के पास इस आशय का गुप्त सन्देश भेजा कि अंग्रेज़ हम सबके समान रूप से शत्रु है, इस कारण उनके विरुद्ध हम सब को मिलकर लड़ना चाहिए, अन्यथा ये विदेशी हम लोगों को अलग-अलग करके खा जायँगे। हैदर एक वीर सिपाही तो था, परन्तु उसमें देशभक्ति या राष्ट्रभक्ति जैसी किसी भावना का सर्वथा अभाव था। उसने नाना के उस गुप्त सन्देश की सूचना अंग्रेजों को दे दी जिससे लोग पहले ही से सावधान हो गये और अंग्रेज़ी मुहावरे के अनुसार पहले से सावधान होने के कारण पहले से हथियारबन्द भी हो गये। हैदर अली के मित्रद्रोह से लाभ उठाकर अंग्रेज़ों ने पूना के गढ़ में नीति द्वारा सूराख करने आरम्भ कर दिये, जिससे नाना की कठिनाइयाँ बहुत बढ़ गईं।

मराठों की कठिनाइयाँ तो बढ़ गईं, परन्तु हैदर अली का मार्ग निष्कण्टक न हो सका, क्योंकि अंग्रेज उसके भी गुरु थे। उन्होने हैदर के दिये हुए सूत्रों से मराठों को निर्बल करने का उद्योग तो आरम्भ कर दिया, पर हैदर को माफ़ न किया। उससे युद्ध बराबर जारी रखा।

हैदर अली ने अपने राज्य के विस्तार के लिए उसी नीति से काम लिया, जिसके प्रयोग से अंग्रेज़ों को सफलता मिल रही थी। उन्हीं दिनों बदनूर के छोटे से राज्य मे उत्तराधिकार का झगड़ा उठ खड़ा हुआ। एक से अधिक उम्मेदवार हो गये। हैदर एक का वकील बन गया, और बदनूर पर आक्रमण कर दिया। बदनूर में शक्ति ही कितनी थी। वह कब्ज़े में आ गया तो हैदर ने दोनों उम्मीदवारों को पकड़कर मद्गिर के दुर्ग मे कैद कर दिया, और हैदर का नाम बदलकर हैदर नगर बना दिया।

यह श्रीगणेश हुआ। इसके आगे हैदर अली ने कर्नाटक की ओर पाँव फैलाने आरम्भ किये। कर्नाटक पर अंग्रेज़ों के दाँत थे। अंग्रेज़ वहाँ के शासक के संरक्षक बने हुए थे। हैदर अली के उत्थान से वह पहले ही घबराये हुए थे, जब वह कर्नाटक की ओर झुका तो अंग्रेज़ों को बहाना मिल गया और उन्होंने कर्नाटक की रक्षा के नाम पर बारामहल पर हमला कर दिया। बारा महल हैदर के राज्य का अंग था।

अंग्रेज़ों के आक्रमण का उत्तर देने के लिए हैदर जब तैयारी की योजना बनाने लगा तो वह आश्चर्य में पड़ गया, क्योंकि अंग्रेज़ों ने उसके सब साथी और पड़ोसी तोड़ लिये थे। मराठे उससे असन्तुष्ट थे ही, निजाम और अरकाट के नवाब को अंग्रेज़ों ने डरा-फुसलाकर अलग बिठा दिया जिससे हैदर अली बिल्कुल अकेला पड़ गया, तो भी वह घबराया नही। उसने एक बार तो अंग्रेज़ों के पास सुलह का पैग़ाम भेजा, परन्तु जब अंग्रेजो ने उसकी पर्वा न करके लड़ाई जारी रखी तो हैदर अली भी कमर कसकर तैयार हो गया, और खूब बहादुरी और चतुराई से लड़ा।

अंग्रेज़ों ने १७६७ में आक्रमण आरम्भ किया था। थोड़-बहुत उतार-चढ़ाव के पश्चात् १७६८ के अन्त में यह परिस्थिति हो गई कि अंग्रेज़ अफ़सर बिल्कुल पिट गये। घबराकर

उन्होंने हैदर के पास सुलह का पैग़ाम भेजा। हैदर ने उन्हें तुर्की-ब-तुर्की उत्तर देते हुए कहला भेजा कि "मैं मद्रास के दरवाज़े पर आ रहा हूँ। वहीं गवर्नर और उसकी कौंसिल के सदस्यों की बात सुनूंगा" और अपनी बात को ठीक कर दिखाया। उन दिनों सेना के लिए १३० मील की यात्रा आसान नहीं थी। उसे तीन दिन में पूरा करके हैदर अली मद्रास के दरवाज़े पर जा पहुँचा। वहाँ पहुँचकर उसने गवर्नर को सूचना भेज दी कि अपनी सेनाएँ एकदम सामने से हटा लो और अब सुलह की शर्तें पेश करो।

उस समय अंग्रेज़ सर्वथा परास्त होकर दम तोड़ चुके थे। वे हीन सन्धि करने पर राज़ी हो गये। जो कुछ हैदर अली ने चाहा, उन्होंने स्वीकार कर लिया। कुछ भूमि देनी पड़ी, हर्जाना भी देना पड़ा, और अंग्रेज़ों के अफ़सर को हैदर के सामने तलवार तोड़कर अपनी हार स्वीकार करनी पड़ी।

हैदर अली ने यह सब कुछ तो कर दिया, परन्तु कई इतिहास-लेखकों को आश्चर्य है कि उसने मद्रास पर आक्रमण करके विजय को पूर्णता तक क्यों न पहुँचा दिया। वह बहुत चतुर सेनापति था और महत्वाकांक्षी भी था। प्रतीत होता है कि उसने यह समझा कि इस समय अंग्रेज़ों को केवल मद्रास में परास्त करने की जगह मित्र बनाकर अपनी शक्ति बढ़ाने का साधन बनाना बेहतर है। परन्तु इसमें उसने धोखा खाया। वह अंग्रेज़ों की मित्रता को अपने लिए लाभदायक बनाना चाहता था, परन्तु अंग्रेज़ों ने जो सन्धि की थी, वह मित्रता के लिए नहीं की थी, वह तो हैदर अली को मद्रास के दरवाज़े से दूर भेजकर समयान्तर में पटख़नी देने के लिए की थी। अंग्रेज़ युद्ध में हार गये, परन्तु नीति में जीत गये। हैदर अली ने मित्रता प्राप्त करने के लिए रास्ता छोड़ दिया। इधर अंग्रेज़ों ने अवसर पाकर हैदर अली को मित्रता का ऐसा उत्तर दिया जिससे हैदर अली के उत्तराधिकारी को अपने पिता की उदारता पर पछताना पड़ा।

हैदर अली युद्धशास्त्र की परिभाषा के अनुसार विजय प्राप्त करके मद्रास से माइसूर वापिस लौट आया। यदि वह कुछ अधिक वर्षों तक जीवित रहता, तो क्या परिणाम होता, यह प्रश्न अब केवल कल्पनात्मक रह जाता है, क्योंकि १७८२ में उस अशिक्षित परन्तु प्रतिभा-सम्पन्न सिपाही ने अपने अभ्युदय के यौवन में शरीर त्याग दिया। यह भी अंग्रेज़ों की चढ़ती हुई भाग्य-कला का ही एक चिन्ह था।

सत्रहवाँ अध्याय

टीपू और कार्नवालिस

हैदर अली के पश्चात् उसका लड़का टीपू माइसूर का शासक बना। वह इतिहास में 'टीपू सुल्तान' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

टीपू अपने पिता के समय में ही युद्धों में और राजकाज में भाग लेने लगा था। कई लड़ाइयों में उसने अंग्रेज़ों की सेनाओं से लोहा लिया था और अन्त में अंग्रेज परास्त हो गये तब उनसे सन्धि की शर्तें तय करने में भी उसका हाथ था। इस दृष्टि से वह गद्दी पर बैठने के समय अनुभव और आयु की दृष्टि से परिपक्व था।

परन्तु उसमें अपने प्रतिभाशाली पिता से एक कमी थी। वह वीर योद्धा तो था परन्तु दूरदर्शी नीतिज्ञ नहीं था। उसे लड़ना तो आता था, परन्तु मित्र बनाना और परिस्थिति को समझना नहीं आता था। उसने शासन की बागडोर सँभालने पर दो बड़ी भूलें कीं। एक भूल तो यह की कि अंग्रेज़ों के वचन पर विश्वास कर लिया और दूसरी भूल यह की कि मराठों से और निज़ाम से सुलह रखने का यत्न नहीं किया। हैदर अली की अंग्रेज़ों के साथ १७६८ में एक सन्धि हुई थी और टीपू की १७८४ में दूसरी सन्धि हुई। उन सन्धियों द्वारा अंग्रेज़ों ने यह घोषणा की थी कि वे माइसूर के सुल्तान को अपना मित्र मानते हैं और उसके राज्य की सीमाओं को स्वीकार करते हैं। इस घोषणा से सर्वथा सन्तुष्ट और निर्भय होकर टीपू ने यह समझा कि अब उसे किसी अन्य सहारे की आवश्यकता नहीं, वह चाहे तो अन्य पड़ोसियों को ठुकरा सकता है। इसी भावना से प्रेरित होकर उसने केवल निज़ाम और मराठों से मित्रता करने का यत्न नहीं किया, उसने उनके साथ छेड़-छाड़ जारी रखी।

हैदर अली ऐसा कभी न करता। वह प्रारम्भ से अन्त तक अपने बुद्धिबल और पराक्रम के सहारे पर खड़ा रहा—कभी दूसरे की टेक पर खड़ा नहीं हुआ। टीपू अदूरदर्शी था। उसने अंग्रेज़ी सरकार के सहारे पर खड़ा होने की चेष्टा की, पर वह सहारा ऐसा था कि बरसाती नदी के रेतीले किनारे से अधिक दृढ़ नहीं था।

हैदर अली से अंग्रेज़ों के जो युद्ध हुए, वे उस समय के गवर्नर-जनरल वारन हेस्टिंग्ज की आज्ञा से लड़े गये थे। उसके पश्चात् लार्ड कार्नवालिस का शासन-काल आया। गवर्नर-जनरल बदल गया, पर अंग्रेज़ों की नीति का तारतम्य बना रहा। अंग्रेज़ों की भारतीय नीति की यही विशेषता थी कि नये-नये इण्डिया ऐक्ट बनते थे और नये-नये गवर्नर आते थे परन्तु कार्य-नीति पुरानी ही रहती थी। वह कार्य-नीति यह थी कि ऊपर से यह कहना कि हम भारत में राज्य की स्थापना नहीं करना चाहते और अन्दर से निरन्तर राज्य-विस्तार की चेष्टा में लगे रहना। वारन हेस्टिंग्ज के विदा होने और कार्नवालिस के आने से अंग्रेज़ों की गतिविधि में कोई भेद न आया। सन्धिपत्र और वायदे धरे रह गये, और लार्ड कार्नवालिस ने माइसूर राज्य को

हथियाने की नीति को जारी रखा।

कार्नवालिस ने माइसूर पर आक्रमण का प्रारम्भ नीति के रणक्षेत्र में किया। उसने राज्य की बाग़डोर सँभालने के पश्चात् पेशवा और निज़ाम को सुलहसूचक पत्र भेजे। उन पत्रों में आपसी मित्र-भाव की चर्चा करते हुए यह आश्वासन दिया गया था कि मराठा राज्य और निज़ाम से अंग्रेज़ों की सन्धि 'रक्षात्मक सन्धि' के रूप में होगी, अर्थात् युद्ध की दशा में उनमें से कोई भी दूसरे के शत्रु की सहायता नहीं करेगा। उन दिनो टीपू से पेशवा और निज़ाम दोनों की काफ़ी खटपट चल रही थी। उन दोनों को सुलह-सन्देश भेजते हुए टीपू को जानबूझकर छोड़ दिया गया, इसका अभिप्राय समझने में टीपू को देर न लगी। वह समझ गया कि 'शत्रु' शब्द का निर्देश किस की ओर है। यह स्पष्ट है कि लार्ड कार्नवालिस की यह चाल उस सन्धिपत्र के विरुद्ध था, जो अंग्रेज़ों में और हैदर अली में हुआ था। हैदर अली जीवित होता तो शायद कार्नवालिस की नीति का उत्तर नीति से देता और मराठों या निज़ाम से किसी को मित्र बना लेने की चेष्टा करता, परन्तु वह केवल सिपाही था, नीतिज्ञता का उसमें अभाव न था। उसने कार्नवालिस की चाल का उतर एक उल्टी चाल से दिया। उसने अपने पुराने शत्रु और अंग्रेज़ों के मित्र ट्रावन्कोर के राजा पर चढ़ाई करने का उपक्रम कर दिया।

कार्नवालिस को जिस अवसर की तलाश थी वह मिल गया। उसने अपने मित्रदेश ट्रावन्कोर की रक्षा के नाम पर टीपू से युद्ध की घोषणा कर दी, और नई की गई सन्धि के बल पर मराठों और निज़ाम को अपना सहायक बना लिया। उन दोनों को उसने यह प्रलोभन दिया कि टीपू को जीतने से जो प्रदेश हाथ आयगा, उसमें से उन्हें भी टुकड़े दिए जायँगे। इस सम्पूर्ण काण्ड में जहाँ टीपू की अदूरदर्शिता पर बहुत दुःख होता है वहाँ इस बात पर भी कम दुःख नहीं होता कि पेशवा और निज़ाम अंग्रेज़ों की चाल में आ गये, और टीपू के विनाश और अंग्रेज़ों की बढ़ोतरी में हिस्सेदार बने। अंग्रेज़ों ने टीपू पर आक्रमण का वह समय क्यों चुना, इसका कुछ आभास उस पत्र से मिलता है जो लार्ड कार्नवालिस ने मद्रास के गवर्नर को लिखा था। उसका कुछ भाग निम्नलिखित है—

"सुघड़ नीति और इस देश में हमारे सम्मान का यह तकाज़ा है कि हम टीपू से केवल कठोर हर्जाना ही वसूल न करें, इस अवसर से लाभ उठाकर हम एक ऐसे शासक की शक्ति घटा दें, जो सर्वदा हमारी जाति के प्रति अपने द्वेष-भाव की घोषणा करता है। इस समय हमें, देश से इस कार्य में सहायता मिलने की पूरी आशा है और टीपू फ्रांस से सहायता नहीं प्राप्त कर सकता।........."

उपर्युक्त उद्धरण से टीपू के प्रति अंग्रेज़ों की द्वेष-बुद्धि स्पष्ट रूप से झलक रही है। उस समय टीपू युद्ध के लिए तैयार नहीं था। वह अपनी अदूरदर्शिता से पड़ोसियों को शत्रु बना चुका था। फ्रांस अभी अपनी उलझनों में फँसा रहने के कारण सहायता का हाथ नहीं बढ़ा सकता था। कार्नवालिस ने लोभ देकर मराठों और निज़ाम को न केवल टीपू के प्रति उदासीन, अपितु अपना पोषक बना लिया था। अंग्रेज़ों को, टीपू को नष्ट करके माइसूर पर अधिकार

करने के लिए वह सर्वथा उपयुक्त अवसर मिल गया। देश के कई अन्य शासक अंग्रेज़ों के भेदनीति के चक्रव्यूह में फँसकर कार्नवालिस के सहायक बन गये। इस प्रकार हैदर अली की वीरता और दूरदर्शिता से पूर्ण नीति द्वारा स्थापित किया हुआ राज्य अंग्रेजों की मार में आ गया।

अंग्रेज़ों से टीपू सुल्तान के युद्ध को दो भागों में बाँटा जा सकता है। पहला युद्ध १७९० में आरम्भ हुआ। जब अंग्रेज़ों ने युद्ध करने का निश्चय कर लिया तो युद्ध का बहाना बनाना कठिन नहीं था। वही भेड़िये और भेड़ वाली कहावत दुहराई गई। जब टीपू को मालूम हुआ कि अंग्रेज़ उस पर आक्रमण करना चाहते हैं तो उसने मद्रास के गवर्नर को एक नम्रता भरी चिट्ठी भेजकर बातचीत करके झगड़ा निपटाने का प्रस्ताव किया। उत्तर में मद्रास के गवर्नर ने ऐसा अपमानभरा पत्र लिखा कि टीपू के सामने युद्ध करने के सिवा कोई रास्ता न रहा।

प्रारम्भ में टीपू का हाथ ऊँचा रहा। उसके विरुद्ध जो अंग्रेज़ सेनापति भेजा गया, उसे टीपू ने पीछे धकेल दिया, तब गवर्नर-जनरल को स्वयं सेना की कमान सँभालनी पड़ी। लार्ड कार्नवालिस की इंग्लैण्ड के कुछ प्रमुख सेनापतियों मे गिन्ती थी। जिस समय इंग्लैण्ड की सेनाओं ने स्वतन्त्र अमरीका की सेनाओं के सामने हथियार रखे थे तब अंग्रेज़ी पक्ष का मुख्य सेनापति लार्ड कार्नवालिस ही था। अपनी अमरीका की अपकीर्ति का अपयश धोने का उपयुक्त अवसर समझकर लार्ड कार्नवालिस ने टीपू को नष्ट करने का काम अपने हाथ में ले लिया।

एक ओर अकेला टीपू और दूसरी ओर अनेक मित्रों द्वारा सम्पोषित अंग्रेजों की सारी शक्ति। टीपू का हारना अनिवार्य ही था। टीपू पहले से ही समझ गया कि इस लड़ाई में हार निश्चित है। वह हर पड़ाव पर युद्ध-विराम की प्रार्थना करता रहा परन्तु कोई सुनाई नहीं हुई। उसे कोई उत्तर तक नही दिया गया। जब अंग्रेज सेनायें टीपू की राजधानी श्रीरंगपट्टम् के समीप पहुँच गईं तो टीपू ने सन्धि-प्रार्थना के साथ, मित्रभाव के सूचक बहुत से फलों से लदा हुआ ऊँट लार्ड कार्नवालिस के पास भेजा। इंग्लैण्ड जैसे सभ्यताभिमानी देश के प्रतिनिधि लार्ड कार्नवालिस का मन टीपू के प्रति इसी जंगली क्रूरता से पूर्ण हो चुका था कि टीपू की वह प्रार्थना भी ठुकरा दी गई और अंग्रेज़ी सेनाओं का आक्रमण जारी रहा।

अन्त में अंग्रेज़ों के मराठा मित्रों को दया आ गई। उन्होंने कार्नवालिस से आग्रह किया कि टीपू के वकील से मिलकर युद्ध समाप्त करने की शर्तों पर बातचीत की जाय। मराठों के राज्य की बाग़डोर उस समय प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ नाना फड़नवीस के हाथ में थी। वह टीपू का विरोधी अवश्य था, परन्तु अंग्रेज़ों को भी खूब समझता था। एक देसी राज्य का अंग्रेज़ों के हाथों सर्वनाश उसे शुभकर नहीं प्रतीत हुआ। उसके बीच मे पड़ने से युद्ध विराम की बात आगे चली। २२ फरवरी १७९२ के दिन सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर हो गये। सन्धि द्वारा टीपू से उसके राज्य का आधा प्रदेश छीन लिया गया। छीना हुआ प्रदेश अंग्रेज़ों, मराठों और निज़ाम में बाँट दिया गया। टीपू ने हर्जाने के तौर पर ६ करोड़ रुपये देने का वायदा किया, और जब तक सब शर्तें पूरी न हो जायें, तब तक के लिए टीपू के दो पुत्रों को बन्धक के तौर

पर अंग्रेज़ों के हाथ में रखने का निश्चय हुआ।

इस हीन सन्धि से टीपू के प्राण कुछ समय के लिए बच गये—यद्यपि उसकी शक्ति लगभग नष्ट हो गई। हम कह सकते हैं कि वह उसके पश्चात् कुछ समय तक जीता रहा परन्तु उसके फाँसी के आज्ञापत्र पर न्यायाधीश के हस्ताक्षर हो चुके थे।

अट्ठारहवाँ अध्याय

लार्ड वैल्ज़ली की नीति

१७९३ में कार्नवालिस इंग्लैण्ड वापिस चला गया, और उसकी जगह सर जॉन शोर को गवर्नर-जनरल नियुक्त किया गया। उसी वर्ष ईस्ट इण्डिया को ब्रिटिश पार्लियामेण्ट से नया चार्टर प्राप्त हुआ जिसमें निम्नलिखित घोषणा की गई थी—

"विजय और आधिपत्य की योजनायें ब्रिटिश राष्ट्र की इच्छा, गौरव और नीति के विरुद्ध हैं।"

ऐसी ही घोषणायें पार्लियामेण्ट में पहले भी होती रही थीं। उनका फिर से दुहराया जाना गवर्नर-जनरलों के पथ-प्रदर्शन के लिए आवश्यक समझा गया था या भारतवासियों को भुलावे में डालने के लिए—इस प्रश्न का उत्तर देना इतिहास-लेखक के लिए कठिन है। वह तो आगे की वास्तविक घटनाओं से ही घोषणा करने वालों की भावना का अनुमान लगा सकते हैं। अब हम उन वास्तविक घटनाओं की कहानी सुनाते हैं, जिनसे उत्तर का अनुमान लगाया जा सके।



लार्ड वैल्ज़ली

सर जॉन शोर मध्यम योग्यता का व्यक्ति था। उसमें सफल शासक या विजेता बनने योग्य गुण नहीं थे। उसने लगभग ५ वर्षों तक शासन-कार्य किया। इस समय में कोई ऐसी महत्त्वपूर्ण घटना नहीं हुई, जिसका भावी घटना-चक्र पर गहरा असर पड़ता। शोर के शासन-काल को हम कार्नवालिस और मार्क्विस वैल्ज़ली के शासनों को मिलाने वाला पुल ही कह सकते हैं। उसने इतना ही किया कि जो कुछ कार्नवालिस से लिया था वह बिना किसी घटती-बढ़ती के लार्ड वैल्ज़ली को सौंप दिया।

लार्ड वैल्ज़ली जन्म का आयरिश था। उन दिनों आयर्लेन्ड ग्रेट ब्रिटेन का आधीन देश था। प्रायः देखा गया है कि दास जाति के लोग, अपने मालिकों की सेवा में मालिकों से भी आगे बढ़ जाते हैं। यह इतिहास की एक सचाई है कि ब्रिटिश काल में एशिया में ब्रिटिश-राज्य का विस्तार करने का सबसे अधिक श्रेय ब्रिटेन के दास भारतीय सैनिकों को था। इसी प्रकार उस समय अंग्रेज़ों के आयरिश नौकर अंग्रेज़ों से भी अधिक कारगुज़ारी दिखाने के लिए तैयार रहते थे। लार्ड वैल्ज़ली उनका एक नमूना था।

लार्ड वैल्ज़ली लार्ड कार्नवालिस का गहरा मित्र था। उसे भारत के लिए रवाना होने से पहले ही कार्नवालिस ने राजनीतिक घुट्टी की पूरी मात्रा पिला दी थी। वैल्ज़ली के दिल पर यह बात जम गई थी कि भारत की विजय में अंग्रेज़ों का सबसे बड़ा बाधक टीपू है। मद्रास की पराजय अंग्रेज़ों के मन में काँटे की तरह चुभ रही थी। हैदर अली के मरने और टीपू के पराजय स्वीकार करने से भी काँटे की चुभन कम नहीं हुई थी। वैल्ज़ली ने भारत के तट पर उतरने से पहले ही यह मन्सूबा बना लिया था कि वह टीपू का सर्वनाश करके छोड़ेगा। भारत पहुँचने से पहले, केप ऑव गुड होप से उसने कोर्ट ऑव डायरेक्टर्स के प्रधान मि० डण्डास को एक पत्र में लिखा था—

"यदि युद्ध इंग्लैण्ड और फ्रांस में ही सीमित रहा तो भारत में फ्रांसीसियों के षड्यन्त्र का ख़तरा बढ़ जायगा। परन्तु यदि वह युद्ध भारत की ओर फैलने लगा और हमें टीपू से लड़ने के लिए अपने मित्रों से सहायता माँगनी पड़ी तो हमें निज़ाम से क्या सहायता मिलेगी, जिसकी सेना में या तो फ्रांसीसी अफ़सर हैं, अथवा फ्रांस के एजेण्ट हैं।"

उन दिनों योरप में इंग्लैण्ड और फ्रांस में युद्ध चल रहा था। नैपोलियन बोनापार्ट मिश्र को जीतकर अंग्रेज़ों की प्रभुता को चुनौती दे रहा था। अंग्रेज़ उससे ऐसे घबराये हुए थे कि उन्हें सब ओर फ्रांस ही फ्रांस दिखाई देता था। टीपू की आकृति में भी उन्हें नैपोलियन की मूर्ति दृष्टिगोचर होती थी। फ्रांस के कुछ व्यापारियों की ओर से मारीशस में एक पत्र प्रकाशित किया गया, जिससे यह ध्वनित होता था कि टीपू का फ्रांसीसियों से मेलजोल है, उसके आधार पर यह कल्पना की गई कि टीपू नैपोलियन का मित्र बनकर अंग्रेज़ों को भारत से निकालने की चेष्टा कर रहा है। इसी काल्पनिक आधार पर सन्धिविग्रह का वह सारा सिलसिला खड़ा किया गया, जिसका परिणाम टीपू के विनाश के रूप में प्रकट हुआ।

लार्ड वैल्ज़ली ने भारत के शासन की बाग़डोर सँभालते ही टीपू के चारों ओर खाई खोदनी शुरू कर दी। उसने निज़ाम के सिर पर अंग्रेज़ी फ़ौजें बिठाकर उस सन्धि नाम की गुलामी की प्रथा को जारी किया, जिसका कूटनीतिक नाम 'सबसिडियरी अलायंस' था। उसका अभिप्राय यह था कि निज़ाम की रियासत को सँभालने के लिए और उसकी रक्षा करने के लिए हैदराबाद में अंग्रेज़ी फ़ौजें रहेंगी, जिनका सारा खर्च निज़ाम को देना पड़ेगा। इस तरह सन्धि के नाम पर हैदराबाद के राज्य पर आधिपत्य स्थापित करके अंग्रेज़ों ने मराठों की ओर दृष्टि उठाई। मराठों की दशा उस समय बहुत निर्बल हो रही थी। आपसी फूट के कारण वे न अंग्रेज़ों की सहायता कर सकते थे और न उनके मार्ग में बाधक ही हो सकते थे। इस प्रकार दोनों सशक्त पड़ोसियों की ओर से निश्चिन्त होकर लार्ड वैल्ज़ली ने टीपू पर आक्रमण करने की पूरी तैयारी कर ली।

युद्ध आरम्भ करने के लिए जो बहाना ढूंढ़ा गया था, वह बहुत ही लँगड़ा था। टीपू पर यह आरोप लगाया गया कि वह फ्रांसीसियों के साथ मेल-जोल बढ़ाकर अंग्रेज़ी सरकार को क्षति पहुँचाना चाहता है। टीपू इस आरोप से निरन्तर इन्कार करता रहा। वह ख़ुदा की कसमें खा-खाकर घोषणा करता रहा कि आरोप सर्वथा मिथ्या है, परन्तु जो व्यक्ति झगड़ने पर

तुल जाय, उसके लिए कारण का दूसरा नाम बहाना है। टीपू की अदूरदर्शिता और वैल्ज़ली की धूर्तता—दोनों की टक्कर में टीपू की हार हुई। उसकी कोई सफ़ाई न सुनी गई और अंग्रेज़ी सेनाओं ने उसके राज्य पर आक्रमण करने का निश्चय कर लिया।

जब और कोई उपाय न रहा, तब टीपू ने यह प्रस्ताव किया कि बातचीत करने के लिए गवर्नर-जनरल का एक प्रतिनिधि उसके पास भेजा जाय, जिसे वह सारी स्थिति समझा देगा। वह प्रस्ताव भी स्वीकार नहीं किया गया।

गवर्नर-जनरल ने ३ फरवरी १७९९ के दिन अपनी सेनाओं को आज्ञा दे दी कि टीपू के राज्य पर आक्रमण कर दिया जाय। टीपू इस समय सर्वथा अशक्त हो चुका था। पहले पराजय ने ही उसकी कमर तोड़ दी थी, उसके पश्चात् मराठों और निज़ाम के अलग हो जाने से तो वह बिल्कुल अपाहिज हो गया था। इधर अंग्रेज़ों का बल निरन्तर बढ़ रहा था। भारतीय राजाओं की परस्पर प्रतिस्पर्धा और अविश्वास के साथ-साथ उन लोगों में देश के प्रति भक्ति का अभाव, अंग्रेज़ों की शक्ति को अदम्य बनाता जा था। जब से लार्ड वैल्ज़ली ने भारत के तट पर कदम रखा तभी से वह टीपू के दमन के लिए अपनी सेनाओं को सन्नद्ध कर रहा था। फलतः जो युद्ध हुआ, वह सर्वथा असमान था। वह मानो एक मल्ल और रोगी का युद्ध था। निर्बल के घर में प्रायः फूट पड़ जाती है और फूट ही भारत का सबसे बड़ा शत्रु है। वैल्ज़ली के दूतों ने माइसूर के पदच्युत हिन्दू महाराजों और अन्य बहुत से हिन्दू निवासियों को अपने साथ मिला लिया था, जिससे टीपू के घर में घर के चिराग़ की आग भी लग गई।

लड़ाई बहुत दिनों तक नहीं चली। टीपू ने यथाशक्ति मुकाबला किया, व्यक्तिगत रूप से वीरता से लड़ा, परन्तु आक्रमण की बाढ़ को न रोक सका और राजधानी की रक्षा में स्वयं मारा गया। मई के महीने में उसके राज्य पर अंग्रेज़ी फ़ौजों का अधिकार हो गया।

हैदर अली स्वयं एक प्रकार से आक्रान्ता ही था। उसने राज्य के असली अधिकारी को क़ैद करके अपनी सुलतानी स्थापित की। इस दृष्टि से उसे भी दोषी समझ सकते हैं परन्तु वह समय न्यायपूर्ण अधिकारी का नही था। वह समय 'लाठी' का था। जिसकी लाठी बड़ी होती थी—वही अधिकार जमा लेता था। समय धर्म के अनुसार हैदर अली मैसूर का शासक बन गया था। वह वीर भी था और नीतिज्ञ भी। उसने न केवल अंग्रेज़ों का प्रतिरोध किया, उन्हें नीचा भी दिखाया। टीपू वीर तो था परन्तु समझदार नहीं था। उसने न तो अन्य भारतीय राजाओं से मित्रता पैदा करने का यत्न किया और न अंग्रेज़ों को ही सन्तुष्ट कर सका। इधर अंग्रेज़ टीपू से हैदर का बदला लेने पर तुले हुए थे। उन्होंने भारतीय शासकों की परस्पर प्रतिस्पर्द्धाओं से लाभ उठाकर टीपू को अकेला करके सर्वथा नष्ट करने में सफलता प्राप्त कर ली। टीपू का नाश एक नमूना है, जिससे हम अंग्रेज़ों द्वारा पर आधिपत्य जमाने की चमत्कारपूर्ण घटना के कार्यकारणभाव को समझ सकते हैं।

टीपू के विनाश को इंग्लैण्ड और भारत में बड़ा महत्त्व दिया गया। दोनों देशों के ईसाई गिर्जों में ईश्वर को विशेष धन्यवाद दिये गये—अंग्रेज़ी राज्य के बड़े-बड़े अधिकारी एक जलूस बनाकर कलकत्ते के न्यू चर्च में गये और वहाँ अंग्रेज़ी राज्य के सबसे बड़े शत्रु को नष्ट

करने के उपलक्ष में प्रभू का शुक्रिया अदा किया गया।

इंग्लैण्ड में इस विजय को ऐसा महत्त्वपूर्ण समझा गया कि मि० वैल्ज़ली को, जिसका अपना नाम रिचर्ड कोली वैल्ज़ली था और भारत आने के समय जो लार्ड मार्निंग्टन के नाम से प्रसिद्ध था, माइसूर विजय के पश्चात् मार्क्विस की उपाधि से विभूषित किया गया।

टीपू से जीता हुआ प्रदेश अंग्रेज़ों और निज़ाम में बाँट लिया गया। बड़ा भाग अंग्रेज़ों के हिस्से में आया। मराठों के सामने यह शर्त रखी गई थी कि यदि वे अंग्रेज़ों के गुट्ट में शामिल होने को उद्यत हों तो उन्हें भी लूट के माल का कुछ भाग दिया जा सकता है—परन्तु वे राज़ी नहीं हुए, इस पर उनके लिए निकाला हुआ भाग भी निज़ाम को ही दे दिया गया। माइसूर के कुछ हिस्से पर पुराने हिन्दू राजा का अधिकार मान लिया गया।

उन्नीसवाँ अध्याय

हैदराबाद पर सैनिक-आधिपत्य

हम देख आये हैं कि लार्ड वैल्ज़ली ने, गवर्नर-जनरल की हैसियत से भारत के शासन की कमान सँभालने से पहले ही यह संकल्प कर लिया था कि वह भारत के राज्यों का दमन करके देश भर में अंग्रेज़ी सरकार का आधिपत्य स्थापित करेंगे। अब अंग्रेज़ों की दृष्टि दिल्ली के लाल क़िले पर थी। वहाँ अभी तक नाममात्र का मुग़ल सम्राट् बैठा हुआ था। वह स्वयं तो बेजान हो गया था, परन्तु उस तक पहुँचने का रास्ता बन्द था। दक्षिण और मध्यभारत में फैली हुई तीन शक्तियाँ ऐसी थीं, जिनके जीवित रहते अंग्रेज़ों का दिल्ली में आराम से बैठना सम्भव नहीं था। उन तीन शक्तियों के केन्द्र थे—माइसूर, पूना और हैदराबाद।

उन तीनों को नष्ट करने के लिए लार्ड वैल्ज़ली ने जिस नीति का अवलम्बन किया था, उसे नीतिशास्त्र में 'भेद नीति' के नाम से पुकारा जाता है। बहुत प्राचीन काल से, जबसे भारत का सौभाग्य-सूर्य अस्त हुआ, शत्रुओं द्वारा प्रयुक्त भेदनीति यहाँ सफल होती रही, लार्ड वैल्ज़ली को भी अपनी चालों में बहुत कुछ सफलता मिल गई। लार्ड वैल्ज़ली को टीपू के विनाश में कभी सफलता न मिलती, यदि पेशवा और निज़ाम टीपू के सहायक होते। वे दोनों ताकते रहे और माइसूर का पतन हो गया।

वैल्ज़ली दिल से जानता था कि टीपू के पश्चात ब्रिटिश शक्ति के विस्तार के सब से बड़े शत्रु मराठे हैं। अब उसने उन्हें अकेला करके मारने के लिए पहले हैदराबाद को वश में करने का निश्चय किया।

प्रारम्भ से ही हैदराबाद के निज़ाम अवसरवादी और कूटनीति पर भरोसा रखनेवाले थे। इस रियासत की नींव ही अपने स्वामी मुग़ल बादशाह के प्रति द्रोह की नींव से रखी गई थी। वैल्ज़ली ने हैदराबाद के शासक को उसी के हथियारों से जीतने का उपक्रम किया।

हैदराबाद पर कम्पनी की छीना-झपटी तो बहुत पहले ही आरम्भ हो चुकी थी। लार्ड कार्नवालिस ने अपने शासन-काल में सैनिक आक्रमण की धमकी देकर निज़ाम से गुण्टूर की रियासत छीन ली थी। दब्बू निज़ाम ने उस बलात्कार पर कोई आपत्ति न उठाई, क्योंकि उसे मराठों से ख़ूब डरा दिया गया था। उसने मराठों से बचने के लिए गुण्टूर देकर अंग्रेज़ों की मित्रता खरीदने का यत्न किया।

निज़ाम ने ऊपर से तो गुण्टूर के हस्तान्तरित होने का कोई विरोध नहीं किया, पर निर्बल व्यक्तियों के रिवाज के अनुसार अन्दर ही अन्दर अंग्रेज़ों के शत्रु फ्रांसीसियों से मेल-जोल बढ़ाने की चेष्टा की। इधर अंग्रेज़ भी हैदराबाद की कूटनीति से सचेत थे और उन्होंने ऊपर से मित्रता का प्रदर्शन किया, और अन्दर से उपेक्षा की वृत्ति धारण कर ली। फलतः जब १७९५ में मराठों और निज़ाम में युद्ध हुआ और निज़ाम ने परास्त होकर कुर्डला में हथियार

रख दिये, तब अंग्रेज़ दूर से तमाशा देखते रहे। निज़ाम को आशा थी कि गुण्टूर देकर अंग्रेज़ों से जो मित्रता ख़रीदी है वह काम आयगी परन्तु उस समय के अंग्रेज़ों की राजनीति में वायदों का या कृतज्ञता का कोई स्थान नहीं था। कूटनीति में अंग्रेज़ निज़ाम के भी गुरु थे। निज़ाम मराठों से परास्त होता रहा और अंग्रेज़ ताकते रहे।

उसी वर्ष निज़ाम के राजवंश में गृह-कलह आरम्भ हो गया। निज़ाम के लड़के अली जाह ने पिता के विरुद्ध विद्रोह की घोषणा कर दी। कुछ इतिहास-लेखकों का विचार है कि अलीजाह को विद्रोह की प्रेरणा देने में हैदराबाद में रहने वाले अंग्रेज़ रेज़ीडेण्ट का हाथ था। लड़के के विद्रोह से घबराकर निज़ाम ने अंग्रेजों के सामने घुटने टेक दिये और फ्रेंच सिपाहियों के स्थान पर अंग्रेज़ सिपाहियों को अपनी सेना में स्थान देने लगा। यह घटना लार्ड कार्नवालिस के उत्तराधिकारी सर जार्ज शोर के शासन-काल में हुई।

अब हम लार्ड वैल्ज़ली के समय पर पहुँचते है। हमने देखा है कि भारत पर आधिपत्य जमाने से पूर्व उस महत्त्वाकांक्षी अंग्रेज़ ने यह आवश्यक समझ लिया था कि माइसूर, हैदराबाद और पूना के क़िलों को सर करके उत्तर की ओर बढ़ने का मार्ग निष्कण्टक बनाया जाय। माइसूर का क़िला सर हो चुका था, पूना का क़िला बहुत संगीन था, और निज़ाम का बोदापन सिद्ध हो चुका था। फलतः लार्ड वैल्ज़ली ने पहले उसी का मान मर्दन करने की योजना बनाई।

योजना बहुत धूर्तता से बनाई गई थी। उस समय हैदराबाद में अंग्रेज़ सरकार का जो प्रतिनिधि था वह बहुत ही चलतापुर्जा और साहसी व्यक्ति था। उसका नाम कैप्टेन जेम्स कर्क पैट्रिक था। उसे हैदराबाद के हश्मत जंग के नाम से पुकारते थे। वह धूर्त तो था ही, साहसिक भी था। उसके द्वारा गवर्नर-जनरल ने निज़ाम के चारों ओर वह जाल फैलाया, जिसमें निज़ाम अच्छी तरह फँस गया। और अन्त में स्वयं इच्छापूर्वक अंग्रेज़ों के दास-गृह का प्रथम निवासी बन गया। उसने अपने आप रियासत को 'सब्सिडियरी एलायस' नाम की रस्सियों में ऐसी कड़ाई से बँधवा दिया कि लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक वह हाथ-पाँव भी न हिला सका। सब्सिडियरी एलायंस को हम प्रच्छन्न दासता के नाम से पुकार सकते हैं।

प्रच्छन्न दासता योजना और उसके प्रयोग का श्रेय या अपश्रेय मुख्य रूप से लार्ड वैल्ज़ली को है। उसने एक गुप्त पत्र द्वारा अपने प्रतिनिधि कैप्टेन कर्क पैट्रिक को जो आदेश भेजा था, उसमें यह स्पष्ट रूप से लिख दिया था कि हैदराबाद से फ्रांसीसियों को पूरी तरह निकालकर उनके स्थान पर अंग्रेज़ सेनाओं को रखा जाय। इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए यह निर्देश दिया गया था कि निज़ाम के वजीर अमीर-उल-उमरा को षड्यन्त्र में शामिल किया जाय। यह भारत का दुर्भाग्य रहा है कि यहाँ मीर जाफर, अमीचन्द और अमीर-उल-उमरा जैसे मित्रद्रोही सदा निकलते रहते हैं। अमीर-उल-उमरा भी थोड़ी-सी रिश्वत से कर्क पैट्रिक के दम-झाँसे में आ गया। निज़ाम को इस मामले में सर्वथा अन्धकार में रखा गया। उसे षड्यन्त्र का पता तब चला जब गवर्नर-जनरल की आज्ञा पाकर मद्रास से गवर्नर-जनरल हैरिस की सेनायें हैदराबाद की ओर रवाना हो गई। इधर अमीर-उल-उमरा की प्रेरणा

और उधर अंग्रेज़ सेनाओं का आतंक—दोनों के दबाव में आकर भीरु निज़ाम पूरी तरह झुक गया। १ सितम्बर १७९८ के दिन उसने अंग्रेज़ों से वह सन्धि कर ली, जो 'सब्सिडियरी एलायंस' के नाम से पुकारी गई।'

उस सन्धि की मुख्य-मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं—निज़ाम की रियासत को ईस्ट इण्डिया कम्पनी की संरक्षित रियासत मान लिया गया। निज़ाम ने यह वायदा किया कि वह अपने ख़र्च पर अंग्रेज़ों की एक निश्चित सेना को हैदराबाद में रखेगा, जो सब शत्रुओं से उसकी रक्षा करेगी। इन शर्तों का स्पष्ट अभिप्राय यह था कि निज़ाम ने कम्पनी की अधीनता स्वीकार कर ली और अंग्रेज सेनाओं के हाथ अपनी स्वाधीनता बेच दी।

सन्धि शब्द का तो केवल आवरण था, वस्तुतः वह प्रच्छन्न दासता ही थी, यह दो वर्ष पश्चात् ही प्रकट हो गया। टीपू के पतन से जो प्रदेश कम्पनी के हाथ आये थे, उनमें से कुछ निज़ाम के हिस्से भी आ गये थे। यह कहकर कि निज़ाम से अंग्रेज़ सेनाओं का ख़र्च नियम-पूर्वक नहीं मिलता और उसका शासन भी सुव्यवस्थित नहीं, टीपू से मिले हुए प्रदेश १८०० ई० में ही निज़ाम से वापिस लेकर कम्पनी की सीधी अधीनता में ले लिये गये।

इस प्रकार हैदराबाद में सन्धि नाम की प्रच्छन्न दासता का वह बीज बोया गया जो कालान्तर में महावृक्ष के रूप में परिणत होकर भारत के लगभग सब स्वतन्त्र राज्यों पर छा गया और अन्त में वह दिन भी आ गया जब पर्दा फट गया और अन्दर से नग्न दासता ने अपना भयानक रूप प्रकट कर दिया।

बीसवाँ अध्याय

लार्ड मार्निंग्टन की डकैतियाँ

हैदराबाद के दासीकरण और मैसूर के पतन के पश्चात् लार्ड मार्निंग्टन (लार्ड वैल्ज़ली) की हिम्मत बहुत बढ़ गई। उसने पुरानी की हुई सन्धियों और आश्वासनों की सर्वथा उपेक्षा करके चारों ओर पाँव फैलाने आरम्भ कर दिये। अंग्रेज़ी राज्य के विस्तार के लिए, लार्ड वैल्ज़ली ने जो आततायीपन के कार्य किये, उन्हें एक निष्पक्षपात अंग्रेज़ लेखक ने 'डकैतियों' के नाम से निर्दिष्ट किया है। मेजर बर्ड ने "Decoitee in Excelsis" नामक सन्दर्भ में वैल्ज़ली के कारनामों का विश्वस्त विवरण देते हुए यह भली प्रकार दिखाया है कि जिसे उस समय के गवर्नर-जनरल 'रियासतों के सुधार' के नाम से पुकारते थे वह वस्तुतः डकैती थी।

पहले हम अवध के स्वायत्तीकरण की कथा सुनाते हैं। यह तो हम देख ही आये हैं कि वारन हेस्टिंग्ज़ के समय से अवध के राज्य को अंग्रेज़ शासकों ने अपनी कामधेनु बना रखा था। जब चाहते थे, दुह लेते थे। अवध के नवाब वजीर नाम से पुकारे जाते थे, क्योंकि वे यद्यपि स्वाधीन शासक थे, फिर भी मुग़ल बादशाहों के वजीर कहलाने में सम्मान अनुभव करते थे। अवध के नवाब वजीर अली से अंग्रेज़ रुष्ट हो गये और उन्होंने बनारस में कैद करके उसके स्थान पर सादत अली को गद्दी पर बिठा दिया। वजीर अली को बन्दी बने रहना पसन्द नहीं था, जब उसे बनारस से कलकत्ते ले जाने लगे तब उसने अवसर पाकर अपने जेलर मि० चैरी और उसके दो साथियों को मार डाला और कुछ अन्य साथियों को इकट्ठा करके अवध की बस्तियों में लूटमार करने लगा। नवाब वजीर इससे पूर्व ही बल-वीर्य खोकर अंग्रेजों के आश्रित से हो चुके थे। नवाब ने गवर्नर-जनरल के दरबार में रक्षा की प्रार्थना भेजी। प्यासे को मानो पानी मिल गया। वैल्ज़ली तो किसी बहाने की तलाश में ही था, उसने नवाब की प्रार्थना को बड़े उल्लास से स्वीकार कर लिया और नवाब के राज्य की रक्षा तथा सुधार के लिए पुष्कल अंग्रेज़ सेनायें भेजने की आज्ञा दे दी। अंग्रेज़ सेनायें भेजने का अर्थ उस समय क्या समझा जाता था, इसका अनुमान इससे लगाया जा सकता है, कि गवर्नर-जनरल की आज्ञा के पता लगने पर नवाब के छक्के छूट गये, और उसे निश्चय हो गया कि अब मेरा राज्याधिकार छिनने का समय आ गया है। उसने अनुभव कर लिया कि अब मेरा नाम उन शासकों में आ गया है—जिनके कूच का डंका बज चुका है।

गवर्नर-जनरल की आज्ञा से बहुत-सी सेनायें नवाब के राज्य में घुस गईं। ऐसा करने का कारण यह बतलाया गया कि सन्धि द्वारा अंग्रेज़ी सरकार अवध की रक्षा करने के लिए बाधित है। यह भी कहा गया कि सन्धि के अनुसार जितनी भी अंग्रेज़ी सेनायें नवाब की 'सहायता' के लिए आयें, उनका ख़र्च देना नवाब का कर्त्तव्य होगा। कुप्रबन्ध के कारण नवाब

सेनाओं का ख़र्च नहीं दे सकेगा, इस कारण, फलतः नवाब के राज्य का प्रबन्ध कम्पनी को अपने हाथों में लेना पड़ेगा।

इस तर्क से नवाब काँप उठा और उसने एक लम्बा और विनीत निजी आवेदनपत्र लिखकर गवर्नर-जनरल से प्रार्थना की कि वह ऐसी भयंकर आज्ञा देकर अंग्रेज़ों की न्यायपरायणता पर धब्बा न लगायें। लार्ड वैल्ज़ली ने नवाब के विनीत पत्र को अत्यन्त उग्र और तिरस्कारपूर्ण बतलाते हुए वापिस कर दिया और आदेश दिया कि सीधे सरकारी ढंग पर उत्तर दो अन्यथा ...

अन्यथा का अभिप्राय स्पष्ट हो गया, जब कई महीनों की खींचातानी के पश्चात् नवाब से उसके राज्य का लगभग आधा भाग छीन लिया और शेष आधे पर भी उसका नाममात्र का ही प्रभुत्व रह गया। उन दिनों अंग्रेजी सहायता का मूल्य था, अपना बलिदान।

लार्ड वैल्ज़ली की इस डकैती के विरूद्ध भी आवाज़ उठायी गई, और पार्लियामेण्ट में मामला पेश किया गया, परन्तु अंग्रेजों की उस प्रतिष्ठित प्रतिनिधि सभा ने इस बार भी वैसा ही न्याय किया, जैसा क्लाइव और हेस्टिंग्ज के समय में किया था। अभियोग धूमधाम से चला, परन्तु फ़ैसला अपराधी पक्ष में हुआ। एक तरह से पार्लियामेण्ट ने मुहर लगा दी कि अंग्रेज़ शासक द्वारा भारतवर्ष में किया गया अन्याय अन्याय नहीं है।

अवध के मामले के साथ सम्बद्ध, फर्रुखाबाद का मामला भी ऐसा ही है। फर्रुखाबाद का पठान नवाब इमराद हुसैन खां अवध के नवाब का सामन्त समझा जाता था। लार्ड वैल्ज़ली ने अपने भाई हैनरी वैल्ज़ली द्वारा फर्रुखाबाद के नौजवान नवाब को डरा-धमका और फुसलाकर ऐसा अड्डे पर चढ़ाया कि वह एक लाख आठ हजार रुपये वार्षिक पेन्शन पर गद्दी छोड़ने को राजी हो गया। कम्पनी के अधिकारियों के लिए न सन्धिपत्रों का कोई मूल्य था, और न वायदों का। उन्हें एक ही धुन थी कि बल या छल द्वारा भारत के अधिक से अधिक भाग पर प्रभुत्व जमाया जाय। भारत की प्रजा सोई पड़ी थी और शासक विलासिता या प्रमाद के कारण मृतप्राय हो चुके थे, इस कारण कम्पनी को अपने डकैती कार्य में आशातीत सफलता मिल रही थी।

कर्नाटक में भी प्रकारान्तर से यही नाटक खेला गया। हम देख चुके हैं कि कर्नाटक के घरू झगड़े में टाँग अड़ाकर इंग्लैण्ड और फ्रांस आपस में किस प्रकार उलझ पड़े। जो संघर्ष हुआ, उसमें इंग्लैण्ड की जीत हुई, फलतः मुहम्मद अली कर्नाटक का नवाब बना। कर्नाटक का नवाब 'अरकाट का नवाब' के नाम से प्रसिद्ध था।

मुहम्मद अली अंग्रेजों की सहायता से नवाब तो बन गया, परन्तु वह उसे बहुत महँगा पड़ा। उसे अंग्रेज़ अफ़सरों की भेंट-पूजा में बेतरह रुपया बहाना पड़ा। मद्रास के अंग्रेज गवर्नर आर लार्ड मैकार्ने की सेवा में उसने जो उपहार भेंट किये, उनका मूल्य लाखों रुपयों तक पहुँचता है। मुहम्मद अली ने उपहाररूप में रिश्वत पेश की, और अंग्रेज़ों ने स्वीकार कर ली। इस आदान-प्रदान की चर्चा भी ब्रिटिश पार्लियामेण्ट में हुई थी, परन्तु इंग्लैण्ड के क़ानून बनाने वालों ने इसे अनुचित नहीं समझा।

मुहम्मद अली अच्छा शासक नहीं था । वह बहुव्ययी और विलासी व्यक्ति था। उसकी शासन-व्यवस्था भी कुछ अच्छी नहीं थी। अंग्रेज़ों ने उस पर जो कर लगा रखा था, उसे अदा करने के लिए उसे प्रजा पर बहुत अत्याचार करने पड़ते थे। यों तो बहुत पहले से ही अंग्रेज़ शासकों की कर्नाटक पर गृद्ध-दृष्टि थी, फिर लार्ड वैल्ज़ली तो अन्य बहुत से प्रदेशों की भाँति कर्नाटक को भी हथियाने के लिए कटिबद्ध था। फिर भी मुहम्मद अली ने रिश्वतों और ख़ुशामदों की सहायता से अंग्रेज़ों का हाथ रोके रखा, और अपने जीवन में कर्नाटक का नवाब बना रहा। पर ज्यों ही १७९५ के अक्टूबर मास में मुहम्मद अली की मृत्यु हुई और उसका लड़का आजमुद्दौला गद्दी पर बैठा, त्योंही लार्ड मार्निंग्टन के दूत उस पर झपट पड़े, और यह घोषणा करके कि भूतपूर्व नवाब ने कर्नाटक की सरकार को बहुत भारी ऋण के नीचे दबा दिया है, और उसका उद्धार केवल उसी दशा में हो सकता है, जब कि उसे कम्पनी के अधिकार में ले लिया जाय, आजमुद्दौला को ऐसी सन्धि करने पर बाधित कर दिया, जो वस्तुतः राजगद्दी का परित्याग ही था।

ओम्दुत-उल-उमरा की मृत्यु के समय अंग्रेज़ों ने कैसा व्यवहार किया, इसकी मर्मभेदी कहानी सर टामसटर्टन ने हाउस ऑव कामन्स में सुनाई थी । उसमें बतलाया गया था कि जब बूढ़ा नवाब आख़िरी साँस ले रहा था, तब कम्पनी की फ़ौजों ने उसके महल पर घेरा डाल दिया और अन्तःपुर के अन्दर घुसने ही वाली थी कि बेचारे नवाब को पता लग गया और उसने अग्रेज सेनापति से विनती की कि इस अन्तिम समय मे सारी प्रजा की आँखों में मुझे अपमानित न किया जाय। इस पर अग्रेज़ सेनायें अन्दर तो न घुसीं परन्तु चारों ओर से घेरा डाले रखा। अन्त में नवाब का साँस छूट गया, तो उसके उत्तराधिकारी को मृत्युशय्या के पास से घसीट लाया गया और यह कहकर कि तुम्हारा बाप हमारे विरुद्ध षड्यन्त्र किया करता था, उसे हीन सन्धि करने को कहा गया। जब वह राज़ी न हुआ तो आजमुद्दौला को निकालकर उत्तराधिकारी करार दे दिया गया, और उससे मनचाही शर्तें मनवा लीं, इस प्रकार कर्नाटक का राज्य स्वाधीन सत्ता को खोकर कम्पनी का सामन्त बन गया।

तंजौर में भी ऐसा ही हुआ। तंजौर में छत्रपति शिवाजी के बड़े लड़के व्यंकोजी के वंशज राज्य करते थे। १७८७ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने तंजौर के राजा के साथ 'सदा के लिए मित्रता' की सन्धि कर ली। मित्रता की सन्धि में दोनों पलड़े बराबर होते हैं, परन्तु ईस्ट इण्डिया कम्पनी और भारतीय शासकों की सन्धि का अर्थ दूसरा ही समझा जाता था। उसमें कम्पनी के हाथ में शासक की गर्दन आ जाती थी। तंजौर के राजा के साथ भी वही हुआ, जो अन्य राजाओं के साथ हुआ था। १७९३ में कम्पनी की ओर से यह घोषणा कर दी गई कि तंजौर का राजा अपनी रक्षा के अयोग्य है इस कारण उसके राज्य की रक्षा के लिए अंग्रेज़ी सेनायें तैनात की जायँगी, जिनका ख़र्च राजा को देना पड़ेगा। परन्तु प्रतीत होता है कि अमरसिंह कम्पनी के आदेश को प्रसन्नतापूर्वक मानने को उद्यत नहीं हुआ, इससे असन्तुष्ट होकर कम्पनी के वकीलों ने यह आविष्कार किया कि अमरसिंह तंजौर के राजा का ठीक उत्तराधिकारी ही नहीं था। काशी के पण्डितों से इस आशय की व्यवस्था प्राप्त की गई, और उसके आधार पर

अमरसिंह को पदच्युत करके पहले राजा के गोद लिये पुत्र सर्बोजी को राजगद्दी पर बिठा दिया गया। सर्बोजी पहले से ही कम्पनी का खिलौना था, गद्दी पर बैठकर भी वैसा ही रहा। इस प्रकार, तंजौर की स्वाधीन सत्ता भी खत्म हो गई।

लार्ड वैल्ज़ली की डकैतियों की सूची में सूरत का नाम भी सम्मिलित है। सूरत में मुग़ल बादशाह का मुसलमान सूबेदार शासन करता था। बहुत वर्षों से वह सूबेदार अंग्रेज़ हाकिमों के इच्छानुसार ही कार्य करता था। उसने समझा था कि आज्ञाकारी बने रहने से उसकी प्राणरक्षा हो जायगी, परन्तु भेड़िये और भेड़ की मित्रता देर तक नहीं निभ सकती। लार्ड वैल्ज़ली को मित्रता के कच्चे धागे बिल्कुल पसन्द नहीं थे। उसके समय में नबाब के सामने यह प्रस्ताव रखा गया कि वह अपनी फ़ौजों के स्थान पर कम्पनी की फ़ौजों को सूरत में रहने की अनुमति दे और उनके ख़र्च के लिए १ लाख तीस हज़ार रुपया प्रतिवर्ष कम्पनी को दे। पुराना नवाब मर गया और उसका भाई नसरुद्दीन गद्दी का अधिकारी समझा गया। उसके सामने अंग्रेज़ी सरकार की ओर से यह शर्तें रखी गई कि उसे केवल उसी दशा में गद्दी का अधिकारी माना जायगा यदि वह कम्पनी की शर्तें स्वीकार कर ले। शर्तें यह थीं कि सूरत का पूरा शासन, और कर उगाहने का अधिकार कम्पनी को दे दिया जाय, जिसके बदले में उसे निजू ख़र्च के लिए एक बँधी हुई राशि दी जाया करेगी।

नवाब के सामने यह शर्तें तलवार की नोक पर रखकर पेश की गई। शर्तों को न मानने का अभिप्राय था—सर्वनाश ! बेचारे नवाब को मानो अपनी फाँसी की आज्ञा पर स्वयं हस्ताक्षर करने पड़े। उसने 'सदा के लिए मित्रता' की उस सन्धि पर चुपचाप हस्ताक्षर कर दिये जो वस्तुतः दासता का परवाना था। यह कार्य इतना बलात्कार और अन्याय से पूर्ण था कि अंग्रेज़ इतिहास लेखक मिल को यह मानना पड़ा कि अंग्रेज़ों ने हिन्दुस्तानी शासकों से राज्य छीनने की जो अनेक न्यायविरुद्ध कार्रवाइयाँ कीं, यह उनमें से सबसे अधिक बेजाप्ता थी, क्योंकि इसमें बेचारा नवाब अत्यन्त निर्बल और अकिंचन व्यक्ति था।

जब लार्ड वैल्ज़ली से कहा गया कि नवाब को अधिकार-हीन करने का कार्य उस मित्रता की सन्धि से सर्वथा विपरीत है जो कम्पनी ने १७५९ में की थी, तो उत्तर मिला कि वह सन्धि तो केवल उस समय के नवाब के साथ की गई थी, उसके उत्तराधिकारियों के साथ उस सन्धि का कोई सम्बन्ध नहीं था।

इक्कीसवाँ अध्याय

मराठाशाही की प्रगति

कौरव वंश का नाश तब हुआ जब राजगद्दी के लिए भाई-भाई आपस में लड़ने लगे। मुग़ल वंश का सौभाग्यसूर्य भी भाइयों के घरू-युद्ध से ही अस्ताचलगामी हुआ। छत्रपति शिवाजी द्वारा संस्थापित मराठाशाही का पग आगे ही आगे बढ़ता गया, जब तक उस पर गृह-कलह रूपी क्षयरोग का आक्रमण नहीं हुआ।

जिस वृक्ष का बीज शिवाजी ने १७वीं शताब्दी के मध्य में सह्याद्रि की एक पहाड़ी पर बोया था, १८वीं शताब्दी के मध्य में उसकी शाखायें अटक के तट तक फैल चुकी थीं। एक ओर दिल्ली के लाल क़िले पर और दूसरी ओर माइसूर के नवाब के महलों पर मराठों की तलवार और नीति का आतंक बैठा हुआ था।

पानीपत के रणक्षेत्र में मराठों की शक्ति पर पहली प्रबल चोट पहुँची। हम अपने 'मुग़ल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण' नामक ग्रन्थ में अहमदशाह अब्दाली और सदाशिवराव की सेनाओं के संघर्ष और उसके परिणामों पर पर्याप्त प्रकाश डाल चुके हैं। धक्का बहुत ज़बर्दस्त था। वह एक प्रकार से मराठा सैन्य का खण्ड प्रलय था। कई अनुभवी और वीर सेनापति तो मारे ही गये, सेनाओं का भी भयानक कर्दम हुआ। अतुल धनराशि मिट्टी में मिल गई और सबसे बुरी बात यह हुई कि मराठों की अजेयता का जादू टूट गया। सब रोग शरीर की निर्बलता के समय ही प्रवेश किया करते हैं। पानीपत की पराजय से मराठा राज्य के शरीर में जो निर्बलता आ गई, उससे लाभ उठाकर गृह-कलहरूपी क्षय रोग के कीटाणुओं ने शरीर के भीतर प्रवेश पा लिया जो सर्वनाश की भूमिका थी। हमने अब तक मराठा राज्य के अभ्युदय की वीरगाथा सुनाई, अब उसके क्षय की करुण कहानी भी सुनिये।

जिस समय सदाशिवराव पानीपत के मैदान की दलदल में फँसकर, पूना से अधिक धन और सेना की माँग कर रहा था, उस समय बालाजी पेशवा, ४० वर्ष की आयु में एक पत्नी के रहते दूसरा विवाह करने की धुन में मस्त था। बालाजी की पहली पत्नी गोपिका बाई उस विवाह करने के विरुद्ध थीं, परन्तु पेशवा को उसकी पर्वा नहीं थी। विवाह का कार्य सम्पन्न करके पेशवा ने उत्तर की ओर प्रयाण करने की योजना बनाई और कुछ दूर तक सेना सहित यात्रा भी की परन्त उस समय तक भवितव्यता पूरी हो चुकी थी। नर्वदा तक पहुँचते-पहुँचते उसे गुप्त पत्र द्वारा यह समाचार मिल गया कि महाराष्ट्र के दो मोती (सदाशिवराव और विश्वासराव) नष्ट हो चुके हैं, तथा सोने और चाँदी की अनगिनत मुद्रायें पिघल गई हैं। बालाजी पेशवा पराजय के समाचार से मर्माहत होकर पूना लौट गया और पार्वती गिरि पर जाकर विश्राम करना चाहा, परन्तु आघात वहुत भयानक था, पेशवा का क्षीण शरीर उसे सहन न कर सका। बालाजी ने, कुछ दिन पीछे, अपने भाई रघुराव की गोद में प्राण त्याग दिये।

बालाजी के तीन पुत्र थे। विश्वासराव, माधवराव और नारायणराव। विश्वासराव

इन तीनों में से अधिक तेजस्वी और होनहार था। बालाजी की भावना थी कि उसे दिल्ली की गद्दी पर आरूढ़ करे। परन्तु वह पानीपत में सर्वनाश यज्ञ की आहुति बन गया। उससे छोटा माधवराव पिता की मृत्यु के समय केवल १६ वर्षों का था। वह माधवराव बल्लाल के नाम से प्रसिद्ध हुआ। बालाजी ने मृत्यु से पूर्व अपने छोटे भाई—रघुनाथराव से माधवराव के सिर पर हाथ रखवाकर यह प्रतिज्ञा ली थी, कि वह अपने बच्चे की तरह उसकी रक्षा करेगा। बालाजी की मृत्यु के पश्चात् उसकी इच्छानुसार रघुनाथराव (राघोबा) की संरक्षता में माधवराव बल्लाल को पेशवा की गद्दी पर बिठाया गया। शिवाजी के वंशज रामराव ने यद्यपि १० वर्षों से पूना के शासन में कोई भाग नहीं लिया था, तो भी यह आवश्यक समझा गया कि माधवराव की गद्दीनशीनी को उससे प्रमाणित करा लिया जाय।

माधवराव की आयु छोटी थी, परन्तु वह एक तेजस्वी और समझदार बालक था। रघुनाथराव अनुभवी और चतुर शासक था, परन्तु हृदय का खोटा था। उसके हृदय में महत्वाकांक्षा की बहुत प्रबल ज्वाला जलती रहती थी, जो उसे आराम से नहीं बैठने देती थी। कुछ इतिहास लेखकों का विचार है कि उसकी पत्नी आनन्दी बाई अपने पति की आकांक्षाओं को प्रेरणाओं और व्यंगों की हवा से निरन्तर भड़काती रहती थी। सम्भवतः दोनों ही बातें ठीक थीं। रघुनाथराव स्वभाव से षड्यन्त्रकारी व्यक्ति था और आनन्दीबाई का असत् परामर्श उसकी प्रवृत्ति को सोने नहीं देता था। परिणाम यह निकला कि माधवराव के पेशवा की गद्दी सँभालने के क्षण से पूना के शासनचक्र में गृह-कलह का ऐसा भयंकर सूत्रपात्र हुआ कि अन्त में सारी मराठाशाही को ले डूबा। यह दुष्परिणाम एकदम नही हुआ। कई उतार-चढ़ाव आये, परन्तु रघुनाथराव की कुप्रवृत्ति के कारण उस समय फूट की जो चिंगारी उत्पन्न हुई, उसे न नाना फड़नवीस जैसा चतुर राजनीतिज्ञ बुझा सका और न माधवराव सिन्धिया या मल्हारराव होल्कर जैसे वीर ही नष्ट कर सके। अन्त में वह चिंगारी ज्वाला के रूप में परिणत होकर छत्रपति शिवाजी की वीरता और दूरदर्शिता से स्थापित किये हुए विस्तृत मराठा राज्य के गृहदाह का कारण बनी।


सवाई माधवराव

दो वर्ष तक रघुनाथराव की संरक्षा में काम चलता रहा। उन वर्षों की विशेष घटना यह थी कि कुछ मराठा सरदार देशद्रोही बनकर निज़ाम से जा मिले और उसे पूना पर आक्रमण करने के लिए उकसाया। निज़ाम को और क्या चाहिए था? उसने पूना को हस्तगत करने की योजना बनाई और रास्ते में मन्दिरों को तोड़ता और मूर्तियों को भ्रष्ट करता हुआ

पूना के समीप तक जा पहुँचा । विद्रोही मराठा सरदारों ने जब निज़ाम के रंग-ढंग बिगड़ते देखे तो बिगड़ उठे, और एक-एक करके उसका साथ छोड़ दिया। इस पर निज़ाम ने मराठों से उद्गीर की सन्धि कर ली, जो निज़ाम के लिए हीन सन्धि थी।

१७६८ में माधवराव ने राज्य की बागडोर अपने हाथ में लेने का निश्चय किया। उसने रघुनाथराव से शासनाधिकार वापिस माँगा। रघुनाथराव को माधवराव की यह माँग अच्छी नहीं लगी और उसने संरक्षक के पद से त्यागपत्र दे दिया। वह असंतुष्ट होकर नासिक चला गया और वहाँ कपिलेश्वर महादेव की आराधना द्वारा मानो फिर से अधिकार प्राप्ति की चेष्टा करन लगा।

यदि रघुनाथराव जैसा वीर था वैसा ही सच्चा भी होता तो महाराष्ट्र के इतिहास की प्रगति दूसरी ही हो जाती। वह विनाशोन्मुखी न होती, परन्तु रघुनाथराव की महत्वाकांक्षा उसे प्रायः कुमार्ग पर ले जाती थी। जब उसे माधवराव के हाथ से शक्ति छीनने का और कोई उपाय न सूझा तो वह निज़ाम से जा मिला। माधवराव इस गठबंधन से घबरा गया। उसने रघुनाथराव के शिविर में जाकर उसके सामने आत्मसमर्पण कर लिया। रघुनाथराव ने माधवराव को नज़रबन्द करके फिर से स्वयं पूना के शासन की बागडोर संभाल ली और निज़ाम का साथ छोड़ दिया। इस पर कुछ और मराठा सरदारों ने रघुनाथराव की नीति का अनुसरण करते हुए निज़ाम से मेल कर लिया। निज़ाम को खोया हुआ अवसर फिर से प्राप्त हो गया, जिससे लाभ उठाकर वह पूना पर चढ़ गया, और वहाँ पहुँचकर भरपेट लूट मचाई। देशद्रोही मराठा सरदारों की कृपा से शिवाजी की राजधानी मुगल सिपाहियों के घोर कुकृत्यों की क्रीडास्थली बन गई।

निज़ाम की सेनायें मराठा राज्य को न जाने कितनी हानि पहुँचा देतीं, यदि संकट के समय मराठो के हृदयों में प्रसुप्त राष्ट्रभक्ति फिर से जागृत न हो जाती। महाराष्ट्र के मध्य में पहुँचकर निज़ाम ने अनुभव किया कि जिन मराठा सरदारों पर उसने बहुत भरोसा किया था, वे धीरे-धीरे अलग हो रहे हैं। उधर रघुनाथराव ने मराठों की पुरानी युद्ध-नीति का अवलम्बन करते हुए निज़ाम को छोड़कर सीधा हैदराबाद पर आक्रमण कर दिया। फलतः निज़ाम को पूना से हटना पड़ा। वह पीछे हटने लगा। उस समय मराठों ने उस पर प्रहार जारी कर दिये। पहले तो वह पीछे हटता रहा, परन्तु गोदावरी के तट पर पहुँचकर दोनों सेनाओं के सीग अड़ गये। घोर युद्ध हुआ—जिससे एक बार तो निज़ाम की अफ़गान सेनाओं का ज़ोर इतना ऊँचा हो गया कि रघुनाथराव के प्राण संकट में आगये। माधवराव बल्लाल उस समय रघुनाथराव के बन्दी के भाँति १५०० सिपाहियों से घिरा हुआ सेना के पीछे-पीछे घसीटा जा रहा था, उसका खून उबल उठा, और अपने अंगरक्षकों का नेता बनकर उसने निज़ाम की सेनाओं पर ऐसा तेजस्वी आक्रमण किया कि उनके पाँव उखड़ गये। न केवल रघुनाथराव की रक्षा हो गई, निज़ाम की लगभग आधी सेना मारी गई और निज़ाम मुँह की खाकर घर की ओर लौटने के लिए बाधित हुआ। इस वीरतापूर्ण संग्राम ने माधवराव के पाँव की शृंखलायें काट दीं और वह अधिकारपूर्वक पेशवा की गद्दी पर आसीन हो गया।

बाईसवां अध्याय

मराठा राज्य का राहु—राघोबा

बालाजी पेशवा की मृत्यु क्षय रोग से हुई थी। उनके पुत्र माधवराव ने भी उस रोग का अंश विरसे में प्राप्त किया था। वह अपने यौवन के मध्याह्न पर पहुँचने की तैयारी में था, कि क्षय रोग ने उसे भी धर दबाया। वह हैदर अली पर आक्रमण करने के लिए सेना की कमान सँभाल चुका था, कि रोग के लक्षण उद्भूत हो गये और उसे पूना वापिस आना पड़ा।



रघुनाथराव

माधवराव का छोटा भाई नारायणराव होनहार नहीं था। वह न दूरदर्शी था और न परिश्रमी। माधवराव कहा करता था कि नारायणराव के मस्तक पर शासन की रेखा नहीं दिखाई देती। माधवराव ने नारायणराव को शासन के योग्य बनाने के अनेक यत्न किये, कुछ सफलता भी हुई, परन्तु पूरा सन्तोष नहीं हुआ था कि माधवराव का अन्त समय आ पहुँचा। उस समय पेशवा को और कुछ न सूझा। अपने चचा राघोबा (रघुनाथराव) को नज़रबन्दी से छुड़ाकर पूना बुला लिया और नारायणराव को उसके सुपुर्द करते हुए यह प्रतिज्ञा ले ली कि वह अपने छोटे भतीजे पर सदा कृपा का हाथ बनाये रखेगा।

माधवराव का जीवन-पुष्प अकाल में ही मुरझा गया, यह मराठा राज्य के दुर्भाग्य की बात थी। यदि रघुनाथराव अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहकर सदा नारायणराव का सच्चा संरक्षक बना रहता, तो भी शायद कुछ न बिगड़ता, परन्तु दुर्भाग्य कभी अकेला नहीं आता। माधवराव की मृत्यु नारायणराव की अयोग्यता और रघुनाथराव की अपरिमित महत्वाकांक्षा—तीनों इकट्ठी ही आ गईं, जिससे भारत के एक ओर से दूसरे छोर तक फैला हुआ मराठा राज्य अपने पेशवा की तरह अकाल में ही क्षय रोग से ग्रस्त हो गया। नारायणराव को गद्दी पर बैठे अभी एक वर्ष पूरा न होने पाया था कि रघुनाथराव की प्रेरणा और सहयोग से कुछ सिपाहियों ने जिनमें मुसलमानों की संख्या अधिक थी, नौजवान पेशवा की हत्या कर डाली।

कहा जाता है कि मारने का षड्यन्त्र रघुनाथराव की पत्नी आनन्दी बाई की देख-रेख में बुना गया था। उस महत्वाकांक्षिणी स्त्री ने रघुनाथराव को प्रेरणा की कि वह नारायणराव को बन्दी बना ले। रघुनाथराव ने सुमेर सिंह, खड़ग् सिंह और मुहम्मद यूसुफ़

नाम के तीन असन्तुष्ट व्यक्तियों को इस आशय का लिखित आदेशपत्र दे दिया कि यदि वे नारायणराव को बन्दी बना लेंगे तो उन्हें ६ लाख रुपया इनाम दिया जायगा । आदेश-पत्र में बन्दी बनाने के लिए मराठी शब्द 'धरावे' था । वह पत्र आनन्दी बाई के हाथ में पहुँचा तो उसने 'धरावे' में 'ध' की जगह 'म' कर दिया । 'धरावे' का 'मरावे' बन गया । उस आदेशपत्र के बल पर तीनों आदमी बहुत से सिपाहियों को लेकर रात के समय नारायणराव के निवास-स्थान पर टूट पड़े । उन सिपाहियों में मुसलमानों की संख्या अधिक थी । उन्होंने बड़ी निर्दयता से मारकाट की । मनुष्य या पशु—जो सामने आया, उसे काट डाला । जब नारायणराव की नीद खुली तो वह भागकर अपने चाचा रघुनाथराव के कमरे में गया और उससे लिपटकर प्राणों की भिक्षा माँगी, परन्तु वहाँ तृष्णा के सामने से दया भाग चुकी थी । हत्यारों ने नारायणराव को रघुनाथराव से जबर्दस्ती अलग करके तलवारों से टुकड़े-टुकड़े कर डाला । नारायणराव के साथ उसके दो सेवक भी स्वामी को बचाने की चेष्टा करते हुए मारे गये । इस प्रकार भतीजे की हत्या द्वारा अपना मार्ग निष्कंटक करके रघुनाथ-राव ने पेशवा बनने की अपनी चिरकालीन हवस पूरी की ।

कुछ इतिहास-लेखकों की सम्मति है कि सम्भवतः रघुनाथराव द्वारा नारायणराव की हत्या कराये जाने में, उस समय पूना में स्थित ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अंग्रेज़ राजदूत का भी परोक्ष सहयोग था। परन्तु यह सम्भावना की जा सकती है या नही, इस पर सम्मति देने से पूर्व आवश्यक है कि हम ईस्ट इण्डिया कम्पनी और मराठा राज्य के अब तक के परस्पर सम्बन्धों पर कुछ प्रकाश डालें । उनके आधार पर ही हम इस प्रश्न का उत्तर दे सकेंगे कि नारायणराव की हत्या में कम्पनी के प्रतिनिधि का सहयोग होना सम्भव था या नहीं ?

हम देख आये है कि बालाजी बाजीराव के निधन के पश्चात् कुछ समय तक पूना की बागडोर रघुनाथराव के हाथों में रही । उस समय मराठा राज्य के दो पड़ोसी शत्रु थे । एक हैदर अली और दूसरा निज़ाम । रघुनाथराव को दोनों से भय था । जब दो पड़ोसी शत्रुओं से भय हो तब दो में से एक ही मार्ग चुना जा सकता है । या तो अपनी शक्ति इतनी बढ़ाई जाय कि दोनों का सामना किया जा सके, अथवा दोनों शत्रुओं में से एक को मित्र बनाकर दूसरे को परास्त किया जाय । रघुनाथराव ने इन दोनों मार्गों को छोड़कर तीसरे का अवलम्बन किया । उसने एक तीसरी विदेशी शक्ति को, जो उन दोनों शत्रुओं से अधिक भयावह थी, सहायता के लिए निमन्त्रित करके एक ऐसी भूल की, जो कालान्तर में राष्ट्रीय अपराध के रूप में परिणत हो गई और मराठाशाही के नाश का कारण बन गई । उसने अंग्रेज़ों से सहायता की याचना की ।

अंग्रेज़ों को और क्या चाहिए था । बन्दर-बांट का कोई अवसर खोना कम्पनी के धर्मशास्त्र के विरुद्ध था । बम्बई की सरकार में और राघोबा (अंग्रेज़ लोग रघुनाथराव को राघोबा के नाम से पुकारते थे) में जो इकरारनामा हुआ उसका यह रूप था कि अंग्रेज़ों ने, राघोबा के, मित्र रहने और निज़ाम के द्वारा मराठा राज्य पर आक्रमण होने की दशा में

सैनिक सहायता देने का वचन दिया और उसके प्रतिफल के रूप में रघुनाथराव ने जंजीरा सीदी को अंग्रेज़ों के अधीन कर दिया और यह वायदा किया कि यदि निज़ाम का आक्रमण हुआ और अंग्रेज़ों की सहायता करनी पड़ी तो सालसत्ती (Salsette) का बन्दरगाह और बसीन (Bassein) का क़िला कम्पनी को सौंप दिया जायगा। यह इकरारनामा हरेक पहलू से मराठा राज्य के लिए हानिकारक था। अनुभव से सिद्ध हो चुका था कि भारत के किसी स्वतन्त्र राज्य के लिए अंग्रेज़ों का सम्पर्क मंगलकारी सिद्ध नहीं हुआ। ईस्ट इण्डिया कम्पनी देशी राज्यों के लिए विषकन्या ही सिद्ध हो रही थी। रघुनाथराव ने अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए मराठा राज्य को विषकन्या के सम्पर्क के लिए बाधित कर दिया, इस बात ने उसका नाम उन कुछेक भारतवासियों की सूची में लिखा दिया है, जिन्होंने अपनी तुच्छ महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए अपने राष्ट्र को विदेशियों के हाथ बेचने में संकोच नहीं किया।

उपर्युक्त इकरारनामे में कहा गया था कि यदि अंग्रेज़ों को निज़ाम के विरुद्ध मराठा राज्य की सैनिक सहायता करनी पड़ी तो सालसत्ती और बसीन उन्हें सौंप दिये जायेंगे। निज़ाम का भला हो कि उसने उस समय आक्रमण नहीं किया और मराठा राज्य के दो प्रमुख नगर अंग्रेज़ों के हाथ में नहीं आये, परन्तु विषैला परिणाम यह हुआ कि अंग्रेज़ों ने उन दोनों नगरों पर अपना कानूनी अधिकार मान लिया और भविष्य में अंग्रेज़ों और मराठों में जो युद्ध हुआ उसका सूत्रपात्र यहीं से हुआ।

यह तो हुई अन्तिम परिणाम की बात, इकरारनामे का तात्कालिक प्रभाव यह हुआ कि अंग्रेज़ रघुनाथराव को अपना मित्र और औज़ार समझने लगे। मित्रता का एक फल यह हुआ कि बम्बई सरकार ने मोत्सिन नामक एक व्यक्ति को अपना प्रतिनिधि बनाकर पूना में स्थापित कर दिया। मानों मराठा राज्य के केन्द्र में विष का वृक्ष बोया गया। मराठों के इतिहास-लेखक ग्राण्ट डफ ने मि० मोत्सिन की नियुक्ति के सम्बन्ध में लिखा है—"बम्बई की सरकार ने मि० मोत्सिन को इस उद्देश्य से भेजा कि वह घर में फूट डालकर तथा अन्य उपायों से मराठों को हैदर या निज़ाम के साथ मिलने से रोके।"

उद्देश्य था, मराठों को हैदर अली और निज़ाम से अलग करना और साधन था घर में भेद उत्पन्न करना। इसमें सन्देह नहीं कि बम्बई सरकार को अपने उद्देश्य को सिद्ध करने में पूरी सफलता मिली। उन्हें रघुनाथराव जैसी सीढ़ी मिल गई, जिस पर चढ़कर वे पूना के दुर्ग में प्रविष्ट हो गये। वहाँ पहुँचकर अंग्रेज़ों का यह चेष्टा करना स्वाभाविक था, कि जिस सीढ़ी पर चढ़कर वे क़िले में प्रविष्ट हुए हैं, उसे यथास्थान धरी रखें। यही कारण था कि मि० मोत्सिन और उसके उत्तरवर्ती प्रतिनिधि यथा तथा यह यत्न करते रहे कि पूना की राज्यशक्ति राघोबा के हाथ में रहे, और उसके शत्रु नष्ट हों। इसी आधार पर बहुत से इतिहास-लेखकों की यह सम्मति है कि नारायणराव की मृत्यु में मि० मोत्सिन का यदि सीधा हाथ नहीं, तो प्रेरणा अवश्य थी।

तेईसवाँ अध्याय

उद्भट नीतिज्ञ नाना फड़नवीस

ईसा की १८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में, जब कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सेनाएँ, भारत पर सत्ता स्थापित करने के लिए आगे ही आगे पग बढ़ाने की चेष्टा में लगी हुई थी, दो ऐसे महापुरुष उत्पन्न हुए, जिन्हें हम 'असाधारण' कह सकते हैं। यदि वे दोनों मिलकर अंग्रेज़ों का विरोध करते तो शायद ब्रिटिश सेना की प्रगति दक्षिण में ही रुक जाती, परन्तु यह देश का दुर्भाग्य था कि दोनों का मिलना तो एक तरफ़ रहा वे दोनों एक-दूसरे को काटते रहे जिससे अंग्रेज़ों को, दुश्मनों को तोड़कर खण्डशः नष्ट करने का अवसर मिलता रहा। वे दोनों महापुरुष थे, हैदर अली और नाना फड़नवीस। हैदर अली बहुत असाधारण वीर और चतुर योद्धा था और नाना फड़नवीस ऊँचे दर्जे का दूरदर्शी नीतिज्ञ था। यदि कहीं अंग्रेज़ों के विरुद्ध तलवार और बुद्धि का एका हो जाता तो भारत का इतिहास दूसरे ही ढंग का बन जाता, परन्तु होनी कुछ और ही थी। अंग्रेज़ों ने मराठों और निज़ाम को सन्धि में बाँधकर हैदर अली के वंश को नष्ट कर डाला, फिर निज़ाम को खस्सी करके मराठों को अकेला कर दिया, और अन्त में मराठों की ओर झुके। उस समय मराठा राज्य के सौभाग्य से उसे एक ऐसा नीतिज्ञ महापुरुष मिल गया जिसने अपनी दूरदर्शिता से चिर-काल तक ब्रिटिश शक्ति की उमड़ती हुई बाढ़ को पूना तक पहुँचने से रोके रखा। कमी इतनी ही रही कि वह जितना बड़ा नीतिज्ञ था, उतना बड़ा योद्धा नहीं था, और न किसी बहुत बड़े योद्धा ने वफ़ादारी से उसका पूरा साथ दिया। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि नाना फड़नवीस का नाम मराठा राज्य के उत्तरकालीन इतिहास में स्वर्णाक्षरों से लिखा गया है, क्योंकि उसकी प्रखर बुद्धि और दूरदर्शिता ने लगभग वर्षों तक अंग्रेज़ों की कूटनीति का डटकर मुकाबिला किया।


नाना फड़नवीस

नाना फड़नवीस का असली नाम बालाजी जनार्दन भानु था। उसका जन्म महाराष्ट्र ब्राह्मणों के उच्च कुल में हुआ था। वह मराठा सेनाओं के प्रधान सेनापति सदाशिवराव भाऊ के मन्त्री की हैसियत से पानीपत के युद्ध में उपस्थित था। पानीपत के युद्ध से पूर्व मराठों को यह विश्वास था कि हम हार नहीं सकते। इसी आधार पर प्रायः सब बड़े-बड़े मराठा सरदार पानीपत जाते हुए अपने परिवारों को साथ लेते गये थे, कि युद्ध के पश्चात् उत्तर के

तीर्थों की यात्रा करते आयेंगे। जनार्दन भानु की माता और पत्नी भी गंगा-स्नान की अभिलाषा से साथ गई थीं। जब पानीपत के मैदान में मराठा सैन्य पर खण्ड प्रलय का प्रहार हुआ, तब जो परिवार नष्ट हो गये, उनमें जनार्दन भानु का परिवार भी उनमें से था। उसकी माता और पत्नी दोनों जनकर्दभ की लपेट में आ गईं। बेचारा जनार्दन अत्यन्त दुःखी और निराश होकर घर वापिस आया, और चाहता था कि गृह-त्याग कर सन्यास ले ले, परन्तु बन्धुओं ने समझा-बुझाकर उसे रोक लिया और वह पहले पेशवा माधवराव का और फिर नारायणराव का विश्वासपात्र मन्त्री बनकर कार्य करता रहा।

जनार्दन भानु या नाना फड़नवीस प्रारम्भ से ही रघुनाथराव का राजनीतिक विरोधी था। रघुनाथराव की राजनीति के दो मुख्य अंग थे। पहला अंग था उसकी कलुषित महत्वाकांक्षा। यह उसका अपना दोष हो या उसकी पत्नी आनन्दी बाई की प्रेरणा का—या दोनों का, परन्तु यह असंदिग्ध है कि उसके हृदय में राष्ट्र-हित की भावना की अपेक्षा स्वार्थ की भावना अधिक प्रबल थी। दूसरा अंग यह था कि वह अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए अंग्रेज़ों के हाथ बिकने के लिए तैयार रहता था। उनके धक्के खाकर भी वह अपने बन्धुओं के विरुद्ध अंग्रेज़ों की गोद में बैठना उचित समझता था। नाना फड़नवीस इन दोनों भावनाओं का कठोर शत्रु था। वह न्यायसिद्ध पेशवाओं का समर्थक और अंग्रेज़ों का विरोधी था। 'एम्पायर इन एशिया' के लेखक मि० टोरन ने नाना फड़नवीस के राजनीतिक विचारों का विश्लेषण करते हुए ठीक ही लिखा है कि "नाना फड़नवीस अंग्रेज़ों का आदर करता था, और उनकी प्रशंसा भी करता था, परन्तु वह उनके आलिंगन से डरता था। चाहे कितने ही ख़तरे आयें, उसने कभी अंग्रेज़ों की सैनिक सहायता स्वीकार नहीं की"। नाना फड़नवीस का मत था कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी का आलिंगन विषकन्या का आलिंगन है—जो भारतीय नरेश उसमें फँसा, वह मर कर रहा। अपने जीवन भर नाना फड़नवीस रघुनाथराव और उसके हमजोलियों की अंग्रेज़ों से गठ-जोड़ा करने की प्रवृत्ति का विरोध करता रहा।

नारायणराव की हत्या के उपरान्त रघुनाथराव ने दम्भ का चेहरा लगाकर भरपूर प्रयत्न किया कि हत्या का अपराधी वह न समझा जाय। लम्बी-लम्बी बहुत-सी साँसें लीं और पुष्कल आँसू बहाये, परन्तु लोगों को यह समझने में देर न लगी कि मृत्यु उसी की प्रेरणा से हुई है। फलतः राज्य के १२ प्रमुख व्यक्तियों की एक गोष्ठी संगठित हो गई, जिसका उद्देश्य राज्यसत्ता को रघुनाथराव के हाथ में पड़ने से बचाना या। उस गोष्ठी को बहुत से इतिहास-लेखकों ने 'बारह भाइयों के षड्यन्त्र' के नाम से पुकारा है।

नारायणराव के मरने के पश्चात् यह विदित हुआ कि उसकी पत्नी गंगाबाई के गर्भ था। बारह भाइयों ने पहला काम यह किया कि पेशवा की गद्दी के सम्भावित उत्तराधिकारी की रक्षा के लिए गंगाबाई को एक सुरक्षित स्थान पर पहुँचा दिया।

जब रघुनाथराव को बारह सरदारों के विरोध और नारायणराव के उत्तराधिकारी होने की सम्भावना का पता चला तो वह घबराकर गुजरात की ओर भाग गया और वहाँ बम्बई की अंग्रेज़ी सरकार के साथ मिलकर मराठा राज्य की जड़ें खोखली करने में लग गया। रघुनाथराव के विरुद्ध बारह भाइयों की जो गोष्ठी बनी थी, उसका प्रमुख और केन्द्रभूत व्यक्ति नाना फड़नवीस था।

चौबीसवाँ अध्याय

पहला अंग्रेज़-मराठा युद्ध

अंग्रेज़ों का मराठों से पहला युद्ध वारन हेस्टिंग्ज़ के शासन-काल में हुआ।

युद्ध का सूत्रपात राघोबा और अंग्रेज़ों की बम्बई सरकार के बीच हुई उस सन्धि द्वारा हुआ, जिसमें बम्बई सरकार ने राघोबा को पेशवा की गद्दी का उचित अधिकारी मान लिया था। नारायणराव की हत्या के पश्चात् मार्ग को निष्कण्टक समझकर रघुनाथराव ने पेशवा की गद्दी सँभाल ली थी, परन्तु नारायणराव की विधवा गंगाबाई ने एक पुत्र को जन्म दिया जिसे नाना फड़नवीस और उसके ग्यारह साथियों ने पेशवा की गद्दी का उचित उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। रघुनाथराव ने पूना पर चढ़ाई करके गद्दी पर अधिकार जमाने की चेष्टा की, परन्तु सफल न हो सका, और देशद्रोहियों की प्रचलित पद्धति के अनुसार देश के शत्रु विदेशी आततायियों से जा मिले। फलतः अनायास ही मराठों का अंग्रेज़ों से सैनिक संघर्ष आरम्भ हो गया।

यह देश का दुर्भाग्य था कि देशवासियों में विघटनात्मक प्रवृत्ति ज़ोर पकड़ रही थी। यह हम देख आये हैं कि पानीपत की पराजय के पश्चात् मराठा शासन ने एक संघराज्य का रूप धारण कर लिया था। ग्वालियर में सीन्धिया, बड़ौदा में गायकवाड़ और इन्दौर में होल्कर वंश के शासक जो वस्तुतः मराठा राज्य के सेनानायक थे, केन्द्र के निर्बल होने पर स्वतन्त्र से हो गये थे, तो भी पूना के पेशवा की प्रभुता को स्वीकार करते थे। इस तरह मराठा राज्य की शक्ति कई केन्द्रों में बँटकर भी पूना में केन्द्रित हो गई थी। कुछ वर्षों तक तो यह व्यवस्था ठीक-ठीक चलती रही, पर मराठा राज्य और अंग्रेज़ों का संघर्ष आरम्भ होने पर अंग्रेज़ों को मराठों के गढ़ में सूराख करने का अवसर मिल गया। रघुनाथराव की सहायता से वहाँ के घरेलू झगड़ों से लाभ उठाकर बम्बई सरकार के एजेण्टों ने बड़ौदा के गायकवाड़ को मराठा संघ से तोड़कर अलग कर दिया, और अपना साथी बना लिया। पूना के शासन के लिए यह पहला अपशकुन हुआ।

बम्बई सरकार ने कर्नल कीटिंग की कमान में एक सेना की टुकड़ी रघुनाथराव की सहायता के लिए भेज दी। रघुनाथराव ने अपनी और अंग्रेज़ों की सेना को लेकर पूना पर चढ़ाई कर दी। मराठों की सेना के सेनापति हरिपन्त फड़के ने अरास (Arras) के समीप उनका रास्ता रोक दिया। खूब जमकर लड़ाई हुई, जिसमें रघुनाथराव की शक्ति टूट गई, और उसने आगे बढ़ने का विचार छोड़ दिया। ऊपर से वर्षा ऋतु आ रही थी, इस कारण मराठा सेनाओं ने भी अंग्रेज़ सेनाओं का दूर तक पीछा न किया, और युद्ध का पहला दौर किसी विशेष परिणाम के बिना ही समाप्त हो गया।

इसी बीच में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन में कई परिवर्तन हो गये। १७७३ में

ब्रिटिश पार्लियामेण्ट में नया इण्डिया ऐक्ट स्वीकृत किया गया। उस ऐक्ट द्वारा वारन हेस्टिंग्ज, जो अब तक केवल बंगाल का गवर्नर था, गवर्नर-जनरल बना दिया गया, और मद्रास तथा बम्बई के गवर्नर उसके अधीन कर दिये गये। गवर्नर-जनरल को सलाह देने के लिए एक कौंसिल नियुक्त की गई, जिसकी चर्चा हम इससे पूर्व कर आये हैं। हम यह भी देख आये हैं कि उस कौंसिल के प्रारम्भिक सदस्यों में फ्रांसिस तथा उसके साथी न्यायपरायण और निर्भय व्यक्ति थे, जो सदा गवर्नर-जनरल और गवर्नरों के अन्यायपूर्ण कामों पर रोक लगाते रहते थे। अब तक बम्बई सरकार ने मराठा सरकार के विरुद्ध तीन कार्य किये थे। उन्होंने राघोबा को पेशवा की गद्दी का उचित अधिकारी मान लिया था। बड़ौदा के फतेहसिंह गायकवाड़ से सुलह करली थी, और सालसत्ती पर अधिकार जमा लिया था। कौंसिल ने बम्बई सरकार के इन कार्यों को व्यर्थ का संघर्ष उत्पन्न करने वाले और अतएव अनुचित कार्य समझा और आदेश दिया कि संघर्ष के कारणों को दूर करके पूना सरकार से सुलह कर ली जाय। बम्बई सरकार को यह मान-मर्दन बहुत बुरा लगा। परन्तु उसे सुप्रीम कौंसिल का आदेश मानकर पूना सरकार से सुलह कर लेनी पड़ी। जो सन्धि हुई वह पुरन्दर की सन्धि कहलाई। इसके द्वारा जहाँ वह शर्तनामा रद्द कर दिया गया जिसमें राघोबा को पेशवा की गद्दी का उत्तराधिकारी अंगीकार किया गया था, वहाँ उसके गुजारे का बोझ मराठा सरकार पर डाल दिया गया। साथ ही उस सन्धि द्वारा सालसत्ती अंग्रेजो को दे दिया गया। बरोच शहर की आय पर भी अंग्रेजों का स्वत्व मान लिया गया। इस सन्धि द्वारा वह सन्धि विशीर्ण कर दी गई, जो ६ मार्च १७७५ को रघुनाथराव और बम्बई सरकार में हुई थी।

बम्बई सरकार सुप्रीम कौंसिल द्वारा अपने लिखे पर हड़ताल फेरने से बहुत क्षुब्ध हो उठी और उसने कम्पनी के बोर्ड ऑव डायरेक्टर्स के पास लम्बे-लम्बे शिकायती पत्र भेजे। उन पत्रों में बोर्ड को समझाया गया था कि पुरन्दर की सन्धि से कम्पनी के हित को भारी आघात पहुँचा है। बोर्ड की समझ में यह बात आ गई, क्योंकि उनका कर्तव्याकर्तव्य का नपैना स्वार्थ ही था, न्याय नहीं। बोर्ड ने गवर्नर-जनरल को आज्ञा दी कि वह पुरन्दर की सन्धि को रद्द करके राघोबा के साथ १७७५ में की गई सन्धि को बहाल कर दे। अब तो बम्बई सरकार को खुली छुट्टी मिल गई, और उन्होंने अपने उसी पुराने प्रतिनिधि मि० मोत्सिन को पूना की सरकार में तोड़-फोड़ करने के लिए भेज दिया। नाना फडनवीस ने मोत्सिन की नियुक्ति का भरसक विरोध किया, परन्तु बम्बई सरकार अपने निश्चय पर अटल रही।

मोत्सिन ने पूना पहुँचकर कुछ ही महीनों में माया का विशाल जाल फैला दिया। उसने अपनी सरकार को निश्चय दिला दिया कि मराठा सरकार फ्रांसीसियों को बुलाकर अंग्रेजों के विरुद्ध मोर्चा तैयार कर रही है। असली बात यह थी कि नाना फड़नवीस केवल अंग्रेजों के ही विरुद्ध नहीं था, वह महान् राजनीतिज्ञ भारत की राजनीति में किसी भी विदेशी का हस्तक्षेप नहीं चाहता था। यह आरोप सर्वथा मिथ्या था कि वह अंग्रेजों के विरुद्ध फ्रांसीसियों से षड्यन्त्र कर रहा था, परन्तु जिसे लड़ना हो उसे लड़ाई का बहाना खोजने में क्या देर है। लूबिन नाम का एक फ्रांसीसी व्यापार सम्बन्धी कुछ रियायतों की बातचीत करने

पूना पहुँचा, इतनी सी बात को लेकर मोत्सिन ने बम्बई-कलकत्ते से लेकर लन्दन तक मिथ्या कल्पनाओं का ऐसा तूमार बाँधा कि बोर्ड ऑव डायरेक्टर्स और उनके गवर्नर-जनरल वारन हेस्टिंग्ज़ को पूना में फ्रांस का भयंकर षड्यन्त्र दिखाई देने लगा। यह आज्ञा जारी हो गई कि पुरन्दर की सन्धि को रद्द समझा जाय, और मराठा सरकार को बाधित किया जाय कि वह रघुनाथराव को पेशवा स्वीकार करे।

वारन हेस्टिंग्ज़ के कालिमापूर्ण इतिहास मे पहले अंग्रेज़ मराठा युद्ध का भी एक विशेष स्थान है। पुरन्दर की सन्धि को भंग करके मराठा सरकार पर अकारण आक्रमण का कार्य ऐसा निन्दनीय था कि उसका पूरा समर्थन अंग्रेज़ इतिहास-लेखक भी नही कर सके। इस नये युद्ध में अंग्रेज़ सेनाओं ने पूना पर दो बड़े-बड़े आक्रमण किये, परन्तु दोनों का फल लगभग एक-सा ही निकला। बड़ी गर्ज और तर्ज के साथ अंग्रेजी सेना की बाढ़ें उमड़-उमड़ कर दो बार पूना के समीप पहुँची, और दोनों बार मराठा राज्य के कुशल नेता नाना फड़नवीस की बनाई प्राचीरों से टकराकर चूर-चूर हो गईं।

पहला आक्रमण कर्नल लैस्ली के सेनापतित्व में किया गया। राघोबा सेना का मार्ग-दर्शक बनकर साथ चला। यह घोषणा की गई कि फ्रांसीसी लोग पूना की सरकार में अपना प्रभाव बढ़ा रहे है। उन्हें विफल बनाने के लिए अंग्रेज़ो सेनायें पूना जा रही है। अंग्रेज़ सेना बंगाल से रवाना होकर पूना से लगभग १८ मील की दूरी तक बिना किसी विघ्न बाधा के पहुँच गईं। उन्हें दो बातों का भरोसा था। एक तो वारन हेस्टिंग्ज ने कुटिल अंग्रेज़ी नीति द्वारा सितारा के राजा को मराठा राज्य-संघ से फोड़कर अपना सहायक बना लिया था और दूसरे, उन्हें विश्वास था कि राघोबा के प्रभाव से मराठा सेना अंग्रेज़ों के विरुद्ध जमकर न लड़ेंगी। इन्हीं कारणों पर भरोसा करके अंग्रेज़ी सेनायें बड़ी धूमधाम से खंडाला तक पहुँच गई। खंडाला पूना से लगभग १८ मील दूर है। उधर नाना फड़नवीस अपने दूतों द्वारा अंग्रेज़ी सेना की गतिविधि से पूरी तरह परिचित होकर युद्ध-नीति का सचालन कर रहा था। मराठा सेनायें सिन्धिया और होल्कर के नेतृत्व मे खंडाला के समीप अंग्रेज़ी सेना की प्रतीक्षा कर रही थीं। कर्नल लेस्ली यह समझकर पूना की ओर बढ़ रहा था कि अब मैदान मार लिया कि इतने में उसे समाचार मिला कि अपने प्रख्यात सेनानायकों के नेतृत्व में मराठा सेनायें उन्हें दबोचने को तैयार है। इस समाचार से अंग्रेज़ सूरमाओं का दिल हार गया, और उन्होने पीठ दिखाकर भागने की ठानी, परन्तु भागना भी आसान नहीं था। मराठा सेनाओं ने अंग्रेज़ी फ़ौज को घेरकर खूब तबाही मचाई, यदि मराठे चाहते तो चारों ओर से दबाकर इस अंग्रेज़ों की आक्रामक सेना को पीस डालते, परन्तु अंग्रेज़ों ने कुटिल नीति से काम लेकर एकदम सुलह का झंडा खड़ा कर दिया। मराठे भारतवासियों की जन्मसिद्ध निर्बलता के शिकार हो गये। वे अंग्रेज़ों की चिकनी-चुपड़ी बातों में आ गये, और उन्हें चंगुल में से निकल जाने दिया। इस तरह अंग्रेज़ों ने दिल में छलछन्द रखकर केवल जान बचाने के लिए नाना से हीन सन्धि कर ली, परन्तु दिल में यह गाँठ रख ली कि अवसर पाकर यह ऋण सूद सहित वसूल कर लेंगे। इस हीन सन्धि द्वारा अंग्रेज़ों ने राघोबा को मराठा सरकार के सुपुर्द कर दिया और

वह सब प्रदेश वापिस दे दिये, जो इससे पूर्व पूना की सरकार से प्राप्त कर लिये थे।

इस प्रकार प्रथम अंग्रेज-मराठा युद्ध का दूसरा पर्व समाप्त हुआ। अभी इस पर्व की उड़ी हुई राख जमीन पर बैठने न पाई थी कि अंग्रेज़ तीसरे पर्व की तैयारी में लग गये। लूमड़ी का दाँव खाली गया, पर वह हारी नहीं। वारन हेस्टिंग्ज ने पूना के एक प्रमुख साथी और कुशल सेनानी माधवराव सीन्धिया पर माया का जाल फैलाना शुरू किया, जिसमें देश के दुर्भाग्य से उसे सफलता भी मिल गई। सीन्धिया धूर्त भी था, और युद्ध-निपुण भी, परन्तु राष्ट्र-भक्त नहीं था,—वह राघोबा के चरण-चिन्हों पर चल रहा था। यह आश्वासन पाकर कि उसे नाना के स्थान पर नाबालिग पेशवा का संरक्षक बना दिया जायगा, सीन्धिया मराठा सरकार के विरुद्ध अंग्रेज़ों से जा मिला। नाना ने अंग्रेजों से राघोबा का कब्जा लेकर उसे संरक्षा के लिए सीन्धिया के सुपुर्द कर दिया था। सन्धि की पालना के लिए कुछ अंग्रेज़ बन्धक रखे गये थे, वह भी सीन्धिया को सौंप दिये गये थे। सिन्धिया ने देशद्रोह का पहला काम यह किया कि राघोबा और अंग्रेज बन्धकों को मुक्त कर दिया, और इस प्रकार पहले अंग्रेज़-मराठा युद्ध के तीसरे पर्व की बुनियाद डाल दी।

नाना फड़नवीस बहुत दूरदर्शी व्यक्ति था। वह जानता था कि अंग्रेज और सीन्धिया दोनों ही स्वार्थपरायण और धूर्त हैं, उनका जोड़-मेल दूर तक नहीं चल सकता। इस कारण नये आक्रमण की आशंका से कुछ भी न घबराकर नाना ने फिर तीसरी बार राष्ट्र की रक्षा के लिए पूरे जोर से तैयारी आरम्भ कर दी।

इस अवसर पर नाना फड़नवीस ने एक ऐसा कार्य किया, जो उसे भारत के उस युग के राजनीतिज्ञों में सबसे ऊँचे स्थान पर बिठा देता है। नाना ने मुग़ल सम्राट्, निज़ाम, हैदरअली और अरकाट के नवाब को एक पत्र भेजा, जिसका सारांश निम्नलिखित है। उसने लिखा—

"टोपीकार (यूरोपियन) की नीति पक्षपात और धूर्तता से पूर्ण है। उनका ढंग यह है कि वे पहले भारतीय शासकों को दमदिलासा देकर फुसला लेते हैं, और अपना मतलब सिद्ध हो जाने पर उन्हें जेल में डाल देते हैं। शुजाउद्दौला, मुहम्मद अली खां, अरकाट का नवाब और चन्दावर के हाकिम इसके दृष्टान्त हैं। इस कारण आपको चाहिए कि यूरोपिन लोगों को अपने से दूर रखें केवल इसी तरह हम देश के शासकों की मान-रक्षा कर सकते हैं। अन्यथा विदेशी लोग राज्यों को छीनकर सारे देश पर प्रभुत्व जमा लेंगे।"

नाना की यह मार्मिक अपील बहुत कुछ सफल हुई। निज़ाम, हैदर अली और अरकाट उस समय अंग्रेजों से अलग हो गये जिससे मराठों को अंग्रेजी सेना को पराजित करने में बड़ी सहायता मिली।

इस बार अंग्रेज़ी सेना जनरल गौडर्ड की नायकता में पूना-विजय के लिए अग्रसर हुई। सीधे आक्रमण के बुरे परिणामों को अंग्रेज देख चुके थे, इस कारण गौडर्ड ने द्राविड़ प्राणायाम करने की योजना बनाई। उसने प्रारम्भ में पूना की ओर बढ़ने का निश्चय किया, फिर अंग्रेज़ों के नये मित्र माधवराव सीन्धिया पर आक्रमण करके नाना फड़नवीस की भविष्यवाणी को सत्य सिद्ध किया, और अन्त में कोंकण के कल्याण बसीन आदि स्थानों पर अधिकार

जमाने में सफलता प्राप्त कर ली। तब भी वह पूना की ओर पग बढ़ाने में समर्थ नहीं हुआ। इसी समय वारन हेस्टिंग्ज़ को यह समाचार मिल गया कि नाना की नीति निज़ाम और हैदर अली को अपना साथी बनाने में कृतकार्य हो गई है। हाथ से सारी बाज़ी निकलने के भय से गवर्नर-जनरल ने आधी बाज़ी बचाने का निश्चय किया और सीन्धिया को बीच में डालकर पूना सरकार से सुलह की बातचीत का यत्न जारी कर दिया। कई महीनों तक बातचीत का सिलसिला चलता रहा, अन्त में सल्बाई नामक स्थान पर मराठा सरकार और अंग्रेज़ी सरकार के बीच एक सन्धि-पत्र लिखा गया जिस पर दोनों ओर के प्रतिनिधियों ने हस्ताक्षर कर दिये। यह सन्धि १७ मई १७८२ के दिन सम्पन्न हुई, और सेल्बाई की सन्धि कहलाई। इस सन्धि द्वारा मराठा सरकार की भूमि के वे सब भाग जो किसी प्रकार भी अंग्रेज़ों के कब्ज़े में आये थे, मराठा सरकार को वापिस मिल गये, और रघुनाथराव को २५ हज़ार रुपया मासिक पेन्शन पर पेशवा की गद्दी की उम्मीदवारी से पृथक् कर दिया गया।

इस प्रकार प्रथम अंग्रेज़-मराठा युद्ध में अंग्रेज़ों की आक्रामक नीति को असफलता का मुँह देखना पड़ा। इस युद्ध में अंग्रेज़ों की असफलता और मराठों की सफलता का श्रेय मुख्य रूप से पूना सरकार के कर्णधार और उस समय के सर्वोत्कृष्ट भारतीय नीतिज्ञ नाना फड़नवीस को प्राप्त है। नाना के सिक्के को उसके शत्रु भी मानते थे। एक अंग्रेज़ मि० सलीवान ने दूसरे अंग्रेज़ कर्नल ब्रिग्ज़ को लिखा था—"हमें नाना फड़नवीस और उसके समान नीतिज्ञ ला दो। हम लोग उस प्रकार के शासकों के सामने केवल वामन है।"

पच्चीसवाँ अध्याय

न्यायाधीश रामशास्त्री

नाना फड़नवीस और उसके शासन-काल का वर्णन अपूर्ण रहेगा यदि हम मराठा सरकार के न्यायाधीश रामशास्त्री प्रभून की चर्चा न करें। सत्य बात यह है कि नाना फड़नवीस की नैतिक सफलता का एक कारण यह भी था कि उसे रामशास्त्री जैसा विद्वान्, दूरदर्शी और सत्यपरायण न्यायाधीश प्राप्त हुआ। सफलता की शीघ्र और तीव्र अभिलाषा कूटनीतिज्ञों को प्राय: अन्याय के मार्ग पर ले जाती है। वे मानने लगते हैं कि विजय की प्राप्ति के लिए जो भी यत्न किया जाय, वह उचित है। साध्य ठीक हो तो साधन पापमय है या पुण्यमय, इसकी कोई चिन्ता नहीं। इसी विचार-परम्परा के कारण कूटनीति या राजनीति संसार में इतनी बदनाम हैं। बदनामी उचित भी है। अनुचित और पापमय साधन द्वारा प्राप्त किया गया साध्य आवश्यक रूप से विषाक्त हो जाता है। नाना फड़नवीस का सौभाग्य था कि उसे सत्पथ पर स्थिर रखनेवाला एक पथप्रदर्शक विद्यमान था।

रामशास्त्री की जीवन-गाथा कई अंशों में महाकवि कालिदास से मिलती-जुलती है। उसका जन्म सितारा के निकट, कृष्णा नदी के तट पर, माहुली ग्राम में एक देशस्थ ब्राह्मण के घर में हुआ था। घर में उसे विद्या-प्राप्ति का अवसर नहीं मिला। वह मराठा दरबार में नौकर हो गया। वहाँ वह पेशवा बालाजी बाजीराव का 'शागिर्द' अर्थात् सेवक बना। किसी भूल पर पेशवा ने उसे झाड़ बता दी, इस पर रामशास्त्री का आत्माभिमान जाग उठा, और उसने नौकरी छोड़कर विद्या-प्राप्ति का संकल्प कर लिया। तब भी बनारस सरस्वती का केन्द्र माना जाता था। रामशास्त्री ने वहाँ जाकर कई वर्षों तक घोर परिश्रम करके विद्योपार्जन किया, और अनेक विद्याओं का पारंगत विद्वान् बनकर अपने देश में वापिस आया। भगवान् की दी हुई अद्भुत प्रतिभा पर शिक्षा का ऐसा उज्ज्वल संस्कार हुआ कि अपने जन्म-स्थान पर आते ही रामशास्त्री की ख्याति प्रदेश भर में व्याप्त हो गई।

रामशास्त्री की ख्याति का सुगन्ध चारों दिशाओं में घूमकर पेशवा की कचहरी तक भी पहुँच गया। जब बालाजी पेशवा ने सुना कि वह बालक, जिसे पेशवा के कठोर व्यवहार के कारण नौकरी छोड़नी पड़ी थी, बनारस से धुरन्धर विद्वान् बनकर आ गया है, तो उसने रामशास्त्री को आदरपूर्वक बुलवा भेजा और अपने शास्त्रियों में नियुक्त कर लिया। उसकी मासिक दक्षिणा ४० रुपये रखी गई, साथ ही यह भी आदेश दिया गया कि श्रावण मास में ५०० रुपये विशेष दक्षिणा के रूप में, और दरबारी पोशाक के लिए ५५१ रुपये दिये जायें। दो वर्ष पीछे रामशास्त्री को सवारी के लिए घोड़ा भेंट किया गया, और घोड़े के खर्च के लिए १५ रुपये मासिक बाँध दिये गये। १७५९ में सरकार के न्यायाधीश बालकृष्ण शास्त्री का देहावसान हो गया। रिक्त स्थान पर रामशास्त्री की नियुक्ति कर दी गई और

साथ ही पालकी की सवारी का अधिकार दिया गया, जिसके लिए १,००० रुपये वार्षिक व्यय के लिए मिलने लगा। इस प्रकार पेशवा ने बालक रामशास्त्री को अपमानित करके जो पाप कमाया था, उसका भरपूर प्रक्षालन कर दिया।

न्यायाधीश बनकर रामशास्त्री ने बहुत ही अद्भुत प्रतिभा का परिचय दिया। एक प्रकार से न्यायाधीशता का आदर्श क़ायम कर दिया। पेशवा माधवराव के समय की एक घटना बहुत प्रसिद्ध है। कुछ व्यवहार-बुद्धि-शून्य कोरे शास्त्रियों ने पेशवा को परामर्श दिया कि वह ब्राह्मण हैं, इस कारण उन्हें अपने दिन का अधिक भाग पूजा-पाठ में व्यतीत करना चाहिए। माधवराव के मन में यह परामर्श समा गया और उसने सार्वजनिक कार्यो का समय घटाकर पूजा-पाठ का समय बढ़ा दिया। रामशास्त्री को यह बात अच्छी नहीं लगी। वह एक दिन पेशवा से मिलने गये, तो पेशवा को पूजा-पाठ में व्यस्त पाया। घर जाकर रामशास्त्री ने पेशवा से कह दिया कि मेरा अब नौकरी करने का विचार नहीं है, इस कारण मुझे बनारस जाकर तपश्चर्या करने का अवसर दिया जाय। जब माधवराव ने इस प्रस्ताव पर आश्चर्य प्रकट किया तो रामशास्त्री ने उत्तर दिया कि यदि पेशवा होकर तुम सारा दिन पूजा-पाठ में व्यतीत कर सकते हो, तो मुझे अब सन्यास ले लेना चाहिए और उचित तो यह है कि तुम भी मेरे साथ चलकर बनारस में तपश्चर्या करो। इस कथन में जो भर्त्सना थी, उसे माधवराव ने समझ लिया, और शासन-कार्य पर अधिक ध्यान देने लगा।

नारायणराव पेशवा की हत्या के पश्चात् रामशास्त्री की कठोर अग्नि-परीक्षा हुई। उससे पूछा गया कि हत्या के अपराधी को क्या दण्ड दिया जाय, हत्या का दोषी रघुनाथराव को माना जाता था, और उसके हाथ में सम्पूर्ण शक्ति आ गई थी। रामशास्त्री ने निर्भीकता से यह व्यवस्था दी कि नारायणराव के हत्यारे को मृत्यु-दण्ड देना चाहिए, और स्वयं न्यायाधीश की गद्दी छोड़कर पाण्डववाड़ी में जाकर बसने लगे, क्योंकि पापी के राज्य का हिस्सेदार बनना भी मनुष्य को पापी बनाता है। जब पूना की बाग़डोर नाना फड़नवीस के हाथ में आई, तब उसने रामशास्त्री को आग्रह और आदर के साथ बुलाकर फिर न्यायाधीश की गद्दी पर आरूढ़ कर दिया।

नाना फड़नवीस की राजनीति पर रामशास्त्री के न्याय का पैबन्द लग जाने से मानो सोने में सुगन्ध हो गई। नाना प्रत्येक आवश्यक कार्य में रामशास्त्री की सलाह लेता था, और रामशास्त्री को विश्वास रहता था कि उसके न्यायपूर्ण परामर्श का आदर किया जायगा। उस समय महाराज शिवाजी द्वारा स्थापित की हुई जो न्याय-प्रणाली प्रचलित थी, वह अंग्रेजी न्यायालयों की तरह विधि-विधानों से बँधी हुई न होने पर भी पचायत-प्रथा पर अवलम्बित होने के कारण प्रजा के लिए अत्यन्त सन्तोषप्रद और सुविधाजनक थी। सम्पूर्ण न्याय-विभाग का संचालन न्यायाधीश के अनुशासन से होता था। नाना फड़नवीस के शासन की सफलता के जहाँ अन्य अनेक कारण थे, वहाँ रामशास्त्री जैसे न्यायाधीश का होना एक मुख्य कारण था। रामशास्त्री का नाम मराठाशाही के इतिहास में स्वर्णाक्षरों से लिखा जाने योग्य है।

छब्बीसवाँ अध्याय

माधवराव सीन्धिया

१८वीं शताब्दी में भारत के राजनीतिक रंगमंच पर जो नाटक खेला जा रहा था, उसका वर्णन पूरा नहीं होगा यदि हम माधवराव सीन्धिया का संक्षिप्त जीवन-वृत्तान्त पाठकों को न सुनायें। माधवराव सीन्धिया, जिसे माधोजी के नाम से भी पुकारा जाता था, अपने समय का एक प्रतिनिधिरूप व्यक्ति था। ऐसे उथल-पुथल के समयों में मिट्टी को सोना और सोने को मिट्टी बनते देर नहीं लगती। माधोजी की उम्र छोटी थी, परन्तु शक्तियाँ बड़ी थीं। उनके प्रयोग से माधोजी ने अपने प्रभाव को इतना फैलाया कि उसकी प्रतिक्रिया दिल्ली से लेकर पूना और कलकत्ते तक अनुभव की जाने लगी। माधोजी कूटनीति और युद्ध-कला की दृष्टि से महापुरुष था, परन्तु वह उस काल की एक कुप्रवृत्ति से ऊँचा उठा हुआ नहीं था। स्वार्थ पहले और देशहित या राष्ट्रहित पीछे—यह उस समय की कुप्रवृत्ति थी, जिससे लाभ उठाकर अंग्रेजों ने भारत के सब शक्तिशाली व्यक्तियों के सिर कुचल दिये। माधोजी सीन्धिया उस कुप्रवृत्ति से ओत-प्रोत था। उसकी जीवन-गाथा पढ़कर मुँह से यही शब्द निकलते हैं कि 'काश कि माधवराव के हृदय में राष्ट्रहित की वह ज्वाला जल रही होती, जो नाना फड़नवीस के हृदय में जल रही थी।



माधोजी सीन्धिया

माधवराव का पिता रानोजी सीन्धिया पेशवा बालाजीराव का अर्दली था। उसका काम पेशवा के जूते सँभालना था। वह काम में इतना तत्पर और सावधान था कि पेशवा उससे प्रसन्न हो गये और सेना में ऊँचे पद पर प्रतिष्ठापित कर दिया। सेना में भी रानोजी ने बहुत सन्तोषजनक कार्य किया, फलतः जब मालवा को जीतकर पेशवा ने उसे दो हिस्सों में विभक्त कर दिया तो ग्वालियर का सूबेदार रानोजी को बना दिया। ग्वालियर के राजवंश का प्रथम पुरुष रानोजी सीन्धिया विप्लव-काल में मिट्टी से सोना बनने वाले व्यक्तियों का एक उत्कृष्ट नमूना था।

माधवराव रानोजी का जारज पुत्र था। रानोजी की मृत्यु के पश्चात् थोड़े ही दिनों में उसके औरस पुत्र भी मर गये। फलतः ग्वालियर की सूबेदारी माधवराव को प्राप्त हो गई। पानीपत की लड़ाई में ग्वालियर की सेना ने माधवराव के नेतृत्व में ही भाग लिया

था। उस खण्ड प्रलय में से जो भाग्यशाली मराठे सरदार जीवित बच गये, उनमें से नाना फड़नवीस और माधोजी भी थे। माधोजी के प्राण तो बच गये, परन्तु वह लँगड़ा हो गया। उसके शत्रु प्रायः 'लँगड़ा माधोजी' कहकर उसका अधिक्षेप किया करते थे। अपने देशवासियों से जारज होने के कारण उसका अपमान होता रहता था। इन दो न्यूनताओं के होते हुए भी माधोजी ने अपने भावी जीवन में जो सफलता प्राप्त की, उसका कारण यह था कि वह कूटनीति और युद्धनीति—दोनों में ही बहुत कुशल था।

मराठा संघ जिन चार स्तंभों पर खड़ा था, उनमें सीन्धिया और होल्कर ये दो प्रमुख थे। शेष दो गायकवाड़ और भोंसला थे। पूना का सिहासन मुख्य रूप से इन चार स्तम्भों पर ही खड़ा हुआ था। पेशवा का मुख्य काम सब मराठा-शक्तियों का केन्द्रीकरण था। हम देख आये हैं कि अंग्रेज़ों की कूटनीति उन स्तम्भों को हिलाने में सफल हो रही थी। गायकवाड़ अंग्रेज़ों का मित्र बन चुका था, सीन्धिया पर वारन हेस्टिंग्ज़ का जाल बिछ रहा था, और भोंसली पर जादू की लकड़ी घुमाई जा रही थी। चारों स्तम्भों में से इस समय जिसका महत्त्व सबसे अधिक बढ़ रहा था, वह था माधवराव सीन्धिया।

माधवराव ने अपनी शक्ति का हाथ बहुत दूर तक फैला लिया था। अहमदशाह अब्दाली के भारत से चले जाने के पश्चात् मुग़ल बादशाह की स्थिति बहुत निर्बल हो गई। कठपुतली में तार के सहारे नाचने की शक्ति रहती है, मुग़ल बादशाह में वह भी नहीं रही थी।

अब्दाली भारत से जाता हुआ दिल्ली का प्रबन्ध नजीबुद्दौला के हाथ में दे गया था। बादशाह की गद्दी का उम्मीदवार शाहआलम प्राणों की गठरी सँभालकर पहले अवध के नवाब की शरण में गया, और जब नवाब को बकसर की लड़ाई में अंग्रेज़ों ने परास्त कर दिया तो वह इलाहाबाद जाकर अंग्रेज़ों का आश्रित बन गया। उन दिनों दिल्ली में नजीबुद्दौला का ही दौर-दौरा रहा।

यह परिस्थिति थी, जब मराठों की एक बड़ी सेना ने उत्तर विजय के लिए चम्बल नदी को पार किया। पेशवा पानीपत की पराजय को भूले नहीं थे, और उसका परिशोध लेना चाहते थे। मराठा सेना में कई बड़े-बड़े मराठा सरदार थे। सेनापति विसाजी कृष्ण बिनीवाला के अतिरिक्त तुकोजी होल्कर और माधोराव सीन्धिया भी थे।

मराठा सेनाएँ राजपूतों और जाटों के विरोध का दमन करती हुई दिल्ली के समीप पहुँच गईं। उस समय दिल्ली की बाग़डोर नजीबुद्दौला के हाथ में थी। वह मराठों से डर गया और उसने सुलह का पैग़ाम भेज दिया। वह पैग़ाम स्वीकार करके मराठा सेनापति दक्षिण को वापिस चला गया और रुहिल्ला सरदारों को पानीपत मे अब्दाली का साथ देने का दण्ड देने के लिए होल्कर और सीन्धिया को खुली छुट्टी दे दी गई। उन दोनों सरदारों ने रुहेलखण्ड के शासकों तथा पठान-निवासियों से पानीपत का बहुत भयानक बदला लिया। वह उस समय के इतिहास का एक काला पृष्ठ है, जिसे पूरा खोलना अनावश्यक है। दोनों सरदार जीतते हुए इटावा तक पहुँच गये, जिससे आस-पास के इलाके पर उनका

पूरा अधिकार हो गया ।

इतनी सफलता प्राप्त करके सीन्धिया के हृदय मे पूर्ण सफलता उपलब्ध करने का वलवला उत्पन्न हुआ । उसने दिल्ली के सिंहासन को अपने प्रभाव-क्षेत्र में लेने का निश्चय किया। दिल्ली की गद्दी का अधिकारी शाहआलम उन दिनो इलाहाबाद मे अंग्रेज़ों का शरणागत बन कर रह रहा था। वह दिल्ली जाने से डरता था। सीन्धिया ने अपने दूतों द्वारा उसे आश्वासन दिया कि यदि वह अंग्रेज़ो की संरक्षा छोड़कर मराठों की शरण मे आ जायगा तो वे उसे लाल क़िले की गद्दी पर प्रतिष्ठित कर देंगे ।

इसके पीछे सीन्धिया ने शतरंज का खेल शुरू किया । उसके दूत शाहआलम को सब्जबाग़ दिखाकर अंग्रेज़ों के पंजे से निकाल ले गये, और शाहआलम मराठा सिपाहियों की छाया में दिल्ली के सिंहासन पर जा बैठा । इधर सीन्धिया ने डी० वायने नामक एक फ्रेंच सिपाही को अपनी सेनाओ के शिक्षण के लिए नियुक्त कर लिया, जिसने बड़ी चतुराई से एक ऐसा दस्ता तैयार कर दिया, जिसके कारण सीन्धिया के सैन्य-दल का दबदबा बहुत बढ गया। शक्ति और सफलता डाह की जननी है । मुग़ल बादशाह पर प्रभुत्व जमाकर सीन्धिया ने भी बहुत से शत्रु उत्पन्न कर लिये । एक ओर से राजपूत राजा, और दूसरी ओर से मुसलमान सरदार उसके प्रभुत्व को तोड़ने मे लग गये । यह संघर्ष लगभग १५ वर्षो तक चलता रहा, जिसके अन्त में माधवराव सीन्धिया यहाँ तक सफल हो गया कि उसने मुग़ल बादशाह से पेशवा के लिए वकीले-मुतालिक की सनद प्राप्त कर ली । इस सनद का अभिप्राय यह था कि मुग़ल बादशाह ने पेशवा को दक्षिण मे अपना सर्वोच्च अधिकारी स्वीकार कर लिया । यद्यपि मुग़ल बादशाह इतना शक्तिहीन हो गया था कि उसकी राजसत्ता दिल्ली तक परिमित हो गई थी, और वह भी नाममात्र की थी, तो भी उसका सिक्का चलता था । देश के सभी शासक उसकी सनद प्राप्त करने में अपना गौरव मानते थे ।

मराठों ने शाहआलम पर अपनी संरक्षा का जो हाथ रखा, उसके बदले में उन्होंने इलाहाबाद और एटा के जिलों की मालगुज़ारी का अधिकार प्राप्त कर लिया ।

इस प्रकार, बुद्धि और युद्ध-कौशल की सहायता से माधवराव सीन्धिया ने भारत की राजनीति में बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त कर लिया । यदि वह इस उपलब्ध शक्ति का उपयोग मराठा राज्य की सजसत्ता को देशव्यापी बनाने मे नाना फड़नवीस का हाथ बंटाने में लगाता तो सम्भवत भारत के इतिहास का रौ ही बदल जाता, परन्तु माधोजी में सबसे बड़ा दोष यही था कि उसके हृदय की मुख्य भावना का केन्द्र देश या राष्ट्र नहीं था, अपितु स्वय माधोजी सीन्धिया था । वह आत्मपरायण व्यक्ति था । मुग़ल सम्राट् से प्राप्त की हुई सनद से भी उसने अपना उल्लू सिद्ध करने का यत्न किया । उसने पेशवा से यह अनुमति प्राप्त कर ली कि वह स्वयं पूना में उपस्थित होकर मुग़ल सम्राट् द्वारा दी हुई सनद को पेशवा की सेवा में भेंट करे । इसमें माधोजी का मुख्य लक्ष्य यह था कि वह नवयुवक पेशवा सवाई माधवराव पर से नाना फड़नवीस का प्रभुत्व हटाकर अपने जादू का जाल फैलाये । सनद पेश करने का उत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया गया । जब सीन्धिया पेशवा से भेंट करने गया तब डेरे से

दूर ही हाथी पर से उतर गया, और पेशवा का सामना होने पर, नाटकीय ढंग से बगल में से निकालकर एक जूते का बहुमूल्य जोड़ा पेशवा के पाँव में पहिनाते हुए बोला कि 'मेरे पिता पेशवा के पाँव में जूता पहिनाने का काम करते थे, मेरा भी वही काम होगा।' उत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया गया। सनद देते समय सम्राट् का जो घोषणा-पत्र पढ़ा गया उसमें शाहआलम में भारत भर में गौओं और बैलों की हत्या पर रोक लगा दी थी।

सीन्धिया की चाल बहुत गहरी थी, परन्तु नाना की समझ उससे भी गहरी थी। नाना ने जब देखा कि सीन्धिया का प्रधान लक्ष्य मराठा राज्य की सत्ता को बढाना नहीं है; अपितु अपनी सभा को बढ़ाना है, तब उसने सीन्धिया की शतरंजी चालों को व्यर्थ बनाने का यत्न आरम्भ किया। यह हम देख ही चुके हैं कि पहले अंग्रेज़ मराठा युद्ध में सीन्धिया से पूना की हुकूमत को धोखा मिल चुका था। अब सीन्धिया के प्रभाव को घटाने के लिए नाना फड़नवीस ने दो काम किये। एक तो इन्दौर के तुकोराव होल्कर को पीठ ठोंककर खड़ा किया कि वह सीन्धिया को आत्मरक्षा के लिए लाचार करे, और दूसरे उसने पेशवा सवाई माधवराव की आँखें खोलने के लिए राज्य की दशा का चित्र उसके सामने खेंचा, और अपने द्वारा की गई सेवाओं का निर्देश किया। माधोजी भी सचेत था। उसने होल्कर के आक्रमण को व्यर्थ कर दिया, और स्थायी रूप से पूना के शासन पर अपनी सत्ता क़ायम करने के लिए राजधानी के समीप ही डेरा जमा दिया।

यदि संघर्ष अधिक देर तक चलता तो न जाने क्या परिणाम होता? नाना विजयी होता या सीन्धिया? मराठा राज्य उसी समय नष्ट-भ्रष्ट हो जाता या कुछ समय तक सिसकता रहता? मानो इन सब आशंकाओं का निवारण करने के लिए विधाता ने अपना हाथ डाल दिया। १७९४ के फरवरी मास में तीव्र ज्वर के कारण प्रौढ़ावस्था में माधवराव सीन्धिया के घटनापूर्ण और होनहार जीवन का अन्त हो गया।

माधवराव सीन्धिया अपने समय का अन्यतम महापुरुष था। कमी इतनी ही थी कि उसमें राष्ट्र-भक्ति की भावना निर्बल और आत्म-भक्ति की भावना प्रबल थी। उसकी इस एक निर्बलता ने उसे परोक्ष रूप में मराठा राज्य का छुपा शत्रु और अंग्रेज़ी सरकार का खुला मित्र बना दिया।

सत्ताईसवाँ अध्याय

निज़ाम पर विजय

माधवराव सीन्धिया की मृत्यु से नाना फड़नवीस की शासन-सत्ता अप्रतिहत हो गई। मराठा राज्य के संचालन में उसका कोई प्रतिद्वन्द्वी न रहा। शिवाजी के वंशज छत्रपति महाराज सितारा में विश्राम कर रहे थे। शासन-कार्य में उनका कोई दखल नहीं था। इनका प्रधान मन्त्री पेशवा माधवराव नारायण अभी नवयुवक होने के साथ-साथ रोगी भी था। उसका स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता था। पेशवा परिवार में क्षय के जो परमाणु घुस गये थे, वह उनसे मुक्ति नहीं पा सका था। रघुनाथराव की मृत्यु हो चुकी थी, और उसके पुत्र बाजीराव और चिमनाजी नज़रबन्द थे। आनन्दी बाई का गोद लिया पुत्र अमृतराव भी उसके साथ ही क़िले में बन्द था। इस प्रकार १७९४ के अन्तिम भाग में हम नाना फड़नवीस को मराठा राज्य के अद्वितीय शासक के रूप में पाते हैं। क़ानून की दृष्टि से वह पेशवा के प्रतिनिधि के स्थान पर कार्य कर रहा था, परन्तु वस्तुत: वही राज्य का भाग्य-विधाता था।

नाना ने ऐसे सुअवसर से राज्य के लिए पूरा लाभ उठाने का निश्चय किया। मराठा राज्य का पड़ोसी और शाश्वत विरोधी निज़ाम कुछ दिनों से बहुत उग्र हो रहा था। मराठा राज्य के आन्तरिक झगड़ों से अवसर पाकर उसने उन सब वायदों को तोड़ डाला था, जो मराठा सैन्य से परास्त होकर किये थे। फलत: चौथ और सरदेसमुखी की एक बहुत बड़ी राशि उसकी ओर खड़ी हो गई। १७९१ में नाना फड़नवीस ने गोविन्दराव काले और गोविन्दराव पिंगले को अपना दूत बनाकर हिसाब-किताब चुकाने के लिए हैदराबाद भेजा। हैदराबाद के शासक निज़ाम अली का दिमाग़ उन दिनों हवा में चक्कर काट रहा था। उसने एक फ्रांसीसी सिपाही को अपनी सेनाओं के शिक्षित करने के लिए नियुक्त कर लिया था, जिसने ५ सहस्र सिपाहियों को अंग्रज़ी ढंग पर सुशिक्षित और नियन्त्रित कर दिया। निज़ाम के दिमाग़ में इन पाँच हज़ार सिपाहियों की ऐसी हवा भर गई कि वह सब सावधानताओं को तिलांजलि देकर मराठों से लोहा लेने पर उतारू हो गया। वह तो था ही, उसका दीवान उससे भी चार क़दम आगे बढ़ गया था। जब नाना फड़नवीस ने निज़ाम को यह कहलाया कि हमारी बची हुई राशि अदा करो तो उसने नया हिसाब बनाकर यह दावा किया कि मराठा राज्य उसका ढाई-तीन लाख रुपयों का देनदार है। जब इस हिसाब की भूल बतलाई गई तो मशीरुल मुल्क ने भरे दरबार में घोषणा की कि यदि नाना फड़नवीस को हमारे हिसाब के बारे में कुछ कहना है तो वह हजूर निज़ाम के दरबार में हाज़िर हो, और यह भी कहा कि अगर नाना स्वयं यहाँ न आयगा, तो उसे घसीटकर लाया जायगा।

यह उद्धत उत्तर पाकर गोविन्दराव युगल पूना लौट गया, और सब वृत्तान्त सुनाया। इस पर दोनों ओर युद्ध-सज्जा होने लगी। मशीरुल मुल्क ने युद्ध की सम्भावना पर हर्ष प्रकट

करते हुए कहा कि यह तो बहुत अच्छा होगा, क्योंकि मुग़ल बादशाह मराठा सरदारों के चंगुल से निकल जायगा, हम बीजापुर और खानदेश को वापिस ले लेंगे, और मराठों को तब तक चैन से नहीं बैठने दिया जायगा जब तक पेशवा, कमर में धोती और हाथ में लोटा लेकर और बनारस जाकर गंगातट पर माला नहीं फेरने लगेगा।

नाना फड़नवीस ने युद्ध को अवश्यम्भावी समझकर पूरे मनोयोग से तैयारी आरम्भ कर दी। प्रायः सभी मराठा सरदार अपनी-अपनी सेनायें लेकर पूना पहुंच गये। आपस के सब मतभेद राष्ट्रीय-संकट की आग में जला दिये गये, और सीन्धिया और होल्कर, गायकवाड़ और भोंसले जैसे परस्पर विरोधी नेता नाना फड़नवीस की ललकार पर मराठा राज्य की रक्षा के लिए एकत्र हो गये। संयुक्त मराठा सैन्य का सेनापतित्व परशराम भाऊ पटवर्धन को सौंपा गया।

युद्ध और उसके परिणाम का संक्षिप्त और सुन्दर वर्णन उस खरीते में मिलता है, जो पेशवा माधवराव नारायण के हस्ताक्षरों से छत्रपति महाराज को पूना से भेजा गया था। यह पत्र नाना फड़नवीस के हाथ का लिखा हुआ था, जो अब तक सुरक्षित है। पत्र में युद्ध का निम्नलिखित वृत्तान्त दिया गया है—

"......हमने निज़ाम को बहुत समझाया, कि वह झगड़े को न बढ़ाये, परन्तु उसने नहीं माना। उसकी सेना ने मोहरियार को पार करके खार की ओर प्रयाण कर दिया। शत्रु की इस प्रगति को देखकर उससे लड़ने के लिए हमने परशराम रामचन्द्र और रामचन्द्र हरि के नेतृत्व में हज़ूर की सेना की एक टुकड़ी रवाना की। (आगे कुछ अन्य सेनानियों और उनकी सेनाओं का निर्देश है जिन्हें युद्ध-क्षेत्र मे आगे भेजा गया) हमारी सेनाओं ने खार से चार कोस की दूरी पर डेरा लगाया। नवाब की सेना का एक दस्ता आक्रमण के लिए आगे बढ़ा। दोनों ओर से गोलाबारी होने लगी। इस पर नवाब ने खार को लाँघ लिया और परांदे की ओर प्रगति की। हमारी सेनाओं ने उनका डटकर सामना किया। यह देखकर नवाब की सेनाओं ने परांदे की ओर बढ़ना बन्द कर दिया, और हमारी सेनाओं पर सीधा हमला कर दिया। संग्राम आरम्भ हो गया। दिन के तीन बजे तक तोपों से गोलाबारी होती रही। इस अवसर पर हज़ूर की सेनाओं ने नवाब की सेनाओं की प्रगति रोकने और सामने-सामने की लडाई में बड़ी वीरता दिखाई, जिससे नवाब की सेनायें भाग निकलीं। महाराज की सेना विजयी हुई। नवाब की सेना में घायलों और मृतकों की संख्या बहुत अधिक है। उनमें उसके दो-चार मुख्य सरदार भी हैं। बहुत तोपें, ढोल और ऊँट हमारे हाथ आये हैं। शत्रु की सेना लूट ली गई है। हमारी सेना के कुछ आदमी और घोड़े घायल हुए हैं। परशराम रामचन्द्र के शरीर में तलवार का हल्का-सा घाव लगा है। हुजूर की सेनाओं के अतिरिक्त भोंसले जीवाजी वल्लाल सीन्धिया और होल्कर की सेनाओं ने भी बहुत प्रशंसनीय कार्य किया। इसके पश्चात् नवाब की सेना ने खरडा के क़िले में आश्रय ले लिया। हमने वहाँ उनका पीछा करके चारों ओर से घेरा डाल दिया। इस पर लाचार होकर उन्होंने सुलह की प्रार्थना की। उसका वजीर मोनुद्दौला नवाब को छोड़कर हमारे डेरे पर आ गया।

यदि हम चाहते तो उस समय नवाब की सेना का सर्वनाश कर सकते थे, परन्तु पुरानी मित्रता के विचार से हमने उससे सन्धि करली। उस सन्धि द्वारा नवाब से हमें २० लाख रुपयों की जागीर के अतिरिक्त दौलताबाद का क़िला प्राप्त हुआ है। वह पुरानी सारी देय रक़म तो अदा करेगा ही। नवाब घर को लौट गया, और हम सेना के साथ क्रमशः पड़ाव करते हुए पूना लौट आये।"

यह खरड़ा के युद्ध का संक्षिप्त और प्रामाणिक वर्णन है। इतिहास-लेखकों के लिए यह एक पेचीदा समस्या है कि नवाब की विलायती ढंग पर शिक्षित सेना और बड़े-बड़े सूरमों की मण्डली मराठा सेना की टक्कर में आकर रेत की दीवार की भाँति कैसे बिखर गई? असल बात यह है कि निज़ाम अली न दूरदर्शी शासक था और न शूर योद्धा ही। यदि चढ़ती जवानी में कुछ बहादुर था भी, तो प्रभुता और विलासिता ने उसे क्षीण कर दिया था। अब उसमें केवल अकड़ शेष थी, शक्ति नष्ट हो गई थी। उधर मशीरुल-मुल्क जैसे सलाहकारों ने उसे अड्डे पर चढ़ाकर युद्ध में धकेल दिया, इस कारण मराठों की सम्मिलित शक्ति की टक्कर लगते ही वह मिट्टी के ढेले की तरह चूर-चूर हो गया।

मराठों को सफलता मिली, उसका मुख्य श्रेय नाना फड़नवीस को ही मिलेगा। क्योंकि उसी दूरदर्शी नीतिज्ञ की उत्कृष्ट नीति का परिणाम था कि छत्रपति शिवाजी का बनाया हुआ युद्ध-सूत्र एक केन्द्र में संगठित होकर शत्रुओं के विरोध में खड़ा हो सका। इतिहास-लेखकों ने खरड़ा की सफलता को सयुक्त मराठा सैन्य की सबसे बड़ी सफलता बतलाया है। सन्धि की शर्तों को देखें तो इसमें कोई सन्देह नहीं रहता कि वह सफलता सर्वथा पूर्ण थी। सन्धि की शर्तें निम्नलिखित थीं—

(१) दौलताबाद का क़िला, और ताप्ती नदी से लेकर परिन्दा के क़िले तक का प्रदेश पेशवा को दिया जायगा।

(२) ३ लाख की आय का प्रदेश रघुजी भोंसला को प्राप्त होगा।

(३) निज़ाम ने वायदा किया कि वह पेशवा को हर्जाने और पुरानी चौथ की राशि के रूप में ३ करोड़ रुपये और राघोजी भोंसला को २९ लाख रुपया देगा।

नाना फड़नवीस ने निज़ाम से यह माँग की कि युद्ध के मुख्य अपराधी मशीरुल-मुल्क को मराठों के अर्पण कर दिया जाय। निज़ाम ने यह स्वीकार कर लिया। किसी एक युद्ध की सफलता इससे आगे नहीं जा सकती। हम कह सकते हैं कि खरड़ा की विजय के समय मराठाशाही का सितारा आकाश की मध्य ऊँचाई तक पहुँच गया था।

अट्ठाईसवाँ अध्याय

मराठा राज्य में गृह-युद्ध

यह हमारे देश का दुर्भाग्य था कि खरड़ा की जीत बुझते हुए दीपक की अन्तिम लौ के समान मराठा संघ की अन्तिम जीत ही सिद्ध हुई। उसके पश्चात् एक ऐसा धूम्रकेतु उदित हुआ जिसने मराठा राज्य के दुर्ग की नींव तक हिला दी। ऐसा घटनाचक्र चला कि रघुनाथराव का पुत्र बाजीराव, पेशवा की गद्दी पर बैठकर छत्रपति श्री शिवाजी द्वारा स्थापित साम्राज्य का राहु बन गया।

हम बतला आये हैं कि सल्बाई में अंग्रेजों और मराठों से जो सन्धि हुई थी उसमें रघुनाथराव को अपने निवास-स्थान के चुनाव का अधिकार देकर एक प्रकार से राजबन्दी बना दिया गया था। उसने रहने के लिए कोपर गाँव को पसन्द किया और अपनी पत्नी आनन्दी बाई, अपने पुत्र बाजीराव और गोद लिये पुत्र अमृतराव को साथ लेकर कोवर गाँव में रहने लगा। उसी स्थान पर १७८३ के अन्त में उसका देहावसान हो गया। अगले वर्ष मार्च में आनन्दी बाई ने चिम्ना जी को जन्म दिया। १७९२ के अक्तूबर मास में राज्य द्वारा आनन्दी बाई को नासिक के समीप आनन्दबल्ली नामक ग्राम में ले जाकर रखा गया। १७९४ में आनन्दी बाई की मृत्यु हो गई, जिसके पश्चात् बाजीराव, अमृतराव और चिम्नाजी को नाना फड़नवीस की आज्ञा से शिवनेर के क़िले में पहुँचा दिया गया, जहाँ वे कड़ी देखरेख में पलने लगे।

खरड़ा की विजय के समय बाजीराव की आयु उन्नीस वर्ष की थी। वह देखने में सुन्दर था, स्वस्थ था, और चतुर था। यह प्रसिद्ध था कि वह जैसा ही विद्वान् है—वैसा ही कुशल योद्धा है। जनता में उसकी खड्ग चलाने की योग्यता की कथायें ऐसे प्रसिद्ध थीं, जैसे महाभारत के वीरों की हैं। यह अनुभवसिद्ध सत्य है कि जिसके हाथ में शासन की बागडोर है, वह चाहे दूध का धुला हो, तो भी कुछ समय पीछे उसके शत्रु बढ़ जाते हैं, और जो राज्य का बन्दी हो—वह यदि दोषों की खान हो तो भी उसके प्रति जनता की सहानुभूति हो जाती है। बाजीराव तो फिर रघुनाथराव जैसे प्रसिद्ध नेता का पुत्र था। महाराष्ट्र में रघुनाथराव के समर्थकों की कमी नहीं थी। फिर बाजीराव युवा था, सुन्दर था और चतुर था। यह स्वाभाविक ही था कि सर्वसाधारण में यह भावना उत्पन्न हो जाती कि रघुनाथराव के पुत्रों पर अत्याचार हो रहा है और नाना फड़नवीस अत्याचारी है।

इसके साथ ही एक दुर्भाग्यपूर्ण बात यह हुई कि पेशवा सवाई माधोराव का शरीर और मन दोनों ही निर्बल थे। वह पैतृक क्षय रोग के प्रभाव से ऊपर नहीं उठ सका। यदि नाना जैसा शक्तिशाली और दूरदर्शी मन्त्री राज्य को सँभालने वाला न होता तो मराठा राज्य बहुत पहले ही नष्ट हो गया होता। माधवराव का रोग बढ़ता गया, यहाँ तक कि वह

राज्य के आयोजनों में भाग लेने में भी अशक्त हो गया। १८१५ के आश्विन मास में दसहरे के महोत्सव में भाग लेने के लिए माधवराव ने बड़े साहस का काम किया कि रोग-शय्या से उठकर खड़ा हो गया। प्रातःकाल स्नान तथा पूजन से निवृत्त होकर उसने सेनाओं का निरीक्षण किया। विदेशी राजदूतों से मुलाक़ात की, और दान-पुण्य किया। सायंकाल के समय राजधानी में विजयदशमी का जलूस निकला। सजे हुए हाथी पर आरूढ़ होकर माधवराव ने उसमें भाग लिया। इस प्रकार बेचारे रुग्ण पेशवा ने अपने कर्तव्य का पालन करने का यत्न किया, परन्तु निर्बल शरीर उस असह्य बोझ को सह न सका। जलूस को बीच में ही रोककर माधवराव को हाथी से उतर जाना पड़ा। उसे ज्वर हो गया था। दो दिन पश्चात् तीसरे दिन जब वह कुछ सावधान हुआ तो एक ऐसी अघटित घटना घट गई, जिसने मराठा राज्य के प्रवाह का रुख़ ही मोड़ दिया वह दूसरी मंजिल की एक अटारी में लेटा हुआ था। जब उठकर दूसरी जगह जाने लगा तब उसके पाँव डगमगा गये, और वह छत से नीचे फ़र्श पर बने हुए फव्वारे में गिर गया, जिससे उसका सारा शरीर आहत हो गया। तीन दिन तक कठोर वेदना में तड़पकर सवाई माधवराव ने २५ अक्तूबर १७९५ के दिन अपने अनन्य बन्धु बाबूराव फड़के की गोद में प्राण दे दिये। मृत्यु के समय, माधवराव ने जो अन्तिम इच्छा प्रकट की वह यह थी कि "मेरे पीछे पेशवा के आसन पर मेरे भाई बाजीराव को बिठाया जाय।"

बाजीराव को पेशवा बनाने के पक्ष में कई शक्तियाँ इकट्ठी हो गई थीं। लोकमत की बात हम पहले बता आये हैं। नाना फड़नवीस स्वभावतः अपने मुख्य विरोधी रघुनाथराव और आनन्दी बाई के पुत्र को राज्य के सर्वोच्च आसन पर नहीं बिठाना चाहता था। मराठा संघ के जो सदस्य नाना से असन्तुष्ट थे, उनका प्रमुख माधवराव सीन्धिया का उत्तराधिकारी दौलतराव सीन्धिया और उसके हमजोली नाना के हाथ से शक्ति छीनने का सबसे सरल उपाय यह समझते थे कि बाजीराव को पेशवा की गद्दी पर बिठा दिया जाय। माधवराव की मृत्यु के समय कहे हुए शब्दों ने बाजीराव के पक्षपातियों की युक्ति को मानों अकाट्य बना दिया। नाना यथार्थ द्रष्टा नीतिज्ञ था। उसने वस्तुस्थिति को पहिचानकर अपनी विरोधी भावना को दबा लिया, और स्वयं बाजीराव को शिवनेर के दुर्ग से मुक्त करने का आदेश दे दिया। कुछ सरदारों की ओर से नाना की इस चाल का विरोध हुआ, परन्तु उसे दबा दिया गया और अन्त में वह दिन आ गया जब रघुनाथराव का पुत्र मराठा संघ का भाग्य-विधाता बन गया।

नये राज्य के प्रधानामात्य के पद पर नाना फड़नवीस ही प्रतिष्ठित हुए, परन्तु यह बात प्रारम्भ से ही स्पष्ट हो गई थी कि परिस्थिति की बाग़डोर पर उनका हाथ ढीला ही रहेगा। बाजीराव दिल में नाना से शत्रुता रखता था और उसके प्रभाव को कम करने के उपाय ढूंढ़ता रहता था। इसी उद्देश्य से उसने सीन्धिया की शक्ति को बढ़ाने का यत्न आरम्भ कर दिया। नाना को स्वभावतः यह बात बुरी लगी। इधर राज्य में अव्यवस्था और अशान्ति का दौरदौरा हो रहा था। बाजीराव अनुभवहीन था, नाना के हाथों को निर्बल कर दिया

गया था, फलतः राज्य में बेचैनी फैल गई।

अन्त में बाजीराव और सीन्धिया ने नाना को मुलाक़ात के लिए बुलाकर कैद करने का षड्यन्त्र बनाया, परन्तु यह सर्वसम्मत बात है कि नाना का गुप्तचर विभाग बहुत ज़बर्दस्त था। नाना को षड्यन्त्र की सूचना मिल गई। वह बहुत दिनों तक तो टालता रहा, परन्तु अन्त में बाजीराव के वायदों और आश्वासनों के चक्कर मे आकर फँस गया, और कई सहायकों के साथ बन्दी बनाकर अहमदनगर में कैद कर दिया गया।

अब राज्य की सारी शक्ति सीन्धिया के हाथ में आ गई। उसका मुख्य लक्ष्य धन इकट्ठा करना था। बाजीराव ने धन देने में असमर्थता प्रकट की, इस पर सीन्धिया की सलाह से सखराम घटके नाम के एक व्यक्ति को प्रजा से धन ऐंठने के लिए दीवान नियुक्त कर दिया गया। घटके बहुत ही कठोर और निर्दय व्यक्ति था। उसने पूना में नादिरशाही मचा दी। जिनके बारे में यह समझा जाता था कि वे धनी हैं, उन्हें बन्दी बनाकर मारा-पीटा जाता था, और धन उगलने को कहा जाता था। त्र्यम्बकराव पर्चुरे कुछ दिन पहले तक राजमन्त्री था। उससे ७ लाख रुपया माँगा गया था। वह बेचारा बड़ी कठिनाई से ५ लाख दे सका। उसके पश्चात् उसे पूना से निकल जाने की आज्ञा दी गई। वह बनारस के लिए चल पड़ा, परन्तु दुःख और लज्जा के कारण वह रास्ते में ही मर गया। अप्पा बलवन्त से सीन्धिया ने १० लाख रुपये माँगे। वह इतनी बड़ी राशि देने में असमर्थ था, इस कारण अत्याचारों के भय से उसने आत्महत्या कर ली। तीन ब्राह्मणों को इस कारण पीट-पीट कर मार दिया गया कि नाना की कल्पित सम्पत्ति उनकी संरक्षा में थी। इन क्रूर कर्मों का परिणाम यह हुआ कि प्रजा में और सरदारों में असन्तोष की अग्नि भड़क उठी। बाजीराव भी घबरा गया, और सीन्धिया से पिण्ड छुड़ाने के उपाय सोचने लगा। छोटे-मोटे उपाय से सीन्धिया जैसे महाग्राह से पिण्ड छूटना कठिन था, इसलिए उसने नाना फड़नवीस को अहमदाबाद के क़िले से मुक्त कर दिया।

इधर सीन्धिया ने पुष्कल धन एकत्र कर लिया था, और उसके अपने घर में फूट पड़ गई थी। माधवराव सीन्धिया की विधवायें दौलतराव के व्यवहार से असन्तुष्ट होकर विद्रोही बन गई थीं। इन कारणों से सीन्धिया नाना के हाथ में शासन की बाग़डोर देकर स्वयं अपना घर संभालने में लगना चाहता था। नाना ने शासन का बोझ ले तो लिया परन्तु काम इतना बिगड़ चुका था कि उसे सँभालना वयोवृद्ध और थके हुए नाना के वश की बात नहीं रही थी। यत्न करके भी वह राज्य के पुराने गौरव को वापिस न ला सका। बाजीराव की अयोग्यता और निर्बलता भी उसके मार्ग में बाधक हो रही थी। इन सब कारणों से नाना स्वय बहुत ही द्विविधा में था कि क्या करे। ऐसे संकट के समय में उस सिद्ध पुरुष को द्विविधा से बचाने के लिए मृत्यु ने अपना हाथ बढ़ा दिया। सन् १८०० के मार्च मास में नाना फड़-नवीस को अन्तिम रोग ने आ दबाया और १३ तारीख की रात्रि के समय उसका देहान्त हो गया। एक अंग्रेज़ अफ़सर के शब्दों में उसके साथ ही मराठा सरकार की सारी बुद्धिमत्ता और सुलहपसन्दी समाप्त हो गई।

उन्नसवाँ अध्याय

ब्रिटिश कूटनीति का माया-जाल

लार्ड वैल्ज़ली जिस समय गवर्नर-जनरल बनकर भारत में आया उस समय अंग्रेज़ों के राज्य-विस्तार के तीन बड़े बाधक दिखाई दे रहे थे। पहला टीपू, दूसरा निज़ाम, और तीसरा पेशवा। लार्ड वैल्ज़ली ने उन तीनों को एक दूसरे से फोड़कर परास्त करने का निश्चय किया और तदनुसार सन्धि और विग्रह की व्यवस्था की। देश की नैतिक दृष्टि से ऐसी दुर्दशा हो चुकी थी कि वैल्ज़ली को अपने प्रयत्न में पूरी सफलता प्राप्त हो गई। उसने पेशवा और निज़ाम के देखते-देखते टीपू को नष्ट कर दिया, और पेशवा को अँगूठा दिखाकर निज़ाम को बँधुआ बना लिया। दिल्ली के मार्ग रोकने वाली दो दीवारें गिर जाने पर लार्ड वैल्ज़ली ने अपनी माया का जाल पूना की ओर फैलाने का निश्चय किया। प्रारम्भ में तो नाना फड़नवीस और दौलतराव सीन्धिया की सावधानता से अंग्रेज़ों को सफलता नहीं मिली, परन्तु अन्त में घर की फूट, पेशवा की अदूरदर्शिता और नाना की असामयिक मृत्यु से लार्ड वैल्ज़ली को सफलता प्राप्त हो गई। वह बाजीराव पेशवा को अपने माया-जाल में बाँधने में कृतकार्य हो गया।

गवर्नर-जनरल का पद सँभालते ही लार्ड वैल्ज़ली ने अपने पूना के रेज़ीडेण्ट कर्नल पामर को यह आदेश दिया था कि वह पेशवा से बातचीत आरम्भ करे। प्रस्ताव यह था कि पूना और हैदराबाद के झगड़ों में गवर्नर को पंच बना दिया जाय। उस समय पूना की बागडोर दूरदर्शी नाना फड़नवीस के हाथों में थी। कर्नल पामर का वह प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया गया। उसके पश्चात् भी समय-समय पर गवर्नर-जनरल की प्रेरणा से पूना के रेज़ीडेण्ट पेशवा को हाथ में लेने का यत्न करते रहे, परन्तु उन्हें कृतकार्यता नहीं हुई। इससे कर्नल पामर इतना निराश और खिन्न हुआ कि उसने गवर्नर-जनरल को लिखा—

"पेशवा के मन में हमारे प्रति बहुत बुरे विचार बन गये हैं। मैं समझता हूँ कि अत्यन्त निकट और अनिवार्य विनाश की आशंका को छोड़कर अन्य कोई बात पेशवा को अंग्रेज़ों के प्रति रियायती व्यवहार करने के लिए तैयार नहीं कर सकती।"

गवर्नर-जनरल भी इसी परिणाम पर पहुँच चुका था कि पेशवा के दिमाग को सीधा करने के लिए पूना के शासन पर कोई भीषण आपत्ति डालनी चाहिए। फलतः कूटनीति के आचार्य वैल्ज़ली ने पेशवा के चारों ओर माया का जाल फैलाना आरम्भ किया।

टीपू पर अन्तिम आक्रमण करने से पूर्व वैल्ज़ली ने मराठों और निज़ाम को अपने पक्ष में रखने के लिए यह आशा दिलाई थी कि विजय होने के पश्चात् विजित प्रदेश के बँटवारे में उन्हें भी हिस्सा मिलेगा। जब तक जीत अनिश्चित रही, तब तक अंग्रेज लोग पेशवा को दम-दिलासा देते रहे, परन्तु ज्यों ही यह आशा बँध गई कि श्रीरंगापट्टन का पतन

हो जायगा, त्योंही गवर्नर-जनरल ने आँखें बदल लीं, और सहायता के लिए तय्यार हुई मराठा सैन्यों को लेने से इन्कार कर दिया। उसे डर था कि यदि मराठा सेनायें जीत में हिस्सेदार हो गईं, तो पेशवा को फाँसना कठिन हो जायगा।

टीपू के विनाश के पश्चात् गवर्नर-जनरल ने अपना रुख बदल लिया, और पेशवा पर चारों ओर से ज़ोर डालने के लिए महाराष्ट्र संघ के शिविर में तोड़-फोड़ का काम शुरू कर दिया। उस समय पेशवा पर दौलतराव सीन्धिया का प्रभाव था। पहले तो अंग्रेज़ी सरकार ने सीन्धिया को अपने हाथ में लेने का यत्न किया, परन्तु जब उस प्रयत्न में सफलता न हुई तो सीन्धिया के शत्रुओं को प्रोत्साहन देने तथा उसमें और पेशवा में भेद उत्पन्न करने की चेष्टा आरम्भ कर दी।

इधर दौलतराव पर आपत्तियों के बादल घिर रहे थे। माधवराव सीन्धिया की विधवायें मराठा सरदारों में दौलतराव के विरुद्ध आन्दोलन करती फिर रही थीं। विद्रोही लकवा दादा मध्यदेश में सीन्धिया के राज्य में लूट मचा रहा था। उसका पुराना प्रतिद्वन्द्वी होल्कर मालवा में सीन्धिया के प्रदेश को उजाड़ रहा था। इन मुसीबतों के कारण सीन्धिया को पूना छोड़कर उत्तर की ओर जाना पड़ा। आपत्तियाँ कभी अकेली नहीं आतीं, उधर नाना फड़नवीस की मृत्यु, और इधर सीन्धिया का पूना-त्याग—मराठा राज्य की उस नौका की सी दशा हो गई, जो भयंकर तूफ़ान से घिरी हुई हो, और उसका माँझी निर्बल, कायर और अनाड़ी हो। बाजीराव पेशवा में ये तीनों ही विशेषतायें थीं। उसमें रघुनाथराव के दोष तो थे ही, साथ ही कुछ अन्य दोष भी विद्यमान थे। नाना की मृत्यु के पश्चात् बाजीराव ने सिरतोड़ यत्न किया कि उसके गुप्त धन-कोष को हथियाले, परन्तु उसे सफलता न हुई। उधर से निराश होकर पेशवा ने उन परिवारों से बदला लेने का उपक्रम किया, जिन्होंने उसके पिता राघोबा का या उसका कभी विरोध किया था। मधवरस्ते को जेल में डाल दिया, विठोजी होल्कर को हाथी के पाँव में बाँधकर पूना के बाज़ारों में तब तक घसीटा गया जब तक वह मर न गया, और अन्य बहुत से छोटे-मोटे सरदारों और उनके सम्बन्धियों पर भाँति-भाँति के अत्याचार ढाये गये।

इन सब अत्याचारों की प्रतिध्वनि बहुत भयंकर हुई। विठोजी होल्कर पर जो अत्याचार किया गया, उसने मराठा जगत् में भयंकर सनसनी उत्पन्न कर दी। विठोजी होल्कर की मृत्यु के समाचार ने इन्दौर के शासक जसवन्तराव होल्कर को इतना उत्तेजित किया कि उसने पेशवा के विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया। उसकी सेनायें मोर्चे पर मोर्चा जीतती हुई २३ अक्तूबर १८०२ को पूना के द्वार पर आ पहुँचीं। २५ अक्तूबर को होल्कर और पेशवा की सेनाओं में संग्राम हुआ, जिसमें पेशवा की पूर्ण पराजय हुई। सीन्धिया की सेनाओं ने पेशवा को बचाने का भरसक यत्न किया, परन्तु वह भी खड़ा न रह सका। जसवन्त राव के नेतृत्व में इन्दौर के घुड़सवारों ने ऐसे ज़ोर का आक्रमण किया कि सीन्धिया के प्राय: सब सिपाही धराशायी हो गये।

कायर पेशवा भाग निकला। उसने रणक्षेत्र में जाने का तो साहस ही नहीं किया

था। पूना की रक्षा का भी प्रयत्न न किया और सिंहगढ़, रायगढ़ होता हुआ महाड के क़िले पर आ पहुँचा, जहाँ से उसने अंग्रेज़ों को चिट्ठी लिखकर शरण देने की प्रार्थना की। यही दिन था, जिसकी लार्ड वैल्ज़ली प्रतीक्षा कर रहा था। कर्नल पामर ने अपनी रिपोर्ट में लिखा था कि किसी बहुत बड़ी आपत्ति के आये बिना पेशवा हमारे चंगुल में नहीं आयगा। वही बड़ी भारी आपत्ति आ गई और इसमें सन्देह नहीं कि उसके लाने में अंग्रेज़ों का काफ़ी हाथ था। पेशवा की प्रार्थना से प्यासे को मानो पानी मिल गया। अंग्रेजों का जहाज़ आया और बाजीराव को लेकर बसीन के बन्दरगाह पर पहुँच गया। उस जहाज़ में केवल बाजीराव का शरीर ही विदेशी हाथों में नहीं चला गया, वस्तुतः महाराष्ट्र की वह स्वाधीनता भी अंग्रेज़ों की नौका में लद गई, जिसकी स्थापना छत्रपति शिवाजी ने २०० वर्ष पहले की थी।

वसीन में पहुँचकर बाजीराव ने अंग्रेज़ों से जो हीन सन्धि की, वह वसीन की सन्धि नाम से पुकारी जाती है। वह सन्धि वस्तुतः अंग्रेज़ी सरकार द्वारा निज़ाम से किये गये सब्सिडियरी अलायंस का रूपान्तर ही थी। उस द्वारा हिज़ हाईनेस बाजीराव, पण्डित, प्रधान बहादुर ने इकरार किया कि वह आनरेबुल इग्लिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के ६ सहस्र सैनिकों की टुकड़ी को अपने राज्य में स्थान देंगे, जो समय पर आत्मरक्षा में उनकी सहायता करेगी, कम्पनी का खर्च चलाने के लिए पेशवा ने राज्य का एक भाग सदा के लिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अर्पण कर दिया और यह वायदा किया कि वे कम्पनी की अनुमति के बिना किसी विदेशी शक्ति से किसी प्रकार का पत्र-व्यवहार या सन्धि न करेंगे।

इस प्रकार मराठा सरदारों की आपसी फूट, और पेशवा की नालायकी के कारण लार्ड वैल्ज़ली का बिछाया हुआ जाल सफल हो गया। मराठा राज्य वसीन की सन्धि द्वारा मानो विषकन्या से सम्बद्ध हो गया, जिसका अन्तिम परिणाम मृत्यु के अतिरिक्त हो ही क्या सकता था ?

तीसवाँ अध्याय

दूसरा अंग्रेज़-मराठा-युद्ध

सीन्धिया की पराजय ने कुछ समय के लिए पूना पर होल्कर का प्रभुत्व स्थापित कर दिया। बाजीराव भाग गया, इस आधार पर होल्कर ने उसके भाई अमृतराव को पेशवा की गद्दी पर बिठाकर उसके नाम पर शासन-कार्य अपने हाथों में ले लिया।

उधर बसीन की सन्धि में अंग्रेज़ों ने बाजीराव से वायदा किया था कि वह उसे पूना में फिर से स्थापित करेंगे। उस समय भारत में अंग्रेज़ सरकार की सेना की कमान एक ऐसे सेनापति के हाथों में थी, जो भविष्य में नैपोलियन पर विजय प्राप्त करके संसार के सर्वोत्कृष्ट सेनानायकों में नाम लिखाने वाला था। लार्ड वैल्ज़ली का छोटा भाई आर्थर वैल्ज़ली आगे चलकर लार्ड विलिंग्टन के नाम से प्रसिद्ध हुआ। बसीन की सन्धि हो जाने पर, एक बड़ी शिक्षित सेना लेकर जनरल आर्थर वैल्ज़ली बाजीराव को पेशवा की गद्दी पर बिठाने के लिए, पूना की ओर रवाना हुआ। रास्ते में उसने मराठा सरदारों को एक घोषणा-पत्र भेजा, जिसका आशय यह था कि उन्हें बाजीराव का साथ देना चाहिए। साथ ही यह आश्वासन दिया गया कि मराठा सरदारों को बाजीराव से जो शिकायतें हैं, उन्हें दूर कर दिया जायगा।

इस प्रकार विदेशी सेना की गाड़ी पर बैठकर बाजीराव पूना के महलों तक पहुँचा। यह मराठा राज्य के पतन की पूर्व सूचना थी कि पूना से चलकर अटक के तट पर शिवाजी की ध्वजा गाड़ने वाले बाजीराव का नामधारी उत्तराधिकारी आततायिओं के कन्धे पर चढ़कर पूना तक पहुँचा। वैल्ज़ली की घोषणा से यह सूचित होता था कि अधिकतर मराठा सरदार बाजीराव से असन्तुष्ट थे। वे उसके पूना लौटने के लिए बहुत उत्सुक नहीं थे।

बाजीराव पेशवा के आसन पर विराजमान तो हो गया, परन्तु उसके चारों ओर मुसीबतों का जाल बिछा हुआ था। जनरल आर्थर ने जो शर्तें पेश की थीं, वह बहुत कड़ी थीं। असन्तुष्ट मराठा सरदारों को सन्तष्ट करने के लिए जो उपाय करने पड़े वे महा संकट-पूर्ण थे। यह भी निश्चय किया गया था कि बाजीराव एक बड़ी सेना तैयार करके आर्थर वैल्ज़ली की सहायता के लिए भेजे। बाजीराव के कोष में न इतना धन था, और न उसका इतना प्रभाव ही था कि वह बड़ी तो क्या, छोटी सेना भी तैयार कर सकता। जब हम मराठा सरदारों में बाजीराव के प्रति असन्तोष की मात्रा पर ध्यान देते हैं, और फिर उसके साथ आर्थर वैल्ज़ली द्वारा किये गये इकरारनामे पर दृष्टि डालते हैं, तो यह निश्चय हो जाता है कि अंग्रेज़ों ने बाजीराव को पूना के आसन पर किसी सदुद्देश्य से नहीं बिठाया था। उनका उद्देश्य यह नहीं था कि मराठा राज्य संघ की रक्षा करें, प्रत्युत यह था कि एक अयोग्य और अप्रिय शासक को पेशवा के पद पर वापिस लाकर संघ के विनाश का सूत्रपात्र करें।

लार्ड वैल्ज़ली ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के डायरेक्टरों को बसीन की सन्धि के समर्थन

में जो खरीता भेजा था, उसमें आशा प्रकट की थी कि इस सन्धि से भारत के दक्षिण भाग में स्थिर शान्ति की स्थापना हो जायगी। परन्तु साथ ही यह भी इशारा किया गया था कि यदि शक्ति का भंग हुआ, और हमें लड़ना ही पड़ा तो हमारी सैनिक स्थिति ऐसी हो गई है कि हम निश्चित रूप से सफलता प्राप्त कर सकेंगे। इस वाक्य के पहले भाग में प्रकट की गई आशा की अपेक्षा दूसरे भाग में फेंके गये इशारे का ही महत्त्व अधिक समझना चाहिए। सब परिस्थितियों पर विचार करने से यही परिणाम निकलता है कि लार्ड वैल्ज़ली की मंशा प्रारम्भ से ही बाजीराव को मोहरा बनाकर मराठाशाही को मात देने की थी। बाजीराव शासन के सर्वथा अयोग्य, स्वार्थपूर्ण और निर्बल व्यक्ति था। यह मराठाशाही का दुर्भाग्य था कि ऐसे संकटपूर्ण काल में ऐसा अयोग्य व्यक्ति पेशवा के आसन पर दूसरी बार आसीन हुआ।

लार्ड वैल्ज़ली मराठों को नष्ट करने का मनसूबा पहले से बाँध चुका था। कुछ समय पूर्व जब जनरल आर्थर वैल्ज़ली ने डाकू धुंधिया पन्त का दमन करने के लिए मराठा राज्य में प्रवेश करने की अनुमति लेकर कई महीनों तक राज्य के अन्तर्गत रणक्षेत्रों का अध्ययन किया था, तभी दोनों भाइयों ने दृढ़ निश्चय कर लिया था कि मराठा राज्य को नष्ट करके उसके स्थान पर ब्रिटिश सत्ता क़ायम की जायगी। मराठा सरदारों की परस्पर की कलह और बाजीराव की क्लीबता ने भाइयों के मनसूबे की पूर्ति को बहुत शीघ्र सम्भव बना दिया।

लार्ड वैल्ज़ली खूब जानता था कि बसीन की सन्धि से वे सब मराठा सरदार भड़क उठेंगे, जिनके कन्धों पर मराठा संघ का भवन खड़ा है। बड़े मराठा सरदारों को भड़काकर लड़ाई के लिए सन्नद्ध करना उसे अभिप्रेत था। यह बात सर्वथा स्वाभाविक भी थी कि पेशवा को एक विदेशी शक्ति की कठपुतली बनते देखकर सीन्धिया, होल्कर और भोंसले आदि सरदारों के मन में विक्षोभ उत्पन्न होता। वही हुआ। बसीन की सन्धि के समाचारों से सरदार लोग विचलित हो उठे, और आपसी मतभेदों को भुलाकर अंग्रेज़ों के चंगुल से पेशवा के उद्धार का उपाय सोचने लगे। बरार के राजा राघोजी भोंसला सब मराठा सरदारों में वयोवृद्ध और नीतिज्ञ समझे जाते थे। उन्होने बीच में पड़कर माधवराव सीन्धिया और जसवन्तराव होल्कर में मेल कराने का प्रयत्न किया, जिसमें बहुत कुछ सफलता भी मिली।

इसी बीच में भोंसले और सीन्धिया को बाजीराव की ओर से पूना पहुँचने का आमन्त्रण मिल गया। मित्रभक्ति या सच्चाई का बाजीराव के स्वभाव में अभाव-सा था। वह किसी का बनकर नहीं रह सकता था। अंग्रेज़ों की सहायता से गद्दी पर बैठते ही वह यह सोचने लगा कि अब अंग्रेज़ों के पंजे से कैसे छूटा जाय। इस काम के लिए उसने बरार के राजा और सीन्धिया को पूना पहुँचने के लिए सन्देश भेज दिये।

बरार के राजा और सीन्धिया अपने-अपने स्थानों से चलकर नर्बदा नदी के दक्षिण में इकट्ठे हुए और परिस्थिति पर विचार करने लगे कि आगे क्या किया जाय। वैल्ज़ली बन्धु ऐसी किसी परिस्थिति के लिए पहले से ही तैयार थे। उन्होंने दोनों राजाओं को आदेश भेजा कि एकदम अलग-अलग हो जाओ, और अपने-अपने राज्यों को लौट जाओ अन्यथा

उचित कार्रवाई की जायगी। दोनों सरदार विचार-विमर्श के लिए एकत्र हुए थे। उनका उस समय न अंग्रेज़ों से लड़ने का अभिप्राय था और न किसी पर आक्रमण करने का, परन्तु लार्ड वैल्ज़ली का अभिप्राय तो लड़ने का ही था। उसके वकील कर्नल कौलिन्स ने मामले को यथासम्भव पेचीदा बनाकर युद्ध की परिस्थिति पैदा कर दी। दोनों राजाओं पर अलग होने के तकाज़े ऐसे ढंग से किये, कि वे अपमान अनुभव करके कोई ऐसा पग उठा बैठें, जिससे लड़ाई छेड़ी जा सके। जब उसमें सफलता न हुई और मराठा सरदारों ने अत्यन्त शान्ति और नीति से अपना परामर्श जारी रखा तो अन्त में कर्नल कौलिन्स को ही गवर्नर-जनरल के पास यह मनघड़न्त रिपोर्ट भेजनी पड़ी कि सीन्धिया और भोंसला ने अलग होने से इन्कार कर दिया है, और कह दिया है कि यदि जनरल वैल्जली हम पर आक्रमण करेंगे तो हम स्वतन्त्रता से जिधर चाहेंगे अपनी सेनाओं को ले जायेंगे।

कर्नल कौलिन्स की इस रिपोर्ट को यद्ध आरम्भ करने के लिए पर्याप्त कारण समझा गया, और १ अगस्त १८०३ के दिन कर्नल आर्थर वैल्ज़ली ने मराठा सरदारों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। जिस लक्ष्य की पूर्ति के लिए लार्ड वैल्ज़ली ने मराठा राज्य के मामले में हस्तक्षेप किया था, उसका अनुकल अवसर आया देखकर उसने अपनी सेनाओं को सीन्धिया और भोंसला पर चढ़ाई करने की आज्ञा दे दी।

अंग्रेज़ी सेनायें लड़ाई के लिए तैयार थीं, और मराठा सरदार आधी नींद में थे। उन्होंने सोचा था कि जब हम लड़ने की इच्छा नहीं रखते तो हम से कोई क्यों लड़ेगा? यह मतिभ्रम भारतवासियों को बार-बार आपत्ति में डालता रहा है। वे भूल जाते हैं कि आपत्ति सदा बुलाने से नहीं आती, स्वयं भी आ जाती है, इस कारण उसके लिए सदा उद्यत रहना चाहिए।

युद्ध का पहला दौर लम्बा नहीं चला। लार्ड वैल्ज़ली ने पहले से ही ऐसी व्यवस्था कर रखी थी कि सब बड़े मराठा सरदारों की छाती पर एकदम बन्दूक तानी जा सके। सेनायें मर्मस्थलों पर पहले से तैनात थीं, एकदम दक्षिण और उत्तर के प्रदेशों पर आक्रमण बोल दिया गया। दक्षिण की सेनायें आर्थर वैल्ज़ली और उत्तर को सेनायें जनरल लेक की कमान में थीं। साथ ही गुजरात और उड़ीसा के देश में अंग्रेज फ़ौजों ने हमले जारी कर दिये। फलतः मराठों को पीछे हटने के लिए बाधित होना पड़ा। अहमदनगर अगस्त में ही अंग्रेज़ों के अधिकार में आ गया। सितम्बर का अन्त होने से पूर्व ऐस्से (Assaye) के युद्ध-क्षेत्र में सीन्धिया और भोंसला की सम्मिलित सेनायें परास्त हो गईं जिससे आर्थर वैल्ज़ली के, आगे बढ़ने के रास्ते खुल गये, और उसने बरार के अन्दर घुसकर राजा की सेनाओं को अरगाँव के मैदान में पूरी तरह परास्त कर दिया।

इधर दक्षिण में आर्थर वैल्ज़ली मराठा-शक्ति की कमर तोड़ने की सफल चेष्टा कर रहा था तो उधर उत्तर में जनरल लेक दिल्ली के सिंहासन पर अधिकार करने के लिए झपट रहा था। लेक ने कानपुर से प्रयाण करके अगस्त के अन्त में अलीगढ़ पर अधिकार कर लिया, और सितम्बर में दिल्ली के दरवाज़े पर जा पहुँचा। अकबर और औरंगज़ेब के

उत्तराधिकारी उस समय इस दशा में थे, कि उनकी नकेल किसी दूसरे के हाथ में रहती थी। मुग़ल सम्राट् का केवल नाम चलता था, शासन कोई दूसरा ही करता था। उन दिनों दिल्ली के लाल क़िले पर सीन्धिया का साया था। निर्बल और नपुंसक शाह आलम को जब मालूम हुआ कि अंग्रेज़ सेना दिल्ली की ओर बढ रही है तो वह गुप्त रूप से लेक के पास सन्देशा भेजने लगा। गुलाम लोगों की यह आदत होती है कि वे मालिक को बदलने में ही अपना कल्याण समझते हैं। शाह आलम ने भी समझा कि सीन्धिया की अपेक्षा लेक की अधीनता अधिक सुखकारी रहेगी। उसने अंग्रेज सेनापति को दिल्ली पर अधिकार करने के लिए प्रोत्साहित किया। जब घर में ही शत्रु हो तो, युद्ध में सफलता क्या हो सकती थी? सीन्धिया की सेनायें परास्त हो गईं और १६ सितम्बर १८०३ के दिन लेक ने लाल क़िले में घुसकर कठपुतली सम्राट् शाहआलम को अपनी संरक्षा में ले लिया। दिल्ली को जीतकर लेक ने आगरे की ओर प्रयाण किया, और लसवारी के युद्ध में सीन्धिया की सेनाओं पर पूरी विजय प्राप्त की। इन्हीं दिनों भारत के उत्तरीय भाग में अनावृष्टि के कारण बड़ा भारी दुर्भिक्ष पड़ गया, जिससे भारतीय सेनाओं की हिम्मत टूट गई, फलतः लगभग चार मास की दक्षिण और उत्तर में फैली हुई लड़ाई के पश्चात् मराठा सरदार पूरी तरह परास्त हो गये।

इस विजय से देश के बड़े भाग में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की शक्ति बहुत बढ़ गई। भोंसला और सीन्धिया से जो सन्धियाँ की गईं, वे निज़ाम और पेशबा से की गई सन्धियों का रूपान्तर थीं। युद्ध जीतने का श्रेय सर आर्थर वैल्ज़ली को मिला था, तो सन्धि का श्रेय भी उसी को मिला। वैल्ज़ली के शब्दों में उन सन्धियों से वह सब प्रयोजन सिद्ध हो गये, जिनके लिए युद्ध किया जाता है। कम्पनी की राज्य-सीमा बहुत विस्तृत हो गई। देश के हृदय—दिल्ली—पर अंग्रेज़ों का अधिकार हो गया। दक्षिण, उत्तर और पूर्व तीनों दिशाओं में न केवल कम्पनी के हाथ-पाँव फैल गये. बीच-बीच में जो थोड़े से गढ़े थे वे भी पूरे हो गये। राजपूताने पर मराठा सरदारों के बढ़ते हुए प्रभाव पर प्रतिबन्ध लग गया। सब से बड़ी बात यह हुई कि सिन्धिया और बरार के राजा ने बसीन की सन्धि को स्वीकार करके पेशवा पर अंग्रेज़ी प्रभुत्व को स्वीकार कर लिया।

लार्ड वैल्ज़ली ने मराठों पर विजय प्राप्त करने के जो समाचार कम्पनी को भेजे, उनमें अपनी सफलताओं का बहुत ही रंगीन वर्णन किया गया था। युद्ध में सफलता की चर्चा, तो थी ही, साथ ही यह आशा भी दिलाई गई थी कि इससे भारतीय प्रायद्वीप में स्थिर शान्ति स्थापित हो जायगी, क्योंकि "हमने मराठा सरदारों को समझौतों और वायदों की रस्सियों से बाँध लिया है।" लार्ड वैल्ज़ली के ऐसे भ्रमात्मक खरीते भेजने का लक्ष्य यह था कि कम्पनी के डायरेक्टर यह आश्चर्य न करें कि गवर्नर-जनरल ने कम्पनी की निश्चित नीति के विरुद्ध चलकर ऐसे खर्चीले और शत्रुता पैदा करने वाले युद्ध क्यों किये? यह बात लार्ड वैल्ज़ली से छुपी नहीं थी कि जिस कूटनीति की सहायता से अंग्रेज़ों ने मराठों में फूट को बढ़ाया, फिर उन्हें युद्ध के लिए मजबूर किया, और अन्त में अलग-अलग करके परास्त किया, उससे मराठा सरदार अत्यन्त क्षुब्ध और दुःखी थे। उन्होंने सन्धि-पत्र पर जो हस्ताक्षर किये, उसका

कारण लाचारी था, सद्भावना नहीं।

लार्ड वैल्ज़ली ने डायरेक्टरों को भ्रम में डालने की जो चेष्टा की, वह पूरी तरह सफल नहीं हुई। लार्ड कैस्टर्ले ने मराठा युद्ध की घटनाओं पर टिप्पणी करते हुए एक खरीते में लिखा था कि "उससे हमारी सरकार का ढाँचा इतना पेचीदा और बेढंगा हो गया कि लार्ड वैल्ज़ली के पीछे उसके निर्बल और दुःखदायी हो जाने की आशंका है" मराठा युद्ध पर जो बेतहाशा खर्च हुआ था, उसमे भी कम्पनी के डायरेक्टर घबरा गये थे। १७९७ और १८०६ के बीच में कम्पनी का कर्ज़ लगभग दुगुना हो गया था।

इकत्तीसवाँ अध्याय

जनरल लेक और जसवन्तराव होल्कर

सीन्धिया और भोंसला सरदार को परास्त करने के पश्चात् लार्ड वैल्ज़ली ने अपनी गृद्ध-दृष्टि होल्कर की ओर घुमाई । अब तक गवर्नर-जनरल ने होल्कर को दम-झाँसे में रखा था। यह उस समय की राष्ट्रीय निर्बलता का एक और नमूना था कि जब सीन्धिया और भोंसला पर आक्रमण होते रहे, तब जसवन्तराव होल्कर यह समझकर चैन की बंसी बजाता रहा कि उन दोनों मराठा सरदारों के नाश से उसे लाभ होगा। जब दोनों सरदार परास्त हो गये, और उनसे अंग्रेज़ों की सन्धि हो गई, तब होल्कर को झटका-सा लगा, और उसकी नींद खुल गई। अंग्रेज़ सेनापति जनरल लेक उन अंग्रेज़ों में से था जो हिन्दुस्तानियों को बहुत तुच्छ समझता, और उनके दमन करने में ही अंग्रेज़ों का कल्याण मानता था। उसकी दृढ़ सम्मति थी कि अब मराठों की शक्ति को तोड़ने के लिए होल्कर का नाश अत्यन्त आवश्यक है। अब तक होल्कर गवर्नर-जनरल के अनेकार्थ आश्वासनों के भरोसे पर सोया पड़ा था, परन्तु अब जब कि बहुत ही थोड़े समय में इतने शक्तिशाली सरदार परास्त हो गये, और लार्ड लेक के मन्सूबों का पता सबको चल गया, तब जसवन्तराव एकदम सावधान हो गया और अंग्रेज़ों से जूझने की तैयारी करने लगा।

उसने युद्ध का पहला कार्य यह किया कि अपनी फ़ौज के अंग्रेज़ अफ़सरों की गतिविधि की छानबीन का आदेश दिया। छानबीन करने से मालूम हुआ कि उन पर अंग्रेज़ सेनापति की ओर से डोरे डाले जा रहे हैं। होल्कर को मालूम हो चुका था कि सीन्धिया का सर्वनाश करने वाले मुख्यरूप से वे यूरोपियन सिपाही और अफ़सर ही थे, जिन पर उस भोले सरदार ने पूरा भरोसा कर रखा था। वे लोग यूरोपियन शत्रु के सामने आने पर प्रायः भारतीय मालिकों को धोखा दे जाते थे। होल्कर के सामने भी वही संकट आकर खड़ा हो गया। तब उसने आत्मरक्षा के लिए आवश्यक जानकर अपनी सेना के तीन अंग्रेज़ अफ़सरों को मृत्यु-दण्ड दे दिया। संसार के सभी युद्ध-सम्बन्धी विधानों में सेनापति का यह अधिकार स्वीकार किया जाता है कि वह अपनी सेना के द्रोही सिपाहियों को मृत्यु-दण्ड दे। इस कारण होल्कर का यह कार्य युद्ध-नियमों के प्रतिकूल नहीं था, परन्तु अंग्रेज़ इतिहास-लेखकों ने इसे होल्कर का महान् पाप बतलाकर उस पर किये गये अकारण आक्रमण का समर्थन करने का यत्न किया है। इतिहास के विद्यार्थी सुगमता से ही समझ सकते हैं कि उन लेखकों का तर्क कितना निराधार और लंगड़ा है।

जनरल लेक युद्ध के लिए लपलपा रहा था। उसने १८०४ के फरवरी मास में गवर्नर-जनरल को लिखा था—"मुझे डर है कि जब तक अम्बाजी और होल्कर को सर्वथा नष्ट न किया जायगा स्थिर शान्ति स्थापित नहीं हो सकती" प्रारम्भ में लार्ड वैल्ज़ली होल्कर से युद्ध

छेड़ने के लिए अनिच्छुक था। परन्तु जनरल लेक ने धीरे-धीरे उसके मन पर पत्रों द्वारा ऐसा असर डाला कि वह होल्कर को अंग्रेज़ों का सबसे बड़ा शत्रु मानने लगा। सीन्धिया से लड़ते समय अंग्रेजों ने होल्कर को बहुत-सी आशाएँ दिला दी थीं। हिन्दुस्तानी भोलेपन के कारण जसवन्तराव ने उन पर विश्वास कर लिया था। उस युद्ध में जीतकर अंग्रेज़ सब वायदों को भूल गये, और उल्टे उसके लहू के प्यासे हो गये, यह अनुभव करके होल्कर भी युद्ध के लिए सन्नद्ध होने लगा तो जनरल लेक ने गवर्नर-जनरल को युद्ध की घोषणा के लिए तैयार कर दिया। परिणाम यह हुआ कि सन १८०४ के अप्रैल मास में अंग्रेजों की सेनाओं ने होल्कर पर कई ओर से आक्रमण कर दिया। यह ध्यान रखने योग्य बात है कि मार्च मास में होल्कर ने जनरल लेक को एक पत्र भेजा था, जिसमें मिल-जुलकर शान्तिपूर्ण उपायों से आपसी मत-भेदों को निपटाने का प्रस्ताव किया था परन्तु जनरल लेक तो होल्कर का सर्वनाश करके यश कमाना चाहता था, वह सुलह की बात क्यों सुनता।

होल्कर से युद्ध प्रारम्भ होने के समय अंग्रेजो के लिए दो अपशकुन हो गये। लार्ड वैल्जली को अपने भाई आर्थर वैल्ज़ली की युद्ध-कुशलता पर बहुत भरोसा था। वस्तुतः दूसरे मराठा युद्ध की प्रारम्भिक सफलता में आर्थर वैल्ज़ली का बहुत बड़ा हाथ था। होल्कर पर आक्रमण होने से पूर्व ही आर्थर वैल्जली असन्तुष्ट होकर दक्षिण के रणक्षेत्र से हट चुका था। उसके असंतोष का कारण यह था कि जब लड़ाई के पीछे सीन्धिया से सन्धि की गई तो अंग्रेज़ों ने उसे ग्वालियर का क़िला देने से इन्कार कर दिया। आर्थर वैल्ज़ली वीर योद्धा था। उसका मत था कि सीन्धिया को ग्वालियर का अधिकार देने के लिए हम वचनबद्ध है। जब अंग्रेज़ों ने अपने वचन को पूरा नही किया तो उस वीर सेनानी के हृदय में विक्षोभ उत्पन्न हुआ, जिससे प्रेरित होकर वह सेना की कमान छोड़कर पहले कलकत्ता चला गया और फिर विलायत के लिए रवाना हो गया। इस घटना से प्रतीत होता है कि एक सेनानी में महान् होने के लिए हृदय की जिस विशालता की आवश्यकता होती है, वह आर्थर वैल्ज़ली में विद्यमान थी।

यह पहला अपशकुन हुआ कि ऐसा अनुभवी सेनानी रणक्षेत्र से हट गया। दूसरा अपशकुन यह हुआ कि बुन्देलखण्ड में अंग्रेज़ों को बहुत भारी पराजय का मुंह देखना पड़ा। अमीरखां उस समय का प्रसिद्ध पण्डारी था। पण्डारी वह लोग कहलाते थे जो बड़े-बड़े जत्थे बनाकर लूट-मार करते थे। अमीरखां की स्थिति यह थी कि कम्पनी का वह मित्र बना हुआ था, परन्तु कम्पनी के इलाके को लूटने में संकोच नहीं करता था। बुन्देलखण्ड में अंग्रेज़ों की जो सेना पड़ी हुई थी, उसका सेनापति फौसट था। वह प्रमादी आदमी था। उसकी सेना की एक टुकड़ी पर अमीर अली ने अकस्मात् आक्रमण कर दिया, और उसे पूरी तरह नष्ट कर दिया। अब तक यह समझा जाता था कि कम्पनी की सेना अजेय है, उसे कोई परास्त नहीं कर सकता। बुन्देलखण्ड की इस घटना से अंग्रेज़ों के दबदबे को बहुत बड़ा धक्का पहुँचा।

इन दो अपशकुनो की छाया में जनरल लेक ने तीन ओर से होल्कर पर आक्रमण

आरम्भ कर दिया। मुख्य आक्रमण उत्तर में किया गया, जिसकी कमान स्वयं अंग्रेज़ों के प्रधान सेनापति जनरल लेक के अपने हाथ में थी। दक्षिण में आक्रमण का नेतृत्व लेफ़्टिनेंट कर्नल वालेस और गुजरात में कर्नल मरे को सौंपा गया। इन दोनों के पास पर्याप्त सेनायें और युद्ध-सामग्री थी।

अंग्रेज़ों की सब सेनाओं ने लगभग इकट्ठा आक्रमण आरम्भ कर दिया। वह समय जसवन्तराव होल्कर के लिए बहुत कड़ी परीक्षा का था। एक ओर मराठा सरदारों पर पूर्ण विजय प्राप्त करने वाले जयोन्मत्त ३ अंग्रेज़ सेनानी और दूसरी ओर अकेला होल्कर—बहुत असमान संघर्ष था। लेक को आशा थी कि पहली झपट में ही होल्कर चित हो जायगा। अड़ोस-पड़ोस के अन्य राजा भी जसवन्तराव के तुरन्त नाश की प्रतीक्षा कर रहे थे, परन्तु लेक और अन्य दर्शक आश्चर्यित हो गये, जब उन्होंने देखा कि युद्ध ने आँख-मिचौनी का-सा रूप धारण कर लिया। जब अंग्रेज़ सेनापति यह समझने लगते कि होल्कर हाथ में आ गया, तभी वह वीर हाथ से फिसल जाता था, और नया मोर्चा बना लेता था। युद्ध से पहले समझा जाता था कि होल्कर एक सफल लुटेरा है, परन्तु इस युद्ध ने सिद्ध कर दिया कि वह बहुत चतुर और फुर्तीला सेनानायक भी है। वह हवा की तरह चलता था, बिजली की तरह चोट करता था, और जब फँसने लगता था, तब पानी की तरह बह निकलता था।

गुजरात की ओर से होल्कर पर दबाव डालने का काम लेफ़्टिनेण्ट कर्नल मौन्सन के सुपुर्द किया गया था। जुलाई के आरम्भ में मौन्सन ने मोहन्दा के दर्रे से होल्कर के राज्य में प्रवेश किया, और दो-एक छोटे-मोटे स्थानों पर अधिकार कर लिया। ७ दिनों तक निरन्तर आगे बढ़ती हुई उसकी सेनायें चम्बल नदी की ओर से ५० मील तक बढ़ गईं।

वहाँ पहुँचकर मौन्सन को समाचार मिला कि होल्कर के घुड़सवार चम्बल को पार कर आये हैं। इस समाचार से मौन्सन के होश उड़ गये। वह स्वप्न देख रहा था कि वह होल्कर के राज्य में दूर तक घुसकर कर्नल मरे की कमान में आगे बढ़ने वाली सेना से जा मिलेगा। जब उसे पता चला कि डरावने मराठे घुड़सवार सिर पर आ पहुँचे हैं तो उस अंग्रेज़ वीर के पाँव उखड़ गये, और पीछे हटने लगा। होल्कर के घुड़सवारों ने उसका पीछा किया, और मौन्सन की घुड़सवार सेना को परास्त करके उसके अंग्रेज़ सेनापति लेफ़्टिनेण्ट लूकन को गिरफ़्तार कर लिया।

अब तो मौन्सन का दम छूट गया। वह भागता हुआ मोकन्दरा के रास्ते पर पहुँचा, तो स्वयं होल्कर की सेना से उसकी मुठभेड़ हो गई। दोनों सेनाओं में खूब डटकर लड़ाई हुई, परन्तु जीत-हार किसी की न हुई। दूसरे दिन मौन्सन ने फिर भागना शुरू किया। वह भागकर कोटा में आसरा लेना चाहता था। रास्ते में मूसलाधार वर्षा आ गई। नदियों का पानी बढ़ गया, और रास्ते दलदल से भर गये। इस बीच में मराठे घुड़सवार कम्पनी की सेना पर निरन्तर आक्रमण करते रहे। बहुत से गोरे मारे गये और उनसे भी अधिक अंग्रेज़ सेना के हिन्दुस्तानी सिपाहियों का नाश हुआ। उनके तो परिवार और बाल-बच्चे तक नष्ट हो गये।

कभी-कभी एक ही वस्तु अमृत और विष दोनों का काम देती है। वर्षा ने जहाँ एक

और मौन्सन की सेनाओं को परेशानियों में डाला वहाँ साथ ही होल्कर के आक्रमणों से उनकी रक्षा भी की। वर्षा से बढ़ी हुई नदियों को बड़ी मात्रा में पार करना घुड़सवार के लिए आसान नहीं था।

मौन्सन जान बचाने के लिए दौड़ लगाता हुआ बन्नास नदी पर पहुँचकर यह यत्न कर रहा था कि उसे पार करके कुशलगढ़ पहुँच जाय कि होल्कर ने उसे जा घेरा। दोनों के पास जो सेनायें थीं, वह संख्या में लगभग समान ही थीं, परन्तु होल्कर मौन्सन से अधिक कुशल योद्धा था, और उस पर हावी हो चुका था। मौन्सन पूरी तरह हार गया। उसका सब सामान लुट गया, अधिकांश सिपाही नष्ट हो गये, और स्वयं उसने थोड़े से साथियों के साथ भागकर रात के अँधेरे में कुशलगढ़ के क़िले में शरण ली। मौन्सन को आशा थी कि कुशलगढ़ में सीन्धिया की ओर से बहुत-सी सैनिक सहायता मिलेगी और सिपाहियों को अन्न भी प्राप्त होगा। परन्तु सीन्धिया अंग्रेज़ों से बेदिल हो चुका था, और कुशलगढ़ में फालतू अनाज भी नहीं था, इस कारण निराश होकर मौन्सन को कुशलगढ़ भी छोड़ना पड़ा, वह अगस्त के अन्त में आगरा पहुँच गया।

मौन्सन की पराजय से अंग्रेज अधिकारी बहुत लज्जित और विक्षुब्ध हो गये। जनरल लेक ने लार्ड वैल्ज़ली को लिखा—

"मैं इस समय इस लज्जाजनक और विपत्तिपूर्ण घटना पर कुछ अधिक नहीं कहूँगा क्योंकि मेरा हृदय अनेक कारणों से बहुत ही अधिक विक्षुब्ध होने के कारण उसके दुष्परिणामों और कारणों पर विचार करने में असमर्थ है।"

लेक का लज्जित होना स्वाभाविक ही था। उसने होल्कर को कमज़ोर कीड़ा समझ कर आक्रमण कर दिया था, घटनाओं ने सिद्ध कर दिया कि उसमें आक्रमण को रोकने और प्रत्याक्रमण करने की भी शक्ति है। मौन्सन की कायरतापूर्ण भागदौड़ के समाचारों ने देश भर में अंग्रेज़ों की अजेयता की धज्जियाँ उड़ा दीं। क्लाइव और आर्थर वैल्ज़ली द्वारा बनाये हुए ब्रिटिश दबदबे की चारों दीवारें हिल गईं।

बत्तीसवां अध्याय

लार्ड लेक का वाटर्लू

सीन्धिया और भोंसला पर विजय प्राप्त करके अंग्रेजों ने जो सन्धि की थी, उस द्वारा उन्होंने दोआब पर अधिकार प्राप्त कर लिया था। दोआब गंगा और यमुना के मध्य प्रदेश को कहते थे। उन दिनों अंग्रेज़ों के दिमाग़ में जीत की हवा इतनी भर गई थी कि विजित प्रदेशों पर शासन करने के लिए वह किसी दूरदर्शितापूर्ण व्यवस्था की आवश्यकता नहीं समझते थे। दोआब के स्वामी बनकर उन्होंने जिस ढंग से शासन आरम्भ किया उससे जनता में बहुत असन्तोष उत्पन्न हो गया था। अंग्रेजों के दो कार्यों से साधारण जनता को गहरी चोट पहुँची थी। एक तो उन्होंने यह भूल की कि अंग्रेज़ सिपाहियों के भोजन के लिए गोहत्या की अनुमति दे दी और दूसरा यह अनर्थ किया कि ज़मीन पर लगान बहुत अधिक बढ़ा दिया। हिन्दू राजाओं के समय में तो मथुरा में गोहत्या बन्द थी ही, अकबर के पश्चात् लगभग ३०० वर्षों तक भी तीर्थ-स्थानों पर गोवध का निषेध रहा। अंग्रेज़ों ने जब ऐसे स्थान पर अपना पेट भरने के लिए गौओं के बध का उपक्रम किया तो स्वभावतः हिन्दुओं के हृदयों पर बहुत कठोर अघात पहुँचा। आक्रामक युद्धों के कारण कम्पनी की सरकार का दिवाला-सा निकल रहा था, उस कमी को पूरा करने के लिए लार्ड लेक ने दोआब के लोगों का शोषण जारी कर दिया। फलतः दोआब के निवासी त्राहि मां पुकार उठे।



लार्ड लेक

होल्कर जब मौन्सन की ओर से निश्चिन्त हुआ तो उसने पहला काम यह किया कि अंग्रेज सेनाओं से मथुरा का उद्धार किया। मौन्सन की पराजय से अंग्रेज इतने घबरा गये थे कि होल्कर के समीप आने पर अंग्रेज़ी सेनायें मथुरा को छोड़कर भाग गईं।

मथुरा में पहुँचकर होल्कर ने युद्ध-क्षेत्र के चित्र पर दृष्टि डाली तो उसे परिस्थिति बहुत आशंकापूर्ण दिखाई दी। एक ओर का ख़तरा तो टल गया था, परन्तु तीन ओर से काले बादल उमड़ रहे थे। कर्नल मरे जो अब तक पीछे की ओर हट रहा था, होल्कर के मथुरा पहुँचने के समाचार पाकर उज्जैन की ओर बढ़ने लगा था। कर्नल वालेस की सेनायें पेशवा से सैनिक सहायता प्राप्त करके, पूना से उत्तर की ओर रवाना हो चुकी थीं। सबसे

बड़ा ख़तरा आगरे की ओर से आ रहा था। स्वयं जनरल लेक बहुत बड़ी सेना लेकर होल्कर पर आक्रमण करने के लिए सिकन्दरा से चल पड़ा था। इस भयपूर्ण परिस्थिति से टक्कर लेने के लिए होल्कर ने बहुत साहसिक क़दम उठाने का निश्चय किया। इधर-उधर के सब मोहरों को छोड़कर शाह पर सीधी किश्त लगाने का मन्सूबा बाँधकर वह मथुरा से दिल्ली पर चढ़ चला। दिल्ली पर उस समय अंग्रेज़ों का प्रभुत्व था। नाममात्र के मग़ल बादशाह शाह आलम की नकेल सीन्धिया से अंग्रेज़ों के हाथ में जा चुकी थी। अंग्रेज़ सेनापति लैफ्टिनेंट कर्नल ओक्टरलानी (Ochterlony) चौकन्ना आदमी था। उसने जोड़-तोड़ करके बादशाह के चारों ओर ऐसा जाल बिछा रखा था कि जसवन्तराव के दूत उस तक न पहुँच सके, और लाल क़िले में सूराख हुए बिना दिल्ली को जीतना असम्भव था, इस कारण होल्कर की वह चाल खाली गई।

दिल्ली से निराश होकर वह सहारनपुर की ओर झुका। उसे आशा थी कि सहारनपुर के आसपास के छोटे-छोटे सरदारों अथवा पंजाब के सिक्ख राजाओं में से कोई न कोई उसका साथ देने को तैयार हो जायगा, परन्तु वहाँ भी उसे निराशा का मुँह देखना पड़ा। वे सब अंग्रेज़ों के आतंक से ऐसे प्रभावित थे कि किसी ने होल्कर को हाथ न धरने दिया। यदि कोई साधारण सेनानी होता तो इतनी निराशों की चोटें खाकर दिल हार बैठता, परन्तु होल्कर ने अपना सिर पानी से ऊपर उठाये रखा, और अपने घोड़ों का मुँह भरतपुर की ओर मोड़ दिया। जब अंग्रेज़ सेनापति जनरल लेक दिल्ली में पहुँचकर सन्तोषपूर्वक यह योजना बना रहा था कि होल्कर को घेरकर नष्ट कर दिया जाय, तब होल्कर के घुड़सवार घेरे को दूर छोड़ते हुए भरतपुर राज्य की सीमाओं में प्रविष्ट हो चुके थे। भरतपुर के जाट राजा रनजीतसिंह ने एक विपदग्रस्त हिन्दू राजा को सहारा देना अपना कर्तव्य समझा और उसे दीग के क़िले में आश्रय लेने की अनुमति दे दी।

दीग के समीप होल्कर की पैदल सेना को अंग्रेज़ सेना ने आ घेरा। १३ अक्तूबर को दोनों सेनाओं में जमकर लड़ाई हुई। अंग्रेज़ सेना की बहुत हानि हुई, जनरल फ्रेजर घायल हो गया, और बहुत से अन्य ब्रिटिश अफ़सर भी आहत हो गये। परन्तु अन्त में होल्कर की पैदल सेना परास्त हो गई। परिस्थिति को देखकर होल्कर ने यही उचित समझा कि दीग की चारदीवारी में मोर्चाबन्दी करके बैठा जाय। अंग्रेज़ सेनापति जनरल लेक ने अपने पूरे लाव-लश्कर के साथ आगे बढ़कर होल्कर को दीग तक पहुँचने से रोकने का प्रयत्न किया। परन्तु उस मराठा सरदार की युद्ध-कुशलता को यहाँ भी सफलता मिली। जनरल लेक मुँह ताकता रह गया, और होल्कर अपनी सारी सेना को लेकर दीग के दुर्ग में पहुँच गया।

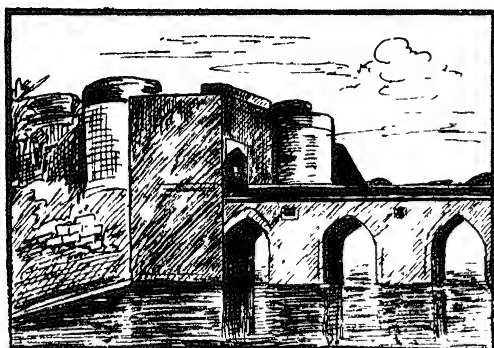
देखने में लेक की जीत हुई, परन्तु वस्तुतः वह हार गया। क्योंकि कम्पनी के राज्य का सबसे बड़ा शत्रु जसवन्तराय होल्कर चंगुल में आकर भी निकल गया। अब तो अंग्रेज़ होल्कर के रक्त के प्यासे हो गये। गवर्नर-जनरल ने एक पत्र में जनरल लेक को लिखा—

"यह दुर्भाग्य की बात है कि होल्कर का शरीर तुम्हारे पंजे से निकल गया। तुम भी सहमत होगे कि उसे पकड़ना या नष्ट करना अत्यन्त आवश्यक है। जब तक हम उसे

गिरफ़्तार न कर लें या नष्ट न कर दें, तब तक हम चैन से नहीं बैठ सकते।"

इस आदेश का पालन करने के लिए जनरल लेक ने अपनी सारी शक्ति इकट्ठी की, और दीग का घेरा डाल दिया। कई दिनों के आक्रमणों से क़िले की दीवार के कुछ भाग तोड़े गये, और अंग्रेज़ सेना बहुत-सी हानि उठाकर क़िले के अन्दर पहुँची तो देखा कि पंछी वहाँ से उड़ चुका था। होल्कर अपनी सेना के साथ दीग से निकलकर भरतपुर के क़िले में पहुँच चुका था।

अब तो अंग्रेज़ों की झल्लाहट की सीमा न रही। होल्कर पर तो क्रोध था ही, भरतपुर के राजा पर भी बेहद नाराज़गी हो गई। यों तो राजा रनजीतसिंह और अंग्रेज सन्धि के बन्धन में बँधे हुए समझे जाते थे, परन्तु मथुरा पर अधिकार जमाने के पश्चात् अंग्रेज़ों ने जो रूप दिखाया उससे भरतपुर का शासक बहुत बेचैन हो गया था। मथुरा तीर्थ में गोवध की आज्ञा देने के अतिरिक्त अंग्रेज़ वहाँ के प्रबन्ध में भी हस्तक्षेप करने लगे थे। मथुरा भरतपुर राज्य का अंग था। अंग्रेज़ों की अनधिकार चेष्टा से राजा रनजीतसिंह का विक्षुब्ध होना स्वाभाविक था। एक संकटापन्न भारतीय नरेश को सहारा देने की प्रेरणा भी नैसर्गिक ही थी। जब जनरल लेक और उस द्वारा गवर्नर-जनरल को पता चला कि होल्कर ने दीग से बचकर भरतपुर के क़िले में डेरा जमा लिया है तो उन दोनों ने निश्चय कर लिया कि होल्कर के साथ ही साथ भरतपुर के राजा को भी कठोरतम दण्ड दिया जाय।



भरतपुर का क़िला

जनरल लेक तो भरतपुर को जीतने के लिए बहुत ही उतावला हो रहा था। वह गवर्नर-जनरल को बार-बार लिख रहा था कि रनजीतसिंह को अवश्य दण्ड दिया जायगा। ३० नवम्बर १८०४ के एक पत्र के उत्तर में उसने लिखा था कि "यह मूर्ख रनजीत-सिंह क्या चाहता है, मैं यह समझने में अशक्त हूँ। उसे हमारी सरकार से किसी कृपा की आशा न रखनी चाहिए, क्योंकि उसका हमारे प्रति दुर्व्यवहार बहुत ही अकारण और उग्रता-पूर्ण रहा है।"

जब होल्कर के भरतपुर पहुँचने का समाचार गवर्नर-जनरल को मिला तो उसने जनरल लेक को लिखा कि "अब भरतपुर के राजा की शक्ति को सर्वथा नष्ट करना अत्यन्त आवश्यक हो गया है।" उसने सेनापति को भरतपुर पर आक्रमण करके उसे हस्तगत करने के पूर्ण अधिकार दे दिये।

सर्वाधिकार-सम्पन्न होकर जनरल लेक ने पूरी शक्ति के साथ भरतपुर के दुर्ग पर आक्रमण कर दिया। ७ जनवरी १८०५ को तोपें भरतपुर पर गोले बरसाने लगीं। २ दिन

की गोलाबारी के पश्चात् समझा गया कि क़िले की दीवार काफ़ी टूट गई है। फलतः धावा बोल दिया गया। इस पहले धावे का जो परिणाम हुआ वह जनरल लेक के शब्दों में ही सुनिये। उसने गवर्नर-जनरल को लिखा—

"मुझे दुःख है कि दीवार के पास पहुँचने पर हमारी आक्रमण करने वाली सेना के मार्ग में बहुत विकट कठिनाइयाँ उपस्थित हो गईं। खाई में पानी बहुत गहरा था। इस बाधा को शीघ्र ही दूर कर दिया गया, और हमारे सिपाही टूटी हुई दीवार के पास पहुँच गये। यद्यपि दीवार से पार होने के बहुत यत्न किये गये, परन्तु उसकी चोटी तक पहुँचने की सब चेष्टायें बेकार हुईं, और हमारे सिपाहियों को बहुत-सी हानि उठाकर अपने तोपखाने के पास वापिस आ जाना पड़ा।"

कुछ दिनों के पश्चात् क़िले को लेनें का दूसरा प्रयत्न किया गया। उस प्रयत्न का वृत्तान्त भी जनरल लेक के शब्दों में सुनिये। २१ जनवरी को लेक ने गवर्नर-जनरल को लिखा—

"सेवा में निवेदन है कि, यह समझकर कि हमने क़िले की दीवार में काफ़ी दरार डाल दी है, मैंने उस पर दोपहर बाद आक्रमण करने का निश्चय किया। ३ बजे से कुछ पहले आक्रान्ता टुकड़ी अपनी खाइयों से निकलकर आगे बढ़ी। मुझे यह लिखते दुःख होता है कि क़िले की खाई इतनी चौड़ी और गहरी थी, कि उसे पार करने के जितने यत्न किये गये, सब व्यर्थ हुए, और टुकड़ी को निष्फल होकर अपनी खाइयों में वापिस आ जाना पड़ा।"

इस प्रकार दूसरी बार अंग्रेज़ सेना पराजित हुई जिससे अंग्रेज़ों के दबदबे को बहुत भारी धक्का लगा। परन्तु अंग्रेज अभी निराश नहीं हुए थे। फरवरी की २० ता० को जनरल लेक के सूरमों ने क़िले पर फिर चढ़ाई की। अंग्रेज़ों की सेना में जो हिन्दुस्तानी सिपाही थे वे जान की बाजी लगाकर लड़े, परन्तु गोरे फ़ौजियों ने अत्यन्त कायरता दिखाई। जब अंग्रेज़ों की सेना का अगला भाग क़िले की दीवार के समीप पहुँच गया तब ७५ और ७६ नं० की रेज़ीमेण्ट के गोरे सिपाहियों ने आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया, अफ़सरों ने उनकी बहुत ख़ुशामदें की, परन्तु वे टस से मस न हुए। तब १२वीं और १५वीं रेज़ीमेण्ट के हिन्दुस्तानी सिपाहियों को आगे बढ़ने का हुक्म दिया गया, और वे आगे बढ़े। इन हिन्दुस्तानी सिपाहियों की वीरता का यह परिणाम निकला कि भरतपुर की सेना के प्रत्याक्रमण रोके जा सके, जिससे जनरल लेक की सेना सर्वनाश से बच गई, अन्यथा उस पर बहुत भारी संकट आ गया था।

जनरल लेक का तीसरा धावा भी व्यर्थ हुआ। इन तीन निष्फलताओं की ख्याति चारों ओर फैल गई, जिससे अंग्रेज़ों की अजेयता का गुब्बारा फटता-सा दीखने लगा। यह देखकर गवर्नर-जनरल ने जनरल लेक को आदेश दिया कि किसी न किसी उपाय से लड़ाई को शीघ्र ही समाप्त कर दिया जाय। उसने परामर्श दिया कि हो सके तो राजा रनजीतसिंह को होल्कर से फोड़कर अलग कर दिया जाय, जिससे होल्कर अकेला पड़कर हार मानने के लिए बाधित हो जाय। जहाँ वीरता और युद्ध-कुशलता सफल न हुई वहाँ भेद-नीति अपना काम

कर गई। पहले अंग्रेज़ों ने अमीर खां पण्डारी को तोड़ लिया। वह आधे दिल से होल्कर का काम करने लगा। फिर रनजीतसिंह पर जाल फेंके गये। जनरल लेक को तीन बार मुंह की खाकर आकाश से नीचे उतर आना पड़ा। कहाँ तो भरतपुर का सर्वनाश करने की धमकी दी जा रही थी, और कहाँ अब उससे सन्धि की शर्तें तय होने लगीं। राजा का सन्धि सम्बन्धी प्रस्ताव पर विचार करने के लिए उद्यत हो जाना स्वाभाविक भी था। उसने संकट में पड़े हुए होल्कर को आश्रय देकर वस्तुतः क्षत्रियों के योग्य कार्य किया था, और अपनी आन को प्राण-पन से निभाया भी, परन्तु इससे आगे रास्ता बन्द था। अमीर खां बिगड़ रहा था और अन्य किसी दिशा से सहायता की आशा नहीं थी। एक बार आशा हुई थी कि सीन्धिया की ओर से कुछ कुमुक पहुँचेगी, परन्तु सीन्धिया के अंग्रेज़ अफ़सरों ने वह भी न होने दिया। ऐसी दशा में राजा रनजीतसिंह का सुलह के लिए उद्यत हो जाना स्वाभाविक ही था। यह ध्यान देने योग्य बात है कि सन्धि की शर्तों में ऐसी कोई बात नहीं थी कि होल्कर को अंग्रेज़ों के सुपुर्द कर दिया जाय। १८०५ के अप्रैल महीने में अंग्रेज़ों से भरतपुर की सन्धि हो गई, परन्तु होल्कर अंग्रेज़ों के पंजे से बचकर पंजाब की ओर चला गया। उसे आशा थी कि सिक्ख उसे विदेशी आक्रान्ताओं के विरुद्ध सहायता देंगे, परन्तु वह पूरी न हुई। उस समय भारतवासियों में यही सब से बड़ा दोष था कि वे आने वाले भय को देखकर देश-हित के निमित्त इकट्ठे नहीं हो सकते थे। स्वार्थ और अदूरदर्शिता ने उन्हें राजनीतिक अन्धा बना दिया था। जब सिक्खों की ओर से निराशा हुई, तब होल्कर ने व्यास नदी के तट से अंग्रेज़ों के पास सुलह का प्रस्ताव भेजा जो स्वीकार कर लिया गया। वर्ष भर की घटनाओं से अंग्रेज़ गवर्नर-जनरल और सेनापति के दिमाग़ पर काफ़ी ठण्डा पानी पड़ चुका था, उनका जोश बुझ चुका था। वे अनुभव कर रहे थे कि यदि इस युद्ध को किसी न किसी तरह समाप्त न कर दिया गया तो जहाँ एक ओर हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ी राज्य ख़तरे में पड़ सकता है वहाँ दूसरी ओर इंग्लैण्ड में बेभाव की पड़ेंगी, क्योंकि भरतपुर की पराजय ने अंग्रेज़ों के सैनिक गौरव को असह्य आघात पहुँचा दिया था। परिस्थिति को शान्त करने के लिए अंग्रेज़ों ने होल्कर से भी लगभग वैसी ही सन्धि कर ली, जैसी सीन्धिया आदि से हो चुकी थी।

इस प्रकार दूसरे मराठा-अंग्रेज़ युद्ध की समाप्ति हुई। इसमें यद्यपि अन्तिम जीत अंग्रेज़ों की हुई, तथापि जनरल लेक के दुरभिमान को ऐसा भारी धक्का लगा कि हम भरतपुर को उसका वाटर्लू कह सकते हैं। लार्ड वैल्ज़ली के यशरूपी चन्द्रमा के लिए भी भरतपुर का युद्ध राहु सिद्ध हुआ। उसकी अदूरदर्शितापूर्ण उग्र नीति और फ़िज़ूल ख़र्चियों से ईस्ट इण्डिया कम्पनी के डायरेक्टर इतने असन्तुष्ट हो गये थे कि १८०५ के अगस्त मास के प्रारम्भ में डायरेक्टरों ने उसके स्थान पर मार्क्विस कार्नवालिस को दूसरी बार गवर्नर-जनरल नियुक्त कर दिया और लार्ड वैल्ज़ली को इंग्लैण्ड वापिस बुला लिया, जहाँ उसे डायरेक्टरों से बहुत अपमानित होना पड़ा।

तेतीसवाँ अध्याय

वैल्लोर में सिपाही-विद्रोह

उस समय भारत से सम्बन्ध रखने वाले अंग्रेज़ों में दो विचार-धारायें काम कर रही थीं। एक श्रेणी के अंग्रेज़ भारत को सोने के अण्ड देने वाली मुर्ग़ी मानते थे, और उसकी वहीं तक पालना करना चाहते थे, जहाँ तक उससे सोना निकलता रहे। दूसरी श्रेणी के अंग्रेज़ रोम के विशाल साम्राज्य का स्वप्न देख रहे थे। वे शीघ्र से शीघ्र सारे भारत के स्वामी बनकर मुग़ल साम्राज्य के उत्तराधिकारी बन जाना चाहते थे। पहली श्रेणी के प्रतिनिधि ईस्ट इण्डिया कम्पनी के डायरेक्टर लोग थे, जो प्रत्येक साधन को काम में लाकर भारत से धन खेंचना चाहते थे। युद्ध हो या शान्ति, उन्हें धन मिलना चाहिए। दूसरी श्रेणी के व्यक्तियों का प्रतिनिधि हम लार्ड वैल्ज़ली जैसे अंग्रेज़ों को मान सकते हैं, जिनका मुख्य लक्ष्य भारत में ब्रिटिश साम्राज्य को बढ़ाकर थोड़े से थोड़े समय में सर्वव्यापी बना देना था।

लार्ड वैल्ज़ली विजय की योजनायें बग़ल में दबाये हुए भारत में आया था। उसने अपनी योजनाओं को बड़ी तत्परता से पूरा करने का यत्न किया। बहुत दूर तक उसे सफलता भी मिली, परन्तु उसने दूरदर्शिता की सीमा का उल्लंघन कर दिया। उसने चादर से आगे पाँव पसार दिये। फल यह हुआ कि अन्त में उसे भरतपुर के क़िले की दीवारों से टकराकर हार माननी पड़ी, जिससे अंग्रेज़ों के दबदबे को बहुत बड़ी ठोकर लगी। इतना ही नहीं। वैल्ज़ली के युद्धों ने भारत की अंग्रेज़ी सरकार को लगभग दीवालिया बना दिया। ख़ज़ाना ख़ाली हो गया, क्योंकि कई वर्षों से व्यय की मात्रा आय से आगे जा रही थी। भारत से माल का जाना लगभग बन्द था। व्यापार नष्ट हो रहा था और लड़ाई का ख़र्च बढ़ रहा था, जिसे पूरा करना असम्भव हो रहा था। आर्थिक दृश्य का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि जब वैल्ज़ली के उत्तराधिकारी कार्नवालिस ने कार्य-भार सँभाला, तब सेनाओं का कई महीनों का वेतन पीछे पड़ गया था। कुछ और समय तक वेतन न मिलता तो सिपाहियों में विद्रोह हो जाने की आशंका थी। धन की कमी को पूरा करने के लिए लार्ड वैल्ज़ली ने अवध के वजीर से २० लाख रुपयों का ऋण लिया, वह भी काफ़ी सिद्ध नहीं हुआ। युद्ध का व्यय शैतान की आंत की तरह बढ़ता ही गया, जिससे अन्त में सरकार के कोष-गृह में शून्य आकाश रह गया।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के डायरेक्टर और सब कुछ सह सकते थे, परन्तु घाटा उनके लिए असह्य था। अंग्रेज़ इतिहास-लेखक जेम्स मिल ने इस विषय में ठीक लिखा था कि अंग्रेज़ों की दृष्टि में भारत वहीं तक लाभदायक है, जहाँ तक उससे धन-प्राप्ति हो सके। उन दिनों कम्पनी का राज्य था, और कम्पनी एक व्यापारिक संस्था थी, इस कारण उसका दृष्टिकोण प्रधानरूप से आर्थिक था। उसके भेजे हुए शासक भारत में मनमानी करते रहें

इसकी कम्पनी को चिन्ता नहीं थी, उसके कार्यालय में चैन की बंसी बजती रहती थी, परन्तु जहाँ भारत से थैलियाँ आनी बन्द हुईं कि डायरेक्टरों की नींद खुल जाती थी। लार्ड वैल्ज़ली के युद्ध नीति और न्याय के अनुकूल हैं या नहीं, इसकी ओर डायरेक्टरों ने तब तक ध्यान नहीं दिया जब तक कम्पनी की आय पर असर नहीं पड़ा, परन्तु ज्योंही आर्थिक स्थिति बिगड़ी कि कम्पनी के घर में हलचल मच गई, जिसका परिणाम यह हुआ कि बोर्ड ने लार्ड वैल्ज़ली जैसे जोशीले गवर्नर-जनरल को वापिस बुलाकर उसके स्थान पर ६३ साल के बूढ़े लार्ड कार्नवालिस को भारत का गवर्नर-जनरल और प्रधान सेनापति नियुक्त कर दिया।

लार्ड कार्नवालिस के सुपुर्द मुख्य रूप से दो काम किये गये थे। एक तो यह था कि वह देश के अनेक भागों में फैली हुई युद्ध की दलदल में से कम्पनी का उद्धार करे, और दूसरा यह था कि आर्थिक स्थिति को सुधारे। दोनों काम कठिन थे, परन्तु कार्नवालिस अनुभवी शासक था। उसने दृढ़ता से दोनों प्रयत्न जारी कर दिये। उसने आते ही लार्ड लेक को कठोर आज्ञा दी कि वह लड़ाई बन्द करके और सीन्धिया होल्कर आदि सरदारों से सुलह कर ले। लार्ड लेक युद्ध का मतवाला था, उसने कुछ आपत्तियाँ उठाईं, यह देखकर लार्ड कार्नवालिस ने स्वयं उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान करने का निश्चय किया, और इसकी सूचना लेक को भी दे दी।

लार्ड कार्नवालिस की आयु अधिक थी, और शरीर रोगी था, अतः वह भारत की जलवायु और यात्रा की असुविधा को न सह सका। वह अभी गाजीपुर तक ही पहुँचा था कि उसे बीमारी ने घेर लिया। प्रतीत होता है कि देश की शोचनीय दशा, और लेक की हठधर्मी ने भी उसके स्वास्थ्य पर असर डाला। वह भारत में आने के लगभग तीन महीने बाद शासन-सुधार की सब उमंगों को साथ लेकर इस लोक से विदा हो गया।

कार्नवालिस के पश्चात् कौंसिल के उच्च सदस्य सर जार्ज बार्लो ने गवर्नर-जनरल का कार्य सँभाला। वह एक साधारण योग्यता का व्यक्ति था। यदि लार्ड कार्नवालिस की आकस्मिक मृत्यु न हो जाती तो ऐसे प्रतिभाहीन व्यक्ति को इतना ऊँचा पद न दिया जाता, परन्तु डायरेक्टर लोग अधिक प्रतिभावाले ओजस्वी गवर्नर-जनरलों से इतना तंग आ चुके थे कि उन्होंने एक साधारण व्यक्ति को ही ग़नीमत समझा, और लगभग एक वर्ष तक बार्लो को गवर्नर-जनरल की कुर्सी पर चिपकाये रखा। बार्लो की अपनी कोई विशेष नीति नहीं थी। वह वैल्ज़ली के समय में उग्र नीति का समर्थक था, तो कार्नवालिस के पीछे शान्तिमयी नीति का समर्थक बन गया। उसके समय में सीन्धिया को ग्वालियर और दोहद वापिस देकर सन्तुष्ट किया गया और होल्कर से नर्म सन्धि करके दूसरे मराठा युद्ध को समाप्त किया गया। सीन्धिया और होल्कर से उदार सन्धियाँ करने का जहाँ एक ओर यह परिणाम हो गया कि दक्षिण और मध्य भारत में युद्ध की अग्नि बुझ गई, वहाँ साथ ही अंग्रेज़ों द्वारा राजपूतों से की गई वह सन्धियाँ भी टूट गईं जिन द्वारा कम्पनी ने मराठा आक्रमणों से राजपूताने की रियासतों की रक्षा के वायदे किये थे। उग्र नीति के समर्थक अंग्रेज़ बार्लो से बहुत असन्तुष्ट थे। वह उसकी नीति को कायरतापूर्ण और कुटिल कहकर धिक्कारते थे। वस्तुतः बार्लो

स्वयं दोषी नहीं था। ऊपर से कुछ कहा जाय, अन्दर से ब्रिटिश-नीति का मूल तत्त्व यही था कि भारतवासियों को झूठे वायदों से फुसलाकर एक दूसरे से लड़ाओ और उससे लाभ उठाकर इंग्लैण्ड की शक्ति को बढ़ाओ। बार्लो उसी नीति का घटिया नमूना था।

दूसरा मराठा युद्ध समाप्त हो गया। यद्यपि उसने मराठाशाही का अन्त नहीं किया तो भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि मुख्य मराठा सरदार अलग-अलग परास्त होकर अंग्रेज़ों से हीन सन्धि करने पर मजबूर हो गये। पेशवा तो अंग्रेज़ों का बँधुआ ही बन गया था, सीन्धिया, भोंसला और होल्कर भी बहुत कुछ निर्बल हो गये, यद्यपि क़ानूनी तौर पर उनकी शासन-सत्ता विद्यमान रही। अंग्रेज़ों की सापेक्षक सफलता और मराठों की सापेक्षक पराजय के मुख्य कारण वही थे, जिनसे भारत को बार-बार पराजय का मुँह देखना पड़ा। भारत के शक्तिशाली लोग विदेशी आक्रान्ताओं के विरुद्ध मिलकर न लड़ सके, फलतः अलग-अलग परास्त होकर सारे देश की पराजय के कारण बनते रहे।

बार्लो के शासन-काल में वैल्लोर (मद्रास) में ब्रिटिश काल का पहला सिपाही विद्रोह हुआ। यह सिपाही-विद्रोह ५० साल बाद आने वाली बड़ी क्रान्ति की मानो भूमिका थी। इसके भी लगभग वही कारण थे, जिनसे देश भर में विद्रोह की अग्नि भड़कने वाली थी। १० जुलाई १८०६ को दिन के दो बजे वैल्लोर छावनी के हिन्दुस्तानी सिपाहियों ने इकट्ठे होकर अपने सेनापति कर्नल फ्रेंकफोर्ट के बँगले को घेर लिया। गोली की आवाज़ से फ्रेंकफोर्ट की नींद खुल गई। बाहिर आकर देखा तो सिपाहियों की रोष भरी आँखें दिखाई दीं। वह उन्हें दबाने का यत्न कर रहा था कि गोली आकर लगी जो घातक सिद्ध हो गई। इतने में अंग्रेज़ सेना इकट्ठी हो गई और सिपाहियों के हथियार ले लिये। विद्रोह के नेताओं को दण्ड देकर मामले को निपटा दिया गया, ताकि अधिक चर्चा से छूत का रोग दूर तक न फैल जाय।

इस सिपाही-विद्रोह के मुख्य कारण दो थे। पहला कारण तो यह था कि वैल्लोर में टीपू सुल्तान के लड़के क़ैद थे। यद्यपि यह निश्चित बात थी कि उन लड़कों का विद्रोह को भड़काने में कोई हाथ नहीं था तो भी हिन्दुस्तानी जनता और सिपाहियों में उनके प्रति जो अन्तर्हित सहानुभूति थी, विद्रोह की मनोवृत्ति उत्पन्न करने में उसका काफ़ी हिस्सा अवश्य था। दूसरा कारण सेना-विभाग की ओर से धार्मिक भावनाओं के प्रति उपेक्षा का व्यवहार था। कुछ बहुत ही भद्दी और अदूरदर्शितापूर्ण आज्ञायें दी गई थीं। माथे पर टीका लगाने, या कानों में कुण्डल पहिनने की मनाही कर दी गई थी, और यह भी आज्ञा दे दी गई थी कि परेड के समय सिपाही दाढ़ी मुंडाकर आया करें। मूंछों की लम्बाई और ढंग के बारे में भी विशेष आज्ञायें प्रचारित कर दी गई थीं। ऐसी आज्ञाओं से सिपाहियों के मन पर यह प्रभाव पड़ा कि उन्हें धर्म-भ्रष्ट करके ईसाई बनाने की योजना की जा रही है। बातें छोटी-छोटी थीं, परन्तु उनका सम्मिलित प्रभाव अच्छा नहीं हुआ। उन दिनों मद्रास में ईसाइयों का प्रचार-कार्य ज़ोरों से चल रहा था। लार्ड वैल्ज़ली ने कलकत्ते में जिस कालिज की स्थापना की थी, उसका लक्ष्य भी बहुत कुछ ईसाई धर्म का प्रचार करना ही समझा गया। फलतः सिपाहियों में ऐसा वातावरण उत्पन्न हो गया जिसमें असन्तोष और आशंका का मिश्रण था।

विद्रोह शीघ्र ही दब गया, परन्तु भविष्य में आने वाले संकट की सूचना दे गया। उसने प्रकट कर दिया कि अत्यन्त सीधे-सादे और स्वभाव से शान्त हिन्दुस्तानी सिपाही में भी मानसिक चोट खाकर ज्वालामुखी की तरह भड़क उठने की शक्ति है।

वैल्लोर के सिपाही-विद्रोह से इंग्लैण्ड में हलचल-सी मच गई। यद्यपि वह पहला सिपाही-विद्रोह भी पीछे आने वाले सिपाही-विद्रोह की भाँति अंग्रेज़ों की स्वार्थपूर्ण कुटिल नीति का परिणाम था, तो भी उसके लिए किसी न किसी की बलि चढ़ाना आवश्यक समझा गया, और उस समय के मद्रास के गवर्नर लार्ड विलियम बेंटिक को कुर्बानी का बकरा बनाया गया। उसे गवर्नर के पद से हटाकर वापिस इंग्लैण्ड बुला लिया गया।

१८०७ में ब्रिटिश सरकार ने सर जार्ज बार्लो के स्थान पर लार्ड मिण्टो को गवर्नर-जनरल नियुक्त करके भारत भेज दिया। ब्रिटिश सरकार ने भारत का गवर्नर-जनरल नियुक्त करने के अधिकार का यह पहली बार प्रयोग किया।

चौंतीसवाँ अध्याय

देश की दुर्दशा

सर जार्ज बार्लो चला गया, और लार्ड मिण्टो आ गया। नाम बदल गया, पर काम वही रहा। गवर्नर-जनरल की गद्दी पर कोई बैठे, परिणाम वही होता था, क्योंकि अंग्रेज़ों का लक्ष्य निश्चित था कि भारत से धन खेंचा जाय और धन खींचने की शक्ति बढ़ाने के लिए राजनीतिक सत्ता को बढ़ाया जाय। प्रारम्भ में, अंग्रेज़ों की भारत में राजनीतिक सत्ता बढ़ाने की भावना बहुत प्रबल नहीं थी, परन्तु जब इस देश की फूट और अन्य निर्बलताओं के कारण उन्हें यह अनुभव होने लगा कि यहाँ के शासकों पर सुलभ विजय प्राप्त की जा सकती है, तो उनकी विजय-कामना भड़क उठी और वह सुलह और शान्ति की पुकार करते हुए भी राजनीतिक सत्ता को बढ़ाने में लग गये।

उस समय अंग्रेज़ों का लक्ष्य भारत से धन चूसना, और धन चूसने की शक्ति उत्पन्न करने के लिए राज्य-शक्ति को बढ़ाना ही था, देश का प्रशासन करना नहीं, इसका सबसे प्रबल प्रमाण यह है कि अंग्रेज़ों के सत्ता सँभालने के पश्चात् देश की आन्तरिक दशा निरन्तर बिगड़ती ही गई, और अंग्रेज़ शासकों ने उसको सुधारने के लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया। देश की अशान्त दशा के कारण अंग्रेज़ों को उसमें हस्तक्षेप करने और आगे बढ़ने का अवसर मिलता था, इस कारण सन्देह तो यह होता है कि शायद उस समय के अंग्रेज़ शासक बढ़ती हुई अराजकता का तब तक स्वागत करते थे जब तक वह सामने आकर उनके अपने हितों से न टकराये। यदि बिल्लियाँ न लड़ें तो बन्दर को पंच बनने का अवसर कैसे मिले ?

यों तो मुग़ल साम्राज्य की निर्बलता के साथ-साथ देश में व्यवस्था की कमी होती गई थी, परन्तु फिर भी मुग़ल साम्राज्य के प्रान्तों अथवा स्वतन्त्र हो गये प्रदेशों में जनता के खेती-बाड़ी, व्यापार आदि कारोबार भली प्रकार चलते थे। जहाँ जिसका भी शासन था, वहाँ उसकी छत्र-छाया में प्रजा अपनी जीवन-यात्रा सुख से काटती थी। किसान लोग खेती करते थे, कारीगर लोग उत्तमोत्तम वस्तुएँ बनाते थे और शेष सब रोजगार भी पद्धति के अनुसार चलते थे। पंचायतों से ग्रामों की व्यवस्था हो जाती थी, गाँव-गाँव में पाठशालायें थीं, या मकतब थे, जिनमें जाति के बच्चे शिक्षा प्राप्त कर लेते थे। इस प्रकार शासकों में परिवर्तन हो जाने पर भी प्रजा का जीवन-प्रवाह बे-रोक-टोक चलता जा रहा था।

अंग्रेज़ों के राज्य-सत्ता सँभालने पर देश की दशा में एक बड़ा परिवर्तन आ गया। जहाँ जहाँ अंग्रेज गये वहाँ वहाँ या तो उन्होंने देशी शासकों को नष्ट करके अपनी सत्ता स्थापित करली, या उन्हें इतना निर्बल बना दिया कि वे अंग्रेज़ों के सहारे के बिना खड़े न रह सकें। दोनों दशाओं में प्रजा की भलाई और रक्षा का उत्तरदायित्व अंग्रेज़ों पर आ जाना चाहिए था, परन्तु

अंग्रेज़ों को मुख्य रूप से भारत के पैसे की धुन थी, प्रजा के हित की नहीं। परिणाम यह हुआ कि ज्यों ज्यों कम्पनी का प्रभुत्व बढ़ता गया, त्यों त्यों प्रजा की दशा बिगड़ती गई । लार्ड क्लाइव से लेकर लार्ड मिण्टो के समय तक की देश दशा पर दृष्टि डालकर देखें तो हम सभी दिशाओं में अशान्ति, अव्यवस्था और अराजकता के कारण प्रजा को अधिक से अधिक कष्ट में घिरता हुआ पाते हैं।

पहले अमन-चैन के दृष्टिकोण से देखिये । सबसे पहले अंग्रेजों की प्रभुता बंगाल में स्थापित हुई । अंग्रेज लेखक सदा यह दावा करते रहे कि उनके आने से भारत में शान्ति का राज्य हो गया । परन्तु पहली शताब्दी में बंगाल ने आन्तरिक शान्ति की दृष्टि से खोया बहुत कुछ और पाया कुछ नहीं । कहने को तो सदर अदालत और सुप्रीम कोर्ट जैसे विशाल नामों वाले न्यायालय बन गये । परन्तु प्रजा को उनसे कोई सुख नहीं मिला । ग्रामों की वह पंचायत-प्रथा, जिसने सदियों से नहीं, अपितु युगों से भारतीय प्रजा की रक्षा की थी, शिथिल होती जा रही थी, जिस कारण गाँव के रहने वाले न्याय से प्रायः वंचित होने लगे थे । परिणाम यह हुआ कि कम्पनी के शासन-काल में बंगाल में डकैती और लूटमार का खुला दौर-दौरा हो गया ।

बंगाल में डकैतियों के बारे में कुछ अंग्रेज लेखकों के उद्धरण देने पर्याप्त होंगे । जेम्स मिल ने भारत के इतिहास में लिखा है—

"इंग्लिश सरकार के प्रबन्ध और क़ानून-व्यवस्था में इस प्रकार के (डकैतियों जैसे) अपराध कम नहीं हुए वह इतने बढ़ गये कि एक सभ्य जाति के शासन के लिए लज्जाजनक हो गये । अंग्रेज़ी सरकार के समय में यह इतने बढ़ गय कि देशी राज्य में उनका कोई दृष्टान्त नहीं मिलता । इतना ही नहीं, उनकी संख्या इतनी अधिक हो गई है कि जितनी किसी क़ानून या शासन रखने वाले देश में अब तक नहीं देखी गई ।"

१९वीं शताब्दी के प्रारम्भ के भारत में जज के पद पर आरूढ़ सर हेनरी स्टैचो ने लिखा था—

"मैं समझता हूँ कि जब से अंग्रेज़ों ने (भारत के) न्याय-शासन को अपने हाथ में लिया है, तब से डकैती बहुत बढ़ गई है ।"

१८०८ में राजशाही के सर्किट जज ने लिखा था—

"प्रजा की रक्षा की व्यवस्था नहीं है । सच बात यह है कि जान-माल की रक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं है ।"

१८०९ में अंग्रेज़ी सरकार के सेक्रेटरी ने भारत की दशा के बारे में रिपोर्ट की थी कि "भारत के प्रजाजनों के जान-माल की रक्षा की कोई व्यवस्था नहीं है ।"

इन साक्षियों से सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि अंग्रेज़ भारत में अपने साथ संरक्षा या व्यवस्था नहीं लाये, अपितु डकैती और लूट-मार लाये, उनका लक्ष्य शोषण था, प्रशासन नहीं।

उस समय की दुर्दशा का पूरा अनुमान पिंडारियों के उत्पातों से भी लगाया जा सकता है । मुग़लों का आक्रमण होने पर, गोलकुण्डा, बीजापुर आदि रियासतों में स्वतन्त्र घुड़सवारों

का एक ऐसा संगठन बन गया था, जिसके सिपाही पिंडारी कहलाते थे। ये लोग साधारण रूप से खेती आदि का काम करते थे, और युद्ध के समय इकट्ठे होकर इच्छानुसार मार-काट और लूट-मार द्वारा उस पक्ष की सहायता करते थे, जो उन्हें खरीद ले। वे किसी के नहीं थे, और सभी के थे, क्योंकि कोई भी पक्ष पुष्कल धन देकर उनसे सहायता ले सकता था। पहले दक्षिण के मुसलमान शासकों ने उनसे काम लिया, उनके नष्ट हो जाने पर वे मराठा सरदारों के सहायक बन गये। वे इच्छानुसार साथी बनाते और लूट-मार करते थे। जब अंग्रेज रंगभूमि पर आये, तो उन्होंने भी पिंडारियों से काम लेना आरम्भ किया। वे उनसे देसी रियासतों में अशान्ति फैलाने का काम लेते थे। ड्यूक ऑव वेलिंग्टन ने भारत के सेवा-काल में अपने एक अधीन अफ़सर को पत्र में स्पष्ट रूप यह इशारा किया था कि यदि होल्कर सीधी तरह हमारी बात न माने तो पिंडारियों को उससे तोड़कर अपनी सेवा में ले लिया जाय। पिंडारियों का नेता अमीर खां होल्कर का साथी समझा जाता था। वह अपने अरबी घुड़सवारों की टोली को साथ लेकर होल्कर के शत्रुओं को दिक करने में लगा रहता था। बहुत से इतिहास-लेखकों की सम्मति है कि वह अन्दर-अन्दर से अंग्रेज़ों से मिला हुआ था। दिखावे में होल्कर का साथी था, परन्तु अन्दर से अंग्रेज़ों का क्रीत दास था। पिंडारी दल वस्तुतः अराजकता का प्रतीक था। कोई ऐसा शासक, जो प्रजा की रक्षा करना अपना कर्तव्य समझे, पिंडारियों जैसे लुटेरे दल को नहीं अपना सकता। उसे तो अराजकता का दमन करना चाहिए, पोषण नहीं। परन्तु उस समय के अंग्रेज़ों को तो भारत के धन की आवश्यकता थी, उनके सुख-चैन की नहीं, इस कारण वे पिंडारी जैसी संस्था का पोषण करने में भी संकोच नहीं करते थे। लार्ड मिण्टो के शासन-काल के अन्तिम दिनों में अंग्रेज़ सेनाओं ने अमीर खां को बिहार से निकालने में राजा की सहायता अवश्य की थी, परन्तु वह भी केवल एक राज-नीतिक चाल थी, जिसका उद्देश्य प्रजा का संरक्षण नहीं था। यदि प्रजा का संरक्षण उसका उद्देश्य होता तो अंग्रेज़ सेनायें अमीर खां के अरबी लुटेरों को निर्मूल करने का यत्न करतीं, उन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान पर न खदेड़ देतीं।

भारत के जो भाग अंग्रेज़ों के अधिकार में आ गये थे, उनकी तथा उनके पड़ोसी प्रदेशों की आर्थिक दशा बहुत ही बिगड़ गई थी। डकैतियों और पिंडारियों के उत्पात के मारे कृषि और वाणिज्य क्षीणता की ओर जा रहे थे। कारीगरों पर अंग्रेज़ों की विशेष कृपा-दृष्टि थी। वे लोग वहीं तक काम कर सकते थे, जहाँ तक उनसे कम्पनी को लाभ हो और इंग्लैण्ड के निवासी पैसा कमा सकें। ढाका की मलमल तैयार करने वाले कारीगरों के अँगूठे काटे जाने की बात का अंग्रेज़ लेखक कितना ही प्रतिवाद करें, पर यह बात असन्दिग्ध है कि उस समय के अंग्रेज़ भारत को अपने लिए कामधेनु समझते थे, और उसके हरएक स्तन को दुहने में लगे हुए थे। यह लगभग सर्वसम्मत बात है कि उन दिनों अंग्रेज़ी इलाक़ों में प्रजा से जो कर लिया जाता थी, उसकी दर देसी राज्यों की अपेक्षा बहुत अधिक था। देश के शासकों पर सैनिक दबाव डालकर उनसे जो रकमें ऐंठी जाती थीं, वह फोकट में थीं।

१९वीं सदी के अंग्रेज़ लेखकों का यह तकिया-कलाम-सा हो गया था कि अंग्रेज़ों को

भारत की भलाई के लिए भगवान् ने भेजा है, क्योंकि उन्होंने ही इस देश का अराजकता और लूट-मार से उद्धार किया है। यह दावा बिल्कुल निर्मूल था। वस्तुतः बात यह है कि अंग्रेज़ों के आने से भारत पर अराजकता, निर्धनता और सामाजिक दरिद्रता बलाओं की तरह टूट पड़ी थीं, जैसे आश्विन के मास में आकाश से तारे टूटते हैं। १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारत की जो दशा थी, वह हमारे इस कथन को अक्षरशः प्रमाणित करती है। लार्ड मिण्टो ऐसे ही समय में भारत का गवर्नर-जनरल बनकर आया था।

पैंतीसवाँ अध्याय

सिक्ख और अकाली

बन्दा वैरागी[1] की नृशंस हत्या के पश्चात् कुछ समय के लिए पंजाब में सिक्खों की शक्ति तितर-बितर हो गई, परन्तु फिर शीघ्र ही सँभलने लगी। अब्दाली के पहले आक्रमणों ने दिल्ली की जिस प्रभुता को केवल हिलाया था, पानीपत की लड़ाई ने उसे चकनाचूर कर दिया। फलतः अन्य प्रान्तों की भाँति पंजाब में भी मुग़ल सल्तनत की पकड़ ढीली पड़ गई। सिक्खों ने उससे लाभ उठाया, और पंजाब के अनेक केन्द्रों में स्वतन्त्र सत्ता क़ायम करने का उपक्रम कर दिया। अहमदशाह अब्दाली भारत से जाता हुआ ख्वाजा उबेद दुर्रानी को पंजाब का सूबेदार नियुक्त कर गया था। जब सिक्ख सिर उठाने लगे तो अब्दाली ने सात हज़ार घुड़सवारों के साथ एक सेनापति को उन्हें कुचलने के लिए रवाना किया। सिक्ख सरदारों ने मिलकर उसका गर्मागर्म स्वागत किया। वह हार गया, और जम्मू के राजा की शरण में चला गया। जम्मू का राजा दुर्रानी का फरमाबर्दार समझा जाता था। ख्वाजा उम्बेद स्वयं सिक्खों को दण्ड देने के लिए मैदान में उतरा परन्तु वह भी सिक्खों की बढ़ती हुई शक्ति के सामने न ठहर सका, और अन्त में लाहौर के क़िले में बन्द होकर बैठ गया। इन सफलताओं ने सिक्खों के आत्मविश्वास और हौसले को बहुत बढ़ा दिया। सिक्खों के दल दीवाली के शुभ अवसर पर अमृतसर में एकत्र हुए, और उन्होंने 'वाह गुरूजी का खालसा', 'वाह गुरूजी की फतह' का सिंहनाद करके परस्पर मिलकर रहने और पंजाब से मुसलमानों को निकाल बाहिर करने का गुरुमता स्वीकार किया।

यह सब समाचार जब काबुल में पहुँचे, अहमदशाह अब्दाली का आसन डोल गया, और उसने एक बड़ी घुड़सवार सेना लेकर भारत पर छठी बार चढ़ाई की। जिस समय शाह लाहौर में पहुँचा, सिक्ख जंडियाला और सरहिन्द पर आक्रमण कर रहे थे। अब्दाली के पास पहुँचने पर वह तितर-बितर होकर हरियाना की ओर फैल गये। कोट टहीरा पर सिक्खों ने कड़ा विरोध किया, परन्तु उन्हें मैदान छोड़ना पड़ा। कहा जाता है कि उस युद्ध में लगभग १५-२० हज़ार सिक्ख काम आये।

इस सफलता के पश्चात्, दीवाली के अवसर पर जब कि सिक्ख लोग अमृतसर में इकट्ठे हुआ करते थे, अब्दाली उसी शहर पर टूट पड़ा, और सिक्ख-पन्थ को जड़-मूल से उखाड़ फेंकने के विचार से सरदार कलन्दर खां दुर्रानी को आज्ञा दी कि सिक्खों के तीर्थ हरमन्दर को नष्ट-भ्रष्ट कर दो। नादिरशाह ने दिल्ली में जो दानवी नाटक खेला था, अब्दाली ने अमृतसर में उससे भी भयंकर दृश्य उपस्थित कर दिया। हरमन्दिर को बारूद से उड़ा दिया गया। तालाब को

१. बन्दा वैरागी का वृत्तान्त लेखक द्वारा लिखित 'मुग़ल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण' नामक पुस्तक के दूसरे भाग में दिया गया है।

ईंट-पत्थर और सिक्खों के कटे हुए सिरों से भरने के अतिरिक्त उसके पानी को गौवों और सिक्खों के रक्त से अपवित्र किया गया। सिक्खों का सर्व-संहार करने की चेष्टा की गई। कटे हुए सिरों के कई ढेर लगाकर उन्हें सड़ने दिया गया। काश्मीर के सूबेदार सुखजीवन पर यह आरोप लगाकर कि वह स्वतन्त्र होना चाहता है आक्रमण कर दिया। सुखजीवन पकड़ा गया। जब वह दरबार में लाया गया तो शाह की ओर बुरी नज़र उठाने के अपराध में पहले उसकी आँखें निकाल ली गईं, और फिर मार डाला गया।

इस प्रकार अपनी सम्मति में सिक्खों की शक्ति का सर्वनाश करके अब्दाली काबुल को वापिस चला गया। अभी उसकी सेनायें चिनाब नदी तक ही पहुँची थीं कि सिक्ख सेनायें एकत्र होने लगीं और उन्होंने मिलकर कसूर पर आक्रमण कर दिया। कसूर में पठानों की बस्ती थी। उसे लूटकर सिक्खों ने मलेरकोटला को सर किया, और फिर सरहिन्द पर चढ़ाई कर दी। मुसलमान सूबेदार ने शहर से बाहिर निकलकर सिक्खों का रास्ता रोकने का यत्न किया। वह बुरी तरह परास्त हुआ और मारा गया। सरहिन्द सिक्खों के लिए खास मोर्चा बन गया था। वहाँ अन्तिम गुरु की माता और लड़कों का बलिदान हुआ था। उसे तबाह कर दिया गया। या तो उसके मकान गिरा दिये गये, अथवा अग्निसात् कर दिये गये। सरहिन्द के प्रायः सब मुसलमान निवासी तलवार के घाट उतार दिये गये। इस प्रकार अहमदशाह अब्दाली सिक्खों की जिस शक्ति को कुचलने की योजना बनाकर गया था, वह उसके काबुल जाने के पश्चात् दो वर्षों में ही कई गुना अधिक प्रबल होकर पंजाब भर में छा गई।

सिक्खों की जीत के समाचारों ने अहमदशाह को फिर हिला दिया, और वह १७६४ में एक बहुत बड़ी सेना लेकर पंजाब में आ धमका। इस बार उसकी यह इच्छा थी कि सिक्खों का सर्वनाश ही कर दिया जाय। लगभग दो महीनों तक वह लाहौर से दक्षिण के इलाकों में दानवी लीला दिखाता रहा। सिक्खों के घर गिरा दिये गये, खड़ी खेतियाँ जला दी गईं, और सिक्खों के धर्म-स्थान नष्ट कर दिये गये। अभी न जाने उसके मनसूबे क्या-क्या थे, पर वे अधूरे ही रह गये, क्योंकि उसके घर से विद्रोह के समाचार आने लगे, जिन्हें दबाने के लिए उसे तुरन्त काबुल की ओर वापिस जाना पड़ा।

वह काबुल की ओर चला तो सिक्ख उसके क़दमों पर क़दम रखते हुए लाहौर जा पहुँचे, और शहर का घेरा डाल दिया। कुछ दिनों तक सूबेदार ने क़िले की रक्षा का यत्न किया, परन्तु अन्त में वह भाग निकला और लाहौर पर सिक्खों का अधिकार हो गया। उसके पश्चात् अमृतसर में एकत्र होकर सिक्खों ने खालसा के स्वतन्त्र राज्य की घोषणा करते हुए, अपने शासनाधिकार को सूचित करने के लिए, खालसा का सिक्का प्रचारित कर दिया।

इस समय सिक्ख सरदार झेलम से कर्नाल तक पंजाब के पूरे स्वामी बन चुके थे। एक सिक्ख सवा लाख के बराबर माना जाता था, और जहाँ पूरा जत्था हो वहाँ तो मानो शाहंशाही खड़ी ही होती थी। सिर पर अलख ओङ्कार, हाथ में गुरु गोविन्दसिंह जी की तेग़ और जिह्वा पर गुरु नानक का नाम—बस सिक्ख वीर जिधर पड़ जाते थे, उधर मुसलमानों

की हुकूमत का अन्त कर देते थे। सदियों की दबी हुई हिन्दू धर्म की उठती हुई ज्वाला को औरंगज़ेब से लेकर अहमदशाह अब्दाली तक प्रायः सभी मुसलमान बादशाहों ने बुझाने की चेष्टा की परन्तु वह बढ़ती ही गई। यहाँ तक कि उसकी गर्मी एक ओर अटक के तट पर और दूसरी ओर दिल्ली के लाल क़िले की दीवारों पर भी अनुभव होने लगी।

सिक्खों के कारनामों का समाचार अहमदशाह तक पहुँचा तो वह बहुत आश्चर्यित और क्षुब्ध हुआ। वह तो समझता था कि उसने बला का सिर कुचल दिया है, पर वह तो पहले से भी अधिक भयंकर हो उठी। तब वयोवृद्ध शाह ने आठवीं बार भारत पर आक्रमण करके स्थायी रूप से सिक्ख शक्ति को समाप्त कर देने का निश्चय किया और १७६७ में अटक को पार करके पंजाब में प्रवेश किया। अब्दाली को सिक्खों के साथ लड़ने में उन्हीं कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, जिनके कारण मुसलमान सेनापतियों को मराठा घुड़सवारों से हार माननी पड़ी थी। शाह की सेनायें जिस दिशा में बढ़ती थीं, सिक्ख सेनायें उधर से हट जाती थीं, और दायें-बायें फ़ैल जाती थीं। जब सफलता का सेहरा बाँधकर शाह के सिपाही पीछे की ओर क़दम रखते थे, तब सिक्ख सूरमे चारों ओर से उन पर टूट पड़ते थे। बात यह थी कि सिक्ख पन्थ उठती हुई जवानी में था, और अब्दाली ढलते हुए बुढ़ापे में। बुढ़ापा यौवन के सामने कहाँ तक ठहर सकता था। अन्त में अब्दाली ने भी अनुभव कर लिया कि यह आग मेरे बुझाने की नहीं है, और उसने सिक्ख सरदारों से समझौता कर लिया। उसने पटियाला के सरदार अमरसिंह को स्वतन्त्र राजा के रूप में अंगीकार कर लिया, लाहौर की भंगी मिसल के सरदार लहनासिंह को प्रसन्न करने के लिए फलों की डालियाँ भेजीं, और जालन्धर दुआब के राजपूतों की स्वाधीनता को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार जो शाह सिक्खों का सर्वनाश करने और मुसलमानों पर किये गये अत्याचारों का खूनी बदला लेने के लिए काबुल से चला था, उसे सिक्खों की बढ़ती हुई शक्ति के सामने सिर झुकाना पड़ा, और वह समझौतों की लीपापोती करके निराश हृदय लेकर काबुल लौटने की सोचने लगा। जीतते के साथ शत्रु भी हो जाते हैं, और हारते को भाई भी छोड़ देते हैं, इस लोक-प्रथा के अनुसार अब्दाली की निर्बलता के समय में उसकी सेना के १२,००० दुर्रानी सिपाही उसे पंजाब में शत्रुओं से घिरा छोड़कर काबुल को चल दिये। तब तो भारत-विजय का स्वप्न लेनेवाले बहादुर की भी हिम्मत टूट गई, और वह किसी तरह पिंड छुड़ाकर तीव्र गति से काबुल की ओर रवाना हो गया, जहाँ कुछ समय पश्चात् वृद्धावस्था और उदास वातावरण में उसकी जीवन-लीला समाप्त हो गई।

छत्तीसवाँ अध्याय

महाराज रनजीतसिंह का उदय

अब्दाली के जाने के पश्चात् लगभग सारे पंजाब पर सिक्खों का अधिकार हो गया। हमने लगभग इसलिए कहा कि सतलुज और यमुना के बीच के प्रदेश पर मराठों की प्रभुता समझी जाती थी, और जब मराठों की शक्ति क्षीण होने लगी तब उनका स्थान ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने ले लिया। सतलुज से पार के प्रदेशों पर भी अनेक सिक्ख सरदारों का कब्ज़ा था, परन्तु वह पूर्ण रूप से स्वतन्त्र नहीं था। सतलुज से ऊपर-ऊपर के पंजाब पर अफ़ग़ानों की प्रभुता मानी जाती थी। उसी को जीवित रखने के लिए अहमद शाह दुर्रानी ने इतनी बार अटक पार किया था, पर वह सिक्खों की उठती हुई शक्ति को न तोड़ सका। अहमदशाह के उत्तराधिकारियों ने कुछ वर्षों तक पंजाब पर कब्जा रखने के कई टूटे-फूटे प्रयत्न किये, पर सब व्यर्थ हुए। अहमदशाह का लड़का तैमूरशाह सिन्ध से आगे न बढ़ सका। उसका लड़का शाह जमान अधिक महत्त्वाकांक्षी था। उसके दिल में अहमदशाह के कारनामों को दुहराने की हवस थी। उसने पंजाब पर तीन बार चढ़ाई की। एक बार लाहौर पहुँचकर जश्न भी मना लिया, परन्तु जितनी बार वह भारत में प्रविष्ट हुआ उतनी बार ही उसके अपने घर में या तो विद्रोह की आग फूट पड़ी या किसी शत्रु ने आक्रमण कर दिया। अन्त में वह भी थककर घर बैठ गया।


महाराज रनजीतसिंह

इधर सिक्खों की शक्ति निरन्तर बढ़ती गई। वह एक ऐसे लोकतन्त्रात्मक संघ के रूप में परिणत हो रहे थे, जिसमें प्रत्येक सिक्ख को लड़ने, लूटने और प्रभुता जमाने का समान अधिकार था। लगभग सभी सिक्ख सिपाही थे, वे लड़ने और लड़कर जो कुछ प्राप्त हो उसे परस्पर बाँटकर खाने का पूर्ण अधिकार रखते थे। उनमें से जो कोई अधिक साहसी और नेतृत्व के गुणों से युक्त होता, वह यदि कोई छोटी या बड़ी स्वतन्त्र रियासत बना सके तो बना लेता था।

इन बिखरी हुई शक्ति की कड़ियों को एक शृंखला के बन्धन में बाँधने वाली कई वस्तुएं थीं। अमृतसर सिक्खों का धार्मिक केन्द्र था। वहाँ एकत्र होकर वे लोग खालसा की रक्षा के लिए परस्पर सहायता का प्रण करते और युद्ध या सन्धि की योजनायें बनाते थे। सब

सिक्ख वीर दसवें पातशाह गुरु गोविन्दसिंह के नाम पर युद्ध करते थे। सिक्खों में एक अकाली (अमर) नाम का सम्प्रदाय बन गया था। अकाली सिपाही अन्य सिक्खों से अधिक साहसी और निर्भीक समझे जाते थे। जहाँ साधारण सिक्ख जाने से डरता था, वहाँ अकाली छलाँग लगा देता था। सरदार लोग अपने अलग-अलग अधिकार-क्षेत्रों में कर वसूल करते, और इच्छानुसार शासन करते थे, परन्तु मुसलमानों के मुकाबले में एक हो जाते थे। यह स्वाभाविक ही था कि सिक्खों का मुसलमानों से द्वेषभाव हो। गुरुओं और उनके शिष्यों पर मुसलमान शासकों ने जो अत्याचार किये थे, उनकी स्मृति बहुत ताजा थी। उन दिनों सिक्खों के अधिकार-क्षेत्र में मुसलमानों के लिए किसी ऊँचे पद पर पहुँचना या सम्मानित आजीविका करना सम्भव नहीं था। इस प्रकार अठारहवीं शताब्दी के मध्य में प्राय: सारे पंजाब पर सिक्खों की प्रभुता छा गई थी, परन्तु साथ ही वह इतने स्वतन्त्र टुकड़ों में बँटे हुए थे और वे टुकड़े इतने शिथिल बन्धनों से बँधे हुए थे कि हम उस प्रभुता को संघ या राज्य के नाम से केवल इसलिए पुकारते हैं क्योंकि इससे अधिक उपयुक्त कोई शब्द नहीं मिलता। वस्तुत: पंजाब में दर्जनों सिक्ख वंश पृथक्-पृथक् टुकड़ों पर शासन कर रहे थे, जिनको परस्पर सम्बद्ध रखने वाली केवल दो वस्तुएँ थी, एक सिक्ख पन्थ, और दूसरा राजनीतिक स्वार्थ, अन्यथा वह सब परस्पर निरपेक्ष थे।

शासन करनेवाले सिक्ख परिवार 'मिस्ल' के नाम से पुकारे जाते थे। भंगी मिस्ल सबसे प्रमुख थी, क्योंकि लाहौर पर उसका अधिकार था। अधिक भंग पीने के कारण उस वंश के लोग भंगी कहलाये। सुकर चकिया मिस्ल का दूसरा नम्बर था, पर महाराज रनजीत-सिंह ने उसमें जन्म लेकर उसे सबसे ऊँचे स्थान पर पहुँचा दिया। इस मिस्ल का अधि-कार-क्षेत्र झेलम, वजीराबाद आदि नगरों में विस्तृत था। अन्य मिस्लों के नाम रामगढ़िया मिस्ल, कन्हैया मिस्ल, आहलूवालिया मिस्ल आदि थे। मिस्लों का नामकरण प्राय: उनके संस्थापकों के निवास-स्थान के नाम से किया जाता था।

शक्ति के इन सब बिखरे हुए कणों को एकत्र करके एक प्रबल राज्य-शक्ति स्थापित करने का महान् कार्य महाराज रनजीतसिंह ने किया। रनजीतसिंह के पिता का नाम महासिंह था। महासिंह सुकर चकिया मिस्ल का प्रमुख नेता था। उसमे, और उसके पूर्वपुरुषों में वे सब गुण विद्यमान थे, जिनके कारण सिक्ख सरदार पंजाब को जीतने में सफल हुए। वे साहसिक थे, वीर थे, और पराजय से थकने या डरने वाले नहीं थे। मिस्ल का संस्थापक बुधसिंह अपने समय का प्रसिद्ध लुटेरा था, जिसका आतंक दूर-दूर तक फैला हुआ था। उसके वंशजों में से प्राय: सभी वीर लड़ाके थे, उन्हें अपने अधिकार-क्षेत्र को बढ़ाने के लिए निरन्तर लड़ना पड़ा और हथियारों से ही मरना पड़ा। महासिंह का जीवन भी लड़ाई के जोड़-तोड़ अथवा लड़ाई में ही व्यतीत हुआ। कलह और युद्ध उस समय के जीवन में इतने ओत-प्रोत थे कि महासिंह का विवाह भी शान्तिपूर्वक न हो सका। उसका विवाह जींद के राजा गजपतसिंह की कन्या से होना निश्चित हुआ था। लम्बी-चौड़ी बारात में जो बड़े-बड़े सरदार थे, उनमें नाभा का राजा हमीरसिंह भी था। शादी की धूम-धाम में गजपतसिंह और हमीरसिंह में एक छोटी-सी

बात पर झगड़ा हो गया, जो इतना लम्बा चला कि शादी के कुछ समय पश्चात् गजपत सिंह ने नाभा पर आक्रमण करके हमीरसिंह को चालाकी से कैद कर लिया और उसके प्रदेश का बहुत-सा भाग अपने अधिकार में ले लिया। ऐसा तूफ़ानी विवाह सम्बन्ध था, जिससे रनजीतसिंह का जन्म हुआ।

रनजीतसिंह का जन्म १७८० ईस्वी में हुआ। वह अभी १२ वर्ष का ही था जब उसके पिता का देहान्त हो गया। उस लूट-मार के विक्षुब्ध वातावरण में गद्दी को सुरक्षित रखना आसान काम नहीं था। रनजीतसिंह की स्थिति डाँवाँडोल हो जाती यदि उसे अपनी सास सदाकौर से पुष्कल सहायता न मिल जाती। सदाकौर कन्हैया मिस्ल की मुखिया थी। वह बहुत ही चतुर और महत्त्वाकांक्षिणी महिला थी। उसकी इच्छा थी कि सब प्रतिद्वन्द्वियों को परास्त करके पंजाब के बड़े भाग पर प्रभुताई स्थापित करले। अपनी इस अभिलाषा की पूर्ति के लिए उसने रनजीतसिंह को सहायक औजार बनाने की योजना तैयार की, और सुकरी चकिया तथा कन्हैया मिस्लों की सम्मिलित सेनायें लेकर रामगढ़िया मिस्ल के मुख्य नगर मियानी पर आक्रमण कर दिया। वह आक्रमण तो सफल न हुआ, परन्तु उससे यह लाभ अवश्य हुआ कि बालक रनजीतसिंह के हृदय में विजय की लालसा जाग उठी, और उसने अपनी सास और माँ की संरक्षता में से निकलकर स्वतन्त्र कर्ता बनने का निश्चय कर लिया। उसकी माँ, माई मलबाइन, के सम्बन्ध में यह प्रसिद्धि थी कि यह चरित्रहीना है उसके प्रेमियों की सूची बहुत लम्बी समझी जाती थी। दीवान लखपतराय से लेकर घर के नौकर लायक मिस्सर तक उस सूची में आ जाते थे। रनजीतसिंह तक यह जनवाद पहुँचा। उसने कुछ समय तक तो जनवाद की छानबीन करने के लिए प्रतीक्षा की, उसके पश्चात् माई मलबाइन एकदम लुप्त हो गई। उसका क्या हुआ, यह कहना कठिन है। कुछ लोगों का कहना था कि रनजीतसिंह ने उसे रंगे हाथों पकड़ लिया, और उसी समय तलवार से हत्या कर दी। यह भी कहा जाता है कि उसे किसी क़िले में कैद कर दिया गया, जहाँ वह कुछ समय के पश्चात् मर गई।

रनजीतसिंह लगभग निरक्षर था। उसे किसी प्रकार की पुस्तक-विद्या नहीं दी गई थी। फिर भी जन्मसिद्ध प्रतिभा, और प्रबल इच्छा-शक्ति के कारण छोटी आयु से ही उसे सफलताएँ प्राप्त होने लगीं। कुछ ही वर्षों में उसने अपनी सास को अनुभव करा दिया कि सुकर चकिया मिस्ल का नवयुवक सरदार किसी की कठपुतली बनकर नहीं रहेगा। वह अपना मार्ग स्वयं बनाने लगा।

प्राप्त हुए अवसरों से लाभ उठाने की सूझ का नाम ही प्रतिभा है। रनजीतसिंह में वह पुष्कल मात्रा में विद्यमान थी। अहमदशाह अब्दाली के उत्तराधिकारी शाह जमान के दिल में यह हवस उत्पन्न हुई कि अपने पूर्व पुरुषाओं के जीते हुए पंजाब पर फिर से प्रभुता जमाई जाय। इस मन्सूबे से उसने दो बार पंजाब पर आक्रमण किया और लाहौर पर अधिकार कर लिया, परन्तु दोनों बार उसे अफ़ग़ानिस्तान में अशान्ति के समाचार सुनकर वापिस जाना पड़ा। उसके दूसरे आक्रमण के समय अन्य कई सिक्ख सरदारों ने लाहौर जाकर

सिर झुका दिया, परन्तु रनजीतसिंह ने दूसरा ही रास्ता लिया। वह सेनायें लेकर सतलुज नदी के पार हो गया, और कई ज़िलों पर अधिकार कर लिया। इधर शाह ज़मान को शीघ्र ही लाहौर छोड़कर काबुल की ओर जाना पड़ा। जब दुर्रानी की सेनायें झेलम को पार करने लगीं तब उनकी १२ तोपें नदी की दलदल में फँस गईं। शाह ज़मान के पास इतना समय नहीं था कि वह तोपों के उद्धार के लिए ठहरता। रनजीतसिंह ने उसे आश्वासन दे दिया कि मैं इन तोपों को निकालकर काबुल भेज दूँगा। अफ़ग़ान बादशाह ने उसके बदले में यह वायदा किया कि यदि तोपें काबुल पहुँच गई, तो वह रनजीतसिंह को लाहौर का शासक बना देगा, और राजा की उपाधि लगाने का भी अधिकार दे देगा। दोनों ने अपनी बात पूरी की। रनजीतसिंह ने तोपों का उद्धार करके उन्हें काबुल पहुँचा दिया, और शाह ज़मान ने उसे लाहौर का राजा स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार लाहौर पर रनजीतसिंह का क़ानूनी अधिकार अफ़ग़ान बादशाह के फर्मान द्वारा स्थापित हो गया परन्तु लाहौर पर असली अधिकार तो उसे अपनी बुद्धि और शक्ति के सहारे से ही प्राप्त करना पड़ा। उस समय लाहौर पर तीन सरदारों की हुकूमत थी, जिनमें चेतसिंह मुख्य था। तीनों सरदार शराबी, स्वार्थी और अत्याचारी थे। नगर के निवासी उनके शासन से बहुत परेशान थे। चतुर रनजीतसिंह के लिए उन्हें अपनी ओर करना कठिन नहीं था। पहले लगभग दो हज़ार सिपाही लेकर वह अमृतसर गया, जहा यह प्रसिद्ध किया गया कि वह गुरुद्वारे के दर्शनों के लिए आया है। वहाँ से एक ही पड़ाव करके वह अकस्मात् लाहौर के द्वार पर पहुँच गया। जब चेतसिंह और उसके विषयासक्त साथियों को नवयुवक रनजीत-सिंह के आक्रमण का समाचार मिला तो उनके होश उड़ गये। शेष दोनों साथी तो भाग निकले, अकेला चेतसिंह रह गया, जिसने क़िले में बन्द होकर आत्मरक्षा करने का प्रयत्न किया, परन्तु उसका घर भेदियों से भरा हुआ था। जब उसे चारों ओर गुप्त शत्रु दिखाई देने लगे तो उसने आत्मसमर्पण करके अपनी प्राणरक्षा करना ही उचित समझा। रनजीत-सिंह ने उसे आदर-सत्कारपूर्वक अपनी शरण में ले लिया, और एक बड़ी जागीर देकर मित्र बना लिया। यह रनजीतसिंह की दूरदर्शिता और सफलता का शुभ चिन्ह था कि लाहौर पर अधिकार करते हुए उसने अपने अनुयायियों में यह कठोर आज्ञा प्रसारित कर दी थी कि शहर में लूट-मार न मचाई जाय, सब नागरिकों के साथ समान रूप से भद्रता का व्यवहार किया जाय, और यह ध्यान रखा जाय कि बाज़ार का कारोबार निर्विघ्न रूप से जारी रहे। इस आज्ञा का बहुत अच्छा प्रभाव हुआ। प्रारम्भ से ही महत्त्वाकांक्षी विजेता की जड़ें लाहौर की भूमि में बहुत गहराई तक पहुँच गईं। कुछ समय पश्चात् रनजीतसिंह ने धूमधाम से विजित राजधानी में प्रवेश किया, और अपनी पैनी बुद्धि और असि-धारा के बल से प्राप्त किये हुए महाराज पद को विधिपूर्वक ग्रहण कर लिया।

यह घटनाचक्र १८०० में घटित हुआ। १८वीं शताब्दी समाप्त हो रही थी, और १९वीं शताब्दी जन्म ले रही थी।

सैंतीसवां अध्याय

अंग्रेज़ों की उत्तर की ओर प्रगति

जिस वर्ष रनजीतसिंह लाहौर का अधिपति बना, उसी वर्ष अंग्रेज़ी सरकार का पहला राजदूत यूसुफ़ अली खां उसके दरबार में उपस्थित हुआ। अंग्रेज़ों का दिल्ली से उत्तर दिशा में सरकारी तौर पर यह पहला क़दम था। लार्ड मिण्टो को कम्पनी के डायरेक्टरों ने इस आदेश के साथ भारत भेजा था कि वह विजय की महत्त्वाकांक्षा को परिमित करके लड़ाई-झगड़ों को बन्द करे और देश में शान्ति स्थापित करने का प्रयत्न करे। उस नीति के साथ अंग्रेज़ राजदूतों का उत्तर की ओर प्रस्थान कुछ मेल नहीं खाता, इस कारण यह आवश्यक प्रतीत होता है कि हम भारत में अंग्रेज़ों की नीति समझने के लिए यूरोप की उस समय की राजनीति और उसके प्रति इंग्लैंड के रुख़ पर दृष्टिपात करें। तभी हम भारत के अंग्रेज़ शासकों की आगामी १० वर्षों की कार्य-नीति को भली प्रकार समझ सकेंगे।

१७८९ में फ्रांस में राज्य-क्रांति का श्रीगणेश हुआ। १७९३ में इंग्लैंड ने क्रान्ति की रोक-थाम करने के लिए फ्रांस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी, जिससे दोनों देशों में भूमण्डल-व्यापी युद्ध छिड़ गया। उसका प्रभाव भारत पर भी पड़ा। यहाँ भी दोनों देशों के प्रतिनि... एक-दूसरे को पछाड़ने का प्रयत्न करने लगे। जल में और स्थल पर, जहाँ भी दोनों देशों का सम्पर्क होता था, वहीं लड़ाई छिड़ जाती थी। इसी बीच में फ्रांस में एक नई शक्ति उद्‌भूत हो गई। क्रान्ति के समुद्र-मन्थन में से नैपोलियन बोनापार्ट नामक महापुरुष ने जन्म लिया था, जिसे किसी ने अमृत माना तो किसी ने विष नाम से पुकारा। १७९८ में फ्रांस की सेनाओं के प्रधान सेनापति की हैसियत से नैपोलियन ने एक बहुत बड़ी सामुद्रिक और स्थलीय सेना लेकर मिश्र पर आक्रमण कर दिया। नैपोलियन को प्रारम्भ में मिश्र में चमकदार सफलता मिली। नैपोलियन के इस प्रकार पूर्व की ओर बढ़ने से अंग्रेज़ों का विचलित हो जाना स्वाभाविक ही था। माईसूर, पूना तथा हैदराबाद के युद्धों तथा शान्ति सम्बन्धी प्रसंगों में अंग्रेज अफ़सरों पर सबसे बड़ा जो आतंक छाया रहता था, वह फ्रांस का ही था।

यूरोप में इंग्लैण्ड और फ्रांस के झगड़े ने कई रूप धारण किये। झगड़ा कभी स्पष्ट अस्त्र युद्ध का रूप धारण कर लेता था, तो कभी राख में दबी हुई आग की तरह सुलगता रहता था। दोनों के साथ अन्य देशों के जोड़-मेल भी बदलते रहते थे। प्रारम्भ में संघर्ष समुद्र पर केन्द्रित रहा, परन्तु नाईल के सामुद्रिक युद्ध (१७९८) के पश्चात् जब फ्रांस की जहाज़ी शक्ति लगभग सर्वथा नष्ट हो गई, तब यूरोप का स्थलीय भाग संघर्ष का क्षेत्र बन गया। जब ईजिप्ट को जीतकर अफ्रीका और एशिया का स्वामी बनने का स्वप्न नाईल-युद्ध की तोपों से टूट गया, तब नैपोलियन अंग्रेज़ों के बेड़े की आँखें बचाकर फ्रांस में वापिस आ गया और बल-प्रयोग द्वारा फ़र्स्ट कौंसिल नाम से फ्रांस का शासक बनकर स्थलीय युद्ध के

मैदान में कूद पड़ा। नैपोलियन १७९९ में फर्स्ट कौंसिल बना। उस समय से यूरोप की छाती पर शतरंज का एक भयानक खेल आरम्भ हुआ, जिसमें फ्रांस, तथा इंग्लैण्ड दो खिलाड़ी थे और यूरोप के शेष देश मोहरे थे। फ्रांस युद्ध के घोड़े पर सवार होकर सरपट भागने लगा, और इंग्लैण्ड धन और नीति के बल से उसका रास्ता रोकने लगा। इस भीषण खेल का वेग कभी उग्र होता था तो कभी मन्द पड़ जाता था। दोनों शक्तियों का संघर्ष ऐसा भयानक था कि उसकी प्रतिक्रिया भूमण्डल के प्रत्येक भाग पर अनुभव होती थी। भारत की राजनीतिक घटनाओं पर भी निरन्तर उसका प्रभाव होता रहा। गवर्नर-जनरल वेल्ज़ली, और लार्ड मिण्टो के समय में भारत में अंग्रेज़ों की नीति का जो रुख़ रहा, वह यूरोप के सामयिक शतरंज का ही परिणाम था। जब तक उस शतरंज का झुकाव समुद्र की ओर रहा, तब तक भारत की अंग्रेज़ी सरकार का ध्यान दक्षिण-पश्चिम की ओर रहा, और जब नपोलियन के घोड़े का मुँह स्थल की ओर मुड़ा तो ईस्ट इण्डिया कम्पनी के दूत उत्तर दिशा की ओर भागने लगे। अंग्रेज़ों के दिल में यह डर पैदा हो गया था कि कहीं नैपोलियन बोनापार्ट रूस से मिलकर भारत पर आक्रमण न कर दे। १८०० में महाराज रनजीतसिंह के दरबार में कम्पनी के राजदूत की उपस्थिति का यही कारण था।

लार्ड मिण्टो को कम्पनी के डायरेक्टरों का आदेश था कि वह भारत में युद्ध की ज्वाला को शान्त करे, क्योंकि युद्ध के कारण कम्पनी की आर्थिक हानि हो रही थी। लार्ड मिण्टो ने आदेश का पालन किया, और अपने समय में कोई बड़ी लड़ाई तो नहीं छेड़ी, हाँ उत्तर दिशा में दूर तक नीति का जाल फैलाकर भविष्य में होने वाले अनेक युद्धों के बीज अवश्य बो दिये। लार्ड मिण्टो का लक्ष्य उत्तर दिशा से होने वाले सम्भावित आक्रमण को रोकना बतलाया जाता था। कहने को उसे रूस का डर तो था ही, परन्तु प्रत्यक्ष में उसकी आशंकाओं का मुख्य केन्द्र अफ़ग़ानिस्तान बना हुआ था। अंग्रेज़ अहमदशाह अब्दाली के उत्तराधिकारियों की शक्ति को क्षीण करके अपने भारतीय प्रभुत्व को सुरक्षित कर देना चाहते थे। अफ़ग़ानिस्तान की प्रगति पर प्रतिबन्ध डालने के लिए ही लार्ड वैल्ज़ली, और उसके पश्चात् लार्ड मिण्टो ने सिन्ध, ईरान और पंजाब के शासकों के पास सुलह का पैग़ाम लेकर मिशन के रूप में अपने दूत प्रेषित किये थे। अपने योग्यतम प्रतिनिधि मौण्ट स्टुआर्ट एल्फिस्टन को गवर्नर-जनरल ने ऊपर से सन्धि का सन्देश देने, परन्तु अन्दर से दिल टटोलने और भुलावे में रखने के लिए काबुल के शाह के पास भेजा था। इस प्रकार लार्ड मिण्टो ने शान्तिमय उपायों से वह कार्य करने का यत्न किया, जिसे लार्ड वैल्ज़ली युद्ध द्वारा करना चाहता था। यद्यपि दोनों के साधन भिन्न थे, परन्तु उनका लक्ष्य एक ही था कि अंग्रेज़ी राज्य का अधिक विस्तार हो, और जो भाग अधिकार में आ चुका है, उसकी रक्षा के उपाय किये जायें।

सिन्ध, ईरान और पंजाब को कम्पनी के जो दूत भेजे गये थे, उनके दो उद्देश्य थे। प्रत्यक्ष उद्देश्य तो यह था कि उन देशों को फ्रांस तथा रूस के प्रभाव में आने से बचाया जाय, और दूसरा गुप्त उद्देश्य यह था कि अफ़ग़ानिस्तान के शाह के चारों ओर मोर्चाबन्दी की जाय।

ईरान जाने वाले दूतमण्डल के प्रमुख सर जान माल्कम को मार्क्विस वैल्ज़ली के सेना सम्बन्धी मन्त्री कर्नल कर्कपैट्रिक ने १० अक्टूबर १७९९ के पत्र में स्पष्ट ही लिखा था कि "तुम्हारे मिशन का मुख्य उद्देश्य जमानशाह को हिन्दुस्तान पर आक्रमण करने से रोकना है।" सिन्ध को भेजे गये दूतमण्डल को भी ऐसे ही दुमानी आदेश दिये गये थे। महाराज रनजीतसिंह को जो सन्धि-सन्देश भेजे गये, उनकी भाषा ईरान और सिन्ध से कुछ भिन्न थी। पंजाब पर बहुत पहले से कम्पनी की गृद्ध-दृष्टि पड़ चुकी थी। पंजाब के सम्बन्ध में उस समय के अंग्रेज़ों की जो भावनायें थीं, उनका कुछ आभास निम्नलिखित पत्र से मिल जायगा—५ अगस्त १८०२ को हेनरी वैल्ज़ली ने अपने भाई मार्क्विस वेल्ज़ली (गवर्नर-जनरल) को लिखा था—

"इसमें कोई सन्देह नहीं कि मि० लूई ने पंजाब के बहुत से प्रदेश पर बिना किसी ख़ास प्रतिरोध के अधिकार जमा लिया है, और वह जितना चाहे उतने और प्रदेश भी ले सकता है और यदि उचित समझे तो उसे रख सकता है, और साथ ही यह भी निश्चित है कि अन्य कोई व्यक्ति भी नियमबद्ध सेना की सहायता से उस देश पर कब्जा कर सकता है।"

उस समय अंग्रेज़ों का यह विचार बन गया था कि पंजाब का पका हुआ फल भी कम्पनी की झोली में पड़ने को तैयार है, परन्तु इतना बड़ा काम एकदम नहीं हो सकता था। कुछ तो अफ़ग़ानिस्तान का डर, और कुछ आगे बढ़ने की लालसा—दोनों से प्रेरित होकर अंग्रेज़ गवर्नर-जनरलों ने १९वीं सदी का आरम्भ होते ही रनजीतसिंह के पास अपने दूत भेजने का सिलसिला जारी कर दिया। अंग्रेज़ों की इस दूरदर्शितापूर्ण नीति का फल भी अच्छा निकला। १८०५ में जब मथुरा और दिल्ली से निराश होकर यशवन्तराव होल्कर ने लार्ड लेक के विरुद्ध रनजीतसिंह से सहायता चाही, तब उसे कोरा जवाब मिल गया। होल्कर लार्ड लेक से बचता हुआ अमृतसर तक पहुँच गया, और वहाँ से उसने सभी सिक्ख शासकों से और विशेष रूप से महाराज रनजीतसिंह से अनुरोध किया कि एक विदेशी शक्ति के विरुद्ध लड़ने में उसके सहायक हों, परन्तु रनजीतसिंह "स्वार्थं सर्वः समीहते" इस सिद्धान्त को मानने वाला था। उसने होल्कर को आश्रय देने से इन्कार कर दिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि उसे फिर पीछे लौटकर भरतपुर के राजा के यहाँ आसरा लेना पड़ा।

इस घटना के पश्चात् अंग्रेज़ों का पंजाब से सम्पर्क बराबर बढ़ता गया। १८०८ में उसमें विशेष घनता उत्पन्न हो गई, जब दिल्ली के अंग्रेज रेज़ीडेण्ड मैटकाफ़ को रनजीतसिंह के पास स्थायी सुलह की शर्तें तय करने के लिए भेजा गया। मैटकाफ़ के भेजने का विशेष कारण यह हुआ कि सतलुज और यमुना के बीच के प्रदेश के बहुत से छोटे-छोटे सिक्ख सरदार जो पहले मराठों की अधीनता में आ गये थे, होल्कर की पराजय के पश्चात् स्वतन्त्र हो गये। जब रनजीतसिंह ने पंजाब के महाराज की पदवी धारण कर ली तब स्वभावतः उसकी यह धारणा हो गई कि सतलुज पार के पंजाबी प्रदेशों पर भी उसका अधिकार हो जाना चाहिए। कई सिक्ख सरदार उसकी प्रभुता को स्वीकार करने के लिए तैयार भी हो गये, परन्तु घर की फूट के जिस रोग ने शताब्दियों से भारत को दास बना रखा था, वह कब चूकने वाला था। बहुत से सरदारों ने खाई से बचने के लिए कुएँ में कूदना हितकर समझा। उन्होंने

रनजीतसिंह से बचने के लिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी के दिल्ली-निवासी अंग्रेज़ अफ़सरों के पास अपनी फर्याद भेजी। अंग्रेज़ों को मानो मुँहमाँगी मुराद मिल गई, और वे निर्बल सरदारों के नाम पर पंजाब के अखाड़े में कूद पड़े।

अंग्रेज़ों की ओर से सन्धि की शर्तें लेकर मैटकाफ़ नाम के एक योग्य और युवक अंग्रेज सिविलियन को भेजा गया। प्रारम्भ में जब अंग्रेज़ों ने सन्धि की बातचीत आरम्भ की थी तब इंग्लैण्ड को फ्रांस का डर सता रहा था, उस समय अंग्रेज़ रनजीतसिंह के इस प्रस्ताव पर विचार करने को तैयार थे कि रनजीतसिंह फ्रांस के विरुद्ध लड़ने में अंग्रेज़ों का सहायक बने तो अंग्रेज़ सतलुज से पूर्व के प्रदेशों पर उसके अधिकार को भी स्वीकार कर लेंगे; परन्तु १८०५ में यूरोप की संग्रामिक परिस्थिति बदल गई, क्योंकि ट्रफलगार के सामुद्रिक युद्ध में इंग्लैण्ड ने फ्रांस के जलीय बेड़े को पूरी तरह परास्त कर दिया। यद्यपि उसके पश्चात् भी इंग्लैण्ड और फ्रांस में युद्ध जारी रहा, और नैपोलियन का डंका यूरोप मे बजता रहा, तो भी सामुद्रिक शक्ति नष्ट हो जाने से नैपोलियन की इंग्लैण्ड पर सीधा प्रहार करने की शक्ति जाती रही। उसका परिणाम यह हुआ कि भारत की अंग्रेज़ी सरकार का रुख़ कठोर हो गया। अंग्रेज़ों ने रनजीतसिंह का यह दावा अस्वीकार कर दिया कि सतलज से पूर्व की रियासतों पर भी उसका प्रभुत्व है। अंग्रेज़ी सरकार ने यह जवाबी दावा उपस्थित किया कि मराठों पर विजय प्राप्त करके अंग्रेज़ों ने उन सब प्रदेशों पर आधिपत्य का अधिकार प्राप्त कर लिया है, जो मराठों के आधीन थे। पहले तो रनजीतसिंह अंग्रेजों के दावे को मानने को तैयार नहीं हुआ, और अधिकार-अनधिकार का निर्णय रणक्षेत्र में करने के विचार से सेनायें इकट्ठी करने लगा। परन्तु अन्त में उसकी दूरदर्शिता और यथार्थवादिता की जीत हुई, और उसने सतलुज से पूर्व की रियासतों पर अंग्रेज़ों की प्रभुता को स्वीकार कर लिया। १८०९ के अप्रैल मास में अमृतसर में महाराज रनजीतसिंह और अंग्रेज़ी सरकार में जो सन्धि हुई, उस द्वारा सतलुज नदी को दोनों राज्यों की अधिकार-सीमा मान लिया गया। नदी के पश्चिम में रनजीतसिंह का प्रभुत्व हो, और पूर्व में अंग्रेज़ी सरकार का—इस आधार पर दोनों में पारस्परिक मित्रता और सहायता की सन्धि तय हो गई। उस युग के अंग्रेज़ लेखकों ने भारत के नीतिज्ञों के विषय में टिप्पणी करते हुए प्रायः यह लिखा है कि वे लोग झूठे और धोखेबाज़ होते हैं, और उनकी बात पर कोई भरोसा नहीं किया जा सकता। अंग्रेज़ों से महाराज रनजीतसिंह ने जो सुलहनामा किया, उसके इतिहास पर दृष्टि डालें तो हमें मानना पड़ेगा कि अंग्रेज़ लेखकों की सम्मति केवल अपनी अन्तरात्मा की तस्वीर थी। अंग्रेज़ों को लाचार होकर यह मानना पड़ा है कि रनजीतसिंह ने अपने जीवन-काल में उस सुलहनामे का अक्षरशः पालन किया, परन्तु अंग्रेज़ों ने महाराज के उत्तराधिकारियों के समय में इकरारनामे की एक-एक पंक्ति की धज्जियाँ उड़ा दीं। जब तक रनजीतसिंह जीवित रहे, अंग्रेज़ों के मित्र बने रहे। उनकी मित्रता के भरोसे पर ही अंग्रेज़ सरकार अफ़ग़ानिस्तान और रूस जैसे दोनों शत्रुओं की ओर से निश्चित बनी रही।

लार्ड मिण्टो के शेष दोनों दूतमण्डलों को भी थोड़ी-बहुत सफलता प्राप्त हुई। ईरान

में भेजे गये राजदूत मौण्ट स्टुअर्ट एल्फिस्टन के प्रयत्न से जो सन्धि-पत्र स्वीकृत हुआ, उस द्वारा ईरान ने अपने यहाँ से फ्रांस के राजदूत को अलग कर दिया, और यह वायदा किया कि किसी यूरोपियन देश की भारत की ओर बढ़ती हुई सेनाओं को मार्ग नहीं दिया जायगा, उसके बदले में अंग्रेज़ों ने वायदा किया कि यदि कोई योरपियन शक्ति ईरान पर आक्रमण करेगी तो इंग्लैण्ड ईरान की सहायता करेगा। सिन्ध के अमीर से भी लगभग इसी आशय की सन्धि की गई।

अफ़गानिस्तान को जो मिशन भेजा गया, उसका मुख्य उद्देश्य कोई स्थिर सन्धि करना नहीं था। प्रकट रूप में चाहे कुछ कहा गया हो, परन्तु उस मिशन का आन्तरिक उद्देश्य यह पड़ताल करना था कि काबुल की सरकार की शक्ति और महत्वाकांक्षाएँ क्या और कितनी हैं? अंग्रेज़ों को यह जानकर बहुत संतोष हो गया कि अमीर के घर में भयंकर फूट पड़ी हुई है, जिसके कारण अहमदशाह के उत्तराधिकारियों की ओर से भारत को कोई खतरा नहीं है।

अड़तीसवाँ अध्याय

गोरे सिपाहियों का विद्रोह

लार्ड मिण्टो के शासन-काल के अन्तिम दिनों में एक अनहोनी घटना हुई। मद्रास के गोरे फ़ौजियों ने विद्रोह का झण्डा खड़ा करके ब्रिटिश शक्ति को दूसरी चुनौती दे दी। पहली चुनौती वैल्लोर के सिपाही-विद्रोह ने दी थी। दोनों में भेद इतना ही था कि वैल्लोर के सिपाही भारतवासी थे, और मद्रास के विद्रोही सिपाही गोरे। यद्यपि दोनों विद्रोहों के मूल कारण एक ही से थे, तो भी उनके प्रति अंग्रेज़ी सरकार के रुख़ में जो भेद रहा, वह अंग्रेजों की आन्तरिक मनोवृत्ति का परिचायक था।

मुख्यरूप से सिपाहियों के विद्रोह के दो कारण थे। पहला कारण यह था कि मद्रास की सेना के एक ऊँचे अधिकारी ने अपने दृष्टान्त से फ़ौजी नियन्त्रण की चूलें हिला डाली थीं। १८०८ में मद्रास की शासन-व्यवस्था में कुछ उलट-फेर हुआ। सर जान क्रैडक के स्थान पर जनरल मैक डावल को प्रधान सेनापति पद पर नियुक्त किया गया। इससे पूर्व प्रधान सेनापति कौंसिल का सदस्य भी होता था। कई कटु अनुभवों से प्रेरित होकर बोर्ड ऑव कंट्रोल ने निश्चय किया कि आगे से प्रधान सेनापति कौंसिल का सदस्य न हुआ करे। इस निश्चय को जनरल मैक डावल ने अपने लिए अपमानजनक समझा, और प्रधान सेनापति पद से त्याग-पत्र देने की इच्छा प्रकट की। त्याग-पत्र देते हुए मैक डावल ने जो पत्र लिखा, उसमें बहुत-सी ऐसी अप्रिय बातें लिखी गई थीं, जो सरकार के लिए अपमानजनक थीं। इसी बीच में मद्रास की सरकार ने कुछ ऐसे निश्चय भी किये, जिन्हें प्रधान सेनापति ने पसन्द नहीं किया। फलतः मतभेद की खाई चौड़ी होती गई, और कहा-सुनी भी बढ़ती गई। ये सब बातें गोरी फ़ौजों में ऐसे बढ़-बढ़ कर फैल गईं, जैसे पानी में तेल की बूंद फैल जाती है, और गोरे अफ़सरों और सिपाहियों के मन विक्षुब्ध हो गये। नियन्त्रण की डोर एक बार ढीली हुई तो फिर आसानी से नहीं कसी जाती, जब प्रधान सेनापति ने बोर्ड के नियन्त्रण को तोड़ दिया तो अन्यों की क्या बात थी। सेना भर में विद्रोह के बीज पुष्टि पाने लगे।

इधर कुछ ऐसे कारण भी हो गये जिनसे असन्तोष की वृद्धि में सहायता मिली। मद्रास के गवर्नर सर जार्ज बार्लो ने मद्रास के फ़ौज के ऊँचे अफ़सरों के कुछ ऐसे भत्ते बन्द कर दिये, जो सर्वथा अनुचित थे। उनमें से एक 'तम्बू भत्ता' था। तम्बू लगाने वालों को मजदूरी अलग मिलती थी, और अफ़सरों को भत्ता अलग मिलता था। वह बन्द किया गया तो गोरे अफ़सर जल-भुन गये।

ऐसे ही छोटे-छोटे अनेक कारणों ने मिलकर एक विशाल सिपाही-विद्रोह को खड़ा कर दिया। मसोलीपट्टम, श्रीरंगपट्टम, हैदराबाद आदि स्थानों पर एक साथ गोरे अफ़सरों ने काम छोड़कर बग़ावत आरम्भ कर दी। जब विमल दुर्ग के बाग़ी गोरे अपने श्रीरंगपट्टम

के साथियों से मिलने जा रहे थे, तब उनकी रास्ते में उन गोरों से मुठभेड़ हो गई जिन्होंने विद्रोह नहीं किया था। दोनों ओर से गोलियाँ चल गईं, जिनसे कुछ सैनिक घायल हुए। यह विशेष महत्त्वपूर्ण बात हुई कि गोरों के इस विद्रोह में भारतीय सिपाही शामिल नहीं हुए। यदि कहीं इसी समय देसी सिपाही भी विद्रोह कर देते तो भारत में अंग्रेज़ों की सत्ता सन्देह में पड़ जाती।

गोरे अफ़सरों के विद्रोह के समाचारों से भारत की अंग्रज़ी सरकार काँप उठी। बड़े-बड़े अफ़सर गोरों को समझा-बुझाकर सीधे रास्ते पर लाने के लिए मद्रास भेजे गये। स्वयं उस समय के गवर्नर-जनरल लार्ड मिण्टो को भी मद्रास जाना पड़ा। सब अधिकारियों ने यह प्रयत्न किया कि गोरों की शिकायतें सुनकर उन्हें हटाने का आश्वासन दिया जाय, जिससे असन्तोष की जड़ें ही कट जायें। सन् '५७ के होने वाले भारतीय सिपाही-विद्रोह के दमन में अंग्रेज़ों ने जो दानवी उग्रता दिखाई थी, गोरों को दबाने के लिए वह काम में नहीं लाई गई। सरकार ने ख़ूब दूरदर्शिता और सहानुभूति से काम लिया, जिससे विद्रोह शीघ्र ही शान्त हो गया।

वैल्लोर का सिपाही-विद्रोह भी शान्त हो गया था और मद्रास का गोरा-विद्रोह भी। परन्तु विचारशील लोगों के मस्तकों पर वह विचार की रेखायें छोड़ गया। समझदार लोग अनुभव करने लगे कि दाल में कुछ न कुछ काला अवश्य है—अन्यथा सरकार के सबसे अधिक नियन्त्रित अंगों में बीच-बीच में विस्फोट क्यों होता रहता है। भारत और इंग्लैण्ड दोनों में ही विद्रोहों की ख़ूब चर्चा हुई, और बाल की खाल भी बहुत उधेड़ी गई, परन्तु विचारक लोग ऊपर की सतह पर ही घूमते रहे, और गहराई में जाकर इस मौलिक सचाई पर न पहुँच सके कि एक विशाल देश पर सर्वथा विदेशी शासन हो और वह भी व्यापारी कम्पनी द्वारा—यह परिस्थिति किसी प्रकार भी चिरस्थायिनी नहीं हो सकती। पानी पर कागज़ की नाव कुछ ही समय तक तैर सकती है—देर तक नहीं।

उन्तालीसवां अध्याय

चौमुखे आक्रमण की भूमिका

१८१३ में लार्ड मिण्टो को इंग्लैण्ड बुला लिया गया। कुछ इतिहास-लेखकों का विचार है कि इंग्लैण्ड के शासक उनकी सुलह-पसन्द नीति से असन्तुष्ट थे, वापिस बुलाने का यही कारण था। यह भी सम्भव है कि अस्वस्थता के कारण उसे कार्य से मुक्त किया गया हो। असली कारण कुछ भी हो, यह बात निश्चित है कि उसके स्थान पर जिस व्यक्ति को गवर्नर-जनरल बनाकर भेजा गया, वह लार्ड वैल्ज़ली का पक्का चेला था। वह शान्ति का नहीं—विग्रह का उपासक था। उसका पहला नाम अर्ल ऑव मोयरा था, भारत के इतिहास में वह मार्क्विस ऑव हेस्टिंग्ज़ के नाम से प्रसिद्ध है।

जिस समय वह जहाज़, जो हेस्टिंग्ज़ को लेकर आ रहा था, समुद्र पर था, उस समय भारत की वैधानिक परिस्थिति में एक नया परिवर्तन हुआ। ईस्ट इण्डिया कम्पनी का चार्टर हर बीस वर्ष के पश्चात् नये सिरे से सम्पुष्ट किया जाता था। सम्पुष्टि के समय उस पर पुनर्विचार भी होता था। १८१३ में चार्टर जिस नये रूप में सम्पुष्ट हुआ, उसने भारत को [illegible]तिक तथा सामाजिक परिस्थिति में एक नये युग को जन्म दिया। उसने जहाँ एक ओर भारत के व्यापार पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी की पकड़ को ढीला कर दिया वहाँ भारत के तन, मन और धन पर इंग्लैण्ड के कब्जे को बहुत दृढ़ कर दिया।

१८१३ का चार्टर बहुत छानबीन के पश्चात् तैयार हुआ था। पार्लियामेण्ट के दोनों भवनों में भारतीय शासन का अनुभव रखने वाले अनेक महानुभावों के बयान लिये गये और कई बैठकों में वाद-विवाद हुए। अनुभवी लोगों की सम्मति यह थी कि चाहे ईस्ट इण्डिया कम्पनी के राजनीतिक अधिकारों में कितनी ही काट-छाँट की जाय, उसके व्यापरिक पट्टे में कोई फेर-बदल न होना चाहिए। दूसरी ओर इंग्लैण्ड के कारखानेदारों और व्यापारियों की यह माँग थी कि भारत के द्वार सब अंग्रेज़ों के लिए खोल दिये जायँ, ताकि इंग्लैण्ड भारत से पूरा आर्थिक लाभ उठा सके। यह पूरे आर्थिक लाभ की आकांक्षा इंग्लैण्ड में बड़े वेग से जागृत हो उठी थी। उसी आकांक्षा से प्रेरित होकर अंग्रेज यह भी चाहने लगे थे कि यथासम्भव शीघ्र ही सारे भारतवर्ष पर अंग्रेज़ों का प्रभुत्व हो जाना चाहिए, जिससे व्यापारिक लाभ में कोई बाधा न पड़े। १८१३ के चार्टर पर इंग्लैण्ड की बढ़ती हुई महत्वाकांक्षाओं का गहरा असर पड़ा। अन्त में जो चार्टर स्वीकार किया गया, पहले चार्टरों से उसमें निम्नलिखित विशेषतायें थीं—

१. सबसे पहली और महत्त्वपूर्ण विशेषता यह थी कि नये चार्टर में से यह शब्द निकाल दिये गये थे—

"विजय-योजना और भारत राज्य के विस्तार की योजनायें ब्रिटिश जाति की अभिलाषा, आत्म-सम्मान तथा नीति के सर्वथा विरुद्ध है······"

इससे २० वर्ष पूर्व के चार्टर में इन शब्दों की विद्यमानता को अंग्रेज़ों की सदिच्छाओं के प्रमाण के रूप में उपस्थित किया जाता है। १९३१ में वे शब्द निकाल दिये गये। चार्टर के निर्माताओं ने, एक नैतिक दम्भ को और अधिक लम्बायमान करना आवश्यक नहीं समझा, और सीधे मैदान में उतर आये। लार्ड हेस्टिंग्ज़ और लार्ड डलहौजी को चार्टर ने इतनी खुली छूट दे दी थी कि उन्हें छल या बल द्वारा राज्य-विस्तार करने में किसी प्रकार की हिच-किचाहट नहीं हुई।

२. नये चार्टर में दूसरी नई बात यह थी कि स्वतन्त्र व्यापार के नाम पर अंग्रेज़ कारखानेदारों तथा व्यापारियों को भारत में माल भेजने की खुली छूट मिल गई। इससे पूर्व भारत से व्यापार करने का अधिकार केवल ईस्ट इण्डिया कम्पनी को था। कम्पनी मुख्य रूप से भारत की बनी हुई चीज़ों को विलायत ले जाकर बेचती थी। अब जिस नीति की स्थापना की गई, उससे इंग्लैण्ड के कारखानेदारों और व्यापारियों को भारत में लाकर माल बेचने की स्वतन्त्रता मिल गई। स्वभावतः इस परिवर्तन का यह असर हुआ कि इंग्लैण्ड के व्यापारी यह यत्न करने लगे कि भारत में अधिक से अधिक अंग्रेज़ी माल बिकने लगे। अधिक माल बिकने के दो साधन थे। भारत में ब्रिटिश राज्य का विस्तार हो, और भारतवासियों का रहन-सहन ऐसे ढंग का हो जाय, कि अंग्रेज़ी माल खरीदना उनके लिए आवश्यक हो जाय। पहले उपाय को काम में लाने के लिए भारत के अंग्रेज़ शासकों ने जीतने की नंगी नीति का अवलम्बन किया, और दूसरे लक्ष्य को सिद्ध करने के लिए यूरोपियन रंग-ढंग, अंग्रेज़ी शिक्षा, और ईसाई धर्म के प्रचार को प्रोत्साहित करने की योजना बनाई।

अंग्रेज़ों को व्यापार का स्वतन्त्र अधिकार देने के साथ ही वे प्रतिबन्ध भी बहुत शिथिल कर दिये गये जो अंग्रेज़ों के भारत-प्रवेश पर लगे हुए थे। इस प्रकार नये चार्टर द्वारा इंग्लैण्ड की ओर से भारत पर वह चौमुखा आक्रमण जारी हुआ, जो लगभग एक शताब्दी तक पूरी धूमधाम से चलता रहा।

३. नये चार्टर में तीसरी नई बात यह थी कि भारत में ईसाई धर्म का प्रचार करने वाली संस्थाओं को सरकारी सहायता देने का सिद्धान्त व्यावहारिक रूप से स्वीकार कर लिया गया। यूं तो प्रारम्भ से ही कम्पनी के ईसाई कर्मचारियों तथा सिपाहियों की 'आत्मा की रक्षा' के लिए स्थान-स्थान पर पादरियों की नियुक्ति की जाती थी, और पुर्तगाल के पादरी अपने ढंग पर, भारतवासियों में ईसाई धर्म का प्रचार करते थे, परन्तु ईसाई मिशन को राज्य द्वारा आर्थिक सहायता और सम्मान-प्रदान का सूत्रपात १८१३ के चार्टर से ही हुआ।

एक ईसाई सरकार द्वारा, ईसाईयत के प्रचार को सहायता देना उतना महत्त्वपूर्ण नहीं था, जितनी महत्त्वपूर्ण वह युक्तियाँ थीं, जो उसके पक्ष में दी गईं। यदि यह कहा जाता कि ईसाईयत के प्रचार से ईसाई सरकार को पुष्टि मिलेगी, इस कारण कम्पनी ईसाई पादरियों का पालन-पोषण करना अपना कर्तव्य समझती है तो बात समझ में आ सकती थी, परन्तु कहा यह गया कि अन्धकार और असान के गढ़े में पड़े हुए हिन्दुस्तानियों के उद्धार के लिए ईसाईयत के दीपक का प्रज्वलित करना आवश्यक है, इस कारण सरकार

ईसाई मिशन को सहायता देगी। आपत्तिजनक बात यह थी कि कोरे स्वार्थ को परार्थ का बाना पहिनाया गया। जिस मनोवृत्ति से प्रेरित होकर अंग्रेज़ सरकार ने भारत में ईसाईयत के प्रचार को सहायता देने का निश्चय किया, उसका कुछ अनुमान एक अंग्रेज़ इतिहास-लेखक के निम्नलिखित शब्दों से मिल सकता है। वह इस प्रसंग में लिखता है—

"इस्लाम भयंकर तानाशाही को जन्म देता है, और हिन्दू धर्म, यद्यपि उग्रता में कुछ कम है, परन्तु नाशकता में उससे कम नहीं। हिन्दू धर्म ने पूर्व के करोड़ों निवासियों को चरित्र-पतन और अपवित्र मूर्ति-पूजा के गढ़ों में धकेलकर उन्हें शरीर और मन की अज्ञानतामूलक दासता की ज़ंजीरों में जकड़ रखा है। सम्भव है भारतवासियों को इन दोनों के चंगुल में से निकालने का सौभाग्य अंग्रेज़ी सरकार को प्राप्त हो।" —पीटर आवर

ऐसी हिमाकतभरी भावनायें थीं, जिनके आधार पर उस समय के अंग्रेज़ों ने भारत की पूंजी से एक अभारतीय मिशन के प्रचार को सहायता देने का निश्चय किया।

इस परोपकारपूर्ण आवरण के पीछे जो वास्तविक बात छुपी हुई थी, वह दूसरी ही थी। अंग्रेज़ व्यापारियों को निश्चय था कि भारत में उनका माल तभी बिक सकता है, जब भारत के रहने वाले लोगों में यूरोपियन रहन-सहन का प्रचार हो जाय।

४. इसी चार्टर में पहली बार भारत में शिक्षा-प्रचार के लिए भी कुछ राशि रखी गई है। उस रुपये का व्यय किस प्रकार की शिक्षा के विस्तार के लिए किया जाय इसका कोई निर्देश चार्टर में नहीं था, परन्तु भविष्य में अंग्रेज़ों ने भारत में जिस प्रकार की शिक्षा-प्रणाली को अपनाया, उसे देखते हुए यह मान लेना अनुचित न होगा कि अंग्रेज़, जैसे ईसाईयत, का प्रचार भारतवासियों की भलाई के लिए करना चाहते थे वैसे ही शिक्षा का प्रचार भी अपनी सम्मति में अन्धकूप में पड़े हुए भारतवासियों के उद्धार के लिए ही करना चाहते थे। उद्धार का अभिप्राय यह समझा गया था कि हिन्दुस्तानियों को ईसाईयत और अंग्रेज़ियत का पैबन्द लगाकर इस योग्य बनाया जाय कि वे इंग्लैण्ड में बने हुए माल को अधिक से अधिक मात्रा में ख़रीद सकें। चार्टर के सम्बन्ध में जो छानबीन हुई थी, उसमें दी गवाहियों से अंग्रेज़ों की आन्तरिक भावनाओं का काफ़ी आभास मिलता है।

मि० होल्ट मैकंजी ने अपनी गवाही में बतलाया था कि साधारणतः हिन्दुस्तानी लोग मद्य पीने के आदी नहीं हैं परन्तु यूरोपियन लोगों के सम्पर्क में आकर वे हर प्रकार की शराब पुष्कल मात्रा में पीने लगते हैं। मि० मैकेंजी ने यह भी कहा कि अंग्रेज़ों के प्रभाव से कलकत्ते के निवासियों में शराब की बिक्री बहुत बढ़ गई है।

मद्य का तो एक दृष्टान्त है। ईसाई बनकर और अंग्रेज़ों के सम्पर्क में आकर भारत-वासियों का रहन-सहन एकदम बदल जाता था, जिससे इंग्लैण्ड की बनी हुई शौक की और जीवनोपयोगी, बुरी और भली सभी प्रकार की चीज़ों को बर्तना और खरीदना उनके लिए आवश्यक हो जाता था।

इस प्रकार १८१३ के चार्टर ने अंग्रेज़ों के चौमुखे आक्रमण के लिए भारत के कपाट पूरी तरह खोल दिये। बर्बादी की जो आँधी अबतक दक्षिण और पूर्व में केवल छोटी-सी बदली के रूप में दिखाई दे रही थी, १८१३ के चार्टर के कारण उसके आकाशव्यापी होने की भूमिका तैयार हो गई।

चालीसवाँ अध्याय

नेपाल-युद्ध और बलभद्रसिंह

लार्ड हेस्टिंग्ज़ भारत में आक्रमण का सन्देश लेकर आया था। उसने आक्रमण के लिए जो पहला प्रदेश चुना वह नेपाल था।

जब कोई शासक, शक्ति के मद में मस्त होकर दूसरी शक्तियों के दलन पर तुल जाता है तो उसे बहाना तलाश करने में कोई कठिनाई नहीं होती। अंग्रेज़ों को नेपाल पर आक्रमण करने का निमित्त आसानी से मिल गया। नेपाल राज्य के आधीन भूमि का एक ऐसा टुकड़ा था, जिसकी सीमा गोरखपुर ज़िले से मिलती थी। अंग्रेज़ी सरकार का दावा था कि वह टुकड़ा वस्तुतः उनका था—नेपाल ने उस पर अनुचित अधिकार कर लिया है। झगड़े को निपटाने के लिए आपसी बातचीत चल रही थी कि लार्ड हेस्टिंग्ज़ भारत में आ पहुँचा। उसने आक्रमण का मार्ग खोलने के लिए बातचीत को धमकी का रूप देने का आदेश दे दिया, और अन्त में गोरखपुर के ज़िला अफ़सर को आज्ञा दे दी कि वह विवादग्रस्त इलाके पर कब्ज़ा करले। फलतः अंग्रेज़ सेनाओं ने आगे बढ़कर उस प्रदेश पर अधिकार कर लिया। नेपाल के राज्याधिकारी शत्रु की सेनाओं की बड़ी संख्या देखकर पीछे हट गये।

यह युद्ध की भूमिका थी। अंग्रेज़ों की ओर से विधिपूर्वक युद्ध की घोषणा १८१४ ईस्वी के नवम्बर मास की १४ तारीख को की गई परन्तु अंग्रेज़ी सेनाओं की मोर्चाबन्दी उससे पहले ही पूरी हो चुकी थी। १ नवम्बर को विशाल अंग्रेज़ी सेनाओं ने पूरी सजधज के साथ छोटे से देश नेपाल पर पाँच ओर से आक्रमण कर दिया।

नेपाल में गोरखा वंश के राजा राज्य करते थे। यह छोटा-सा पहाड़ी हिन्दू राज्य कई शताब्दियों से सर्वथा स्वतन्त्र जीवन व्यतीत कर रहा था। गोरखा लोग सीसोदिया वंश के राजपूत थे। वह १४वीं शताब्दी में नेपाल को जीतकर वहाँ बस गये थे। राजपूत स्वभावतः योद्धा होते थे, नये देश की परिस्थितियों ने उनकी युद्धशक्ति को और भी पैनी बना दिया। फलतः गोरखा सिपाही संसार के सर्वोत्कृष्ट योद्धाओं में गिने जाने लगे। यद्यपि उनके पास नये शस्त्रास्त्रों का अभाव था, परन्तु उनके पास हीरे का शरीर और फौलाद का दिल था, जिससे सुसज्जित होकर केवलमात्र खुखरी के बल पर गोरखा सिपाही संख्या और साधनों में कई गुना अधिक अंग्रेज़ी सेना से बराबर की टक्कर लेने को तैय्यार हो गये।

अंग्रेज़ी सेना में लगभग ३ हज़ार सिपाही थे। वे सब नये शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित थे। नेपाल की सेना में १,२०० से अधिक सैनिक नहीं थे, और उन्हें तलवार और खुखरी का ही भरोसा था। अंग्रेज़ आक्रमण कर तो बैठे, परन्तु उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा मानों वे पत्थरों पर सिर मार रहे हैं। अंग्रेज़ लेखकों ने लिखा है कि नेपाल की लड़ाई उस समय के सब युद्धों में अधिक खूनी थी। कारण यह था कि नेपाल की पहाड़ी चट्टानों की तरह गोरखा

सिपाही भी झुकना नहीं जानते थे। वे मारना और मरना जानते थे, हारने का पाठ उन्होंने नहीं पढ़ा था। अंग्रेज़ी सेना ने पाँच ओर से आक्रमण किया था, परन्तु उसे सफलता किसी ओर भी न मिली। थोड़ी दूर तक आगे बढ़कर उनका मार्ग रुक गया, या पीछे हटना पड़ा।

नेपाल के इस प्रथम संघर्ष में सभी गोरखा सिपाही और सेनापति बड़ी दृढ़ता और वीरता से लड़े। उनकी साहसिकता का सिक्का अंग्रेज़ों को भी मानना पड़ा। युद्ध में अनेक ऐसी घटनायें हुईं, जिन्होंने नेपाली सिपाहियों के यश को चार चाँद लगा दिये, परन्तु उनमें से एक घटना ऐसी है, जिसे हम केवल भारत के ही इतिहास में नहीं, अपितु संसार के इतिहास में यदि अद्वितीय नहीं तो अनूठी अवश्य कह सकते है। वह हमारी जाति की वीरता के इतिहास का एक उज्ज्वल परिच्छेद है, जिसे देशवासी प्रायः भूल-से गये हैं, क्योंकि अंग्रेज़ी काल की पाठ्य-पुस्तकों में उसे जानकर ही स्थान नहीं दिया गया। हम अद्भुत वीरता की उस सच्ची कहानी को सुनाने का प्रलोभन संवरण नहीं कर सकते।

घटना देहरादून के समीप की है। अंग्रेज़ी सेनाओं ने नेपाल के जिन ५ मुहानों पर आक्रमण किया था, उनमें से एक देहरादून का था। उस समय शिमला, नाहन, देहरादून, नैनीताल आदि बहुत से पहाड़ी प्रदेश नेपाल के राज्य में सम्मिलित थे। अंग्रेज़ी सेना की जो टुकड़ी देहरादून की ओर बढ़ी उसमें लगभग ३ हज़ार सिपाही थे। टुकड़ी के साथ उसके मुख्य सेनापति मेजर जनरल गिल्लस्पी के अतिरिक्त कर्नल मौबी और मेजर एलिस आदि [illegible]—सहायक सेनापति भी थे। देहरादून की रक्षा के लिए नेपाल के केवल ६०० सिपाही थे, जिनके सेनापति का नाम बलभद्रसिंह था। बलभद्रसिंह नाहन के राजा अमरसिंह का भतीजा था। अंग्रेज़ी सेना साधनों में भी बढ़ी हुई थी, और संख्या में भी, इस कारण बलभद्रसिंह ने सीधी लड़ाई का विचार छोड़कर दुर्ग-युद्ध का निश्चय किया, और देहरादून से लगभग चार मील की दूरी पर, नाला पानी के समीप एक पहाड़ की चोटी पर बने हुए 'कुलुंगा' दुर्ग में मोर्चाबन्दी कर ली। वह कोई युद्धशास्त्र के अनुसार बनाया हुआ विशाल क़िला नहीं था। कुछ ऊँची चट्टानें थीं, जो शाल वृक्षों से घिरी हुई थीं। बलभद्रसिंह ने उसी प्राकृतिक क़िले को थोड़ा-बहुत सुधारकर रक्षा का मोर्चा बना लिया, और अपने सैनिकों और कुछ गोरखा परिवारों के साथ उसमें आश्रय ले लिया।

अंग्रेज़ी सेनाओं ने कुलुंगा के क़िले को चारों ओर से घेर लिया। कहाँ अंग्रेज़ों की ३,००० के लगभग सैनिकों की साधन सम्पन्न सेना—और कहाँ ये खुखरी वाले नाटे कद के ६०० हिन्दुस्तानी सिपाही। अभिमान से पूर्ण अंग्रेज़ सेनापति ने बलभद्रसिंह को सन्देश भेजा कि भला इसी में है कि पराजय स्वीकार करके आत्मसमर्पण कर दो। वीर बलभद्रसिंह ने जो उत्तर भेजा उसने गोरे अफ़सर को आश्चर्य में डाला। उत्तर यह था कि मैं आप से स्वयं मिलने आऊँगा, परन्तु आऊँगा रणक्षेत्र में। यह गर्वपूर्ण उत्तर अंग्रेज़ सेनापति के लिए असह्य था। दूसरे दिन प्रातःकाल क़िले पर चढ़ाई का हुक्म दे दिया गया। गोरे सिपाही आगे बढ़ गये, और पहाड़ी के नीचे तोपखाना लगाकर गोलाबारी आरम्भ कर दी। दिन भर गोलाबारी जारी रही पर क़िले का बाल भी बाँका न हुआ तो, कर्नल मौबी ने अपने बड़े अफ़सर जनरल

गिलस्पी के पास सहारनपुर में सहायता की माँग भेजी । हमला २४ अक्तूबर को शुरू हुआ था, और २६ अक्तूबर को मेजर जनरल साहिब अपने पूरे लाव-लश्कर के साथ कुलुंगा के छोटे से क़िले को सर करने के लिए जा पहुँचे ।

दो-तीन दिन क़िले का पूरा घेरा डालने में लगे । चारों ओर से क़िले को तोपों और सिपाहियों की मार में लाने के पश्चात् गोले-गोलियों की बौछार शुरू कर दी गई । बौछार बहुत ज़ोरदार थी, क्योंकि गोली बरसाने वाले सिपाही बहुत अधिक थे, परन्तु शूर गोरखों के हृदयों पर उनका कोई आतंक नहीं जमा । वे क़िले की दीवारों पर से गोलियों का उत्तर गोलियों से देने लगे । क़िले के जो रक्षक आक्रमणकारियों की गोलियों के शिकार हो जाते थे, उनके स्थान पर तत्काल दूसरे आकर खड़े हो जाते थे । इधर सिपाहियों को हथियार तथा भोजनादि पहुँचाने का काम निरन्तर वीर गोरखा स्त्रियाँ कर रही थीं, और शत्रुओं की गोलियों से आहत होकर वीर गति को प्राप्त हो रही थीं ।

जब कई दिनों तक भरपूर गोलाबारी करने पर भी क़िले के रक्षकों में निर्बलता के कोई चिन्ह न पाये गये, तब अंग्रेज़ सेनापतियों का धैर्य टूटने लगा । उन्हें यह बात विश्व-विजयी अंग्रेज़ जाति के लिए अपमानजनक प्रतीत हुई कि एक एशियाई जाति की मुट्ठी भर सेना इतने दिनों तक रास्ता रोककर खड़ी रहे । सेनापति ने सेना को आज्ञा दे दी कि क़िले पर सीधा आक्रमण कर दिया जाय, आक्रमण की कमान मेजर जनरल गिलस्पी ने स्वयं सँभाली, और सेना के आगे होकर चढ़ाई कर दी ।

गोरे सिपाही चारों ओर से क़िले की दीवारों तक पहुँचने की चेष्टा करने लगे, परन्तु गोरखा सिपाहियों के अचूक निशानों ने उनकी हिम्मत तोड़ दी । जो गोरा आगे बढ़ता वहीं गोली खाकर धराशायी हो जाता । अंग्रेज सिपाही नियन्त्रण में बँधकर लड़ना जानते थे, परन्तु मौत से खेलना नहीं जानते थे । भारत की सम्पूर्ण लड़ाइयों में यह स्पष्ट हो चुका था कि मरने-मारने की बराबर की टक्कर होने पर वे पीठ दिखा देते थे । कुलुंगा के युद्ध में भी वैसा ही हुआ । मौत के सामने आकर अंग्रेज सिपाहियों के पाँव उखड़ गये, और पीछे हटने लगे । मेजर जनरल गिलस्पी और लेफ़्टिनेण्ट एलिस ने बहुत यत्न किया कि गोरे सिपाहियों को थाम लें, परन्तु उन्हें सफलता न मिली । तब विक्षुब्ध होकर मेजर जनरल ने थोड़े से सिपाहियों को साथ लिया और सीधा क़िले के दरवाज़े पर आक्रमण कर दिया । जब गोरे सिपाही क़िले की दीवार के इतना समीप पहुँच गये कि अन्दर से आई हुई गोली के शिकार बन सके तब उनमें भगदड़ पड़ गई । सेनापति ने बहुत यत्न किया कि उन्हें आगे ले चलें, तलवार घुमा-घुमा कर ललकार दी, परन्तु कोई परिणाम न निकला । उसी समय एक गोली आई, और अंग्रेज सेनापति का प्राण ले गई । इसी आक्रमण में मेजर जनरल एलिस की भी मृत्यु हो गई ।

कर्नल मौबार्ट ने साधारण तोपखाने की सहायता से कुलुंगा को सर करना असम्भव समझकर दिल्ली से क़िलातोड़ तोप मँगवा भेजीं । क़िलातोड़ तोपों के पहुँचने में लगभग एक महीना निकल गया । तब तक गोरी सेना कुलुंगा को घेरे पड़ी रहीं । क़िलातोड़ तोपों

के पहुँचने पर नवम्बर के अन्त में दुर्ग पर दूसरा आक्रमण किया गया। वह भी पूरी तरह निष्फल रहा।

इस समय दुर्ग के रक्षकों की संख्या ६०० से घटकर ७० या ८० रह गई थी। यह कमी दो कारणों से हुई। कुछ गोलियों के शिकार हुए, शेष पानी के न मिलने से मर गये। क़िले में पानी पहुँचने का केवल एक उपाय था कि पहाड़ के नीचे बहते हुए नाले पानी के चश्मे से घड़ों द्वारा ऊपर ले जाया जाय। नाला पानी गोरी फ़ौज की मार में आ गया था, इस कारण ऊपर पानी पहुँचना असम्भव हो गया। अब बलभद्रसिंह के सामने दो ही मार्ग खुले थे, या तो वह अंग्रेज़ सेनापति के सामने हथियार डाल देता या दुर्ग से बाहर निकलकर लड़ जाता। इधर खुखरी वाले ७० सिपाही और उधर तोपों और बन्दूकों से सुसज्जित, लगभग ३,००० सिपाही। साधारण सिपाही होता तो हथियार रखकर जान बचा लेता परन्तु वह तो गोरखा सरदार था—हथियार रखना नहीं जानता था। उसने दूसरा ही निश्चय किया। उसने जो निश्चय किया वह युद्ध के इतिहास में अपनी उपमा नहीं रखता। वह एक भारत के सपूत राजपूत-वंशीय गोरखा सिपाही के योग्य था।

नवम्बर की ३० तारीख थी। अंग्रेज़ी सेनायें और उनकी तोपें क़िले पर अन्तिम आक्रमण की तैयारी कर रही थीं। देखते क्या हैं कि कुलुंगा दुर्ग का लौहद्वार एकदम खुल गया और उसमें से अपने वीर सेनापति के पीछे-पीछे युद्ध-सज्जा से पूरी तरह लैस ७० गोरखा सिपाही बाहिर निकल आये। सब सैनिकों के हाथों में नंगी तलवारें थीं, कमर में खुखरियाँ लटक रही थीं, और सिर पर चक्र द्वारा सुरक्षित सिरस्त्राण थे। सबसे आगे वीर बलभद्रसिंह था, जिसके उठे हुए मस्तक, सिंह समान दृष्टि और प्रसन्न मुख से निर्भयता बरस रही थी। सब वीर फ़ौजी चाल से दुर्ग-द्वार से निकलकर बाहिर आये तो गोरे सिपाहियों को मानो काठ मार गया। वे इस असाधारण वीरता और साहस के दृश्य को देखकर ऐसे स्तब्ध-से हो गये कि गोरखा सैनिकों को रोकने के लिए एक हाथ भी न उठा सके। वे वीर अंग्रेज़ों की रक्षा-पंक्ति को चीरकर सीधे नाला पानी पर पहुँचे, वहाँ ठहरकर आराम से भरपेट पानी पिया, और फिर सामने के पहाड़ी जंगलों में विलीन हो गये। किसी सिपाही का एक बाल भी बाँका न हुआ। इस प्रकार वीर बलभद्रसिंह और उसके सैनिक अंग्रेज़ी सेना के मस्तक पर पाँव रखकर और मौत को चुनौती देकर घेरे में से साफ़ निकल गये। संसार में उज्ज्वल साहस के जितने दृष्टान्त मिलते हैं, उनमें कोई भी इससे बढ़िया नहीं है। दुःख इसी बात का है कि जहाँ अन्य देशों के इतिहास-लेखक अपने देशवासियों के वीरता के छोटे से छोटे कारनामों को विश्व भर में विख्यात कर देते हैं, वहाँ अब तक हमारे देश के इतिहास में कुलुंगा की वीरगाथा ने भी उचित स्थान नहीं पाया। हमारे नवयुवक क्लाइव और लेक का पूरा इतिहास जानते हैं, परन्तु बलभद्रसिंह का नाम भी नहीं जानते।

अंग्रेज़ बलभद्रसिंह और उसके साथियों की शूरता से बहुत प्रभावित हुए अंग्रेज़ लेखकों ने खुले मुंह से उनकी प्रशंसा की है और अंग्रेज़ सरकार ने रीशपाना (Riech-papa) नदी के तट पर बलभद्रसिंह का स्मारक बनाकर यह स्पष्ट कर दिया गया कि

'जादू वह जो सिर पर चढ़कर बोले'।

नेपाल-युद्ध लगभग दो वर्ष तक चलता रहा। कहीं अंग्रेज़ों का हाथ ऊँचा हो जाता था तो कहीं नेपालियों का परन्तु अधिक स्थानों पर नेपाल की सेना ही विजयिनी रही।


बलभद्रसिंह की समाधि

एक बार तो बीच में अंग्रेज़ हार मानकर हीन सन्धि करने के लिए उद्यत हो गये थे, परन्तु बोर्ड ने उस फ़ैसले को स्वीकार नहीं किया, जनरल आक्टर्लोनी के सेनापतित्व में अंग्रेज़ी सेनाओं ने फिर आक्रमण जारी कर दिया। अंग्रेज़ों की सेना में न्यून से न्यून ३४ सहस्र सिपाही थे, तो नेपाल की सेना में अधिक से अधिक १२ सहस्र सैनिक थे। आमने-सामने लड़ाई में अंग्रेज़ गोरखों से मात खा जाते थे, परन्तु संख्या और साधनों के आगे केवल शूरता क्या करती। जब सारी शक्ति लगाकर, धीरे-धीरे और एक-एक कदम बढ़ती हुई अंग्रेज़ी सेना नेपाल की राजधानी काठमाण्डू से लगभग ५० मील दूर रह गई, तब नेपाल के महाराज ने सुलह का सन्देश भेज दिया। अंग्रेज़ इस लड़ाई में इतने थक चुके थे और उनके दिमाग़ में गोरखा सिपाहियों की वीरता का ऐसा सिक्का बैठ चुका था कि उन्होंने सुलह के प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया।

१८१६ ई० के मार्च मास में सैगौली नामक स्थान पर ऐंग्लो-नेपाल सन्धि पर दोनों ओर के हस्ताक्षर हो गये। उस सन्धि द्वारा अंग्रेज़ी सरकार ने नेपाल राज्य की स्वाधीनता को स्वीकार कर लिया। उधर नेपाल सरकार ने हिमालय की उपत्यका के कुछ प्रदेश, तथा शिमला और मंसूरी, कुमायूँ, गढ़वाल आदि के पहाड़ी इलाके अंग्रेज़ों को दे दिये। इस सन्धि से कुछ लाभ हुआ और कुछ हानि हुई। नेपाल को पहला लाभ यह हुआ कि आगे के लिए उसे निश्चिन्तता मिल गई, क्योंकि उसकी स्वाधीनता को स्वीकार कर लिया गया। उससे भी बड़ा लाभ यह हुआ कि अंग्रेज़ों के दिलों पर गोरखा लड़ाकों की बहादुरी की धाक जम गई। आक्रमण आरम्भ करते हुए अंग्रेज़ों ने समझा था कि नेपाल का जीतना बच्चों का खेल है। कुछ महीनों के युद्ध के पश्चात् ही उन्हें विदित हो गया कि गोरखा सिपाहियों और नेपाल की चट्टानों पर विजय पाना समानरूप से दुष्कर है—लोहे के चने चबाना है। गोरखा सिपाही वीर भी था, और युद्ध की कला में निपुण भी। वह जन्म से ही योद्धा था व्यक्तिगत लड़ाकापन में अंग्रेज़ उनके पासंग भी नहीं थे। एक बड़ी बात यह थी कि गोरखा सिपाहियों में पुराने भारतीय क्षत्रियों वाली उदारता थी। वह शत्रु के घायल सिपाहियों को लूटते नहीं थे, और न लाशों को दफनाने में बाधक होते थे। हथियार फेंककर शरणापन्न होना उन्होंने सीखा ही नहीं था। दूसरी वस्तु, जिसका सिक्का अंग्रेज़ों को मानना पड़ा, वह नेपाली सिपाहियों की पहाड़ी क़िला बनाने की शैली था। कुछ शिलाओं और लकड़ियों को

जोड़कर वे ऐसा रक्षा-दुर्ग तैयार कर लेते थे, कि शत्रु देखता रह जाता था। वह देखने में छोटे-छोटे दुर्ग तब तक सर नहीं होते थे जब तक पहाड़ पर तोपें न चढ़ाई जायँ। अंग्रेज़ सेनापति पहले तो इन क्षुद्र दुर्गों की उपेक्षा करते रहे, परन्तु अनुभव ने उन्हें शिक्षा दे दी, और वे स्वयं गोरखों का अनुकरण करने लगे। अंग्रेज़ी फ़ौजें भी नेपाली ढंग के अस्थायी क़िले बनाकर लड़ने लगीं।

अंग्रेज़ों को जितनी भी सफलता मिली, उसके कारण थे अधिक संख्या, अधिक गोला-बारूद और अधिक धन। यह सब कुछ होते हुए भी अंग्रेज़ों को स्वयं मानना पड़ा कि वस्तुतः वे नेपाल-युद्ध में पराजित हुए, क्योंकि वे अपना अभीष्ट प्राप्त न कर सके।

इकतालीसवाँ अध्याय

मराठाशाही का अन्त (१)

देश की परिस्थिति

यह बात निर्विवाद है कि १९वीं शताब्दी के आरम्भ में इंग्लैण्ड की सरकार और इंग्लैण्ड के निवासी इस परिणाम पर पहुँच चुके थे कि भारतवर्ष ब्रिटिश साम्राज्य का भाग है। वे मन ही मन में यह मानने लगे थे कि सम्पूर्ण भारत पर प्रभुत्व क़ायम करना आवश्यक है, क्योंकि उसके बिना भारत के जितने भाग पर प्रभुत्व क़ायम हो गया है, वह भी खतरे में पड़ जायगा। लार्ड वैल्ज़ली और उसके भाई लार्ड विलिंग्टन जैसे युद्ध-प्रेमी अंग्रेज़ अफ़सरों ने अपनी जाति को यह विश्वास दिला दिया था कि यदि समूचे भारत पर अधिकार न किया गया, तो अंग्रेज़ों को किसी दिन अपना सा-मुँह लेकर बाहर निकल जाना पड़ेगा। १८१३ के चार्टर में से पहले चार्टरों की यह घोषणा निकाल दी गई थी कि भारत में विजय की योजनाओं को कार्य में परिणत करना और राज्य की सीमाओं को बढ़ाना इस (ब्रिटिश) राष्ट्र की अभिलाषा, आत्मसम्मान और नीति के सर्वथा विरुद्ध है......' इस घोषणा को चार्टर में स्थान न देकर ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने स्पष्ट रूप से भारत के अंग्रेज़ शासकों को विजय और राज्य-विस्तार करने की खुली छुट्टी दे दी थी। लार्ड हेस्टिंग्ज़ उस छुट्टी का परवाना जेब में डालकर ही भारतवर्ष में आया था।

इंग्लैण्ड भारत के एक बहुत बड़े भाग पर अधिकार जमा चुका था। अधिकार का जो अंश शेष था, उसकी प्राप्ति में रुकावट पैदा करने वाली अधिकतर शक्तियाँ या तो सर्वथा नष्ट हो चुकी थीं, अथवा इतनी निर्बल हो गई थीं कि उन्हें शत्रुओं की गिनती से निकाल सकते थे। मुग़ल बादशाह राजनीतिक दृष्टि से शून्य से भी गया-गुज़रा हो चुका था, क्योंकि वह किसी न किसी दूसरी शक्ति का गुलाम बनकर राजनीति में ऋण का काम ही देता था। उत्तर दिशा से जो संकट आ सकते थे, उन्हें लार्ड मिण्टो ने पंजाब, सिन्ध और ईरान से सन्धियाँ करके रोक दिया था। दो वर्ष की लड़ाई के पश्चात् नेपाल से भी सुलह कर ली गई थी। अब अंग्रेज़ों की विजय-यात्रा के सामने केवल एक दीवार खड़ी रह गई थी, और वह थी मराठों की संघ-शक्ति, जो कई चोटें खाकर निर्बल तो हो गई थी, परन्तु अभी सर्वथा नष्ट नहीं हुई थी। उसके बिखरे हुए टुकड़ों में भी इतनी गर्मी थी, कि उन पर पाँव रखकर आगे बढ़ना जोखम का काम था। पाँव के जल जाने का भय था। इस कारण अंग्रेज़ी सरकार इस परिणाम पर पहुँच चुकी थी कि अब मराठा संघ का सर्वनाश करके सारे भारत पर प्रभुत्व करने का समय आ गया है।

मराठा राज्य की बिगड़ी हुई आन्तरिक दशा के कारण अंग्रेज़ों को अपना मन्सूबा पूरा करने में बहुत सहायता मिली। हम देख आये हैं कि प्रथम बाजीराव पेशवा के पीछे मराठा

राज्य की माला के मनके बिखरने लगे थे। पहले पेशवा के घर में फूट पड़ी, फिर वह धीरे-धीरे सामन्तों में फैल गई। मराठा संघ के मुख्य सदस्य चार थे—सीन्धिया, होल्कर, गायकवाड़ और भोंसला। धीरे-धीरे वे सब पूरी तरह नहीं तो लगभग—स्वतन्त्र शासक बनकर पेशवा पर हावी होने की आपसी होड़ में लग गये थे। वे मानो पेशवा का शिकार करने के लिए आपस में लड़ते रहते थे। सीन्धिया और होल्कर की प्रतिस्पर्धा ने पूना के शासन की चूलें हिला दी थीं। इसी घरू फूट का यह परिणाम हुआ था कि संघ के सभी सदस्य एक-एक करके अंग्रेज़ों के चंगुल में आ गये थे। जो चंगुल से निकलने का यत्न करता था, उसे अकेला करके अंग्रेज़ी सेनायें दबा देती थीं। सीन्धिया अंग्रेज़ी सरकार का हीन-मित्र और सामन्त-सा बन चुका था, गायकवाड़ के चारों ओर अंग्रेज़ों का ऐसा जाल बिछ चुका था, कि वह स्वतन्त्रता से एक क़दम भी नहीं रख सकता था, होल्कर लड़कर थक चुका था, और भोंसला लाचारी के कारण मौन था। इस तरह मराठा संघ के सभी अंग अपनी परिस्थितियों से बँधे हुए होने के कारण बहुत कुछ अशक्त हो चुके थे।

रह गया पेशवा। दुर्भाग्यवश वह इस शृंखला की सबसे निर्बल कड़ी थी। हम देख आये हैं कि कई छोटे-छोटे गुणों के होते हुए भी उसमें कुछेक बहुत भारी दोष थे, जिनके कारण उसकी पेशवाई का समय महाराष्ट्र की शक्ति के लिए अभिशाप सिद्ध हुआ। वह देखने में सुन्दर, बात-चीत में शिष्ट और पूजापाठ में श्रद्धावान् था। ये तो उसके व्यक्तिगत गुण थे परन्तु जो दोष थे, वे बहुत विस्तृत प्रभाव उत्पन्न करने वाले थे। वह तलवार और घुड़सवारी का धनी था, पर बहादुर नहीं था। युद्ध में जय और पराजय दोनों होते हैं। जीतने पर तो सभी योद्धावी प्रतीत होने लगते है, असली वीर वह है जो पराजय के समय भी अपने संकल्प पर और अधिकार प्रदेश पर अड़ा रहे। द्वितीय बाजीराव में उस वीरता का सर्वथा अभाव था। वह अपनी अधिकार-लिप्सा की पूर्ति के लिए मित्रों को छोड़ने, शत्रुओं की शरण जाने या झूठे वायदे करने में किसी प्रकार का संकोच नहीं करता था। वह अविश्वासी था, और इसीलिए अविश्वासपात्र था। मित्रों को भी झूठा समझता था और सबके साथ झूठा बनने को तैयार रहता था। मुँह का मीठा होने पर भी व्यवहार में अत्यन्त क्रूर हो सकता था। विशेषतः बदला लेने में वह अत्यन्त नृशंस हो उठता था। यह कायरों की विशेषता होती है कि वे निर्बलों को सताते है और सबलों के पाँव के तलवे चूमने को तैयार रहते हैं। यह देश का दुर्भाग्य था कि जब अंग्रेज़ों की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने का समय आया तब छत्रपति शिवाजी के स्थापित किये हुए स्वराज्य की पहरेदारी एक ऐसे व्यक्ति के सुपुर्द हो गई, जो उस कार्य के सर्वथा अयोग्य था। वसीन की सन्धि बाजीराव की अयोग्यता का जीता-जागता प्रमाण थी।

बसीन की सन्धि द्वारा पेशवा ने यह स्वीकार कर लिया था कि कम्पनी की कुछ पैदल और घुड़सवार सेना, तोपखाने के साथ, पूना के समीप स्थायी रूप से रहेगी। उस सेना के पालन-पोषण के लिए पेशवा ने कम्पनी को इतनी ज़मीन दे दी थी कि उसकी पर्याप्त आय थी। सूरत का व्यापारी शहर कम्पनी को दे दिया गया। पेशवा ने निज़ाम और गायकवाड़ पर से

अपने स्वामित्व का तथा चौथ का अधिकार छोड़ दिया, और उनके साथ कोई झगड़ा होने की दशा में कम्पनी को निर्णायक बनाना स्वीकार कर लिया। अन्य यूरोपियन जातियों तथा राज्यों से अपने स्वतन्त्र सम्बन्धों को लगभग समाप्त करते हुए उसने मान लिया था कि वह कम्पनी के विरोधियों से मित्रता न करेगा। इस बसीन के इकरारनामे को हम सन्धि का नाम न देकर आत्मसमर्पण का नाम दें तो उचित होगा।

बसीन के आत्मसमर्पण ने एक प्रकार से महाराष्ट्र-राज्य-संघ को प्राणहीन कर दिया था। पूना संघ का हृदय था, जब वही शक्तिहीन हो गया तो अन्य अंग कितने दिन चलते! संघ को मृतप्राय करके कम्पनी ने एक-एक करके महाराष्ट्र-शक्तियों का संहार शुरू किया। हम देख आये हैं कि लार्ड वैल्ज़ली ने सीन्धिया को कैसे फाँसा और होल्कर को कैसे परेशान किया। इस तरह संघ का नाश होता रहा, और बाजीराव पेशवा कम्पनी की सेनाओं की छाया में पड़ा ऐश करता रहा।

अंग्रेज़ों की सहायता से पूना की राजगद्दी पर बैठकर भी बाजीराव यदि देश-भक्ति, दूरदर्शिता और समझदारी से काम लेता तो धीरे-धीरे सामन्तों की शक्ति इकट्ठी करके राज्य-सत्ता को क़ायम कर सकता था, परन्तु उसने बिल्कुल इससे उलटा किया। पूना में आसनासीन होते ही वह अपने असली या कल्पित विरोधियों से बदला लेने की योजना बनाने लगा। जो विरोधी संघ के छोटे सरदारों में से सबसे अधिक शक्तिशाली था बाजीराव का पहला वार उसी पर हुआ। उसकी सारी सम्पत्ति छीन ली गई, और उसे इश्तिहारी डाकू की हैसीयत में पहुँचा दिया गया। नाना फड़नवीस से बाजीराव के विरोध के कारण राज्य में जो उथल-पुथल मची, उसका वृत्तान्त सुनाया जा चुका है। और भी अनेक छोटे-छोटे सरदारों पर बाजीराव ने इतने अत्याचार किये कि उनके कुल के कुल पेशवा के शत्रु बन गये।

बाजीराव स्वभाव से योद्धा नहीं था। वह किसी बड़े युद्ध में वीरता से लड़कर विजयी नहीं हुआ। कभी सीन्धिया तो कभी होल्कर उसे दबाते और भगाते रहे। अंग्रेज़ों की शरण में जाकर बसीन की सन्धि पर हस्ताक्षर करना इस बात का सबूत था कि उसे अधिकार और सुख जितना प्यारा था, स्वाधीनता और आत्मसम्मान उतने प्यारे नहीं थे। यह स्वाभाविक है कि सेना ऐसे सेनापति से असन्तुष्ट रहे। बाजीराव के सेनापति या सिपाही उसमें वैसी आस्था नहीं रखते थे, जैसी सैनिकों को अपने विश्वासपात्र नेता में रखनी चाहिए।

कोष की हालत भी अच्छी नहीं थी। पेशवा ने सामन्तों को लूटकर जो थोड़ा-बहुत धन इकट्ठा किया था, वह कुछ तो अपने भोग-विलास में और कुछ पापों को धोने के लिए दान-पुण्य में बहा दिया था। अधिक आय के रास्ते प्रायः बन्द हो गये थे, और खर्च उसी तरह चल रहे थे।

इधर पूना की यह निर्बल दशा हो रही थी, और उधर कम्पनी की शक्ति दिनोंदिन बढ़ रही थी। लन्दन की सरकार को समस्त भारत पर प्रभुत्व जमाने का इससे अच्छा कौन सा अवसर मिल सकता था। लार्ड हेस्टिंग्ज़ को इस आदेश के साथ भारत में भेजा गया प्रतीत होता था कि वह शीघ्र से शीघ्र कम्पनी के सबसे बड़े शत्रु महाराष्ट्र संघ को समाप्त

करके निष्कंटक ब्रिटिश राज्य की स्थापना करे। नेपाल-युद्ध से निबटते ही गवर्नर-जनरल ने एक ओर तो ऐसी छेड़-छाड़ का सिलसिला शुरू कर दिया कि लड़ाई जारी की जा सके, और दूसरी ओर अपनी सेनाओं की ऐसी व्यूह-रचना करने की आज्ञा दे दी कि युद्ध छिड़ते ही मराठा राज्य पर चारों ओर से आक्रमण किया जा सके।

दोनों कार्यों में लार्ड हेस्टिंग्ज़ को पूरी सफलता मिली, इसका मुख्य कारण यही था कि उस समय मराठा राज्य की आन्तरिक दशा बहुत जीर्ण हो चुकी थी।

गाँव और शहरों पर आक्रमण करते और माल लूटते थे। अब तक उनसे मराठा सरदार आवश्यकतानुसार काम लेते रहते थे। जब लड़ाई छिड़ती तो सीन्धिया, होल्कर आदि सरदार पिण्डारियों को काम में लाते थे। उन्हें दो तरह के लाभ होते थे। जिस सरदार की सहायता करते थे, उससे रिश्वत लेते थे, और शत्रु के इलाके में लूट-मार से जो कुछ मिलता था, वह उनका होता था। पिछले कुछ वर्षो से कम्पनी के लोग भी पिण्डारियों से थोड़ी-बहुत सहायता लेने लगे थे।

१८१५ तक यह दशा रही। उस समय के गवर्नर-जनरल के दृष्टिकोण में परिवर्तन हो रहा था। वह कम्पनी की शक्ति को, अन्य सब शक्तियों की समाप्ति करके आगे बढ़ाना चाहता था। वह जानता था कि युद्ध आरम्भ होने पर पिण्डारी लोग मराठों के सबसे बड़े सहायक होंगे। नियमबद्ध सेनाओं से लड़ना उतना कठिन नहीं होता, जितना इन हवा की तरह मुट्ठी में से निकल जाने वाले आज़ाद लड़ाकों से लड़ना। वे छापा मारकर ऐसे गुम होते थे कि ढूंढ़ना कठिन हो जाता था।

१८१५ के आरम्भ में गवर्नर-जनरल ने यह सूचना प्रकाशित करा दी कि कम्पनी की सरकार पिण्डारियों के दमन की तैयारी कर रही है। कौन नहीं जानता था कि पिण्डारियों का गिरोह इतना बड़ा नहीं कि उसके दमन के लिए देशव्यापी मोर्चाबन्दी की जाय। पिण्डारियों के बहाने से कम्पनी की सेनाओं की जो चौमुखी व्यूह-रचना हुई, उससे भारतीय शासक आश्चर्य में पड़ गये। विशेषत. मराठा शासकों पर तो उसका बहुत उद्वेगजनक प्रभाव पड़ा। उनमें घबराहट फैल गई। पिण्डारियों पर किये गये आक्रमण को वे अपने पर होने वाले आक्रमण की भूमिकामात्र समझ रहे थे। अंग्रेज़ अफसर उन दिनों स्पष्ट शब्दों में मराठा सरदारों पर यह आरोप लगाते थे कि वे पिण्डारियों को लूट-मार के लिए उकसाते है और उन्हें आर्थिक सहायता देते है। अंग्रेज़ी सेनाओं के तत्कालीन सन्नाह के सम्बन्ध में सर जौन ने लिखा है कि "उस समय हमारी ओर से जो सैनिक तैयारी की गई थी, वह बहुत विशाल थी, और जो व्यक्ति हमारी शानदार सेना अथवा यों कहिये कि दो शानदार सेनाओं को रणक्षेत्र में उतरी हुई देखता वह अनुभव करता कि वह किसी भी मानवी आक्रमण का मुक़ाबला करने के योग्य है।" स्पष्ट है कि इतनी बड़ी तैयारी केवल पिण्डारियों के दमन के लिए नहीं की गई थी। उसका असली लक्ष्य मराठाशाही का अन्त करना था।

मराठा सरदारों में सबसे अधिक धूर्त दौलतराव सीन्धिया था। उसे अंग्रेज़ों की मन्शा समझने में देर न लगी। अवसरवादिता में सीन्धिया वंश नाम पा चुका था। उसने अंग्रेज़ों से ऐसी सन्धि करने में विलम्ब न किया, जिसका उद्देश्य अंग्रेज़ों से मिलकर पिण्डारियों का दमन करना था। सीन्धिया ने समझा था कि वैसी सन्धि करके वह अपनी रियासत को अंग्रेज़ी पंजे से बचा लेगा, परन्तु यह उसका भ्रम था। सब मराठा सरदारों से अलग होकर और अंग्रेजों के साथ अलग सन्धि करके सीन्धिया ने न केवल मराठाशाही के अन्तिम पतन का द्वार खोल दिया, उसने सबसे पहले अपनी स्वाधीनता भी अंग्रेज़ों के पास धरोहर रख दी। सीन्धिया के मित्रद्रोह के कारण शेष मराठा रियासतों को अंग्रेज़ों से जो भय था, उसे और

भी गहरा कर दिया ।

पेशवा और अंग्रेज़ों में संघर्ष का दूसरा कारण या बहाना बड़ौदे की ओर से आया । १७८९ में, बड़ौदा के शासक फ़तेहसिंह गायकवाड़ के मरने पर पेशवा की सहायता से फतेहसिंह के भाई मानाजी को गायकवाड़ घोषित किया गया । मानाजी ने सहायता के बदले में पेशवा को ४ वर्षों में किश्तों द्वारा ६४ लाख रुपया देने का वायदा किया । ४ वर्ष बाद मानाजी मर गया, उसके स्थान पर मानाजी का भतीजा गोविन्दराव गद्दी पर बैठा । गोविन्दराव ने केवल ७ वर्ष तक राज्य किया । उसके पश्चात् उसका बड़ा उचित लड़का आनन्दराव सिंहासनारूढ़ हुआ ।

आनन्दराव निर्बल इच्छा-शक्ति वाला व्यक्ति था । उसके समय में रियासत में बहुत से घरू झगड़े उत्पन्न हो गये, जिनसे छूटने के लिए उसने अंग्रेज़ों का द्वार खटखटाया। अंग्रेज़ तो ऐसे अवसर की प्रतीक्षा में ही रहते थे । बन्दर बाँट करना उनकी कार्यनीति का मूलसूत्र था । वे बीच में कूद पड़े और शान्ति की स्थापना तो कर दी पर उसका बहुत भारी मूल्य वसूल किया । अरब सेनाओं के खर्च का भुगतान करने के नाम पर उन्होंने गायकवाड़ से सूरत तथा अन्य कई ज़िलों से चौथ वसूल करने का अधिकार ले लिया, और उससे भी जब पूरा भुगतान न हुआ तो धोलका नडियाद आदि की लगभग ८ लाख रुपये वार्षिक आय की भूमि पर अधिकार कर लिया । हालत यहाँ तक बिगड़ी कि आनन्दराव ने बड़ौदा के कर की आय भी अंग्रेज़ों के पास धरोहर रख दी ।

इस प्रकार आनन्दराव मानो अंग्रेज़ों के हाथ बिक गया । उसका एक परिणाम यह हुआ कि वह पेशवा को प्रतिज्ञात राशि न दे सका । इस पर पेशवा ने गायकवाड़ की रियासत के कुछ भाग की आय पर अधिकार कर लेने का प्रस्ताव उपस्थित किया । अब अंग्रेज़ स्वयं बड़ौदा के एक बड़े भाग की आय पर क़ब्ज़ा कर चुके थे । उन्होंने बाजीराव की माँग का विरोध तो न किया पर यह प्रस्ताव उपस्थित कर दिया कि सारे मामले को सुलझाने के लिए गायकवाड़ का एक प्रभावशाली प्रतिनिधि पेशवा के दरबार में भेजा जाय । पेशवा ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया ।

उस समय पेशवा के दरबार में अंग्रेज़ी सरकार का प्रतिनिधि एक बहुत ही धर्त और कार्य-कुशल व्यक्ति था । उसका नाम मौण्ट स्टुअर्ट एलिफस्टन था । अंग्रेज़ी सरकार की सेना में जितने कूटनीतिज्ञ कारकुन थे, एलिफस्टन का स्थान उनमें सबसे ऊँचा समझा जाता था। वह नागपुर में कई वर्षों तक रेज़ीडेण्ट रहने के अतिरिक्त अफ़ग़ानिस्तान में भेजे गये दूतमण्डल का अग्रणी भी रह चुका था । जब अंग्रेज़ गवर्नर-जनरलों ने पेशवा का अन्तिम फैसला करने का निश्चय कर लिया, तब मौण्ट स्टुअर्ट एलिफस्टन को पूना में रेज़ीडेण्ट बनाकर भेजने के लिए योग्यतम व्यक्ति समझा गया । मार्क्विस ऑफ़ हेस्टिंग्ज़ और एलिफस्टन एक ही थैली के चट्टे-बट्टे थे । वे एक दूसरे के दिल को खूब समझते थे । एलिफस्टन ने पूना में काम सँभालने पर जो पहला काम किया, यह था कि खुरशेद जी जमशेद जी मोदी नाम के एक पारसी कर्मचारी को, जिसे पहले रेज़ीडेण्ट ने अपना सहायक नियुक्त किया था, नौकरी से अलग कर

दिया, क्योंकि उसे पेशवा का हितैषी समझा जाने लगा था। खुरशेद जी नर्म स्वभाव का व्यक्ति था, वह सदा रेज़ीडेण्ट और पेशवा में बनाये रखने का यत्न करता था। इतना ही नहीं, कि उसे कार्य से अलग कर दिया, अभी वह पूना से जाने की तैयारी ही कर रहा था कि विष से उसकी मृत्यु हो गई। यद्यपि अंग्रेज़ लेखकों ने विष देने का आरोप पेशवा पर लगाया है, परन्तु परिस्थिति को देखते हुए वह सन्देह निर्मूल प्रतीत होता है। यदि सन्देह करना हो तो उसका झुकाव अंग्रेज़ रेज़ीडेण्ट की ओर होता है, क्योंकि खुरशेद जी से उसी को भय था, पेशवा को नहीं।

खुरशेद जी की मृत्यु और एल्फिन्स्टन की चेष्टाओं से पूना में बेचैनी-सी फैल रही थी, तब गायकवाड़ ने अंग्रेज़ों की सलाह से पेशवा को यह सूचित किया कि गंगाधर शास्त्री नाम के व्यक्ति को प्रतिनिधि बनाकर पूना भेजा जा रहा है।

गंगाधर शास्त्री एक प्रकार से मराठा राज्य का राहु सिद्ध हुआ, इस कारण उसके पूर्व जीवन का थोड़ा सा वृत्तान्त बतलाना आवश्यक है। उसने एक बाग़ी ब्राह्मण के घर में जन्म लिया था। छोटी आयु में वह पूना में नौकर हुआ; वहाँ उसने अपने उद्धत व्यवहार से पेशवा को नाराज़ कर लिया। पूना से वह बड़ौदा चला गया, और वहाँ अंग्रेज़ एजेण्टों से मिलकर वह रियासत की राजनीति में भाग लेने लगा। अपनी धूर्तता और व्यवहार-कुशलता से उसने शीघ्र ही बहुत ऊँचा पद प्राप्त कर लिया। बड़ौदा राज्य को अंग्रेज़ों के पंजे में फँसाने का अधिकतर अपश्रेय गंगाधर शास्त्री को ही दिया जा सकता है। अंग्रेज़ी सरकार उसकी इतनी अनुगृहीत थी कि उसकी लड़की के विवाह पर बम्बई सरकार ने ४०००) रुपये भेंट किये। १५ मई १८०६ को बम्बई सरकार की ओर से एक पालकी, और १२००) रुपये उसे निर्वाह के लिए दिये गये।

"गंगाधर शास्त्री को हम देश का पहला विलायती भारतवासी कह सकते हैं। उसने १६वीं शताब्दी के अन्त में आरम्भ में ही वह कला सीख ली थी, जिसे बंगाल और मद्रास के हिन्दुस्तानी ५०-६० वर्ष पीछे सीखने वाले थे। वह कई बातों में यूरोपियनों का अनुकरण करने लगा था। एल्फिन्स्टन बहुत चतुर व्यक्ति था। वह मनुष्यों को ख़ूब पहिचानता था। उसने शास्त्री के सम्बन्ध में लिखा है—

"गंगाधर शास्त्री बहुत ही चतुर और गुणी व्यक्ति है, वह बड़ौदा की रियासत को व्यवस्था में रखता है, और पूना में ऐसे ढंग से बहुत सा धन व्यय करता है कि सबका ध्यान उसकी ओर आकृष्ट हो। यद्यपि वह संस्कृत का विद्वान् है, तो भी अंग्रेज़ों का अनुकरण करता है, तेज़ी से चलता है, जल्दी बोलता है, बोलने वाले को टोकता है और उसका खण्डन करता है। वह पेशवा और उसके मन्त्रियों को बूढ़े, बुद्धू, पक्के बदमाश, 'डैम रस्किल' आदि शब्दों से विशेषित करता है।"

जब पेशवा को ख़बर लगी कि गंगाधर शास्त्री को गायकवाड़ का प्रतिनिधि बनाकर पूना भेजा जा रहा है, तो स्वभावतः उसे बहुत बुरा लगा, और उसने एल्फिन्स्टन को अपनी अस्वीकृति की सूचना दे दी, परन्तु एल्फिन्स्टन प्रतिवाद को सुनने वाला कहाँ था? उसकी

तो यह योजना ही थी कि किसी तरह पेशवा को परेशान करके युद्ध का बहाना खड़ा किया जाय। पेशवा की एक बात न सुनी गई, और बड़ी धूमधाम से अंग्रेज़ संगीनों की संरक्षा में श्री गंगाधर शास्त्री पूना में प्रविष्ट हो गये।

गंगाधर शास्त्री ने पूना पहुँचकर बाजीराव से मिलने का प्रयत्न किया, परन्तु वह बा.य-काल में बाजीराव के सामने गुस्ताख़ हो चुका था, इस कारण उसे भेंट का अवसर नहीं दिया गया। यह घटना दोनों में परस्पर द्वेष का एक और कारण बन गई। पहले की घटनायें कुछ ही हों, यह स्वीकार करना पड़ेगा कि बाजीराव को एक ऐसे राजदूत का जान-बूझ कर तिरस्कार न करना चाहिए था, जिसे अंग्रेज़ों का विश्वास प्राप्त था, क्योंकि व्यावहारिक रूप में पेशवा अंग्रेज़ों की अधीनता स्वीकार कर चुका था।

पेशवा के अविश्वास का यह फल हुआ कि गंगाधर शास्त्री को जिस काम के लिए पूना भेजा गया था, वह पूरा न हो सका। गायकवाड़ की इच्छा थी कि अहमदाबाद का ठेका उसे दे दिया जाय। पेशवा ने उसे न देकर ठेका अपने कृपापात्र सरदार त्र्यम्बक जी डंगले को दे दिया। शास्त्री को तो इससे निराशा हुई है, अंग्रेज़ भी बहुत रुष्ट हुए। कार्य-सिद्धि नहीं हो सकी, यह देखकर अंग्रेज़ सरकार ने निश्चय किया कि शास्त्री को पूना से हटा लिया जाय।

हम देख आये हैं कि बाजीराव पेशवा न दूरदर्शी नीतिज्ञ था और न दृढ़चरित्र शासक। वह क्षणिक भावनाओं से प्रभावित हो जाता था, और बात-बात में कमज़ोरी दिखा देता था। जब उसे समाचार मिला कि शास्त्री को वापिस बुलाया जा रहा है तो वह घबराकर शास्त्री से सुलह करने की चेष्टा करने लगा। पेशवा ने पहले यह प्रस्ताव किया कि गगाधर शास्त्री उसका मन्त्रिपद स्वीकार कर ले। अंग्रेज़ रेज़ीडेण्ट की सलाह से शास्त्री ने उस प्रस्ताव को ठुकरा दिया। पेशवा ने दूसरा प्रस्ताव यह किया कि पेशवा की कन्या का शास्त्री के पुत्र से विवाह हो जाय। पहले तो शास्त्री ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया, परन्तु विवाह की तारीख़ समीप आने पर अचानक सम्बन्ध करने से इन्कार कर दिया। सम्भवतः यह इन्कार भी मि० एल्फिस्टन की प्रेरणा का ही परिणाम था। ये दोनों प्रस्ताव करके बाजीराव ने वस्तुतः स्वयं अपने लिए अपमान खरीदा था। पेशवा निर्बल था, और शास्त्री बहुत धूर्त और अभिमानी था—फलतः शास्त्री को अवसर मिल गया कि वह पेशवा के सम्मान को दो बड़ी ठोकरें लगा दे।

जब रस्सी इतनी खिंच गई, कि टूटना भर बाकी रह गया तो दोनों ओर से समझ लिया गया कि गगाधर शास्त्री का पूना से चले जाना निश्चित है। उसके पश्चात् जो काला काण्ड हुआ उसके कर्ता का ठीक-ठीक निर्णय आज तक नहीं हो सका। उस काले काण्ड ने पेशवा के पतन और साथ ही मराठाशाही के विनाश के प्रगति को बहुत तेज़ कर दिया।

घटना यों हुई। बाजीराव ने विशेष पर्व के अवसर पर पण्ढारपुर तीर्थ की यात्रा करने का निश्चय किया। पण्ढारपुर मराठों का सर्वमान्य तीर्थ है। त्र्यम्बक जी डंगले ने पेशवा की अनुमति से शास्त्री को भी यात्रा में साथ चलने का निमन्त्रण दिया, जिसे शास्त्री ने स्वीकार कर लिया। डंगले पेशवा का मुँह लगा कारकुन था। कहा जाता है कि उसे शास्त्री

से यह डर था कि कहीं वह मेरी जगह पेशवा का कृपापात्र न बन जाय। पण्ढारपुर पहुँचकर पेशवा ने शास्त्री को कहला भेजा कि आषाढ़ की शुक्ला एकादशी को रात्रि के समय मन्दिर में पूजा के लिए जा रहा हूँ, वहाँ तुम भी आ जाओ। शास्त्री ने यह निमन्त्रण भी स्वीकार कर लिया। शास्त्री मन्दिर में गया, वहाँ पूजा की, और फिर घर की ओर लौट पड़ा। रास्ते में एक सुनसान-से स्थान पर कुछ आदमी गंगाधर शास्त्री पर टूट पड़े, और उसे काटकर वहीं डाल गये। शास्त्री की हत्या का जो वर्णन शास्त्री के सहायक बापू मैरल ने लिखा है, उसका कुछ भाग निम्नलिखित है—

"जब गंगाधर शास्त्री त्र्यम्बक जी के निमन्त्रण को स्वीकार करके अपने कुछ सिपाहियों के साथ मन्दिर की ओर जा रहा था तब उसके नौकर ने सुना कि एक आदमी दूसरे से पूछ रहा है कि 'इनमें से शास्त्री कौनसा है?' दूसरे ने उत्तर दिया 'जिसके गले में हार है।' शास्त्री ने मन्दिर में जाकर पूजा की, त्र्यम्बकजी से कुछ बातचीत की, और घर की ओर लौट पड़ा। उसने अपने तीन आदमी पीछे छोड़ दिये। लौटते हुए उसके साथ केवल त्र्यम्बक जी डंगले के सिपाही थे। जब वे लोग मन्दिर से कुछ दूर गये, तो पीछे से भागते हुए तीन आदमी आये। उन आदमियों के बायें हाथ कपड़ों में लिपटे हुए थे—शायद ढाल का काम देने के लिए। दायें हाथ में मोड़ा हुआ कपड़ा दिखाई दे रहा था। एक आदमी ने शास्त्री पर जोर का वार किया—जो तलवार का था। दूसरे आदमी ने शास्त्री के सिर के बाल पकड़कर उसे ज़मीन पर पटक दिया, और तीसरे ने सिर पर तलवार का हाथ मारा। इतने में दो आदमी सामने से भागे हुए आए और आक्रान्ताओं में शामिल हो गये। यह घटना रात के लगभग साढ़े आठ बजे हुई।"

गंगाधर शास्त्री की मृत्यु से चारों ओर सनसनी फैल गई। पूना में शास्त्री की रक्षा की जिम्मेवारी ब्रिटिश सरकार ने ली थी। उसके क्रोध का ठिकाना न रहा। ब्रिटिश सरकार और अन्य भी बहुत से लोग सब घटनाओं को देखकर इस परिणाम पर पहुँचे कि पेशवा का हाथ हत्या में हो या नहीं, त्र्यम्बक जी डंगले का अवश्य है। त्र्यम्बक जी डंगले ने इस आरोप से सर्वथा इन्कार किया। उसका एक पत्र मिला है जिसमें उसने शास्त्री की हत्या का दोष होल्कर पर डाला है। उसने पत्र में यह इशारा किया था कि होल्कर ने अपने एक शत्रु को नष्ट करने के लिए बड़ी चतुराई से ऐसा स्थान और ढँग चुना कि दोष दूसरे पर जा पड़े। उस समय के कुछ लोगों का यह भी विचार था कि शायद शास्त्री के पण्ढारपुर जाने से यह अनुमान लगाकर कि वह पेशवा से जा मिला है, अंग्रेज़ी सरकार के रेज़ीडेण्ट एल्फिस्टन ने कुछ गुण्डों द्वारा शास्त्री की हत्या करवा दी है। इधर अंग्रेज़ सरकार इस सम्मति पर दृढ़ता से जमी हुई थी कि शास्त्री की हत्या में त्र्यम्बक जी डंगले का हाथ है। उसी आधार पर ब्रिटिश रेज़ीडेण्ट ने पेशवा से माँग की कि डंगले को गिरफ़्तार करके अंग्रेज़ी सरकार के सुपुर्द कर दिया जाय। पहले तो पेशवा ने कुछ आनाकानी की, परन्तु जब रेज़ीडेण्ट ने धमकी के साथ ज़ोरदार तकाजा किया, तब उसने अनिच्छापूर्वक डंगले को अंग्रेज़ों के सुपुर्द कर दिया। परन्तु डंगले बहुत ही चालाक आदमी था। उसने जेल के कुछ

लोगों को षड्यन्त्र में मिला लिया, यहाँ तक कि एक अंग्रेज़ अर्दली भी उसके अड्डे पर चढ़ गया, और वह १२ सितम्बर १८१६ के दिन क़िले से भाग निकला।

अंग्रेज़ी सरकार ने डंगले के जेल से छूट भागने के लिए भी बाजीराव को ही ज़िम्मेदार ठहराया, और उस पर ज़ोर डाला कि डंगले को पकड़कर हमारे सुपुर्द कर दो। बाजीराव अब अंग्रेज़ रेज़ीडेण्ट के सलूक से बहुत तंग आ चुका था। उसे निश्चय होता जा रहा था कि ये सब तो बहाने हैं, असल में अंग्रेज़ी सरकार अब उसका सर्वनाश करना चाहती है। वह जहाँ एक ओर अंग्रेज रेज़ीडेण्ट को टालनेवाला उत्तर देने लगा, वहाँ दूसरी ओर शक्ति संग्रह का भी यत्न करने लगा। अंग्रेज़ी सरकार बाजीराव की सब चेष्टाओं पर बहुत सूक्ष्म दृष्टि रख रही थी। उसने भी शिकंजे को पूरे ज़ोर से कस दिया। अंग्रेज़ रेज़ीडेण्ट ने पेशवा को लिखित रूप से अन्तिम चेतावनी देने के साथ ही साथ पूना के चारों ओर अपनी सेनाओं का घेरा डाल दिया। अब तो बाजीराव घबरा गया, और उसने अंग्रेज़ी सरकार से वह सन्धि कर ली जो 'पूना की सन्धि' के नाम से प्रसिद्ध है। उस सन्धि द्वारा उसने त्र्यम्बक जी डंगले की गिरफ़्तारी की आज्ञा तो दे ही दी, साथ ही सिंहगढ़, पुरन्दर और रायगढ़ जैसे मराठा राज्य के प्राणभूत दुर्ग भी अंग्रेज़ों को सौंप दिये। ये क़िले मराठों के आत्मसम्मान के सूचक थे। इनकी दीवारों पर मानो छत्रपति शिवाजी महाराज का नाम खुदा हुआ था। उनका इच्छापूर्वक विदेशियों के हाथ में सौंपा जाना मराठा राज्य के लिए महान् अपशकुन समझा गया। जहाँ सम्पूर्ण मराठा साम्राज्य में बाजीराव के इस हीन आत्मसमर्पण से ग्लानि और भय की लहर फैल गई, वहाँ अंग्रेज़ी सरकार के घर में घी के चिराग़ जल गये, क्योंकि उन्हें अब यह निश्चय हो गया कि मराठा राज्य कुछ दिनों का ही मेहमान है।

तेंतालीसवाँ अध्याय

मराठाशाही का अन्त (३)

अंग्रेज़ों और पेशवा में पूना में जो सन्धि हुई वह कहने को तो सन्धि थी, परन्तु वस्तुतः वह छिपी हुई युद्ध-घोषणा थी। पेशवा के लिए वह इतनी अपमानजनक थी कि उसके मन में उसके बन्धनों से निकलने की उत्कट अभिलाषा उत्पन्न होना स्वाभाविक था, और अंग्रेज़ों को वह इतनी सुगमता से प्राप्त हो गई, कि उन्हें बाजीराव की निर्बलता का निश्चय हो गया जिससे उनका यह संकल्प और भी अधिक दृढ़ हो गया कि मराठा संघ को सर्वथा समाप्त करके अब सारे भारत पर प्रभुता जमाई जाय। फलतः दोनों ओर से अवश्यम्भावी समर की तैयारी होने लगी।

इतिहास-लेखकों ने अपनी-अपनी भावनाओं के अनुसार इस प्रश्न का उत्तर दिया है कि युद्ध की तैयारी में पहल किसने की? कई भारतीय लेखकों ने जिनमें से मेजर वसु मुख्य हैं, यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि पेशवा न तो वस्तुतः लड़ना चाहता था और न उसने विशेष तैयारी ही की थी, सब तैयारी अंग्रेज़ों की ओर से थी। बाजीराव को तो इच्छा न रहते हुए भी युद्ध में कूदना पड़ा। दूसरी ओर बहुत से अंग्रेज़ और कई भारतीय लेखकों ने भी लड़ाई की सारी उत्तरदायिता बाजीराव पर डालने की चेष्टा की है। ऐसे लोग बाजीराव पर झूठा, बेईमान, कायर, क्रूर आदि अनेक गालियों की बौछार करके यह प्रमाणित कर देते हैं कि शान्ति-प्रेमी अंग्रेज़ों को युद्ध-प्रेमी बाजीराव ने ही लड़ने के लिए बाधित किया। सच्ची बात दोनों के बीच में है। दोनों को विश्वास हो गया था कि अब एक ओर फैसला करने का समय आ गया है। यदि बाजीराव नहीं, तो उसके सलाहकार इस निश्चय पर पहुँच चुके थे, कि वर्तमान अपमानजनक जीवन से नष्ट हो जाना अच्छा है, और अंग्रेज़ों के मन में यह बात जम गई थी कि अब मराठा शक्ति को तोड़ने में अधिक विलम्ब न करना चाहिए, क्योंकि बाजीराव से अधिक निर्बल पेशवा होना असम्भव है।

दोनों ओर से लड़ाई की तैयारी होने लगी। लड़ाई का प्रारम्भ ५ नवम्बर १८१७ को हुआ। उस वर्ष के अप्रैल मास का ७ तारीख को लार्ड मोयरा ने सर इवान नेपियन को लिखा था कि अंग्रेजों और पेशवा में युद्ध अवश्यम्भावी है, इसलिए सर नेपियन को पेशवा के गुजरात और उत्तरीय कोंकण पर कब्जा करने के लिए तैयार रहना चाहिए।

युद्ध की योजना का एक यह भी अंग था कि अंग्रेज़ी रेज़ीडेण्ट स्टुअर्ट एल्फिस्टन ने पेशवा के चारों ओर गुप्तचरों का जाल फैला दिया था। उनमें से मुख्य नाम बालाजी पन्त नाटू है। बंगाल के इतिहास में जो निन्दनीय स्थान उमाचन्द को प्राप्त है, मराठा इतिहास में नाटू ने वही स्थान पाया है। पहले वह सतारा में पाँच-छः रुपये मासिक पर घटिया नौकर था, वहाँ से एक मराठा सरकार की नौकरी में पूना आया। एल्फिस्टन उन

दिनों देशद्रोही गुप्तचरों की खोज कर रहा था। उसकी दृष्टि नाटू पर पड़ गई, और नाटू की किस्मत खुल गई। वह अंग्रेज़ सरकार का कृपापात्र बन गया, और उसने पेशवा का बुरा और अंग्रेज़ी सरकार का भला करने में कोई कसर उठा न रखी। एल्फिस्टन नाटू की सेवाओं से इतना प्रभावित था कि पेशवा की पराजय के बाद उसकी सिफ़ारिश से अंग्रेज़ी सरकार ने न केवल उसे बहुत सा धन दिया, एक बड़ी जागीर भी दी।

एल्फिस्टन का दूसरा गुप्तचर यशवन्तराव घोरपडे था। वह भी पेशवा के रहस्य अंग्रेज़ी रेज़ीडेण्ट के हाथ बेचता रहता था।

इस प्रकार इधर अंग्रेज़ी सरकार अपनी सेनाओं और गुप्तचरों से बाजीराव पर घेरा डाल रही थी, तो उधर संकट सिर पर आया देखकर पेशवा भी आत्मरक्षा के लिए मोर्चा-बन्दी का प्रयत्न कर रहा था। बाजीराव ने साथियों की खोज में चारों ओर कई दूत भेजे, और कई पत्र लिखे, जिनमें कुछ अंग्रेज अफ़सरों की सावधानता से पकड़े भी गये। अंग्रेज़ों की ओर से यह आरोप लगाया जाने लगा कि पेशवा भारत की अन्य शक्तियों से मिलकर अंग्रेज़ी सरकार के विरुद्ध मोर्चा जमाना चाहता है। इस आरोप की पुष्टि में जो प्रमाण पेश किये गये उनमें से कितने सच्चे और कितने बनावटी थे, यह कहना कठिन है। दो आदमी पकड़े गये, जिनके पास सीन्धिया की मुहर के अतिरिक्त नेपाल के कुछ बड़े आदमियों के नाम पत्र थे। उससे सिद्ध किया गया कि बाजीराव नेपाल को अपने युद्ध में शामिल करना चाहता था। रणजीतसिंह के दरबार में पेशवा का एक एजेण्ट वर्षों तक रहा, और हैदराबाद में उसकी ओर से रावजी परशराम नाम के एक ऊँचे दर्जे के सरदार के भेजे जाने से यह अनुमान लगाया गया कि पेशवा इन देशों के शासकों को षड्यन्त्र में शामिल करने का यत्न कर रहा था। मराठा सरदारों में अंग्रेज़ों के व्यवहार से विशेष बेचैनी हो ही रही थी। नागपुर, सितारा आदि मराठा रियासतों के साथ पेशवा का पत्र व्यवहार बराबर जारी था, जिसके पकड़ने के लिए अंग्रेज़ी सरकार ने कई गुप्त दूत लगा रखे थे। आज भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि बाजीराव को अंग्रेज़ों ने जितना बड़ा षड्यन्त्रकारी या कुशल नीतिज्ञ सिद्ध करने का यत्न किया है, वह इतना बड़ा था भी या नहीं।

अंग्रेज़ों की ओर से मराठा शक्ति को भंग करने का उद्योग बराबर जारी था। बालाजी पन्त नाटू की चर्चा हम पहले कर चुके हैं। दूसरा भेदिया, जिससे एल्फिस्टन ने काम लिया, यशवन्तराव घोरपड़े था। वह पेशवा की नौकरी में रहता हुआ भी एल्फिस्टन से बड़ी तलब पाता था, और उसके बदले में पेशवा के विषय में सच्ची-झूठी कहानियाँ ब्रिटिश रेज़ीडेण्ट से कहता रहता था। उन कहानियों के आधार पर एल्फिस्टन अपनी सरकार को विश्वास दिलाता रहता था कि बाजीराव छुपे रूप से अंग्रेज़ी सरकार पर आक्रमण करना चाहता है। उस समय ईस्ट इण्डिया कम्पनी इस निश्चय पर पहुँच चुकी थी कि अब सारे हिन्दुस्तान पर अधिकार करने का समय आ गया है। उसमें मुख्य बाधक मराठा संघ ही था। उसके सम्बन्ध में एल्फिस्टन ने जो रिपोर्टें भेजीं, उनसे दो बातें प्रकट होती थीं। एक यह कि बाजीराव अंग्रेज़ों का शत्रु है, और दूसरी यह कि अन्दर से मराठा संघ बिल्कुल खोखला हो

चुका है। फलतः अंग्रेज़ों ने पूना की सरकार को सर्वथा नष्ट करने की तैयारी बड़ी तेज़ी से शुरू कर दी, जो १८१७ के मध्य में लगभग पूरी हो गई।

इधर बाजीराव भी सावधान हो चुका था। पूना से चारों ओर सेनाओं का बुलावा भेजा जा रहा था। पेशवा ने सेना के संचालन के लिए मुख्य सेनापति पद पर बापू गोखले को नियुक्त कर दिया था। ऐसे संकट के समय में, बापू गोखले जैसे वीर सेनानी का चुनाव बहुत ही उचित हुआ था। एक अंग्रेज़ लेखक के शब्दों में 'गोखले का शरीर विशाल था, उसकी आकृति सुन्दर और वीरतासूचक थी, और रंग गोरा था। यह असम्भव था कि गोखले के सम्पर्क में आकर उसके प्रति आदर की भावना न रखी जाय'। बापू गोखले अपने राष्ट्र का सच्चा भक्त था, पेशवा का फर्माबरदार सेवक और निडर योद्धा या। शत्रुओं ने भी उसकी वीरता, दूरदर्शिता और सचाई की प्रशंसा की है। उसका दुर्भाग्य यही था कि उसे जो स्वामी मिला था, उसमें उन तीनों गुणों का अभाव था, जिनके बिना युद्ध में विजय असम्भव है। बाजीराव न वीर था, न दूरदर्शी था और न बात का धनी था। स्वामी की निर्बलताओं ने सेवक के सब गुणों को व्यर्थ कर दिया।

१६ अक्तूबर के दिन पूना में भारत का सबसे बड़ा विजय-दशमी का त्योहार बड़ी धूम-धाम से मनाया गया। उस दिन अकस्मात् वह संघर्ष प्रकट हो गया जो अंग्रेज़ों और मराठा सरकार में परोक्ष रूप से चल रहा था। सेनाओं की परेड के समय रेज़ीडेण्ट ने यह अनुभव किया कि पेशवा की ओर से जान-बूझकर उसकी उपेक्षा की गई है, और कुछ अंग्रेज़ सिपाहियों ने रेज़ीडेण्ट से इसी आशय की शिकायत की।

उधर पेशवा को जो समाचार मिल रहे थे, उनसे स्पष्ट होता जा रहा था कि पूना के चारों ओर अंग्रेज-सेनायें बढ़ रही हैं। बम्बई और अन्य स्थानों से यूरोपियन रेजिमेण्टें तीव्र गति से पूना की ओर बढ़ रही थीं। इस तरह अक्तूबर १८१७ के अन्त में दोनों ओर से रस्सा सीमा से अधिक खिचता जा रहा था।

३० अक्तूबर को बम्बई की रेजिमेण्ट अंग्रेजों की छावनी में पहुँच गई। अगले दिन रेजिमेण्ट ने अपनी सेनाओं को छावनी से हटाकर पूना से चार मील दूर किर्की में युद्ध-सज्जा के साथ तैनात कर दिया। पेशवा ने स्वभावतः इस कार्य को युद्ध की घोषणा समझा। मराठा सेनाओं में अंग्रेज़ी सेनाओं की इस गति से यह अनुमान लगाया कि अंग्रेज़ डर गये। पेशवा सतर्क हो गया, और उसकी सेनाओं की हिम्मत बढ़ गई।

मामला काफ़ी संगीन होता जा रहा था, परन्तु पेशवा का मन अबतक डाँवाँडोल था। एक ओर उसका सेनापति बापू गोखले पूरे ज़ोर से लड़ाई की तैयारी कर रहा था और दूसरी ओर बाजीराव कभी एल्फिस्टन को, और कभी उसके भेजे हुए दूतों को यह विश्वास दिला रहा था कि मैं लड़ना नहीं चाहता हूँ, क्योंकि मैं अंग्रेज़ों को अपना परम हितैषी और मित्र समझता हूँ।

पेशवा इसी तरह लड़ाई और युद्ध के बीच लटक रहा था कि घटनाचक्र अपनी नैसर्गिक गति से चलने लगा।

३ नवम्बर को एल्फिंस्टन ने अपने लाईट बटेलियन को आज्ञा दी कि वह मैसूर से पूना की ओर बढ़े। जब पेशवा को यह समाचार मिला तो उसने भी अपनी सेनाओं को युद्ध के लिए तैयार हो जाने का आदेश दे दिया। साथ ही पेशवा ने ब्रिटिश रेज़ीडेण्ट को विठो जी नायक के हाथ यह सन्देशा भेजा कि पूना के पास अंग्रेज़ सेना का जो जमाव हो रहा है, वह आशंकनीय है, और परस्पर समझौते के विरुद्ध है, इस कारण उचित है कि अंग्रेज़ बटेलियन की बढ़ी हुई संख्या को कम कर दिया जाय, और छावनी का स्थान पेशवा की इच्छानुसार बदल दिया जाय, अन्यथा हमारी दोस्ती समाप्त हो जायगी।

इस अल्टीमेटम का उत्तर रेज़ीडेण्ट की ओर से यह दिया गया कि अंग्रेज़ी सरकार छावनी में चाहे जितनी सेनायें रख सकती है. पेशवा को उन पर एतराज़ उठाने का कोई अधिकार नहीं है। साथ ही उसने यह भी कहला भेजा कि 'हम लड़ना नहीं चाहते, परन्तु यदि पेशवा की सेनायें आगे बढ़ेंगी तो हम जवाबी आक्रमण करने के लिए मजबूर होंगे।'

इस युद्धघोषणात्मक उत्तर पहुँचने पर बापू गोखले के घुड़सवार छावनी की ओर बढ़ने लगे। उनकी संख्या बहुत अधिक थी, इसलिए रेज़ीडेण्ट को छावनी छोड़कर कुछ पीछे हट जाना पड़ा, इससे उत्साहित होकर सिपाहियों ने छावनी को जलाकर भस्मसात् कर दिया।

अब तक दोनों पक्ष के लोग समझ चुके थे कि युद्ध आरम्भ हो गया परन्तु इसे हम बाजीराव की अदूरदर्शिता कहें या कायरता, कि उसने सेनापति गोखले को कहला भेजा कि युद्ध में पहली गोली हमारी ओर से नहीं चलनी चाहिए। वस्तुतः युद्ध आरम्भ हो चुका था। बापू गोखले अपने स्वामी की अस्थिर बुद्धि को खूब पहचानता था। उसने बाजीराव की आज्ञा को एक कान से सुनकर दूसरे कान से निकाल दिया, और युद्ध को अधिक तत्परता से जारी रखा।

युद्ध के आरम्भ में मराठों और अंग्रेजों की जो सेनायें युद्ध के मैदान में एक दूसरे के अभिमुख लड़ने के लिए तैयार खड़ी थीं, उनकी संख्या में बहुत बड़ी विषमता थी। पेशवा की सेना के सम्बन्ध में जो कई प्रकार के हिसाब लगाये गये हैं, उनमें से यदि सर्वसम्मत न्यून से न्यून संख्या को मान लें तो प्रतीत होता है कि उसमें १८,००० घुड़सवार, ८,००० पैदल और १४ तोपें थीं। कुछ अंग्रेज सेनाओं ने तो लिखा है कि पेशवा की सेना में सब मिलाकर ५० हजार के लगभग सिपाही रहे होंगे।

अंग्रेजों की सेना में उस समय २,००० हिन्दुस्तानी सिपाही और ८०० यूरोपियन सोल्जर थे।

युद्ध के समय बाजीराव लगभग ५,००० सिपाहियों के साथ पार्वती पर्वत पर चढ़ गया था, और वहीं से सेनाओं के संघर्ष को देख रहा था। यह भी मराठा राज्य के भाग्यों का फेर था कि शिवाजी के बनाये हुए, और बाजीराव प्रथम द्वारा बढ़ाये हुए राज्य का रक्षक युद्ध के समय पहाड़ की चोटी पर बैठा हुआ तमाशा देख रहा हो। युद्ध लड़कर जीते जाते हैं, दूर से देखकर नहीं। असली युद्ध आने पर बाजीराव ने प्रमाणित कर दिया कि वह शिवाजी और बाजीराव प्रथम का उत्तराधिकारी बनने के योग्य नहीं था।

युद्ध दोपहर के बाद चार बजे के लगभग आरम्भ हुआ। न अधिक देर तक लड़ाई हुई, और न अधिक आदमी मरे। अंग्रेजों की ओर के ८६ और मराठों की ओर के ५०० सिपाहियों के मरने का अनुमान लगाया जाता है। बापू गोखले के पास सिपाही अधिक थे, और एल्फिस्टन की सेना का सन्नाह और नियन्त्रण बहुत ऊँचे दर्जे का था। अंग्रेजों के तोपची अधिक कुशल और चुस्त थे। किर्की के युद्ध की यही विशेषता रही कि उसमें किसी एक स्थान पर डटकर १० मिनट तक भी लड़ाई नहीं हुई। आगे बढ़ने, पीछे हटने और तोपों के गोले फेंकने में ही साँझ हो गई, और उस दिन का युद्ध समाप्त हो गया। अंग्रेज़ और मराठे, दोनों युद्ध के क्षेत्र से पीछे हटकर अपने-अपने डेरों में चले गये। संख्या और नियन्त्रण, दोनों के संघर्ष में शायद पलासी की लड़ाई की भाँति नियन्त्रण जीत जाता यदि मराठा सेना का नेतृत्व बापू गोखले जैसे वीर, सावधान और सच्चे योद्धा के हाथ में न रहता। यदि बाजीराव पर ही जीत-हार का अवलम्ब रहता तो अंग्रेज़-मराठा-युद्ध किर्की में ही समाप्त हो जाता।

किर्की के युद्ध के पश्चात् कुछ दिनों तक दोनों पक्ष शान्त रहे। युद्ध के अन्त की दृष्टि से यह शान्ति की दशा अंग्रेजों के लिए लाभदायक और मराठों के लिए हानिकारक थी, क्योंकि अंग्रेज़ों को अपने दूर-दूर के केन्द्रों से कुमुक मँगाने का अवसर मिल गया। १६ नवम्बर को अंग्रेज़ सेना के डिवीज़न ने नदी को पार करके पूना की ओर क़दम बढ़ाया। पेशवा की कुछ सेनाओं ने उनका रास्ता रोकने का यत्न किया परन्तु वह सफल न हुई, यह समाचार जब बाजीराव को मिला तो वह अपने शिविर को छोड़कर दक्षिण की ओर निकल भागा। बापू गोखले और अन्य सरदारों ने दूसरे प्रातःकाल तक प्रतीक्षा की, परन्तु पेशवा के भाग जाने पर उन्हें पूना में रहना व्यर्थ प्रतीत हो रहा था, इसलिए वे भी पूना का रणक्षेत्र अंग्रेजों के लिए खुला छोड़कर पीछे हट गये। यह युद्ध यरवदा के युद्ध के नाम से प्रसिद्ध है। इसने पूना पर अंग्रेज़ों का निश्चित प्रभुत्व स्थापित कर दिया। यह घटना उस समय की बिगड़ी हुई नैतिक दशा को सूचित करती है जब कि पूना पहुँचने पर जिस व्यक्ति ने पेशवा के महलों पर ब्रिटिश झण्डा फहराया, वह एक मराठा था।

बालाजी पन्त नाटू के कारनामों की चर्चा हम पहले कर आये हैं। नाटू अंग्रेज़ी सेना के २०० सिपाहियों को लेकर पूना में प्रविष्ट हुआ और सबसे आगे बढ़कर अपने हाथ से पेशवा के महलों पर ब्रिटिश सेना का झण्डा फहरा दिया।

यरवदा के युद्ध के पश्चात् बाजीराव का दिल हार गया, और पाँव उखड़ गये। अपनी समझ में उसने कुर्की की लड़ाई के दाव पर अपना सिंहासन रख दिया था, और उसमें वह हार गया। वह न इतना वीर था, और न इतना तपस्वी कि परास्त रहकर दृढ़ रहता। वह पूना से ऐसे भागा जैसे हिरण शिकारी से भागता है, और अंग्रेज़ सेनापतियों ने ऐसे पीछा किया जैसे शिकारी हिरण का करता है।

बाजीराव ने पलायन-यात्रा अकेले नहीं की। बापू गोखले और उसकी सारी सेना को उसके पीछे-पीछे भागना पड़ता था। पेशवा पूना के पास से पराजित होकर कर्नाटक की ओर भागा, कुछ दूर जाकर वहाँ भी अंग्रेज़ सेनाओं द्वारा रास्ता रुका हुआ मिला, पेशवा ने

फिर महाराष्ट्र में प्रवेश किया और शोलापुर की ओर प्रयाण किया, यह समाचार पहुँचने पर अंग्रेज़ सेनापति जनरल स्मिथ ने एक मज़बूत सेना के साथ पेशवा का पीछा किया, और शोलापुर से कुछ दूर अष्टि गाँव में मराठा सेनाओं को जा पकड़ा।

अष्टि की लड़ाई ने मराठों की कमर तोड़ दी। बाजीराव तो शुरू में ही पालकी पर बैठकर भाग निकला। उसकी स्त्रियाँ मर्दाना वेष धारण करके निकल गईं। अपनी घुड़सवार सेना के साथ बापू गोखले वीर मराठों की मान-रक्षा के लिए पीछे ठहरे, और खूब डटकर लड़े। एक बार तो गोखले की शूर सेना जीतती दिखाई दी, अंग्रेज़ सेनापति जनरल स्मिथ स्वयं घायल हो गया, परन्तु उसी समय अंग्रेज़ी कुमुक आ पहुँची और जीतती बाजी हार गई। अन्त में बहुत घमासान युद्ध हुआ, जिसमें मराठाशाही के अन्तिम सेनानी यशस्वी बापू गोखले धराशायी हुए। पेशवा तो भाग ही चुका था, गोखले की मृत्यु से मराठा सिपाहियों के पाँव उखड़ गये, और वे तितर-बितर हो गये। इस प्रकार वीर शिरोमणि छत्रपति श्री शिवाजी ने चाकन की चोटियों पर महाराष्ट्र की जिस ध्वजा को गाड़ा था, बाजीराव के मैदान से भाग जाने के कारण अष्टि के मैदान पर उसे झुक जाना पड़ा।

अष्टि के युद्ध से अंग्रेज़ों को जो लाभ हुआ उनमें से एक यह भी था कि सतारा का राजा और उसका परिवार पकड़ लिये गये। अंग्रेज़ों ने सतारा के नौजवान राजा को पेशवा के विरोध में आश्वासन देकर अपने पक्ष में कर लिया।

अष्टि के युद्ध के पश्चात् भी बाजीराव ने भागदौड़ जारी रखी, परन्तु यह स्पष्ट था कि वह भागकर पूना का आसन खो चुका है। अप्रैल के महीने में सिपीनी में फिर अंग्रेज़ों और मराठों में मुठभेड़ हुई, परन्तु उसे लड़ाई का नाम नहीं दिया जा सकता। अंग्रेज़ सेना के पहुँचते ही बाजीराव घोड़े पर चढ़कर भाग निकला, उसके पीछे लड़ता कौन ? अतः सेनापति और सिपाही भी जान बचाकर बिखर गये, जिससे एक समय सह्याद्रि से अटक तक के प्रदेश पर स्वाधीनता का झण्डा गाड़ने का स्वप्न लेने वाले मराठा सैन्य का लगभग अन्त हो गया।

बाजीराव में लड़ने की हिम्मत तो कभी थी ही नहीं, हाँ भागने की हिम्मत शेष थी, अब वह भी जाती रही। १० मई को उसके दो दूतों ने अंग्रेज़ सेनापति के कैम्प में पहुँच कर बाजीराव का 'सन्धि-सन्देश' दिया। वह सन्देश उन सब विशेषताओं से भरा हुआ था, जिन्होंने अन्तिम पेशवा के जीवन को इतना क्षुद्र बना दिया था। उसमें पेशवा ने अंग्रेज़ों से नित्य और अनश्वर मित्रता का दम भरते हुए आगे भी सदा मित्रता बनाये रखने की प्रतिज्ञा की। उसकी इच्छा यह थी कि अंग्रेज़ सरकार फिर एक बार उसे पूना की गद्दी पर बिठा दे। अंग्रेज़ सेनापति ने प्रारम्भ में ही पेशवा के दूतों से स्पष्ट कह दिया कि अब बाजीराव को गद्दी पर बैठने की अणुमात्र भी आशा नहीं रखनी चाहिए. अब तो उसे सीधा अंग्रेज़ सेना के कैम्प में आकर बन्दी बन जाना चाहिए, इसी में उसका कल्याण है। जैसे शिकारी के जाल में स्वयं फँसा हुआ पक्षी भी थोड़ी देर तक छटपटाता है, वैसे ही बाजीराव ने भी बन्दी बनने से बचने के लिए कुछ दिनों तक खाली हाथ-पाँव मारे, परन्तु अन्त में उसे स्वयं बुलाई हुई आपत्ति के

सामने सिर झुका देना पड़ा। बाजीराव ने अंग्रेज़ी सेना के कैम्प में जाकर बन्दी होना स्वीकार कर लिया।

अंग्रेज़ी सरकार ने बाजीराव के साथ जो शर्तें तय कीं, उनमें से मुख्य यह थीं—

१. बाजीराव और उसका सारा परिवार अंग्रेज़ों के बन्दी बन जायँगे।

२. उन्हें उत्तरीय भारत के किसी सुरक्षित स्थान पर रहना पड़ेगा।

३. उसे निर्वाह के लिए कम से कम ८ लाख रुपये वार्षिक पेन्शन दी जायगी।

बाजीराव ने ये शर्तें स्वीकार कर लीं। अंग्रेज़ी सरकार ने उसे कानपुर के समीप बैठूर नामक स्थान पर रहने की आज्ञा दी। अपने जीवन के अन्तिम ३० वर्ष बाजीराव ने बैठूर में ही काटे। इन ३० वर्षों में अंग्रेज़ी सरकार का झण्डा निरन्तर आगे ही आगे बढ़ता गया, यहाँ तक कि वह लगभग सारे भारत पर छा गया—जिसे बैठूर का क़ैदी चुपचाप देखता रहा।

चवालीसवाँ अध्याय

मराठाशाही का अन्त (४)

पेशवा को अधिकारच्युत करके बैठूर के दुर्ग में बन्द करने के साथ-साथ लार्ड हेस्टिंग्ज की सरकार अन्य मराठा सरदारों को भी वश में करती गई। जो सरदार आसानी से अधीन-सन्धि करने पर राज़ी हो गये, उन्हें सामन्त बना लिया गया, और जो कुछ अड़े उनकी कमर युद्ध द्वारा तोड़ दी गई। बाजीराव पेशवा का बन्दी-जीवन १८५१ में समाप्त हुआ। उस समय तक सारे मराठा सरदार देश के अन्य नरेशों की भाँति अंग्रेज़ सरकार के वफ़ादार सामन्त बन चुके थे।

जैसे प्रारम्भ से ही भारत के जीतने में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कर्मचारी छल और बल का सम्मिलित प्रयोग कर रहे थे, वैसा ही उन्होंने मराठों की शक्ति को तोड़कर नष्ट करने में किया।

नागपुर के भोंसला मराठा सरदारों में प्रमुख स्थान रखते थ। पहले वह बरार के राजा कहलाते थे। दूसरे अंग्रेज़-मराठा युद्ध में वह बहुत दृढ़ता और वीरता से लड़े थे। जब उस युद्ध में अंग्रेज़ जीत गये, तब उन्होंने दण्डरूप में बरार का प्रान्त भोंसला से छीनकर निजाम को दे दिया। तब से नागपुर के शासक 'सितारा के राजा' कहलाने लगे। १८१६ में भोंसला-नरेश रघुजी का देहान्त हो गया। रघुजी बहुत दूरदर्शी और चतुर व्यक्ति था। उसने अंग्रेज़ों से सुलह-सन्धि तो की परन्तु सबसिडियरी ट्रीटी (अधीनतापूर्ण सन्धि) नहीं की। यद्यपि उसने अपनी नीति-कुशलता से अंग्रेज़ों को ऐसा अवसर नहीं दिया, कि राज्य में हस्तक्षेप कर सकते, परन्तु अंग्रेज़ी सरकार का सन्तुष्ट होना तब तक सम्भव नहीं था, जब तक नागपुर राज्य सामन्त न बन जाता। अंग्रेज़ों ने राज्य में फूट डालने के हथकण्डे जारी रखे। रघुजी का लड़का पुरसाजी, जिसका दूसरा नाम बाला साहिब था, जड़बुद्धि समझा जाता था। राजा का भतीजा अप्पा साहब चचा से कुछ असन्तुष्ट था। अंग्रेज़ रेज़ीडेण्ट ने अप्पा साहिब को अपने हाथ में ले लिया, और राजा में और उसमें फूट की खाई को काफ़ी चौड़ा कर दिया। रघुजी को इस बात से बहुत दुःख हुआ और इस डर से कि मेरे पीछे कहीं राज्य में गृह-संग्राम न शुरू हो जाय, उसने मरते हुए अपने पुत्र का हाथ भतीजे के हाथ में देकर भतीजे से प्रतिज्ञा ले ली कि वह सदा बाला साहब की रक्षा करेगा।

रघुजी की मृत्यु के पश्चात् बाला साहब को राज्य के अयोग्य ठहराकर शासन के लिए एक एजेंसी बना दी गई, जिसका प्रधान अप्पा साहब को नियुक्त किया गया। अंग्रेज़ी सरकार ने अप्पा साहब को पहले ही हाथ में कर रखा था। उसके राजा बनने पर अधीन सन्धि का नाटक पूरा होने में देर न लगी।

अप्पा साहब के गद्दी पर बैठने के कुछ दिन पश्चात् एक ऐसी घटना हो गई, जो उस

परिवर्तन-युग में प्रायः होती रहती थी। १ फरवरी १८१७ के प्रातःकाल परसोजी (बाला साहब) अपने बिस्तर पर मरा हुआ पाया गया। न उस समय निश्चय हो सका, और न आज तक निश्चय हो सका है कि यह कायरतापूर्ण क्रूर कृत्य किसने किया। धूर्त ब्रिटिश रीजेण्ट मि० जेकिन्स ने उस समय तो इस दुर्घटना की उपेक्षा की परन्तु जब अप्पाजी को गद्दी से उतारना आवश्यक समझा गया तब उस पर यह आरोप लगा दिया कि प्रतिस्पर्धी को रास्ते से हटाने के लिए अप्पाजी ने ही बालाजी का वध कराया था। बहुत से रहस्यभेदियों का मत था कि यह काम ब्रिटिश रीजेण्ट के परामर्श से किया गया था, क्योंकि अंग्रेज़ी सरकार अपने पक्षपाती अप्पा साहब का मार्ग निष्कंटक बना देना चाहती थी।

अंग्रेज़ों के कन्धों पर बैठकर अप्पा साहब अधीन सन्धि में बँधकर गद्दी पर बैठ तो गया, परन्तु थोड़े ही दिनों में उसे मालूम हो गया कि उसने अपने मुँह में जो लगाम लगने दी है, वह बहुत कँटीली है। नागपुर में कम्पनी की जितनी सेना रखी गई थी, वह आवश्यकता से बहुत अधिक थी। उनके खर्च की जो राशि अप्पा साहब ने अपने जिम्मे ली थी, वह उसकी शक्ति से बाहर थी। रात-दिन के राज-काज में ब्रिटिश रेज़ीडेण्ट का हस्तक्षेप इतना बढ़ गया था कि वह अप्पा साहब को असह्य प्रतीत होने लगा। जब यह शिकायतें विधिपूर्वक अप्पा साहब की ओर से अंग्रेज़ी सरकार के पास भेजी गई, तो मि० जेकिन्स ने उन्हें गवर्नर-जनरल के पास इस टिप्पणी के साथ भेजा कि 'इनसे यह स्पष्ट प्रकट होता है कि अप्पा साहब के मन में हमारे साथ शत्रुता का भाव है।'

जेकिन्स ने गवर्नर-जनरल को खरीता भेजने के साथ ही फौजी तैयारियाँ शुरू कर दीं। जब अप्पा साहब को यह मालूम हुआ कि अंग्रेज़ सरकार युद्ध की तैयारी कर रही है, तो वह भी सचेत हो गया, और उसने भी अपने मित्रों और साथियों को एकत्र करना आरम्भ किया।

बस, इस तरह की खेंचातानी में लड़ाई का समा बँध गया। दोनों ओर की सेनायें युद्ध की सज्जा करने लगीं। तैयारी तो बराबर शुरू हुई, और सम्भवतः अंग्रेज़ों ने ही पहल की परन्तु राजा की सेना में नियन्त्रण का अभाव था, इस कारण वह बेकाबू हो गई, और पहला आक्रमण उसकी ओर से हुआ। नियन्त्रण के अभाव का बड़ा कारण यह था कि उस समय बहुत से मराठा शासकों ने अपनी सेनाओं में अरब लोगों को भर्ती कर लिया था। बहुत सी मुसलमान बादशाहतों के समाप्त हो जाने के कारण हज़ारों अरब लड़ाके बेरोज़गार हो गये थे, उनमें से कुछ मराठा शासकों के यहाँ नौकर हो गये, शेष पण्डारी दल में भर्ती होकर स्वतन्त्र लूट-मार करने लगे। उनकी सेना में भर्ती, मराठा सरदारों को महँगी पड़ी, क्योंकि वे अरब सिपाही किसी के प्रति वफ़ादारी के बन्धन में बँधे हुए नहीं थे। ज़रा-सी बात पर विद्रोह कर देना, या मालिक की आज्ञा न मानना उनका नित्य का काम था। जब कभी निर्णायक युद्ध का समय आता था, तब प्रायः अरब सिपाहियों से धोखा मिल जाता था। इस समय भी उन्हीं से धोखा मिला। २६ नवम्बर १८१७ के दिन अप्पा साहब के नियन्त्रण-सहित सिपाहियों ने अंग्रेज़ रेज़ीडेंसी पर आक्रमण कर दिया। अंग्रेज़ सेना पहले से तय्यार थी। आक्रमण निष्फल हो गया। अंग्रेज़ लेखकों ने भी स्वीकार किया है कि यह

आक्रमण अप्पा साहब की प्रेरणा से नहीं हुआ था, फिर भी अंग्रेज़ सरकार की दृष्टि में अप्पा साहब पूरे अपराधी माने गये। फलतः जब राजा ने रेज़ीडेंट के पास अपनी क्षमा-प्रार्थना भेजी तो राजा को दो हुक्म दिये गये। पहला यह कि वह अपनी सेनाओं को पीछे हटा ले, और दूसरा यह कि स्वयं अंग्रेज़ सेनापति के कैम्प में आकर बन्दी बन जाय। लाचार होकर अप्पा साहब को दोनों आज्ञायें माननी पड़ीं। इनमें से पहली आज्ञा का पालन तो आसानी से हो गया, परन्तु जब दूसरी आज्ञा के पालन का समय आया तो अरब सिपाही फिर बाधक बन गये। उन्होंने राजा के अंग्रेज़ कैम्प में जाने का रास्ता रोक दिया।

इस पर अंग्रेज़ सेनाओं और अरब सिपाहियों में युद्ध छिड़ गया। नियन्त्रित सेनाओं और सिपाहियों की भीड़ में लड़ाई कब तक चल सकती थी। राजा की सेनायें शीघ्र ही तितर-बितर हो गईं, और नागपुर पर अंग्रेज़ी सेनाओं का पूरा अधिकार हो गया। अप्पा साहब अंग्रेज़ों का क़ैदी बन गया।

क़ैदी राजा पर नये-पुराने बहुत से अभियोग लगाकर उसे गद्दी से उतार दिया गया, और रघुजी के एक नाबालिग़ पोते को गद्दी का अधिकारी मान लिया गया। शासन करने के लिए रीजेंसी की कौंसिल बनाई गई, जिसका अध्यक्ष अंग्रेज़ रेज़ीडेण्ट जेन्सिन को नियुक्त किया गया। इस प्रकार भोंसलों के राज्य की स्वाधीन सत्ता समाप्त हो गई।

होल्कर का राजवंश वैल्ज़ली के कालदण्ड की मार से बच निकला था। वह अभी अधीन सन्धि में नहीं बँधा था। १८१७ में वहाँ भी युद्ध फूट पड़ा। होल्कर के राज्य की बागडोर उन दिनों वहाँ के मन्त्री गणपतराव के हाथ में थी, जो मृत राजा की रखैल तुलसीबाई की मार्फ़त शासन कर रहा था। गद्दी का अधिकारी मल्हारराव अभी नाबालिग़ था।

इन्दौर की सेना में वही रोग था, जिसने नागपुर को निमन्त्रण दिया था। उसमें बहुत से अरब सिपाही भरे हुए थे। प्रसिद्ध पण्डारी सरदार अमीरखां भी होल्कर की सेवा में था। अमीरखां की यह विशेषता थी कि वह सदा दो शक्तियों की सेवा करता रहा—एक इन्दौर की, दूसरी अंग्रेज़ों की। उससे एक न एक दिन इन्दौर को धोखा मिलना आवश्यक था। २८ अक्तूबर १८१७ के दिन मोधीदपुर पर अंग्रेज़ सेनाओं ने होल्कर की सेनाओं पर आक्रमण करके उसे पूरी तरह परास्त कर दिया। फलतः होल्कर राज्य को कम्पनी की अधीनता की सन्धि करनी पड़ी, जो मन्दसोर की सन्धि के नाम से प्रसिद्ध हुई।

घर की फूट के कारण निर्बल होकर कोल्हापुर का राज्यवंश पहले ही अंग्रेज़ों की मुट्ठी में जा चुका था।

सीन्धिया दूसरे मराठा युद्ध के अवसर पर ही अंग्रेज़ों का सामन्त बन चुका था।

इस प्रकार १८१८ तक लगभग सब शक्तिशाली मराठा शासक अंग्रेज़ों के आगे झुककर अधीनता की सन्धि (Subsidiary alliance) में बँध चुके थे।

इस बीच में अंग्रेज़ी सरकार की सेनाओं ने आगे बढ़कर एक-एक करके पेशवा के तथा अन्य मराठा सरदारों के सब दुर्ग अपने अधिकार में कर लिये। उनमें से कई क़िलों के बारे में अंग्रेज़ लेखकों ने लिखा है कि वे अभेद्य थे। त्र्यम्बक के दुर्ग के सम्बन्ध में एक अंग्रेज़

फ़ौजी अफ़सर ने लिखा है कि वह दुनिया में सबसे मज़बूत क़िला था। जब सिर ही कट गया, तो धड़ कहाँ तक जीवित रहता। पेशवा की पराजय ने सरदारों की, और सरदारों की पराजय ने क़िलेदारी की कमर तोड़ दी और १८१९ के अप्रैल मास में असीरगढ़ दुर्ग के पतन के साथ मराठों की वह प्रसिद्ध दुर्गावली, जिसने सदियों तक मुसलमान आक्रान्ताओं के दाँत तोड़े थे, अंग्रेज़ों के अधिकार में चली गई।

इधर यह क्रान्ति हो रही थी, और उधर बाजीराव द्वितीय बिठूर के बन्दी-गृह में ऐश का जीवन व्यतीत कर रहा था। बिठूर में बन्द होकर कुछ समय तक बाजीराव बेचैन रहा। दो-चार बार अपने छुटकारे और फिर से अधिकार प्राप्त करने के लिए षड्यन्त्र भी किये, परन्तु जब उनका कुछ फल निकलता दिखाई न दिया तो बाजीराव हथियार डालकर आराम से बैठ गया, और अंग्रेजों की दी हुई पेन्शन का सदुपयोग करने लगा। बिठूर में आने से पहले उसके छः विवाह हो चुके थे, बिठूर में क़ैद होने के पश्चात् पाँच विवाह और हुए। इन विवाहित सम्बन्धों के अतिरिक्त उसकी विषय-वासना की अन्य दुर्घटनायें भी प्रसिद्ध होती रहती थीं। उसके जो बचे हुए संगी-साथी बिठूर पहुँच गये थे, वह भी पेन्शन के बोझ को हल्का करते रहते थे। दो एक को छोड़कर वे संगी-साथी बहुत घटिया श्रेणी के व्यक्ति थे।

बाजीराव विद्वान् था। उसे संस्कृत का और शास्त्रों का अच्छा ज्ञान था। नियम से देवालयों में जाकर पूजन करता, और ब्राह्मणों और साधु-सन्यासियों को दान देता था। राजनीति में उससे जो अपराध होते थे, उन्हें दान-दक्षिणा से धोने का यत्न करता रहता था।

बिठूर मे बाजीराव ३० वर्षों तक रहा। सन् १८५१ में ७७ वर्ष की आयु में उसका देहान्त हो गया। इस प्रकार जिस मराठा राज्य की स्थापना १७६४ में तोरण विजय के साथ छत्रपति शिवाजी ने की थी, उसका और जिस पेशवाई का गौरव बालाजी विश्वनाथ ने १७१७ में जमाया था, उसका अन्तिम अवशेष १९वीं शताब्दी के मध्य में बिठूर के बन्दीगृह में लुप्त हो गया।

मराठा राज्य इससे पूर्व दो बार संकट के भँवर में पड़ चुका था, और अपनी आन्तरिक शक्ति के सहारे उनमें से निकल चुका था। पहली बार तब जब शक्ति के अवतार शिवाजी का पुत्र विषयासक्ति का शिकार सम्भाजी बादशाह औरंगज़ेब के कोप का शिकार बन गया। सम्भाजी के पीछे मराठा राज्य की स्थिति सिर से विहीन धड़ की सी हो गई थी। उस परिस्थिति से लाभ उठाने के लिए औरंगज़ेब ने अपनी पूरी सैन्य-शक्ति दक्षिण के रणक्षेत्र में झोंक दी थी। वह समय मराठा राज्य के लिए घोर संकट का था। शिवाजी के बनाये सुन्दर राज्य संगठन की कृपा से मराठा राज्य उस संकट में से बेलाग निकल गया था।

मराठा राज्य पर दूसरा संकट तब आया जब पानीपत की लड़ाई ने मराठा सैन्य की कमर तोड़ दी। यदि उस समय कोई योग्य और महत्वाकांक्षी मुसलमान शासक दिल्ली की गद्दी पर होता तो मराठा वीरों की कड़ी अग्निपरीक्षा होती। परन्तु दिल्ली के शासक बिल्कुल शक्तिहीन नपुंसक हो चुके थे। उस आपत्काल में भी मराठा राज्य—जो अब मराठा-संघ के रूप में परिवर्तित हो चुका—साफ़ बच निकला।

मराठा राज्य पर तीसरा बड़ा संकट तब आया जब उसकी आगे बढ़ती हुई इंग्लैण्ड की शक्ति से टक्कर हुई। एक भी नहीं—तीन टक्करें लगीं। यह मराठा राज्य के मौलिक संगठन के दृढ़ता का ही परिणाम था कि अंग्रेज़ों की दो टक्करों को सहकर भी मराठा संघ खड़ा रहा। खड़ा तो रहा परन्तु टक्कर इतनी जबर्दस्त थी कि संघ की चूल-चूल हिल गई, और जब लार्ड हेस्टिंग्ज़ के शासन-काल में इंग्लैण्ड का बढ़ता हुआ स्टीम एंजन संघ से टकराया तो वह सफल हो गया, जिससे शिवाजी का भारत भर में हिन्दूपत पातशाही स्थापित करने का, और प्रथम बाजीराव का अटक के तट पर स्थिर रूप से भगवा ध्वज गाड़ने का स्वप्न पूरा न हो सका।

घटनाचक्र के इस पड़ाव पर पहुँचकर इतिहास के विद्यार्थी के मन में स्वभावतः यह प्रश्न उत्पन्न होना है कि जो मराठा राज्य बड़ी कुशलता से भाग्य की दो चोटों को व्यर्थ करने में सफल हुआ था वह तीसरी चोट के सामने इस आसानी से क्यों बिखर गया? यह वस्तुतः एक गम्भीर प्रश्न है कि बाजीराव द्वितीय के नेतृत्व में मराठा संघ का सुदृढ़ दुर्ग रेत की दीवार की तरह क्यों गिर गया।

इस असाधारण घटना के कई कारण थे। उनमें से कुछ साधारण थे, और कुछ विशेष। साधारण कारणों में से सबसे पहला यह था कि कोई भी राज्य, जिसका मुख्य केन्द्र केवल कोई व्यक्ति हो, चिरकाल तक जीवित नहीं रह सकता। जैसे एक व्यक्ति अमर नहीं हो सकता, उसी प्रकार एक व्यक्ति पर आश्रित राज्य भी चिरस्थायी नही हो सकता। यदि मुख्य व्यक्ति योग्य हुआ तो राज्य-उन्नति की ओर जाता है, और यदि वह अयोग्य हुआ तो क्षय की ओर। मराठा राज्य को शिवाजी ने प्रारम्भ से ही पर्याप्त रूप से संगठित कर दिया था वह इतने समय तक उस प्रारम्भिक संगठन के बल पर ही जीवित रहा, परन्तु उस संगठन का केन्द्र व्यक्ति ही रहा। राजा हो या पेशवा, राज्य की सम्पूर्ण शासन-शक्ति उसी में केन्द्रित रहती थी। फलतः केन्द्रीय व्यक्ति के गुणों और अवगुणों के साथ उसका उत्थान और पतन होता था। बाजीराव प्रथम ने मराठों की ध्वजा को अटक के तट पर गाड़ दिया था, तो बाजीराव द्वितीय पूना के महलों पर भी उसकी रक्षा न कर सका।

शिवाजी के प्रारम्भिक अष्टप्रधान संगठन के स्थान पर धीरे-धीरे ऐसा मराठा संघ खड़ा हो गया, जिसका केन्द्र पेशवा था। उस संघ की यह विशेषता थी कि जहाँ उसके सदस्य छत्रपति के अनुयायी और महाराष्ट्र के पुत्र होने के नाते आपस में गुथे हुए थे, वहाँ किसी वैधानिक बन्धन के अभाव के कारण लगभग स्वतन्त्र थे। सीन्धिया, होल्कर, भोंसले आदि नाम को तो मराठा संघ के सदस्य थे, परन्तु वे अन्य देशों से सन्धि या विग्रह करने में, अथवा परस्पर लड़ने में भी सर्वथा स्वतन्त्र थे। जब तक पेशवा का व्यक्तित्व उन पर हावी रहा, वे मिलकर काम करते रहे, परन्तु पानीपत की लड़ाई के पीछे ज्योंही पूना के हाथ निर्बल हुए कि संघरूपी हार के सब फूल बिखर गये। फलतः मराठा संघ नाम को ही संघ रह गया—वस्तुतः उसके सदस्य स्वतन्त्र शासक बन गये।

जब तक मराठों का संघर्ष मुसलमान शक्तियों के साथ होता रहा, तब तक तो उन्हें

विशेष हानि नहीं पहुँची, क्योंकि मुसलमानों की संघ शक्ति मराठों से भी अधिक निर्बल हो चुकी थी। परन्तु ज्योंही उन्हें अंग्रेज़ों की बढ़ती हुई सुसंगठित शक्ति से टकराना पड़ा, त्योंही उनका शीराज़ा बिखरने लगे। अंग्रेज़ों से मराठों के तीन बड़े युद्ध हुए। पहले दोनों युद्धों ने जहाँ एक ओर मराठा संघ की निर्बलता को स्पष्ट रूप से प्रकट कर दिया, वहाँ दूसरी ओर संघ के सदस्यों में परस्पर भेद पैदा करके मराठाशाही की दीवारों को हिला दिया। दो धक्कों में वह इतनी हिल गईं कि तीसरा धक्का सर्वनाश का साधन बन गया। संघ का धड़ पहले ही क्षत-विक्षत हो चुका था, अंग्रेज़ों के सुसंगठित आक्रमण ने सिर को धड़ से अलग करके निर्जीव कर दिया।

यदि मराठा संघ का केन्द्रभूत व्यक्ति, द्वितीय बाजीराव जैसा था वैसा न होता, और उसकी प्रकृति में अपने दादा प्रथम बाजीराव का तेज और अपने ताऊ बालाजी बाजीराव की दूरदर्शिता होती, और उसने अपने पिता रघुनाथराव से अंग्रेज़ों के प्रति मोह की भावना न प्राप्त की होती तो सम्भव है, संघ का पतन इतना शीघ्र न होता। यद्यपि किसी घटना के हो चुकने पर उसके होने न होने के सम्बन्ध में कल्पनायें करना व्यर्थ समझा जाता है, तो भी मराठा राज्य के पतन के कारणों पर प्रकाश डालने के लिए हम प्रश्न को इस रूप में रखना अनुचित नहीं समझते कि बाजीराव द्वितीय को पराजय से बचने के लिए क्या करना चाहिए था? अथवा इस प्रश्न को इस रूप में रख सकते हैं कि वह किस कार्य-नीति के अनुसार कार्य करता तो मराठा संघ अंग्रेज़ों के संघर्ष में पराजित न होता?

इस समय तक की ऐतिहासिक परिस्थिति के आधार पर हम इस प्रश्न का उत्तर निम्नलिखित रूप में दे सकते हैं—

१. बाजीराव को पेशवा की गद्दी पर बैठने के पश्चात्, पूना दरबार के गृह-कलह से ऊपर उठकर राज्य को जर्जरित होने से बचाना चाहिए था। यह असन्दिग्ध है कि मुग़ल साम्राज्य की भाँति मराठा संघ के नाश का एक मुख्य कारण गृह-कलह था। यदि बाजीराव अपने व्यक्तिगत प्रभाव से उस गृह-कलह को दबाकर राज्य में नेतृत्व की एकता स्थापित कर सकता तो संघ का पतन न होता।

२. महाराज शिवाजी, और बालाजी बाजीराव आदि नेताओं ने मराठाशाही को हिन्दुस्तान के रक्षक का रूप देकर कई हिन्दू राज्यों से बहुत गहरा सम्पर्क स्थापित कर लिया था। उनके पीछे धीरे-धीरे वह हल्का होने लगा। यहाँ तक कि पानीपत के युद्ध के पीछे राजपूत और जाट राजाओं के मन में मराठों के प्रति विद्वेष की भावना उत्पन्न हो गई। बाजीराव यदि दूरदर्शी शासक होता तो देश के अन्य शासकों के साथ सक्रिय सहयोग का सम्बन्ध उत्पन्न कर लेता। परन्तु हुआ इससे उल्टा ही, जब तीसरे युद्ध में मराठा संघ पर घोर संकट आया तो उसकी सहायता के लिए देश के किसी राजा ने भी हाथ न बटाया।

३. समय की गति और पहले दो युद्धों के अनुभवों से बाजीराव यदि यह पाठ पढ़ लेता कि ज़बर्दस्त तोपखाने और नियन्त्रण में बँधे हुए सिपाहियों के बिना अंग्रेज़ों से जीतना कठिन है, और राज्य की सम्पूर्ण शक्ति तोपखाने और शिक्षित सेना की तैयारी में लगा

देता तो मराठाशाही का दुर्ग इस आसानी से और इस बुरी तरह न गिर जाता। बाजीराव ने किया यह कि न कुछ भुलाया और न कुछ सीखा। वह मराठा सरदारों के परस्पर ईर्ष्या-द्वेष को भुला न सका, और उस समय की आवश्यक युद्ध-कला को सीख न सका। परिणाम यह हुआ कि जब अग्नि-परीक्षा का समय आया, तब उसका युद्ध करने का सारा यन्त्र काठ के घोड़े की तरह अशक्त हो गया।

पूर्वोक्त सब न्यूनताओं के साथ-साथ उस समय के भारतीय समाज में एक बड़ी न्यूनता यह थी कि उसका ढाँचा बिल्कुल छिन्न-भिन्न हो रहा था। सब मनके अलग-अलग बिखरे हुए थे, उन्हें परस्पर जोड़ने वाले सूत्र का अभाव था। धार्मिक भेदभाव और कुरीतियाँ समाज की शत्रु बनी हुई थीं। ऐसे निर्बलता के समय में बाजीराव जैसा युद्धभीरु, अदूरदर्शी और विलासिता में डूबा हुआ व्यक्ति मराठा राज्य का कर्णधार बन गया, यह देश के दुर्भाग्य की बात थी।

प्रारम्भ से अन्त तक मराठा राज्य की निर्बलता का एक कारण यह रहा कि उसका मूल आधार आर्थिक दृष्टि से बहुत निर्बल था। महाराष्ट्र की पहाड़ियाँ कठोर शरीरवाले योद्धाओं, तपस्वी पण्डितों और वीर नेताओं के उत्पन्न करने में जितनी सशक्त हैं, राज्य और साम्राज्य के आधारस्तम्भ—धन-वैभव—के उत्पन्न करने में उतनी ही निर्बल हैं। यही कारण था कि शिवाजी महाराज और उनके उत्तराधिकारियों को अड़ोस-पड़ोस के प्रान्तों पर छापे मारकर धन एकत्र करना पड़ता था। लूट, सरदेशमुखी और चौथ का असली रहस्य यही था। जब तक अड़ोस-पड़ोस के देश असावधान थे, अथवा अशक्त थे, तब तक यह काम चलता रहा। परन्तु एक समय आया, जब भारत के राजनीतिक क्षेत्र में अंग्रेजों के आ पड़ने से अकस्मात् लूट-मार करना, या चौथ और सरदेशमुखी के दायरे का बढ़ाना असम्भव हो गया तब मराठा राज्य का आर्थिक मूलस्रोत सूख-सा गया। बड़ी सेनाओं को भर्ती करने, उन्हें सुशिक्षित करने, और सन्तुष्ट रखने का दुष्कर कार्य पुष्कल धनराशि चाहता है। ज्यों-ज्यों पेशवा की आर्थिक कठिनाइयाँ बढ़ती गईं, त्यों-त्यों मराठा संघ के पाँव निर्बल होते गये।

यही सब कारण थे, जिनसे बढ़ती हुई अंग्रेजी शक्ति का तीसरा धक्का लगने पर मराठाशाही के विशाल दुर्ग के महल रेत की दीवार की तरह बैठ गये।

पैंतालीसवाँ अध्याय

अंग्रेज़ दिल्ली में

मराठा संघ की दीवार के गिर जाने पर ब्रिटिश राज्य के विस्तार को रोकने वाली एक बड़ी बाधा दूर हो गई, और अब अंग्रेज़ों की महत्वाकांक्षा पर लगाकर उस मायानगरी की ओर उड़ चली, जिसे भारतवर्ष का हृदय कहा जाता है। अब अंग्रेज़ों को दिल्ली पर अधिकार करके मुग़लों के पूर्ण उत्तराधिकारी बनने का मार्ग स्पष्ट दिखाई देने लगा।

जब कई सहस्र वर्ष पूर्व खाण्डव वन का दाह करके अर्जुन ने इन्द्रप्रस्थ पुरी की बुनियाद रखी थी, तब से सम्पूर्ण भारत का शासक बनने की अभिलाषा रखनेवाले प्रत्येक विजेता की यह कामना रही है कि वह दिल्ली का स्वामी बनकर भारत का सम्राट् कहलाये। राजपूतों के पीछे पठान, और पठानों के पीछे मुग़ल और मुग़लों के पीछे मराठे—जब सारे भारत पर अधिकार जमाने की भावना से प्रेरित हुए तब दिल्ली की ओर बढ़े, और तब तक अपने को सुरक्षित नहीं समझा जब तक दिल्ली की गद्दी पर दृढ़ता से नहीं जम गये। जब तक मराठा संघ की दीवार रास्ते में खड़ी थी, अंग्रेज़ दिल्ली में पहुँचकर भी अपने को इस योग्य नहीं समझते थे कि मुग़ल बादशाह के ताज पर अपना हाथ डालें, पर ज्योंही मराठाशाही का पतन हुआ, कम्पनी की महत्वाकांक्षा तीव्रगति से चलकर दिल्ली के लाल क़िले में जा पहुँची, जिससे वहाँ का घटनाचक्र तीव्र गति से चलने लगा।

लाल क़िले के घटनाचक्र की प्रगति को समझने के लिए हम पाठकों को कुछ पीछे ले जाते हैं, और थोड़ा-सा पुराना वृत्तान्त सुनाकर १९वीं सदी के प्रारम्भ में मुग़ल सम्राट् की जो स्थिति थी उसे स्पष्ट कर देते हैं।

पानीपत की अन्तिम लड़ाई, जिसमें मराठों की उत्तर दिशा की ओर प्रगति पर प्रतिबन्ध लगा, १७६१ ईस्वी में हुई। उससे पहले दिल्ली पर मराठों का आतंक बैठ चुका था। वह इतने प्रबल हो गये थे कि जब पानीपत के रणक्षेत्र को जाते हुए प्रधान सेनापति सदाशिवराव भाऊ दिल्ली में ठहरा तब उसने घोषणा की थी कि वह युद्ध के पश्चात् अपने पुत्र विश्वनाथराव भाऊ को दिल्ली की राजगद्दी पर बिठा देगा। पानीपत में मराठा सैन्य केवल पराजित ही नहीं हुआ, उसका प्रभावशाली और आगे चलने वाला भाग नष्टप्राय हो गया। सदाशिवराव और उसकी आशायें मानो पानीपत के रणक्षेत्र की रुधिरसरिता में डूब गईं।

पानीपत के जलविप्लव के पश्चात् मुग़ल बादशाह को थोड़ा-सा साँस लेने का अवसर मिल गया था, परन्तु उसकी हालत ऐसी निर्बल थी, कि उसे बादशाह कहना मानो शब्द को लजाना था। कहने को शाहआलम अकबर का उत्तराधिकारी होने से हिन्दुस्तान का बादशाह था, परन्तु वस्तुतः वह १७७१ तक अंग्रेज़ों की संरक्षा में क़ैदी की तरह रहा। नाममात्र को

वह दिल्ली का शासक था, परन्तु उसे यह हिम्मत नहीं थी कि वहाँ जाकर रहे। हुकमत का काम वजीर लोग करते थे, जो दिन-रात आपस में लड़ते-झगड़ते रहते थे, और जिनका अधिकार-क्षेत्र दिल्ली और आगरे के ज़िलों तक ही परिमित था।

१७७१ में स्थिति में कुछ परिवर्तन हुआ। शाहआलम अंग्रेजों की संरक्षा में रहता-रहता तंग आ गया था। १७६४ में बक्सर की लड़ाई में अंग्रेज़ों से परास्त होकर वह कम्पनी का बंधुआ बना था। सात साल तक उसकी वही स्थिति रही। वह नाम को दिल्ली का बादशाह कहलाता था, परन्तु वस्तुतः अंग्रेजों का क़ैदी था। इस बन्धन से छूटने के लिए उसने गुप्त रूप से चतुर मराठा सरदार माधोजी सीन्धिया से गाँठ-साँठ की, जो सफल हो गई। मराठों से शाहआलम की यह शर्त ठहरी कि जहाँ वह उसे दिल्ली की गद्दी का पूर्ण अधिकारी और हिन्दुस्तान का बादशाह स्वीकार कर लेंगे, वहाँ वास्तविक सत्ता उन्हीं के हाथ में रहेगी। बादशाह की रक्षा वही करेंगे। शर्तें तय हो जाने पर शाहआलम मराठा सैनिकों की संरक्षा में दिल्ली में प्रविष्ट हुआ, और आगामी ३५ वर्षों तक लाल क़िले के रंगमंच का मुख्य पात्र भी रहा और दर्शक भी। उसने मुग़ल बादशाह को अन्य शक्तियों का पिछलग्गू बनता भी देखा, और वजीरों के हाथों की कठपुतली बनकर नाचते भी देखा। ३५ वर्षों तक लाल क़िले में जो अपमानजनक और भयंकर नाटक हुए, शाहआलम उन सबका साक्षी रहा।

शाहआलम नाममात्र का बादशाह था, असली शक्ति वज़ीरों के हाथ में थी। जब तक अवध का नवाब वज़ीर शुजाउद्दौला और नजफ़खां जीवित रहे, तब तक मुग़ल राज्य के नाम से दिल्ली और आगरे तक परिमित प्रदेश का शासन कुछ न कुछ चलता रहा, परन्तु जब वे मर गये, तब नये-नये सरदार मैदान में आ गये, और शक्ति के लिए लड़ने लगे। माधोजी सीन्धिया के हाथों से बादशाह को छीनने के लिए राजपूत और पठान मिल गये। लाल सोठ की प्रसिद्ध लड़ाई में सीन्धिया परास्त हो गया, तो विजेता दलों का आपसी झगड़ा शुरू हो गया। जिसमें पठान नेता ग़ुलाम कादिर को सफलता प्राप्त हुई। गुलाम कादिर वीर तो था, परन्तु लोभ और नृशंसता में अपने समय के गिरे हुए सरदारों में भी अपनी उपमा नहीं रखता था। जनश्रुति थी कि छोटी आयु में, जब वह बादशाह के दरबार में अर्दली का काम करता था, तब एक बार नाराज़ होकर बादशाह ने उसे किले से निकाल दिया था। उस अपमान के कारण कादिर के दिल में कीने की आग जल रही थी। यह भी प्रतीत होता है कि उसे अपनी जीत की स्थिरता पर विश्वास नहीं था। वह समझता था कि यह चाँदनी कुछ ही दिनों की है, कोई और जबर्दस्त आदमी आयगा और उसे क़िले से निकालकर बाहर कर देगा। फलतः उसने निश्चय किया कि जितने दिन की प्रभुताई मिली है, उसमें अधिक से अधिक धन इकट्ठा कर लिया जाय।

धन की लालसा से गुलाम कादिर ने बादशाह और उसके परिवार पर अकथनीय अत्याचार किये। क़िले पर अधिकार करते ही वह स्वयं महलों में रहने और सिंहासन पर बैठकर दरबार करने लगा, और शाहआलम और उसके परिवार को नौबतखाने में धकेल दिया। अब धन की माँग होने लगी। खज़ाने में जो कुछ था, उस पर कब्जा जमाने पर

देखा कि वह तो थोड़ा ही है, तब शाहआलम पर तकाजा होने लगा कि छुपे हुए खज़ाने की चाबी निकालकर दो। शाहआलम ने कहा कि जब कोई छुपा हुआ ख़ज़ाना है ही नहीं, तो उसकी चाबी कहाँ से दी जाय, इस पर क्रोध में आकर भरे दरबार में गुलाम कादिर ने शाह-आलम को नीचे गिराकर छुरे से उसकी आँखें निकलवा दीं। धन के लोभ से शाही परिवार की स्त्रियों को बेइज्जत किया गया, और क़िले में तहखानों के फ़र्श खोद डाले गये। कादिर का क़िले पर कई दिनों तक अधिकार रहा। इस बीच में उसने जिस जघन्य नृशंसता का परिचय दिया, उसे चित्रित करते हुए इतिहास-लेखकों की लेखनी भी कांप उठती है। पहले तो कुछ समय तक लाल किले के भयानक समाचार क़िले के अन्दर ही अन्दर घुटे रहे, परन्तु अन्त में वे दिल्ली में प्रसिद्ध होकर दूर-दूर फैल गये, और चारों ओर एक हाहाकार-सा मच गया। बाबर और अकबर के उत्तराधिकारियों की वह दीन दशा शत्रुओं से भी न देखी गई।

चोर और डाकू कभी देर तक मिलकर नहीं रह सकते। लाल क़िले के नृशंस काण्ड के साथी गुलाम कादिर और मिर्ज़ा इस्माईल भी शीघ्र ही आपस में फट गये। उधर यह समाचार पहुँचा कि शाहआलम के बुलावे पर मराठा सेना दोआब की ओर से बढ़ रही है। फलतः गुलाम कादिर को क़िले का सहारा छोड़कर मैदान में आना पड़ा। मेरठ के समीप मराठा सरदारों से उसकी मुठभेड़ हुई—जिसमें परास्त होकर वह अकेला ही भाग निकला। अन्त में वह पकड़ा गया, और ३ मार्च १७८९ के दिन उस गति को प्राप्त हुआ, जिसे दस्यु लोग प्राप्त होते हैं। उसे मृत्यु-दण्ड मिला।

विजयी होकर सीन्धिया ने लाल क़िले पर अधिकार कर लिया, और शाहआलम को फिर से गद्दी पर बिठा दिया। नाम को तो वह अब भी हिन्दुस्तान का शाहंशाह ही था, परन्तु वस्तुतः वह सीन्धिया का पेन्शनर था। उसे अपने और परिवार के लिए लगभग ६० हज़ार रुपया मासिक पेन्शन दी जाती थी।

जब कोई व्यक्ति, चाहे वह प्रजाजन हो या शासक, इतना निर्बल हो जाता है कि अपनी रक्षा न कर सके तो वह किसी बलवान का पल्ला पकड़ना चाहता है। जैसे लता अपने जीवन के लिए किसी वृक्ष का सहारा ढूंढ़ती है, वैसे वह भी आश्रय के लिए हाथ-पाँव मारता है। शाहआलम की दशा लता जैसी ही हो गई थी। वह जवानी में लगभग ७ वर्षों तक अंग्रेज कम्पनी की शरण में रह चुका था। अब वह सीन्धिया का पेन्शनर बना हुआ था। उसके ज्ञान-चक्षुओं को दो ओर से दो सहारे दिखाई दे रहे थे—एक ओर सीन्धिया, और दूसरी ओर अंग्रेज़। वह कभी एक ओर झुकता था तो कभी दूसरी ओर। उसके सामने यह समस्या थी कि वह स्थिर रूप से किसका सहारा ले?

यहाँ हमें यह देख लेना चाहिए कि शाहआलम के प्रति सीन्धिया और अंग्रेज़ कम्पनी का रुख एक-सा ही था या दोनों के रुख में कोई भेद था? अगले घटनाचक्र को समझने के लिए यह आवश्यक है। सीन्धिया मुग़ल सम्राट् के नाम को अपनी शक्ति का स्तम्भ बनाना चाहता था। उसकी नीति यह थी कि मुग़ल-गौरव की शान को बढ़ाकर अपनी सत्ता को स्थिर करे। दूसरी ओर अंग्रेज़ों की मनोवृत्ति यह थी कि नाममात्र के लिए मुग़ल बादशाह

की सत्ता को बनाये रखकर, उसके गौरवरूपी भवन को गिरा दिया जाय ताकि उसके खण्डहरों पर ब्रिटिश साम्राज्य का नया भवन खड़ा हो सके। सीन्धिया मुग़ल की सत्ता और गौरव दोनों की रक्षा करना चाहता था, क्योंकि उसकी महत्त्वाकांक्षा परिमित थी, परन्तु अंग्रेज़ों के हृदय में यह बात दृढ़ हो चुकी थी कि उन्हें शीघ्र ही मुग़ल सम्राट् का उत्तराधिकारी बन भारत भर पर हुकूमत करनी है। दोनों की प्रवृत्तियों में उतना ही भेद था जितना उन दो व्यक्तियों में होता है जिनमें से एक किसी धनी व्यक्ति के पास इस उद्देश्य से जाता है कि उसका मुनीम बनकर गौरवान्वित हो, और दूसरे का लक्ष्य यह होता है कि समय पाकर उसकी सम्पत्ति का अधिकारी बने।

शाहआलम यों भी निर्बल व्यक्ति था, अन्धा हो जाने से वह बिलकुल लाचार हो गया था। निर्बल इच्छा-शक्ति वाले मनुष्यों की भाँति वह कभी सीन्धिया की ओर हाथ बढ़ाता और कभी अंग्रेज़ों की ओर कि इतने में युद्ध देवता ने बीच में पड़कर निपटारा कर दिया। १८०३ में दिल्ली की दीवारों के पास वह युद्ध हुआ जिसने भारत के भावी १४४ वर्षों के इतिहास का निर्णय कर दिया। वह युद्ध 'दिल्ली का युद्ध' कहलाता है। लार्ड वैल्ज़ली की दिग्विजय-नीति के अनुसार कानपुर और अलीगढ़ से आगे बढ़ता हुआ लार्ड लेक जब दिल्ली पहुँचा तो वहाँ सीन्धिया के फ्रेंच सहायक पैंटन का दौर-दौरा था। पैंटन ने अन्य सेनाओं को साथ लेकर लेक का मुकाबला किया, और परास्त हो गया। तब दिल्ली शहर, लाल क़िला और शाहआलम तीनों अंग्रेज़ों के हाथ में आ गये।

दिल्ली पर पूरा अधिकार करने के पश्चात् मुग़ल-शाहंशाह के पर झाड़ने की युक्तियाँ आरम्भ हो गईं। अंग्रेज़ यह मानने को तैयार नहीं थे कि हिन्दुस्तान का असली बादशाह शाहआलम है। इतना तो वह अनुभव करते थे कि अभी उसे गद्दी से उतारने का समय नहीं आया, परन्तु वे उसे कठपुतली से अधिक महत्त्व नहीं देना चाहते थे। कभी उसकी पेन्शन घटाई जाती, तो कभी ऊँचे अंग्रेज़ अधिकारियों द्वारा भेंट के समय मुहरें नज़र करने का रिवाज तोड़ा जाता था। बेचारे शाहआलम को निरन्तर झींकना और शिकायतें करना पड़ता था।

मराठों की अन्तिम लड़ाई तक सम्राट् के अधिकारों की कतरब्योंत का यही क्रम जारी रहा, परन्तु ज्योंही पूना पर अंग्रेज़ों का पूरा अधिकार हुआ त्योंही शाहआलम की मुसीबतें बढ़ गईं। लार्ड हेस्टिंग्ज़ के समय में अंग्रेज़ी सरकार द्वारा दो ऐसे कार्य किये गये, जिनका उद्देश्य केवल शाहआलम के गौरव की घटना ही नहीं था। वह कार्य वस्तुतः उसकी राजनीतिक सत्ता को ही चुनौती देने वाले थे।

अवध का नवाब वज़ीर ग़ाज़ी हैदर चाहता था कि उसे बादशाह मान लिया जाय। उसके पास शासन की कितनी शक्ति थी, यह तो वह भी जानता था, परन्तु नाम भी तो एक चीज़ है। वह सोचता था कि यदि सीन्धिया या अंग्रेज़ों का पेन्शनर शाहआलम शाह कहला सकता है, तो अवध का वज़ीर नवाब बादशाह क्यों नहीं कहला सकता। उसने अंग्रेज़ों से प्रार्थना की। अंग्रेज़ों को प्रार्थना के स्वीकार करने में कोई दिक्कत न मालूम हुई।

एक ही तीर से उनके दो कार्य सिद्ध हो गये। नवाब वज़ीर सन्तुष्ट हो गया, और

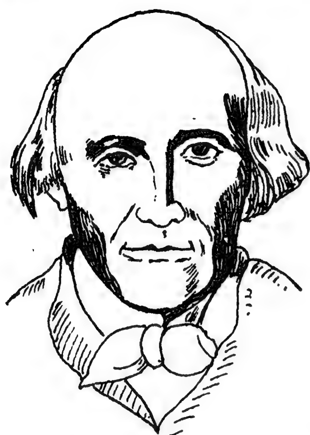
शाहआलम का एक पर कट गया। अब तक यह समझा जाता था कि मुग़ल बादशाह की हुकूमत चाहे लाल क़िले के किसी एक कमरे तक ही परिमित क्यों न हो, परन्तु देश भर में बादशाह या नवाब की पदवी तभी मानी जायगी, जब उस पर मुग़ल बादशाह की सनद होगी। अंग्रेज़ों को भी बंगाल और बिहार की दीवानी का प्रमाणपत्र मुग़ल बादशाह से ही लेना पड़ा था। अब ईस्ट इण्डिया कम्पनी के नौकरों ने यह अनुभव किया कि उस काल्पनिक अधिकार के बुत को तोड़ देने का समय आ गया है। उन्होंने मुग़ल बादशाह से आज्ञा लिये बिना ही गाज़ी हैदर को अवध का बादशाह मान लिया। इस प्रकार अंग्रेज़ों ने १८१९ में भारत की प्रभुताई के आसन की ओर एक और क़दम बढ़ा दिया।

दूसरा अवसर तब आया, जब लार्ड हेस्टिंग्ज़ नेपाल-युद्ध की देख-भाल के लिए उत्तर की ओर जा रहा था। जब दिल्ली जाकर बादशाह से भेंट करने का प्रश्न पैदा हुआ तो बादशाह ने ज़ोर दिया कि सदा की भाँति अंग्रेज़ गवर्नर-जनरल को हाथ में मुहर लेकर अधीन अधिकारी की तरह हाज़िर होना चाहिए। हेस्टिंग्ज़ बराबर के शासक की तरह मिलने को तैयार था, अधीन की तरह नहीं। फलतः उसने बादशाह से मिलना स्वीकार न किया।

छयालीसवाँ अध्याय

बर्मा पर आक्रमण

लार्ड हेस्टिंग्ज़ का शासन-काल १८२१ में समाप्त हो गया। पहले तो यह प्रतीत होता था कि मराठा संघ का दलन करने वाला गवर्नर-जनरल जब भारत से जायगा, तब उसके गले में फूलों की माला पड़ी हुई होंगी, क्योंकि उसके कारनामों से प्रसन्न होकर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के डायरेक्टरों ने उसे ६० हज़ार पौण्ड का इनाम अर्पित किया था, परन्तु अन्त में लार्ड हेस्टिंग्ज़ को अपयश लेकर ही विदा होना पड़ा। हैदराबाद में डब्ल्यू० पामर एण्ड कम्पनी नाम की एक अंग्रेज़ी कम्पनी थी। उसके डायरेक्टरों में से एक सज्जन लार्ड हेस्टिंग्ज़ के रिश्तेदार थे। उस कम्पनी ने निज़ाम को एक बहुत बड़ी राशि ऋण के रूप में दे दी, और उसके बदले में रियासत को बुरी तरह चूसना शुरू किया। तहक़ीक़ात होने पर मालूम हुआ कि निज़ाम को अंग्रेज़ी कम्पनी से ऋण लेने की आज्ञा गवर्नर-जनरल ने दे दी थी, जब कि पार्लियामेण्ट के ऐक्ट ने यूरोपियनों और भारतवासियों में इस प्रकार के लेन-देन का सर्वथा निषेध किया हुआ था। इस मामले से बोर्ड लार्ड हेस्टिंग्ज़ से रुष्ट हो गया, फलतः गवर्नर-जनरल को त्यागपत्र देकर इंग्लैण्ड वापिस चले जाना पड़ा। कर्मफल इसी प्रकार मिलता है। भारत के उस समय के अंग्रेज शासकों को दमन के प्रयोग का यह फल मिलता रहा कि क्लाइव से लेकर लार्ड हेस्टिंग्ज़ तक सभी बड़े समझे जाने वाले गवर्नर माथे पर बदनामी का टीका लगाकर गये। अपने देश में जाकर उनका मान कम और अपमान अधिक हुआ।



लार्ड हेस्टिंग्ज़

जिस समय लार्ड हेस्टिंग्ज़ ने भारत के शासन की बागडोर अपनी कौंसिल के सीनियर सदस्य मि० ऐडम को सौंपी, उस समय देश की हालत ऐसे ज्वालामुखी की-सी थी जिसकी चोटियों पर तो हरे-हरे वनस्पति दिखाई देते हैं, परन्तु गर्भ में भयानक लावा तैयार होना आरम्भ हो चुका है।

ऊपर से देखने में उस समय अंग्रेज़ों के शासन और दबदबे की दशा बहुत सन्तोष-जनक थी। मराठा संघ टूट चुका था, और उसका केन्द्र अंग्रेजों के अधिकार में आ चुका था। पूना के महलों पर अंग्रेज़ों का झण्डा फहरा रहा था, और पेशवा वैलूर में क़ैदी था। सीन्धिया की स्वतन्त्र सत्ता लगभग समाप्त हो चुकी थी, और होल्कर के दमख़म समाप्त हो चुके

थे। राजपूत राजा अंग्रेज़ों की छत्रछाया के नीचे आ चुके थे। इस प्रकार भारत की प्रायः सब राजनैतिक शक्तियां या तो अंग्रेज़ों की प्रभुता को मान चुकी थीं, या उनकी मित्र हो गई थीं।

रामेश्वरम् से लेकर दिल्ली तक के प्रायः सभी मुख्य-मुख्य केन्द्रों में अंग्रेज़ी सेना की छावनियाँ छाई हुई थीं, जिनके कारण यह भरोसा किया जा सकता था कि अब ब्रिटिश हुकूमत को हिलाना आसान नहीं है। बहुत सी बड़ी रियासतें तो पारस्परिक सहायता की हीन सन्धि के बन्धन में बँधी हुई थीं, शेष अधीनता स्वीकार कर चुकी थीं। राजपूताने की रियासतों पर अंकुश रखने के लिए अजमेर का अलग प्रदेश बना दिया गया था, जिस पर सीधा अंग्रेज अफ़सर का शासन था। एक दृष्टि से लार्ड हेस्टिंग्ज़ बहुत भाग्यशाली था। उसे चार ऐसे सहायक प्राप्त हो गये थे, जिनमें से प्रत्येक सफल शासक होने की योग्यता रखता था। मौण्ट स्टुअर्ट अलिफस्टन सफल शासक होने के साथ ही साथ इतिहास लेखक भी था। सर चार्लस मैटकाफ़ ने दिल्ली की हुकूमत पर अपना गहरा पद-चिन्ह छोड़ा है। सर जान मालकम और सर टामस मनरो जैसे योग्य सहायकों की सहायता से लार्ड हेस्टिंग्ज़ को मद्रास तथा बंगाल में शान्ति रखने और शासन सम्बन्धी कई सुधार करने में कृतकार्यता प्राप्त हुई।

पिण्डारियों का उन्मूलन १८१८ में पूरा हो गया था। मराठों के साथ अन्तिम लड़ाई आरम्भ करने से पूर्व लार्ड हेस्टिंग्ज़ ने जो युद्ध सज्जा की थी उसका मुख्य उद्देश्य पिण्डारियों का दमन ही बतलाया गया था। दोनों युद्ध साथ ही साथ चलते रहे। जब मराठों का सतारा डूबता नज़र आया, तब पिण्डारी स्वयं ही तितर-बितर होने लगे। अमीरखां ने ब्रिटिश संरक्षण स्वीकार कर लिया, जिसका पारितोषिक यह मिला कि उसे टौंक की रियासत दे दी गई। करीमखां ने भी अधीनता स्वीकार कर ली। चीतू जंगल में भाग गया जहाँ कहते हैं, उसे शेर खा गया। नेताओं के बिखर जाने पर शेष पिण्डारी अपने-अपने घरों को वापिस चले गये, और खेती-बाड़ी करने लगे।

इस प्रकार, प्रत्यक्ष रूप में देश के अधिकतम भाग में शान्ति थी, और उस शान्ति की चोटी पर ब्रिटिश झण्डा फहरा रहा था, परन्तु सतह के नीचे क्या दशा थी, यह लार्ड हेस्टिंग्ज़ के अपने ही शब्दों में सुनिये। मेजर वसु ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Rise of the Ehristion Power in India के चौथे भाग में लार्ड हेस्टिंग्ज़ की निजी डायरी से कुछ उद्धरण प्रकाशित किये हैं, जिनकी प्रतिलिपि पाणिनि आफिस में विद्यमान है। उसमें लार्ड हेस्टिंग्ज़ ने भारत की उस समय की दशा का जो चित्र खेंचा है, उसमें बहुत-सी काली रेखायें हैं। उसके कुछ अंश हम यहाँ उद्धृत करते हैं—

१ फरवरी, १८१४.

"हमारी संख्या में जो कमी है, उसे पड़ौसियों की उस मित्र-भावना से पूरा किया जा सकता था जिसे हम अपनी न्याय-बुद्धि और नर्म व्यवहार के कारण प्राप्त करते। वह मित्र-भावना हमें आक्रमणों से बचा सकती थी, परन्तु मुझे वह मित्र-भावना कहीं दिखाई नहीं देती। हमारे चारों ओर नोंक-झोंक चल रही है।......यह एक बहुत महत्वपूर्ण सचाई है कि हमें युद्धों में जो छोटी-छोटी सफलतायें प्राप्त हुई हैं, उन्होंने पराजित लोगों के हृदयों में हमारे प्रति

घोर शत्रुता का भाव उत्पन्न कर दिया है। हमने अपने आस-पास की रियासतों से व्यर्थ की छेड़-छाड़ करके जो विरोध और षड्यन्त्र का वातावरण पैदा कर लिया है, केवल हमारी शक्ति की डाह से उससे आधा भी पैदा न होता। मुझे आशंका है कि जब कभी हम किसी ऐसे शत्रु से उलझे होंगे, जिसको दबाने के लिए हमें अपनी अधिकतर सेनायें काम में लानी पड़ें, तब ये सब रियासतें एक होकर हमारे विरोध में खड़ी हो जायँगी। वह समय दूर नहीं है जब ऐसा शत्रु मैदान में आ जाय।………"

ये शब्द सन् १८५७ की राज्य-क्रान्ति से ४३ वर्ष पहले लिखे गये थे। इससे प्रतीत होता है कि लार्ड हेस्टिंग्ज़ स्वयं अंग्रेज़ी कल का पुर्जा होता हुआ भी, कल की कमज़ोरियों को खूब समझता था, और शान्त वायुमण्डल को देखकर भी दूर से आने वाले तूफ़ान का अनुमान लगा सकता था। भारतवासियों की उस समय की नैतिक निर्बलता और अंग्रेज़ों की धूर्ततामिश्रित संगठन-शक्ति के परस्पर सम्पर्क से जो परिस्थिति उत्पन्न हो रही थी, वह इतनी अस्वाभाविक थी, कि उसके कारण शीघ्र या देर में विस्फोट होना आवश्यक था।

लार्ड हेस्टिंग्ज़ के विलायत चले जाने पर सुप्रीम कौंसिल के प्रथम सदस्य मि० एडम्स ने गवर्नर-जनरल का काम सँभाल लिया। यह अस्थायी प्रबन्ध ७ मास तक चला, उसके पश्चात् लार्ड एमहर्स्ट ने १८२३ में स्थायी गवर्नर-जनरल की हैसियत से शासन की बागडोर अपने हाथों में ले ली और भारत के तत्कालीन अंग्रेज़ शासकों की परम्परा को जारी रखते हुए अगले वर्ष (१८२४ में) बर्मा से लड़ाई की घोषणा कर दी।

जब लड़ने की इच्छा हो, तब कारण ढूंढ़ना क्या कठिन है? १७६० में बर्मा के एक सरदार ने, जिसका नाम अलोम्प्ता था, अपने बाहुबल से सारे बर्मा पर अधिकार जमा लिया। बर्मा का राजा बनकर उसने आसपास के प्रदेशों को जीतने का उपक्रम कर दिया, जिसमें उसे पर्याप्त सफलता प्राप्त हो गई। उसके उत्तराधिकारियों ने मनीपुर और आसाम को जीतकर बर्मा के राज्य में मिला लिया, जिससे १८१८ में बर्मा की सीमा बंगाल की सीमा से मिल गई। अंग्रेज़ बंगाल के मालिक बन चुके थे, और आसाम और मनीपुर पर नज़र लगाये हुए थे। बर्मा के राजा ने मानो उनके मुँह का ग्रास छीन लिया, जिससे असन्तुष्ट होकर अंग्रेज शासकों ने बर्मा से भागे हुए विरोधी लोगों को अपने प्रदेश में आश्रय देना आरम्भ कर दिया। बर्मा के शत्रु भारत की सीमा में सुरक्षित होकर बीच-बीच में बर्मा की सीमाओं में घुस जाते, और छापे मारते थे। बर्मा की सरकार ने अंग्रेज़ी सरकार से माँग की कि वह बर्मा के शत्रुओं को पकड़कर उनके सुपुर्द कर दे। जब अंग्रेज़ सरकार की ओर से कोई सन्तोषजनक उत्तर न मिला तो उसने अपनी माँग को और भी ऊँचा कर दिया। उसने अंग्रेज़ सरकार को लिखा कि "यदि वह बंगाल की सीमा से बर्मा पर आक्रमण करने वाले आततायियों को नहीं रोक सकती तो चिटागांग, ढाका, मुर्शिदाबाद और कासिम बाज़ार हमें दे दिया जाये।" इस समय अंग्रेज़ पिण्डारियों और मराठों के युद्ध से निश्चिन्त हो चुके थे। वे तो बर्मा के राज्य की सीमाओं को पीछे धकेलने के अवसर की तलाश कर रहे थे, फलतः लार्ड एमहर्स्ट ने २४ फरवरी, १८२४ के दिन बर्मा से युद्ध की घोषणा कर दी।

बर्मा में घुसकर युद्ध करने में अंग्रेज़ सेनाओं को बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। वहाँ की आर्द्रता और मलेरिया का सामना करना उनके लिए कठिन था। अंग्रेज़ों की एक सेना ने समुद्र के रास्ते से जाकर रंगून पर अधिकार जमा लिया, परन्तु वर्षा आ गई, और अंग्रेज़ों की सेना रंगून में मानो कैद हो गई। इधर बर्मा का सेनापति बुन्देला बंगाल पर आक्रमण करने लगा। अंग्रेज़ सरकार की सेनाओं को उसके परास्त करने और आसाम को जीतने में बहुत संकटों में से गुजरना पड़ा। अन्त में १८२६ में यंदाबू नाम के स्थान पर अंग्रेज़ों और बर्मा के राजा में सन्धि हो गई, जिसके द्वारा बर्मा के राजा ने आसाम और मनीपुर पर से अपना अधिकार उठा लिया, और अराकान अंग्रेज़ों को दे दिया। अंग्रेज़ों ने बर्मा के राजा को बर्मा की सीमाओं में परिमित करके सन्तोष की साँस ली।

यह लड़ाई अंग्रेज़ों को बहुत महँगी पड़ी। पिण्डारियों और मराठा संघ को जीतने में ईस्ट इण्डिया कम्पनी को जितनी धनराशि व्यय करनी पड़ी थी, बर्मा की पहली लड़ाई में उससे १२ गुनी धनराशि ख़र्च हुई। साथ ही इस लड़ाई में अंग्रेज़ शासकों और सेनापतियों ने जिस अदूरदर्शिता और शिथिलता का सबूत दिया, उससे लार्ड एमहर्स्ट और उसके सहायकों की बहुत बदनामी हुई।

लार्ड एमहर्स्ट के शासन-काल में एक विशेष बात यह हुई कि अंग्रेज़ों ने बहुत से सेना और धन का प्रयोग करके भरतपुर के क़िले पर अधिकार जमा लिया।

१८२६ में लार्ड एमहर्स्ट का कार्यकाल समाप्त कर दिया गया। बर्मा के युद्ध में इतनी बड़ी धनराशि ख़र्च कर डालने वाला गवर्नर-जनरल एक व्यापारी कम्पनी का कृपापात्र चिरकाल तक कैसे बना रह सकता था।

संतालीसवाँ अध्याय

बैरकपुर का सिपाही-विद्रोह या हत्याकाण्ड

बर्मा युद्ध के सिलसिले में, सन् १८२४ के अक्तूबर मास में, कलकत्ते के समीप बैरक-पुर में, एक ऐसी घटना हुई, जिसे इतिहास-लेखकों ने अपनी-अपनी दृष्टि से दो भिन्न नामों से निर्दिष्ट किया है। कुछ इतिहास-लेखक उसे 'सिपाही-विद्रोह' मानते हैं, तो कुछ 'हत्याकाण्ड' या 'कत्लेग्राम'। हम शीर्षक का चुनाव पाठकों पर छोड़कर उस घटना का पूरा विवरण देना अधिक उपयुक्त समझते हैं। अंग्रेज़ी काल में और उसके पश्चात् भी प्रकाशित हुई छोटी-बड़ी पाठ्य-पुस्तकों में उसे 'सिपाही-विद्रोह' ही बतलाया गया है, परन्तु उस समय के अंग्रेज़-लेखकों के विवरण दूसरी ही कहानी सुनाते हैं। हम नीचे लिखा वृत्तान्त उस समय के अंग्रेज़-लेखकों के आधार पर देते हैं।

बर्मा में युद्ध गर्म होने पर जब वहाँ अधिक सेनायें भेजने की आवश्यकता हुई तब अंग्रेज़ी सरकार ने निश्चय किया कि हिन्दुस्तानी सिपाहियों की रेजीमेंट रंगून के लिए रवाना की जाय। आज्ञा जारी हो गई।

रेजीमेण्ट में बहुत से ऊँचे वर्ण के हिन्दू थे। तब तक देश में समाज-सुधार की चर्चा नहीं हुई थी। अधिकतर हिन्दुओं का विश्वास था कि समुद्र-यात्रा से धर्म भ्रष्ट हो जाता है। रंगून जाने के लिए जहाज़ पर चढ़ना पड़ता। सिपाहियों ने आपत्ति की कि जब उन्हें नौकरी में लिया गया था, तब यह नहीं खोला गया था कि उन्हें समुद्र-यात्रा भी करनी पड़ेगी। फलतः बहुत से सिपाहियों ने रंगून जाने की अनिच्छा प्रकट की।

सिपाहियों की और भी बहुत सी शिकायतें थीं। उनके वेतन बहुत कम थे। ४ रुपये मासिक से लेकर ६।।) रुपये मासिक तक में उन्हें गुजारा करना पड़ता था। उनके बुगचे बहुत खराब हो गये थे। जब सिपाहियों को किसी दूसरी जगह जाना होता था, तब खच्चर या बैलगाडी का प्रबन्ध स्वयं करना पड़ता था, सेना के अधिकारी उनकी कोई सहायता नहीं करते थे।

जब हिन्दुस्तानी रेजीमेण्ट को रंगून जाने के लिए तैयार होने का हुक्म मिला तब सिपाहियों की ओर से सरकार की सेवा में पेश करने के लिए एक आवेदन-पत्र तैयार किया गया। उसमें उन्होंने बड़ी विनीत भाषा में अपनी शिकायतों का निर्देश किया था। उनकी एक माँग यह भी थी कि यदि उन्हें रंगून भेजना अनिवार्य ही हो तो उन्हें पृथक् भत्ता दिया जाय, जैसे बैलगाड़ी वालों तथा सफरमैना के अन्य कर्मचारियों को दिया गया है।

सेना के अधिकारियों ने न तो उनकी शिकायतें दूर कीं और न उन्हें समझाने-बुझाने का यत्न किया। सिपाहियों की शिकायतों का अर्थ उन्होंने यह लगाया कि वे युद्ध में जाने से इन्कार करते हैं, अतः घोर अपराधी हैं।

३० अक्तूबर, १८२४ के दिन रेजीमेण्ट को परेड में आने की आज्ञा दी गई। सिपाही आये परन्तु बुगचे साथ नही लाये। कारण पूछने पर उन्होंने उत्तर दिया कि उनके बुगचे पुराने और बोसीदा हो गये हैं, वे बाहर ले जाने योग्य नहीं। सिपाहियों ने अपनी अन्य शिकायतें भी कह दीं। इसे सिपाहियों का अक्षम्य अपराध समझा गया, और परेड समाप्त कर दी गई।

अपराध को ऐसा महत्त्वपूर्ण समझा गया कि अंग्रेज़ कमाण्डर-इन-चीफ़ सर एडवर्ड पैजेट को सारा समाचार भेजकर आदेश माँगा गया कि अब क्या किया जाय।

सर एडवर्ड पैजेट अपने समय का जनरल डायर था। उसके मन में यह विश्वास जमा हुआ था कि अंग्रेज़ हुकूमत करने के लिए और हिन्दुस्तानी हुक्म मानने के लिए पैदा हुआ है। सिपाहियों से मिलकर उन्हें शान्त करना या समझाना-बुझाना भी कोई उपाय हो सकता है, यह उसके दिमाग़ में ही नहीं आ सकता था। हिन्दुस्तानियों के कोई धार्मिक विचार भी हो सकते हैं, उन्हें ६॥) रुपये मासिक से अधिक तलब माँगने का अधिकार है, यह सब बातें पैंजेट की समझ से बाहर की थीं। रेजीमेण्ट के अफ़सरों ने कमाण्डर-इन-चीफ़ को लिखा कि सिपाहियों ने गंगाजल और तुलसी की क़सम खाकर फ़ैसला कर लिया है कि वे जहाज़ पर पाँव न रखेंगे। कमाण्डर-इन-चीफ़ ने इस पर आगबबूला होकर उन अभागे काले सिपाहियों को सबक देने का निश्चय कर लिया।

पहली नवम्बर को हिन्दुस्तानी रेजीमेण्ट को फिर परेड में आने की आज्ञा दी गई। जब वे लोग परेड में आ गये तब उन्होंने अपने को दो गोरा रेजीमेण्टों, एक तोपखाने का कोर और गवर्नर-जनरल के अंगरक्षक घुड़सवारों की तुर्प से घिरा पाया।

अफ़सरों ने सिपाहियों से पूछा कि वे बर्मा जाने से क्यों इन्कार कर रहे हैं। उन्होंने उत्तर दिया कि वे अपनी शिकायतें आवेदन-पत्र में लिख चुके हैं। इस पर उन्हें हुक्म दिया गया कि या तो सीधी तरह बर्मा के लिए चल दो, अथवा अपने हथियार रख दो। इस पर सिपाही कुछ आनाकानी करने लगे तो एक दम तोपों के मुँह खोल दिये गये। उन बेचारे सिपाहियों पर दनादन गोले और गोलियों की बौछार होने लगी। बहुत से वहीं मर गये, शेष नदी की ओर भागे। कुछ नदी तक पहुँचने से पहले ही भून दिये गये, बहुत से नदी में डूबकर मर गये, जो थोड़े से भाग्यशाली बच गये, वे अंग्रेज़ों के त्याग और दयालुता का प्रचार करने के लिए जिधर रास्ता मिला, फैल गये।

हत्याकाण्ड के पश्चात् सिपाहियों की बन्दूकें देखी गईं तो खाली थीं, जिससे सिद्ध होता था कि उनका विद्रोह करने का विचार नहीं था। उन्हें आशा थी कि उनकी उचित शिकायतें दूर कर दी जायेंगी।

इतना संहार करके भी अंग्रेज़ कमाण्डर-इन-चीफ़ की रक्तपिपासा शान्त न हुई। उसने हुक्म दिया कि वह रेजीमेण्ट तोड़ दी जाय, और उसके जो बचे हुए सिपाही पकड़े जायें उनका कोर्ट मार्शल किया जाय। बहुत से सिपाही पकड़-पकड़ कर फाँसी चढ़ाये गये।

हिन्दुस्तानी सिपाहियों के साथ अंग्रेज़ शासकों ने जो नृशंसतापूर्ण व्यवहार किया, उसका रंग और भी काला प्रतीत होने लगता है, जब हम यह स्मरण करते हैं कि अंग्रेज़ों ने

भारतवर्ष को इन्हीं सिपाहियों की सहायता से जीता था। उस समय के अनेक अंग्रेज़ अफ़सर और लेखक हिन्दुस्तानी सिपाहियों की प्रशंसा करते नहीं थकते थे। राशन कम होने पर वे स्वयं चावलों का पानी पीकर निर्वाह करते थे, और गोरों को चावल खिलाते थे। भारतीय सिपाही शराब नहीं पीता था, इस कारण उससे काम लेना आसान था, और वह अफ़सरों का कहना मानता था। हाउस ऑव कामन्स की सिलेक्ट कमेटी के सामने भारत की सेनाओं के सम्बन्ध में गवाही देते हुए प्रायः सभी अंग्रेज़ अफ़सरों ने हिन्दुस्तानी सिपाहियों की प्रशंसा करते हुए यह स्वीकार किया था कि उनका वेतन बहुत कम है। उनमें से भी कलकत्ता के सिपाहियों की हालत बहुत ही बुरी थी। जब बम्बई और मद्रास के हिन्दुस्तानी सिपाहियों का मासिक वेतन सात रुपये मासिक था, तब बंगाल के सिपाहियों का मासिक वेतन चार रुपये से साढ़े पाँच रुपये तक ही था। मद्रास और बम्बई में कई प्रकार के छोटे-छोटे भत्ते भी मिल जाते थे, बंगाल के सिपाहियों को वह भी अप्राप्य थे। साधारण कुलियों से भी कम मज़दूरी पाकर अंग्रेज़ों के लिए जान देने वाले हिन्दुस्तानी सिपाहियों को गोले और गोलियों से भूनने के पश्चात् भी सिपाहियों के काम को बलवा या गदर और अपने काम को अनुशासन बतलाने वाले अंग्रेज़ों और उनके शिष्य भारतवासियों के बारे में हम यही कहना चाहते हैं—'ते के न जानीमहे' हमें सूझता नहीं कि उनका क्या नाम रखें।

अब पाठक स्वयं निश्चय कर लें कि वह क्या था—**सिपाही-विद्रोह या हत्याकाण्ड ?**

अड़तालीसवाँ अध्याय

प्रकाश की रेखा

हमने इस इतिहास के प्रारम्भ में ही यह स्थापना की थी कि भारत पर जो राजनीतिक संकट आया, वह उसकी आन्तरिक स्थिति की घोर निर्बलता के कारण था। देश की सामाजिक, धार्मिक और शिक्षा सम्बन्धी परिस्थिति ऐसी गन्दी और जर्जरित हो गई थी कि नवजीवन की उमंग में भरी हुई पाश्चात्य जातियों के आक्रमण के सामने खड़ा होना कठिन हो गया। देश पर मानो रात्रि के उत्तरार्ध का अन्धकार छाया हुआ था, और राष्ट्र की आत्मा सोई पड़ी थी। जो कोई बाहर से आया, घर का मालिक बनता चला गया। विदेशियों की शक्ति आगे ही आगे बढ़ती गई।

अब हम इतिहास के उस पड़ाव पर पहुँच गये हैं—जहाँ पूर्व से उठती हुई प्रकाश की एक हल्की-सी रेखा दिखाई देती है। यद्यपि वह प्रारम्भ में बहुत हल्की-सी दिखाई दी, परन्तु वह धीरे-धीरे विशाल रूप धारण करने वाली एक सर्वतोमुखी क्रान्ति की पूर्व सूचना थी। सन् १८२८ के अगस्त मास की २० तारीख को, ब्रिटिश काल के पहले सुधारक राजा राममोहन राय के नेतृत्व में, कलकत्ते में ब्रह्मो समाज की स्थापना हुई।

राजा राममोहन राय का जन्म बंगाल के एक उच्च और धनी ब्राह्मण घराने में हुआ था। उनके पिता रामकान्त राय पुराने विचारों के कट्टर हिन्दू थे। माता भी अत्यन्त धर्मपरायणा और साध्वी महिला थीं। फलतः छोटी आयु से ही राममोहन राय का झुकाव धर्म सम्बन्धी विवेचना की ओर हो गया।

अंग्रेज़ों को दीवानी मिल जाने पर भी बंगाल की राज्य-भाषा अभी उर्दू ही थी, और उर्दू का विद्वान् बनने के लिए फ़ारसी का ज्ञान आवश्यक समझा जाता था। राममोहन राय को भी घर में थोड़ी-सी प्रारम्भिक शिक्षा देने के पश्चात् फ़ारसी का आलिम बनाने के लिए पटना भेज दिया गया, जहाँ उसने न केवल फ़ारसी अपितु अरबी का भी इतना ज्ञान प्राप्त कर लिया कि कुरआन को उसके मूल रूप में समझने की योग्यता प्राप्त हो गई।

कुरआन के अध्ययन का राममोहन की उपजाऊ बुद्धि पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि उसका झुकाव एकेश्वरवाद की ओर हो गया, और मन में अनेक देवतावाद और मूर्तिपूजा पर सन्देह उत्पन्न होने लगे। उसके बदलते हुए विचारों की सूचना मिलने पर राममोहन राय के पिता रामकान्त राय को बहुत दुःख हुआ। कुछ कहा-सुनी भी हुई, जिससे प्रारम्भ में ही पिता और पुत्र में वैमनस्य की एक हल्की-सी दरार पड़ गई, जो आगे जाकर खाई के रूप में परिणत हो गई।

पिता की ओर से विरोध प्रकट होने पर राजा राममोहन राय की धर्म-जिज्ञासा रुकने की जगह और वेग से चलने लगी, जिसका परिणाम यह हुआ कि वह बौद्ध-धर्म का अध्ययन करने के लिए तिब्बत की हजारों मील की पैदल यात्रा के लिए चल पड़े। यह यात्रा तीन-चार

वर्षों तक जारी रही। यात्रा से लौटकर वह कई वर्षों तक बनारस में रहकर पण्डितों से संस्कृत भाषा और धर्म-ग्रन्थ पढ़ते रहे। वहीं उन्होंने अंग्रेज़ी का अध्ययन भी शुरू किया।

आत्मा की प्यास को बुझाने के लिए राममोहन राय ने जो अनथक परिश्रम किया, उसने समुद्र-मन्थन का रूप धारण कर लिया, जिससे धीरे-धीरे अनेक प्रकार के अनमोल उपहार निकलने लगे। १८०३ में आपने फ़ारसी में तुहफ़ान-उल-मुवहिद्दीन (एकेश्वरवादियों को उपहार) नाम की पुस्तक लिखी जिसमें एकेश्वरवाद का मण्डन और बहुदेवतावाद का खण्डन करने के साथ-साथ अन्य धार्मिक युक्तियों की भी आलोचना की।

कुछ समय पश्चात् राममोहन राय ने उपनिषदों तथा अन्य कई आर्ष-ग्रन्थों के बंगाली अनुवाद प्रकाशित किये, जिनसे एकेश्वरवाद की पुष्टि की। १८२८ में ब्रह्मोसमाज की स्थापना का मुख्य उद्देश्य एक ईश्वर को मानने वाले आस्तिकों को संगठित करना ही था।

धीरे-धीरे राममोहन राय की सुधार-भावना का क्षेत्र विस्तीर्ण होता गया। समाज-सुधार की दिशा में आपका विशेष कार्य यह था कि सती-प्रथा को हटाने के पक्ष में बहुत ज़बर्दस्त आन्दोलन किया। उस समय हिन्दू स्त्रियों और विशेषरूप से हिन्दू विधवाओं की दशा कैसी करुणाजनक थी, आज उसका अनुमान लगाना भी कठिन है। जो स्त्री दुर्भाग्य से विधवा हो जाय, चाहे उसकी कितनी ही छोटी आयु हो, उसे या तो पति के साथ चिता पर जलकर सती हो जाना पड़ता था, अथवा जीवन भर विधवा का कष्टमय जीवन व्यतीत करना पड़ता था। प्रायः युवती स्त्रियाँ जीवन भर का वैधव्य दुःख सहने के स्थान पर पति की चिता पर जल जाना पसन्द करती थीं। उस समय की अधूरी रिपोर्टों से पता चलता है कि १८२८ के वर्ष में जिन स्त्रियों के सती होने की सूचना सरकारी तौर पर अकेले बंगाल प्रान्त में प्राप्त हुई,, उनकी संख्या ३०६ थी। उससे पहले के सरकारी आँकड़ों से प्रतीत होता है कि १८१५ और १८१८ तक के ३ वर्षों में कम से कम २,३६५ विधवायें जीवित जलाई गईं, जिनमें कलकत्ता और उसके आसपास के स्थानों में जलाई गई विधवाओं की संख्या १५२८ थी। यह प्रथा इस विस्तृत रूप में कब से प्रारम्भ हुई यह कहना कठिन है। सम्भव है, मुसलमान काल में अरक्षिता स्त्रियों को शासक वर्ग के अत्याचारों से बचाने के लिए इसका विकास हुआ, अथवा अस्पृश्यता की भाँति यह भी राष्ट्र के रोगी शरीर का एक चिन्ह थी, या दोनों ही कारणों ने मिलकर भारत के माथे पर कलंक का यह टीका लगाया हो, ये सब कल्पनायें हैं, जिनमें से सर्वथा सत्य को ढूँढ़ निकालना तब तक सम्भव नहीं, जब तक मध्यकाल का इतिहास तैयार करने को पूरी सामग्री प्राप्त हो। जिस समय भारत में यूरोपियनों का प्रवेश हुआ, और उनकी शक्ति का विस्तार हो रहा था, वह हमारे अन्तरिक्ष में घोरतम अन्धकार का समय था। यद्यपि स्वयं यूरोप की दशा अर्धसभ्यों की सी थी, तो भी उनमें सुधार और उन्नति की लहरें जन्म ले चुकी थीं, उन्हें सती-प्रथा से बहुत आश्चर्य हुआ। इसे उन्होंने भारतवासियों की ज्ञानशून्यता और गिरावट का स्पष्ट चिन्ह समझा।

उस युग के जिन भारतवासियों ने हिन्दुस्तान में स्त्रियों की असन्तोषजनक दशा को पहले-पहल अनुभव किया उनमें से पहला नम्बर राजा राममोहन राय का है उन्होंने

अपने लेखों में विधवाओं के पुनर्विवाह का समर्थन किया, स्त्रियों के उत्तराधिककार सम्बन्धी क़ानूनों के सुधार की ज़ोरदार वकालत की और सती-प्रथा को राजनियम द्वारा रोकने के लिए भगीरथ-प्रयत्न किया । उन्होंने न केवल सती-प्रथा के विरुद्ध एक ज़बर्दस्त पुस्तिका लिखी, कौमुदी नाम की बंगला भाषा की पत्रिका निकालकर उसमें भी सुधार का प्रबल आन्दोलन किया । स्थान-स्थान पर विजिलेंस कमेटियाँ बनाई गई, जिनके सदस्यों का यह कर्तव्य था कि वे जहाँ भी सती होने का समाचार पायें, वहाँ पहुँचकर उसे रोकें और सरकार को भी सूचना दें ।

राजा राममोहन राय ने जात-पाँत की प्रचलित प्रथा का विरोध किया, और सभी वर्गों में शिक्षा के प्रसार का समर्थन किया ।

शिक्षा के सम्बन्ध में भी राजा राममोहन राय के विचार अपने समय के प्रचलित विचारों से भिन्न थे । वे केवल उस समय की फ़ारसी या संस्कृत शिक्षा को पर्याप्त नहीं समझते थे । उनका मत था कि प्राचीन पद्धति की शिक्षा के साथ-साथ अंग्रेज़ी भाषा और नवीन विषयों की शिक्षा भी दी जानी चाहिए । नये गवर्नर-जनरल पर विलियम बैण्टिक के समय में दो विवाद ऐसे उठे, जिनमें देशवासियों में बहुत मतभेद था । एक सती-प्रथा को बन्द करने का और दूसरा अंग्रेज़ी शिक्षा जारी करने का । इन दोनों ही विषयों में राज राममोहन राय ने बैण्टिक की सरकार का समर्थन किया । सती-प्रथा को रोकने के पक्ष में क्रियात्मक आन्दोलन किया, और अंग्रेज़ी शिक्षा की उपादेयता की ओर देशवासियों का ध्यान खेंचा ।

राजा राममोहन राय समाचारपत्रों की स्वाधीनता के कट्टर समर्थक थे । अट्ठारहवीं शताब्दी के अन्त में भारत में कई समाचारपत्र निकलने लगे थे । १७९९ में उन पर कड़ा प्रतिबन्ध (सेंसरशिप) लगा दिया गया था । १८१७ में लार्ड हेस्टिंग्ज़ ने सेंसरशिप को तो उठा दिया, परन्तु सेना तथा शासन सम्बन्धी अनेक विषयों की चर्चा पर रुकावट लगा दी । लार्ड हेस्टिंग्ज़ के पीछे कुछ समय तक मि० एडम ने गवर्नर-जनरल के पद पर कार्य किया, उसके समय में यह आज्ञा लागू की गई कि कोई अख़बार अथवा अन्य वस्तु छपकर प्रकाशित न हो सके, जब तक सरकार से लाइसेंस न प्राप्त कर लिया जाय । राजा राममोहन राय ने सुप्रीम कोर्ट और ब्रिटिश बादशाह की सेवा में इस आशय के आवेदन-पत्र भेजे कि समाचार-पत्रों पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न लगाया जाय । आवेदन-पत्र अस्वीकृत हो गये, परन्तु राममोहन राय का भारतीय समाचारपत्रों को स्वाधीनता के पक्ष में वह आवेदन-पत्र इतिहास के पृष्ठों पर अमर अक्षरों में लिखा गया है । पराधीनता की बढ़ती हुई नदी के मार्ग में एक भारतवासी की ओर से लगाया गया वह पहला बाँध था ।

राजनीति में भी राजा राममोहन राय के विचार अपने समय से बहुत आगे थ । उन्होंने अपने लेखों और सरकार के पास भेजे हुए आवेदन-पत्रों में भारतवासियों को शासन में बराबरी का भागीदार बनाने का प्रबल समर्थन किया ।

प्रारम्भ में राजा राममोहन राय ने धार्मिक विषयों पर फ़ारसी में लिखना आरम्भ

किया, परन्तु जब उन्हें सर्वसाधारण तक अपने विचारों को पहुँचाने की आवश्यकता प्रतीत हुई, तब वे बंगला में लिखने लगे। माना जाता है कि वर्तमान बंगला वाङ्मय का प्रारम्भ वहीं से हुआ।

भारत में अंग्रेज़ी भाषा, पाश्चात्य विज्ञान-साहित्य और कला की शिक्षा के प्रतिष्ठापन में राजा राममोहन राय का जो भाग था, उसकी कुछ चर्चा पहले हो चुकी है। अंग्रेज़ी सरकार ने इस सम्बन्ध में सर विलियम बैंण्टिक के शासन-काल में जो कुछ किया, उसकी विस्तृत चर्चा अगले अध्यायों में की जायगी। यह निश्चित बात है कि अपनी नई शिक्षा सम्बन्धी नीति के निर्माण में सरकार को राममोहन राय के समर्थन से काफ़ी प्रोत्साहन और प्रेरणा मिली।

राजा राममोहन राय ने उस अन्धकार और निराशा के समय में जो प्रतिक्रिया उत्पन्न की, उसके दो पहलू थे। देश रूढ़ियों, कुरीतियों और भ्रान्तियों के भँवर में पड़ा हुआ था, उनके विरुद्ध शब्द उठाया, और देशवासियों का दृष्टिकोण विस्तृत करने के लिए अंग्रेज़ी शिक्षण का समर्थन किया। यह एक पहलू था। दूसरा पहलू यह था कि जो थोड़े से हिन्दुस्तानी ईसाई पादरियों के शिक्षणालयों में शिक्षा पा लेते थे, वे नास्तिकता और उच्छृङ्खलता के प्रवाह में बहे जा रहे थे। उन्हें भारतीय वस्तुओं से घृणा हो रही थी। राजा राममोहन राय ने अपने एकेश्वरवादी समाज की बुनियाद उपनिषद् ग्रन्थों पर रखकर उनका रुख़ बदलने की चेष्टा की। इस प्रकार उस अन्धकार युग में राजा राममोहन ने सुधार का जो दीपक जलाया, उससे रूढ़िवाद और नास्तिकता—इन दोनों हानिकारक प्रवृत्तियों पर रुकावट लगी, और देशवासियों के मन में अपनी दशा को सुधारने की प्रवृत्ति के अंकुर उत्पन्न होने लगे।

उनचासवाँ अध्याय

लार्ड विलियम बैंण्टिक

अब हम एक ऐसे गवर्नर-जनरल के शासन-काल पर आ गये हैं, जिसके सम्बन्ध में लेखकों की एक दूसरे से उल्टी सम्मतियाँ हैं। कुछ लेखक उसके कार्यों का चित्रण बिल्कुल काले रंग में करते हैं तो कुछ सुनहरे रंग में। हम उनके कार्यों के पक्षपातरहित ऐतिहासिक दृष्टि डालकर यथार्थ सम्मति बनाने का यत्न करेंगे।



विलियम बैंण्टिक

लार्ड विलियम बैंण्टिक, जो १८२८ ई० में गवर्नर-जनरल बनकर भारतवर्ष में आया, पहले सर विलियम बैंण्टिक के रूप में मद्रास में गवर्नर रह चुका था। उस समय यह समझ कर कि विल्लौर के सिपाही-विद्रोह के लिए उसकी नर्म नीति ज़िम्मेदार है, बोर्ड ने उसे वापिस बुला लिया था। अब बर्मा के युद्ध में ईस्ट इण्डिया कम्पनी को बहुत घाटा हुआ। भारत का ख़ज़ाना बिल्कुल खाली हो गया। अंग्रेज का मर्मस्थल पैसा है। कम्पनी तो फिर थी ही व्यापारियों की। प्रारम्भ से ही उसकी भारत सम्बन्धिनी नीति में उतार-चढ़ाव होते आ रहे थे। जब कोई गवर्नर-जनरल आगे बढ़ने की नीति पर चलकर बहुत सी राजनीतिक और आर्थिक उलझनें पैदा कर लेता था तब कोई नर्म तबीयत का आदमी गवर्नर-जनरल बनाकर भेजा जाता था। बर्मा के युद्ध ने वही परिस्थिति उत्पन्न कर दी थी। लार्ड विलियम बैंण्टिक उन दिनों खाली था। उसने बोर्ड से प्रार्थना की जिसे स्वीकार करके बोर्ड ने उसे गवर्नर-जनरल के पद पर नियुक्त कर दिया। स्पष्ट है कि उसे बोर्ड ने शान्तिमय उपायों से भारत के शासन की राजनीतिक और आर्थिक कठिनाइयों को हल करने के लिए भेजा था। लार्ड विलियम बैंण्टिक ने कुछ परिवर्तनों द्वारा उस कार्य को पूरा करने का यत्न किया।

लार्ड विलियम बैंण्टिक के किये हुए परिवर्तन तीन प्रकार के थे—आर्थिक, प्रबन्ध सम्बन्धी और सामाजिक।

बिगड़ी हुई आर्थिक दशा को सुधारने के दो ही उपाय हैं—आय बढ़ाना, और व्यय में कटौती करना। बैंण्टिक ने दोनों उपायों का प्रयोग किया। उसने सरकारी कर्मचारियों का

पालन करती हुई मौन रही। अन्त में बोर्ड ऑव डायरेक्टर्स इस परिणाम पर पहुँच गया कि यह प्रथा उतनी धार्मिक नहीं है, जितनी कि सामाजिक है। उसने लार्ड एमहर्स्ट को प्रेरणा की कि वह सती-दाह को रोकने का यत्न करे, परन्तु उस गवर्नर-जनरल में इतनी हिम्मत नहीं थी, इसलिए वह कुछ न कर सका। जब लार्ड विलियम बैंण्टिक भारत में आया, तब बंगाल के शिक्षित समाज में सती-प्रथा के विरुद्ध हल्का-सा लोकमत पैदा हो चुका था। बैंण्टिक के अपने मन में सुधारणा का उत्साह भी था। राजा राममोहन राय और उसके साथियों से सहायता मिल जाने के कारण उस उत्साह को पुष्टि मिल गई, और १८२९ में राजनियम द्वारा सती-प्रथा का निषेध कर दिया गया। उस नियम द्वारा सती होना, और उसके प्रेरक या साक्षी होना अपराध करार दे दिया गया।

गवर्नर-जनरल ने कुछ और कुरीतियों पर भी प्रहार किया। उड़ीसा के खोंड लोगो में मनुष्यों की बलि दी जाती थी। राजपूताना, अजमेर और खानदेश में स्त्रियों की बिक्री प्रचलित थी, राजपूताने और काठियावाड़ के राजपूतों में बच्चों को और विशेषतः लड़कियों को मार डालने का रिवाज था। लार्ड बैंण्टिक ने उन सबके विरुद्ध आज्ञायें प्रचारित कर दी।

लार्ड बैंण्टिक ने एक और प्रशंसनीय कार्य किया। उस समय भारत में ठगों का बहुत ज़ोर था। ठगों का एक सम्प्रदाय-सा बन गया था, जो काली का उपासक था। उसमें हिन्दू भी सम्मिलित थे, और मुसलमान भी। उन लोगों की कार्य-विधि यह थी कि पहले मुसाफ़िरों पर अपना विश्वास जमा लेते थे, और फिर अकेले में ले जाकर गले में रूमाल डालकर ऐसा घोंटते थे कि मर जाय। कभी-कभी ठगों का गिरोह यात्रियों की मण्डली को मारकर लूट लेता था। बैंण्टिक ने उनके दमन के लिए एक विशेष अंग्रेज अफ़सर नियुक्त किया, जिसने बहुत सी सेना की सहायता से बड़े-बड़े ठगों को या तो मार डाला या पकड़ लिया। ठगों के दल टूट गये। जबलपुर में एक कारीगरी का स्कूल खोला गया जहाँ ठगो के बच्चों को शिक्षा देकर कारीगरी द्वारा अपना पेट भरने योग्य बना दिया जाता था।

बैंण्टिक के समय, अंग्रेज़ी सरकार ने भारतवर्ष में शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी को करने और पाठ्य-विषयों में पश्चिम के विज्ञान, दर्शन, साहित्य आदि को प्रधानता देने की नीति का निर्धारण किया। कुछ लोगों की सम्मति थी कि अंग्रेजों की वह नीति भारत के लिए लाभदायक थी, और कुछ लोग उसे भारतीयता का घातक समझते थे। इसी आधार पर बैंण्टिक और उसके पृष्ठपोषक लार्ड मैकाले की भूरिभूरि प्रशंसा भी हुई है और भरपेट निन्दा भी। इस विषय का विस्तृत विवेचन हम अगले अध्याय में करेंगे।

लार्ड बैंण्टिक की विदेशों तथा रियासतों से सम्बन्ध रखने वाली नीति उतनी स्पष्ट और साहसपूर्ण नहीं थी, जितनी सामाजिक नीति। उसकी नीति की मुख्य विशेषता यह थी कि वह बड़े युद्ध से बचता था। यों ब्रिटिश राज्य की सीमाओं को आगे बढ़ाने या रियासतों को हड़पने की नीति का वह विरोधी नहीं था। उद्देश्य तो लगभग उसका भी वही था, जो लार्ड हेस्टिंग्ज़ का, परन्तु परिस्थिति और स्वभाव के अनुसार उसकी कार्यनीति पृथक् थी।

ऊपर से कहने को वह रियासतों के साथ उदासीनता की नीति बर्तता था, परन्तु

अवसर मिलने पर उनमें हस्तक्षेप करने या उन्हें अंग्रेज़ी हुकूमत में मिलाने से नहीं चूकता था। माईसूर में कुछ गड़बड़ हुई। दंगों के कारण शासन का कार्य कठिन हो गया। राजा को शान्ति स्थापित करने में सहायता देने के स्थान पर गवर्नर-जनरल ने १८३१ में पदच्युत कर दिया, और रियासत का प्रबन्ध अंग्रेज़ कमिश्नर के सुपुर्द कर दिया।

१८३२ में बंगाल के सीमाप्रान्त की छोटी-सी 'कचर' नाम की रियासत को भी ब्रिटिश राज्य में मिला लिया गया।

कुर्ग में भी यही हुआ। वहाँ के राजा को अयोग्य ठहराकर पदच्युत कर दिया गया और रियासत को मद्रास प्रान्त का एक भाग बना दिया गया। यह ठीक है कि इन सभी राजाओं में दोष थे, पर दोष तो अन्य रियासतों में भी थे। यह लार्ड बैंण्टिक की मनोवृत्ति का सूचक है कि उसने छोटी और अशक्त रियासतों पर ही सीधा प्रहार करने का साहस किया।

बड़ी रियासतों में हस्तक्षेप तो किया, परन्तु डरते-डरते और दूर-दूर से। अवध के राज्य में घोर अन्धेरगर्दी चल रही थी। लार्ड विलियम बैंण्टिक जब उत्तर दिशा के दौरे पर निकला, तब लखनऊ भी गया, और वहाँ नवाब को काफ़ी कड़ी चेतावनी दी। उधर नवाब ने यह शिकायत की कि अंग्रेज़ रेज़ीडेण्ट उसके शासन-कार्य में अनावश्यक और अनुचित दस्तंदाजी करके व्यवस्था को बिगाड़ते रहते हैं। उस समय तो बात यहीं तक रह गई, पर वह चेतावनी अवध के अन्तरिक्ष पर आने वाले भारी तूफ़ान की सूचिका अवश्य थी।

जब बड़ौदा, इन्दौर और ग्वालियर की रियासतों में उत्तराधिकार के झगड़े उत्पन्न हुए तब लार्ड बैंण्टिक की सरकार ने उनमें हल्का-सा हस्तक्षेप करके अपने अनुकूल उत्तराधिकारी को गद्दी पर बिठाने का प्रयत्न किया। इस प्रकार इस शान्ति-प्रेमी गवर्नर-जनरल ने शान्त उपायों से उस लक्ष्य की पूर्ति का यत्न किया, जिसे वैलज़ली और हेस्टिंग्ज़ जैसे गवर्नर-जनरल हथियारों के बल से करना चाहते थे। उसने अवसर पाकर छोटी देशी रियासतों का अंग्रेज़ी राज्य में विलय कर लिया, और बड़ी रियासतों में अपने अनुकूल शासक नियत करने की चेष्टा की।

उस समय के अंग्रेज़ी प्रदेश से बाहर लार्ड बैंण्टिक की जो नीति रही, उसे शान्तिपूर्वक आगे बढ़ने की नीति ही कह सकते हैं।

१८०९ में अंग्रेज़ों ने महाराज रनजीतसिंह से जो सन्धि की थी, उससे महाराज को निर्विरोधरूप से शक्ति बढ़ाने का पर्याप्त अवसर मिल गया। यूरोपियन अफ़सरों की सहायता से उसने अपनी सेना को भली प्रकार नियन्त्रित और युद्ध-कुशल बना दिया। सिक्ख योद्धाओं की धाक चारों ओर फैल गई थी। सारे पंजाब पर तो उसका पूरा अधिकार हो ही गया था, महाराज ने अटक को भी जीत लिया, जिससे उसके राज्य की सीमा भारत की सीमा से जा मिली। मुल्तान, काश्मीर और पेशावर पर विजय प्राप्त कर लेने से उसका यश पंजाब की सीमाओं से बहुत दूर तक फैल गया था। उसके वीर सेनापति हरिसिंह नलुआ के नाम की धाक अटक के सरहद्दी इलाके में ऐसी बैठ गई थी कि वहाँ के निवासियों की स्त्रियाँ अपने बच्चों को डराने के लिए हरिसिंह नलुआ का नाम लेने लगी थीं। उसकी जीत का डंका एक ओर

अफ़ग़ानिस्तान की सीमाओं से और दूसरी ओर सिन्ध के इलाके से टकरा रहा था।

सिक्ख-अंग्रेज़ सन्धि को दोनों ही पक्ष अपने लिए लाभदायक मानते थे। रनजीतसिंह अंग्रेज़ों की शक्ति को भली प्रकार जानता था। उसकी नीति यह थी कि अंग्रेज़ों को सन्तुष्ट रखकर अपनी शक्ति को बढ़ाया जाय। उस समय अंग्रेज़ों का स्वार्थ भी रनजीतसिंह की शक्ति को बनाये रखने में था। यह पुरानी रिवायत थी कि भारत के शासक को उत्तर-पश्चिम के पहाड़ी दर्रों से सदा डरना चाहिए। अंग्रेज़ उस समय किसी भावी अहमदशाह दुर्रानी के सीधे आक्रमण से बचे रहने के लिए रनजीतसिंह को बहुत उपयोगी समझते थे। लार्ड बैंण्टिक के समय में अंग्रेज़ों के सिर पर रूस का भय भी सवार होने लगा था। उस भय का यह असर हो रहा था कि वह अपनी उत्तरीय सीमा को दृढ़ करने की ओर अधिक ध्यान दे रहे थे।

लार्ड बैंण्टिक का रोपड़ जाकर महाराज रनजीतसिंह से मिलना उसी रूसी भय पर आश्रित नीति का एक भाग था। १८३१ में गवर्नर-जनरल ने पंजाब के रोपड़ नामक शहर में महाराज से भेंट की। दोनों का मिलन काफ़ी प्रेममय हुआ। दोनों ओर से अमर सन्धि और व्यापारिक सहयोग के वायदे किये गये।

१८३२ में अंग्रेज़ी सरकार सिन्ध के अमीरों से सन्धि करने में सफल हो गई। बहुत समय से अंग्रेज़ों की गृद्ध-दृष्टि सिन्ध नदी पर लगी हुई थी। वे उसे अपने राज्य की उत्तरीय सीमा का एक सम्भावित रक्षा-दुर्ग भी मानते थे और व्यापार-वृद्धि का साधन भी। सिन्ध में तब कई अमीरों का शासन था। जब अंग्रेज़ों की ओर से व्यापारिक कामों के लिए सिन्ध नदी को खोलने का प्रस्ताव उपस्थित किया गया, तब पहले तो अमीर बहुत घबराये, परन्तु अन्त में अंग्रेज़ी कूटनीति की जीत हुई। साम, दाम, दण्ड और भेद—चारों उपायों के प्रयोग से अनिच्छा परास्त कर दी गई, और अन्त में सिन्ध के मुसलमान शासकों ने उस सन्धि को स्वीकार कर लिया, जो कुछ वर्षों के पश्चात् सिन्ध की स्वाधीनता के लिए मौत का परवाना सिद्ध हुई।

पचासवाँ अध्याय

भारत पर अंग्रेज़ी कैसे लादी गई ?

जब अंग्रेज़ भारतवर्ष में आये, तब यहाँ प्रारम्भिक शिक्षा देने की बहुत सरल और प्राचीन प्रथा प्रचलित थी। लगभग प्रत्येक शहर और गाँव में पाठशालायें थीं। जहाँ पण्डित पढ़ाता था, उसे चटशाला या टोल कहते थे, और जहाँ मौलवी पढ़ाता था वह मदरसा कहलाता था। वह पाठशालायें या तो चौपाल, मन्दिर या मस्जिद में होती थीं, अथवा पण्डित या मौलवी के घर में। अध्यापक के निर्वाह की व्यवस्था गाँव के लोग करते थे, और उसकी सेवा-सुश्रूषा छात्रों के जिम्मे रहती थी। इस प्रकार बहुत सादे ढंग पर, व्यापक रूप से, देश के बच्चों को आरम्भिक शिक्षा मिल जाती थी।

ऊँची शिक्षा प्राप्त करने के लिए छात्रों को शिक्षा के बड़े केन्द्रों में जाना पड़ता था। संस्कृत की ऊँची शिक्षा के लिए बनारस, मिथिला, और नवद्वीप और अरबी-फ़ारसी की ऊँची शिक्षा के लिए दिल्ली, आगरा, पटना, जौनपुर आदि के नगर प्रसिद्ध थे। दूर-दूर से लोग वहाँ योग्यता प्राप्त करने के लिए जाते थे। देश के अधिक भागों में उस समय राज-भाषा फ़ारसी थी, इस कारण रोजगार के लिए लोग फ़ारसी पढ़ते थे। धार्मिक योग्यता प्राप्त करने के लिए संस्कृत और अरबी का अध्ययन किया जाता था। पाठशालायें और मदरसे साधारण जनता की सहायता से और ऊँची शिक्षा देने वाले शिक्षालय शासकों की या बड़े धनियों की सहायता से चलते थे।

इस प्रकार सरल और सस्ते ढंग से भारत की साधारण और मध्यम दर्जे की प्रजा शिक्षा प्राप्त कर लेती थी।

यूरोपियन लोगों के भारत में प्रवेश करने के साथ यहाँ के जीवन के हरेक अंग पर बुरा प्रभाव पड़ने लगा। हम देख आये हैं कि ज्यों-ज्यों विदेशी शासन फैलता गया, त्यों-त्यों देश की कारीगरी मरती गई। फलतः साधारण प्रजा ग़रीब होने लगी। जिन प्रान्तों में स्थायी बन्दोबस्त प्रचलित हो गये उनमें जहाँ जमींदार श्रेणी के पास धन इकट्ठा होने लगा, वहाँ किसान लोग ग़रीब होने लगे। रात-दिन फ़ौजों की भाग-दौड़ के कारण भी ग्रामों की दशा बिगड़ने लगी। परिणाम यह हुआ कि जहाँ-जहाँ यूरोपियन लोगों के चरण पड़ते गये, वहाँ-वहाँ के शेष सामाजिक संगठन के साथ ही साथ शिक्षा की प्राचीन योजना भी टूटती गई। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारत की यह दशा हो गई थी कि पुराना शीराजा बिखर चुका था, और नया बनने की कोई सूरत नहीं दिखाई देती थी। देश में अभी व्यायक जागृति उत्पन्न नहीं हुई थी।

खाली मैदान में शिक्षक बनकर सबसे पहले पादरी उतरे। पुर्तगाल के जैस्विट पादरियों ने ऐसे स्कूल खोले जिनमें पुर्तगाली बच्चों के अतिरिक्त भारतीय बच्चों को भी ईसाई धर्म

की शिक्षा देनी प्रारम्भ की। भारतवासी बच्चों को शिक्षा देने का माध्यम उन स्कूलों में मुख्य रूप से लोकभाषा को ही रक्खा जाता था। उनके पश्चात् डेन पादरियों ने मद्रास प्रान्त में उसी शैली पर स्कूल खोले, जिनमें तमिल भाषा में बाइबिल पढ़ाई जाती थी। उन्नीसवीं सदी आरम्भ होने पर यह परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी कि भारत में अन्य सब यूरोपियन देशों को परास्त करके इंग्लैण्ड ने अपना प्रभाव बहुत से प्रान्तों में स्थापित कर लिया था। फलतः अन्य देशों के पादरियों द्वारा चलाये हुए स्कूल भी अंग्रेज़ मिश्नरी सोसाइटियों के हाथों में आ गये।

अंग्रेज़ी सरकार की ओर से पहला शिक्षणालय १७८१ में खोला गया। वारेन हेस्टिंग्ज़ ने, अपने शासन में, पढ़े-लिखे मुसलमानों की सहायता प्राप्त करने के लिए कलकत्ते में 'मदरसा' स्थापित किया, जिसमें अरबी और फारसी की शिक्षा दी जाती थी। १० साल बाद, सरकार के शिक्षित सहायक और कर्मचारी तैयार करने के लिए बनारस में संस्कृत कालिज की नींव डाली गई। उस समय, ईस्ट इण्डिया कम्पनी, अपने कार्य की पूर्ति के लिए ऐसे शिक्षित भारतवासियों की आवश्यकता समझती थी, जो अरबी, फारसी और संस्कृत के अच्छे जानकार होने के साथ-साथ अंग्रेज़ों के हितैषी हों। उस समय के सरकारी शिक्षणालय मुख्य रूप से इसी उद्देश्य से खोले गये थे। कम्पनी भारतवासियों को ईसाई बनाने को उत्सुक नहीं थी। इस कारण वह ईसाई मिश्नरियों के शिक्षा या प्रचार सम्बन्धी प्रयत्नों को बहुत अच्छी दृष्टि से नहीं देखती थी। कम्पनी के बोर्ड ऑव डायरेक्टर्स का यह निश्चित मत था कि भारतवासियों को अंग्रेज़ी भाषा या वाङ्मय का ज्ञान कराने से कोई लाभ न होगा, उलटी हानि हो सकती है। इंग्लैण्ड में उस समय प्रायः कहा जाता था कि शिक्षा देकर हम अमरीका के उपनिवेशों को खो चुके हैं, अब भारत में उस परीक्षण को दुहराना नहीं चाहते। ऐसे अंग्रेज़ हिन्दुस्तानियों को अंग्रेज़ी भाषा या पाश्चात्य वाङ्मय की शिक्षा देना नीति-विरुद्ध समझते थे।

उनके अतिरिक्त ऐसे अंग्रेज़ों की भी कमी नहीं थी जिनका विश्वास ही ऐसा था कि भारत पर अंग्रेज़ी को लादना आवश्यक है, क्योंकि स्वयं इनके पास भाषा, साहित्य और धार्मिक विचारों का बहुमूल्य कोष विद्यमान है। सर टामस मनरो ने लिखा है कि 'यदि भारत और इंग्लैण्ड में सभ्यता के लेनदेन का व्यापार होने लगे, तो इंग्लैण्ड में जो माल से भरा जहाज़ आयगा उससे इंग्लैण्ड को लाभ ही रहेगा।'

ऐसे अंग्रेज़ों की संख्या कम थी, परन्तु उनका प्रभाव कम नहीं था। यद्यपि १८१३ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी को जो नया चार्टर मिला, उसमें यह निर्देश था कि कम्पनी न्यून से न्यून एक लाख रुपया प्रतिवर्ष देशवासियों की शिक्षा पर खर्च किया करे, परन्तु वस्तुतः १८२३ तक कम्पनी ने इस दिशा में कोई विशेष क़दम नहीं उठाया। अरबी, फारसी और संस्कृत की कुछ पुरानी किताबें छापने के अतिरिक्त शिक्षा सम्बन्धी कोई कार्य नहीं किया।

इसी बीच में पादरियों का प्रयत्न जारी रहा। वे जहाँ जाते वहाँ स्कूल खोलते, किताबें छापते और प्रिंटिंग प्रेस चलाते। उनके स्कूलों में अंग्रेज़ी और देशी भाषा दोनों की

शिक्षा दी जाती थी।

यह परिस्थिति थी, जब १८२३ में सर्वसाधारण की शिक्षा के लिए एक जनरल कमेटी बनाई गई। यह जनरल कमेटी भी वस्तुतः उस जागृति का परिणाम थी, जो देश में, और विशेषतः बंगाल में उत्पन्न हो चुकी थी। हम देख आये हैं कि राजा राममोहन राय और उनके कुछ साथी भारत में अंग्रेज़ी शिक्षा जारी करने के प्रबल समर्थक थे। १८१७ में राम-मोहन राय, राधाकान्त देव और डेविड हेयट के सम्मिलित उद्योग से कलकत्ते में जो हिन्दू कालिज स्थापित हुआ था, वह अच्छी उन्नति कर रहा था। उसमें छात्रों की संख्या बढ़ रही थी। राजा राममोहन राय को भारत में अंग्रेज़ी शिक्षा का अग्रदूत माना जाता है। वे सरकार की इस नीति के विरोधी थे कि शिक्षा के कार्यक्रम को केवल पूर्वीय पुस्तकों के प्रकाशन या शिक्षण तक ही परिमित रखा जाय। उनका दृष्टिकोण यह था कि जहाँ एक ओर भारत-वासियों के विचारों को उदार और उन्नतिशील बनाने के लिए अंग्रेज़ी पढ़ाना आवश्यक है, वहाँ अंग्रेज़ी राज्य के ऊँचे पदों तक पहुँचने के लिए भी अंग्रेज़ी ज्ञान की आवश्यकता है। यदि हम देश की उस समय की अन्धकारपूर्ण स्थिति को ध्यान में रखकर विचार करें, तो यही परिणाम निकलेगा कि राममोहन राय और उनके साथियों का मत ठीक था। उस समय के चट्टान की तरह दृढ़ कुसंस्कारों को भारी ठोकर लगाना आवश्यक था। वे लोग समझते थे कि ऐसी ठोकर केवल अंग्रेज़ी शिक्षा से लग सकती है, अन्यथा नहीं। कहा जा सकता है कि उनका यह मत भ्रमात्मक था कि आन्तरिक सुधार का एकमात्र साधन अंग्रेज़ी शिक्षा है। परन्तु यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उनका उद्देश्य अच्छा था। अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रयोग से उन्हें आशा थी कि देश में मानसिक जागृति होने के साथ-साथ भारत-वासियों को राजकाज में ऊँचे पद प्राप्त करने का अवसर मिल जायगा।

इस प्रकार की विचारधारा रखने वाले लोग उस समय के वाद-विवाद की भाषा में आङ्गलवादी (Anglicist या Occidentalist) कहलाते थे, और सर टामस मनरो जैसे भारतीय ग्रन्थों की शिक्षा के पक्षपातियों को पौरस्त्यवादी (Orientlist) कहा जाता था। ये दोनों मत साथ-साथ चल रहे थे, जब लार्ड विलियम बैण्टिक ने शासन की बाग़डोर सँभाली। वह आंग्ल शिक्षा का पक्षपाती था। उसने अपनी सहायता के लिए एक ऐसे व्यक्ति का सहारा लिया, जिसने अपनी योग्यता, लेखन-पटुता और सामाजिक प्रभाव के कारण आंग्लवादी पक्ष का पलड़ा भारी कर दिया। उसका नाम लार्ड मैकाले था। भारत में अंग्रेज़ी के दौरदौरे के साथ मैकाले का नाम अटूट सम्बन्ध से जुड़ा हुआ है।

भारत में गवर्नर-जनरल की कौंसिल का कानूनी सदस्य (Law Member) बन कर आने से पूर्व इंग्लैण्ड में लेखक और वक्ता की हैसियत से विख्यात हो चुका था। उसकी गिन्ती अपने समय के चोटी के कुछेक अंग्रेज़ी लेखकों में की जाने लगी थी। १८३३ के इण्डिया ऐक्ट में गवर्नर-जनरल की कौंसिल में लॉ-मेम्बर की वृद्धि की गई थी। उस पर लार्ड मैकाले को नियुक्त किया गया।

उन दिनों भारत में आंग्लवादियों और पौरस्त्ववादियों का विवाद ज़ोर पर था।

सार्वजनिक शिक्षा के सम्बन्ध में जो जनरल कमेटी बनाई गई थी, उसमें तब तक पौरस्त्य-वादियों की प्रबलता थी। लार्ड विलियम बैंण्टिक ने लार्ड मैकाले को जनरल कमेटी का अध्यक्ष नियत करके अंग्रेज़ी के पक्ष को भारी कर दिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि जब अन्तिम निर्णय का समय आया तब दोनों ओर बराबर मत आये, जिस पर कमेटी के अध्यक्ष लार्ड मैकाले के अतिरिक्त मत से आंग्लभाषा के पक्ष में निर्णय हुआ।

उस समय जनरल कमेटी के अध्यक्ष ने अपने अतिरिक्त मत से जो निर्णय दिया, वह अगले सौ वर्षों के लिए भारत के माथे पर मानो 'भाग्य की रेखा' बन गया। अगली शताब्दी में देश की भली या बुरी जैसी भी प्रगति हुई, उसमें उस निर्णय का बहुत बड़ा भाग था। जनरल कमेटी के निर्णय का सार यह था कि कम्पनी भारतवासियों की शिक्षा पर जितना भी ख़र्च करना चाहे, वह अंग्रेज़ी भाषा और पाश्चात्य विद्या—जैसे विज्ञान, भूगोल आदि पर करे। उस निश्चय से संस्कृत, अरबी या देशी भाषाओं की सर्वथा उपेक्षा कर दी गई थी। राजा राममोहन राय आदि सुधारक, अंग्रेज़ी की शिक्षा तो चाहते थे परन्तु देशी भाषाओं का सर्वथा बहिष्कार नहीं चाहते थे। लार्ड मैकाले के नेतृत्व में जनरल कमेटी ने जो निश्चय किया, उसमें देशी भाषाओं की पूरी उपेक्षा की गई थी।

लार्ड मैकाले को उस समय की निर्णीत शिक्षा-नीति का मुख्य वकील और उद्भावक माना जाता है। उस नीति की पृष्ठभूमि क्या थी, यह पूरी तरह जानना हो तो हमें लार्ड मैकाले के उस प्रसिद्ध विवरणपत्र (मिनट) का अध्ययन करना चाहिए, जो उन्होंने निचश्य से पहले प्रकाशित किया है। यहा हम केवल कुछ उद्धरण देकर उसके अभिप्राय को प्रकट करेंगे—

उस समय तक कम्पनी की ओर से अरबी और संस्कृत के प्रामाणिक ग्रन्थों का प्रकाशन किया जाता था। उस पर लार्ड मैकाले ने लिखा था—

"आजकल हम ऐसी किताबों को प्रकाशित करने की संस्था बने हुए हैं, जिनका उतना भी मूल्य नहीं, जितना उस कोरे कागज का था, जिस पर वह किताब छापी गई है। आजकल हमारा काम बेहूदा इतिहास, बेहूदा अध्यात्मशास्त्र, बेहूदा पदार्थ-विज्ञान, और बेहूदा धर्म-शास्त्र को कृत्रिम प्रोत्साहन देना है।"

कुछ यूरोपियन विद्वानों और कम्पनी के ऊँचे अफ़सरों ने भारत की संस्कृति और साहित्य की प्रशंसा की थी। उस पर मैकाले ने यह टिप्पणी की थी—

"मैं पूर्व के वाङ्मय के सम्बन्ध में पौरस्त्यवादियों की सम्मति को ही मानने को तैयार नहीं हूँ। उनमें से मुझे एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं मिला जो इस बात से इन्कार करे कि यूरोप के अच्छे साहित्य की एक अलमारी हिन्दुस्तान और अरब के सारे साहित्य के बराबर कीमत रखती है।"

यह थी पृष्ठभूमि, जिस पर मैकाले ने अपना कल्पनामय चित्र खेंचा था। उसने १८३३ के चार्टर पर पार्लमेण्ट में जो भाषण दिया था उसमें कहा था—'मै चाहता हूँ कि भारत में यूरोप के सब रीति-रिवाज जारी किये जायें और उससे हम अपनी कला और आचारशास्त्र, साहित्य और क़ानून का अमर साम्राज्य भारत में क़ायम करें, और इस उद्देश्य की पूर्ति के

लिए हम भारतवासियों की एक ऐसी श्रेणी उत्पन्न करें जो हमारे और उन करोड़ों के बीच में, जिन पर हमें शासन करना है दुभाषिये का काम दे, जिनके ख़ून तो हिन्दुस्तानी हों, परन्तु जो रुचि, कर्तव्याकर्तव्य सम्बन्धी सम्मति और बुद्धि में पूरे अंग्रेज़ हों।"

ऐसा करने से कुछ अंग्रेज़ों ने बहुत अनिष्ट की आशंका प्रकट की थी। उन्हें भय था कि कहीं अंग्रेज़ी पढ़कर हिन्दुस्तानी भी अमेरिकानिवासियों की तरह स्वाधीनता की माँग न करने लगें। उनका उत्तर देते हुए मैकाले ने पार्लियामेण्ट में कहा था—

"यह हो सकता है कि हमारी प्रणाली के प्रभाव से हिन्दुस्तान का ऐसा मानसिक विकास हो जाय कि वह उस प्रणाली की सीमाओं को पार कर जाय। हो सकता है कि अच्छा शासन करके हम अपनी प्रजा को और भी अधिक अच्छे शासन के योग्य बना दें, और यह भी सम्भव है कि यूरोप का ज्ञान प्राप्त करके, किसी दिन वे यूरोप की शासन-पद्धति माँगने लगें। मुझे मालूम नहीं कि वह दिन कभी आयगा या नहीं, परन्तु मैं इतना कह सकता हूँ कि यदि कभी ऐसा दिन आने वाला है तो म उसे रोकने या उसके रास्ते में रुकावटें डालने का यत्न नहीं करूँगा।"

ये उपर्युक्त उद्धरण हमने इस उद्देश्य से दिये हैं कि हम आंग्लीकरण के पक्षपातियों की नीति और उद्देश्यों के विषय में ठीक-ठीक सम्मति बना सकें। लार्ड मैकाले एक ज़ोरदार और प्रतिभाशाली लेखक था। उसके लेख में ओज रहता था, परन्तु यह निर्विवाद है कि वह ओज प्राय: अत्युक्तियों से भरी हुई भाषा के प्रयोग से उत्पन्न होता था।

लार्ड मैकाले की रचनाओं को पढ़कर बरबस मन पर यह प्रभाव पड़ता है कि इनका लेखक बहुत विद्वान् है, उसकी कल्पना-शक्ति बहुत प्रबल है, परन्तु उसमें न्यायपूर्ण सम्मति बनाने की शक्ति नहीं है। लार्ड मैकाले ने भारत की शिक्षा-पद्धति के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा, उसकी भी यही दशा है। पूर्वीय साहित्य के सम्बन्ध में उसने जो मत बड़े ज़ोरदार शब्दों में प्रकट किया, वह बिल्कुल असत्य था; उसके आधार पर जो शिक्षा-प्रणाली पेश की उसमें अर्द्धसत्य था, परन्तु उसके परिणाम के सम्बन्ध में मैकाले ने जो भविष्यवाणी की, वह कल्पना का विषय होने के कारण बिल्कुल सत्य निकली। इस कारण हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि भारत की शिक्षा के आंग्लीकरण का समर्थन करने में लार्ड मैकाले का उद्देश्य बुरा नहीं था, परन्तु उसने भारतीय साहित्य और भारत की दशा से सर्वथा अनभिज्ञ होने के कारण उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए जो उपाय निर्धारित किया, वह ग़लत था, अतएव उस नीति के एक शताब्दी भर के प्रयोग से जहाँ अवान्तर हानियाँ बहुत सी हुईं, वहाँ अन्त में मैकाले की भविष्यवाणी पूरी होकर रही।

हमारी सम्मति है कि यदि उस समय जनरल कमेटी यह निश्चय करके कि सरकार केवल अंग्रेज़ी शिक्षा पर व्यय किया करे, ऐसी व्यवस्था कर देती कि सरकार भारतीय भाषाओं के विकास और भारतीय वाङ्मय के शिक्षण के साथ-साथ आंग्ल भाषा और यूरोपियन शिक्षा को भी प्रोत्साहित करे, तो बहुत अच्छा होता। अब भारतीय प्रजा के मन को पूरी तरह विकसित होने में जो एक शताब्दी लगी, उसकी लम्बाई आधी रह जाती। भारत को १९४७

के स्थान पर १९०० में स्वाधीनता प्राप्त हो जाती ।

हमने मैकाले के विचारों का जो विवेचन किया है, उससे यह न समझना चाहिए कि सब अंग्रेज़ों का एक ही मत था। भारत में अंग्रेज़ी शिक्षा को प्रचलित करने में बोर्ड ऑव डायरेक्टर्स के मुख्य उद्देश्य दो थे । पहला उद्देश्य था, भारत में व्यापार की वृद्धि, और दूसरा उद्देश्य था सरकार के सस्ते नौकर तैयार करना । शिक्षा सम्बन्धी पब्लिक कमेटी के सामने बयान देते हुए कई ऐसे अंग्रेज़ों ने, जो भारत में रह चुके थे, यह सम्मति दी कि अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रभाव यह होगा कि हिन्दुस्तानी लोग यूरोपियन ढंग का रहन-सहन सीखेंगे, जिसमें शराब पीना भी शामिल होगा । फलतः भारत में अंग्रेज़ी वस्तुओं का प्रचार बढ़ेगा । बोर्ड के लिए यह युक्ति सबसे प्रबल थी, क्योंकि उसका मुख्य लक्ष्य ही पैसा कमाना था । दूसरा उद्देश्य सरकार के लिए सस्ते नौकर तैयार करना था । अंग्रेज़ों के पाँव भारत में जम गये थे । अब उन्हें यह विश्वास हो गया था कि उन्हें सदा के लिए इस देश की हुकूमत करनी है । इससे वह समझ रहे थे कि इतने बड़े राज्य को केवल विलायत से लाये हुए नौकरों के सहारे से नहीं चलाया जा सकता । लार्ड विलियम बैण्टिक ने ऊँची अदालतों की भाषा अंग्रेज़ी बना दी थी। और महकमों का बहुत सा काम अंग्रेज़ी में ही होता था । हिन्दुस्तानी लोग अंग्रेज़ों की अपेक्षा बहुत कम वेतन पर काम करने को तैयार हो जाते थे । यह सब कुछ सोच-विचार कर बोर्ड ने पब्लिक कमेटी की रिपोर्ट को अंगीकार करके यह निश्चय कर दिया कि भविष्य में सरकार अंग्रेज़ी शिक्षा को प्रोत्साहित करना अपना कर्तव्य समझेगी, और उसी पर व्यय करेगी ।

१८३३ में कम्पनी को जो नया चार्टर दिया गया उसका आधार भी यही था कि अब अंग्रेज़ों को स्थिर रूप से भारत पर शासन करना है । व्यापारियों के दिमाग़ में अब हुकूमत की बू पूरी तरह समा गई थी। नये चार्टर में कम्पनी से चीन के व्यापार की मानो थैली छीन ली गई । भारत के शासन में यह परिवर्तन किया गया कि गवर्नर-जनरल की कौंसिल में एक नया सदस्य बढ़ा दिया गया । लार्ड मैकाले को पहला क़ानून-सदस्य नियत किया गया । बम्बई और मद्रास की प्रेसीडेंसियों को निश्चित रूप से गवर्नर-जनरल के अधीन कर दिया गया, यह नया निश्चय किया गया कि भारत के बड़े शहरों में अंग्रेज़ लोग बस सकेंगे । उत्तरीय भारत में एक नई आगरा प्रेसीडेंसी की स्थापना हुई जिसकी राजधानी आगरा को बनाया गया ।

नये चार्टर का एक प्रशंसनीय पहलू भी था । यह निर्धारित किया गया था कि सरकारी नौकरियाँ देने में अंग्रेज़ों और देशवासियों (Natives) में कोई भेद नहीं किया जायगा ।

छप्पनवाँ अध्याय

अफ़ग़ान-युद्ध में अंग्रेज़ों की पराजय

१८३५ में लार्ड विलियम बैंण्टिक ने गवर्नर-जनरल के पद से त्यागपत्र दे दिया। अन्य कई गवर्नर-जनरलों की तरह उसे वापिस नहीं बुलाया गया, उसने स्वयं त्यागपत्र दिया, यह इस बात का प्रमाण था कि कम्पनी के संचालक उसकी नीति से प्रसन्न थे। उसने नया कोई युद्ध नहीं छेड़ा, और बहुत सी बचत की, जिसके कारण जहाँ देश में शान्ति रही, वहाँ कोष में पुष्कल धन इकट्ठा हो गया। जब बैंण्टिक ने शासन का काम सँभाला था, तब कोष में शून्य आकाश ही था।

बैंण्टिक के विलायत जाने पर आगरा प्रेसीडेंसी के नये गवर्नर-जनरल चार्ल्स मैटकॉफ़ ने अस्थायी रूप से गवर्नर-जनरल का पद सँभाला। मैटकॉफ़ को अपने शासन-काल में कोई विशेष कार्य करने का अवसर नहीं मिला। वह एक ही काम कर सका कि समाचारपत्रों पर जो अनेक क़ानूनी प्रतिबन्ध लगे हुए थे उन्हें एक आदेश द्वारा हटा दिया। यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि उस समय तक भारत में जो थोड़े से समाचारपत्र निकलते थे, उनका संचालन अंग्रेज़ ही करते थे। अभी भारतीय समाचारपत्रों का विकास नहीं हुआ था। इस कारण समाचारपत्रों की स्वाधीनता से विशेष लाभ ब्रिटिश पत्रकारों को ही हुआ।

१८३६ में नये गवर्नर-जनरल लार्ड आकलैण्ड ने भारत के शासन की बागडोर सँभाली। उसने लगभग १० वर्षों के पश्चात् ब्रिटिश साम्राज्य की सीमाओं के विस्तार की उस नीति को फिर से बड़े पैमाने पर जागृत किया, जिसे लार्ड विलियम बैंण्टिक ने सुला दिया था। उसने भारत की सीमाओं से भी आगे अफ़ग़ानिस्तान पर हाथ साफ़ करने की योजना बनाई।

अफ़ग़ानिस्तान का सम्बन्ध भारत से बहुत पुराना है। मौर्यकाल में वह भारत के साम्राज्य का ही एक भाग था। जब उत्तर के मुसलमान शासकों ने पहले-पहल भारत पर आक्रमण करने शुरू किये, तब उनका पहला संघर्ष राजा जयपाल से हुआ। राजा जयपाल का राज्य चिनाब के तट से लेकर अफ़ग़ानिस्तान की सीमाओं के अन्दर तक फैला हुआ था। मुग़लों के समय अफ़ग़ानिस्तान मुग़ल साम्राज्य का एक प्रान्त बन गया था। ज्यों-ज्यों मुग़ल साम्राज्य निर्बल होता गया, त्यों-त्यों अफ़ग़ानिस्तान की स्वतन्त्र सत्ता दृढ़ होती गई, वह यहाँ तक बढ़ी कि १७६१ में भारत पर उत्तर से जो अन्तिम बड़ा आक्रमण हुआ वह अफ़ग़ान के बादशाह अहमदशाह अब्दाली का था। पानीपत की तीसरी लड़ाई में अब्दाली विजयी हुआ, परन्तु घर की चिन्तायें उसे शीघ्र ही अफ़ग़ानिस्तान वापिस ले गईं, जिससे दिल्ली की गद्दी फिर मुग़ल कठपुतलियों की रंगस्थली बन गई। अहमद के उत्तराधिकारी आन्तरिक संघर्ष में फँसे रहे, और उनमें वह साहस और उमंग भी नहीं थी, जो विजेता में चाहिए, फलतः बहुत समय तक अफ़ग़ानिस्तान से भारत का सम्बन्ध कट-सा गया, और इसी बीच में

पंजाब में एक नई शक्ति का अभ्युदय हो गया। महाराज रनजीतसिंह ने अपनी वीरता, चतुराई और साहस के बल पर एक शक्तिशाली सिक्ख राज्य स्थापित कर दिया। रनजीत-सिंह की विजयों ने केवल अफ़ग़ानिस्तान से भारत पर आक्रमण करने का रास्ता ही नहीं रोक दिया, उन्होंने आगे बढ़कर पेशावर पर भी अधिकार जमा लिया।

यह स्थिति थी, जब लार्ड आकलैण्ड गवर्नर-जनरल के पद पर नियुक्त होकर भारत में आया। उन दिनों अंग्रेज़ों के दिमाग़ पर रूस का भूत सवार था। फ्रांस का भूत तो उतर चुका था, परन्तु साम्राज्यवादियों की यह विशेषता होती है कि उनके सिर पर कोई न कोई भूत सदा सवार रहता है। वाटर्लू के युद्ध ने अंग्रेज़ों के सिर पर से फ्रांस का बोझ उतार दिया, और उसी समय रूस का बोझ लाद दिया। १८३६ में अंग्रेज़ों को यह सपना आ रहा था कि अफ़ग़ानिस्तान के रास्ते से रूस की सेनायें भारत पर चढ़ाई कर रही हैं।

अफ़ग़ानिस्तान की परिस्थिति उस समय डाँवाँडोल थी। अहमदशाह अब्दाली के वंशज शाह शुजा को हराकर बरुकज़ाई वंश का दोस्त मुहम्मद अफ़ग़ानिस्तान का अमीर बन गया था। शाह शुजा भागकर भारत में आ गया था, और अंग्रेज़ों की संरक्षा में लुधियाने में रहता था। अंग्रेज़ों को यों ही अफ़ग़ानिस्तान की ओर से आक्रमण का डर लगा रहता था, फिर उन दिनों तो रूस का भूत भी सिर पर सवार था। १८३७ में ईरान की सेनाओं ने हीरात पर आक्रमण कर दिया। समझा गया कि उस आक्रमण में रूस का हाथ है। दोस्त मुहम्मद और अंग्रेज़ दोनों ही घबरा गये, और आपस में सुरक्षा की सन्धि करने की बातचीत शुरू हुई। दोस्त मुहम्मद रूस के विरुद्ध अंग्रेज़ों से सन्धि करने को तैयार था, परन्तु यह शर्त लगाता था कि अंग्रेज़ रनजीतसिंह से वापिस लेकर पेशावर उसे दे दें। रनजीतसिंह का सितारा उस समय शिखर पर था। अंग्रेज़ उसे नाराज़ नहीं करना चाहते थे। इधर से निराश होकर दोस्त मुहम्मद ने सहायता के लिए रूस की ओर दृष्टि उठाई, जिसका उत्तर रूस की ओर से तत्काल मिल गया। रूस का राजदूत काबुल में जा पहुँचा।



शाह शुजा

केवल इतनी बात पर आकलैण्ड ने अफ़ग़ानिस्तान पर आक्रमण करने का निश्चय कर दिया, या अफ़ग़ानिस्तान को जीतकर दूसरे वैल्ज़ली बनने की धुन ने उसे प्रेरित किया, यह निश्चय करना कठिन है। हमें तो दूसरा कारण ही प्रबल प्रतीत होता है। आकलैण्ड ने यह सोचा होगा कि अफ़ग़ानिस्तान की आन्तरिक दशा की निर्बलता से लाभ उठाकर उसे अपनी छत्रछाया में ले लेने का समय आ गया है। अपनी शुभ इच्छा का पूरा करने के लिए उसने

गवर्नमेण्ट के सेक्रेटरी मैक्नौटन को लाहौर भेजकर एक त्रिगुट सन्धि की। इस सन्धि में अंग्रेज़ रनजीतसिंह और शाह शुजा शामिल थे। उसका उद्देश्य यह था कि दोस्त मुहम्मद के स्थान पर शाह शुजा को अफ़ग़ानिस्तान की गद्दी पर बिठाया जाय। आकलैण्ड को आशा थी कि शाह शुजा अंग्रेज़ सरकार का फर्माबर्दार बनकर रहेगा, और उस हरे-भरे सुन्दर देश से अंग्रेज़ मनमाना लाभ उठा सकेंगे।



अमीर दोस्त मुहम्मद

त्रिगुट सन्धि बनाने के पश्चात् आक्रमण का श्रीगणश हुआ। उससे अधिक अकारण, स्वार्थपूर्ण और नासमझी का आक्रमण शायद ही कभी किया गया हो। अफ़ग़ानिस्तान एक स्वतन्त्र राज्य था। मित्रों के चुनने का उसके अमीर को पूरा अधिकार था। अंग्रेज़ों का उसने कोई अनिष्ट नहीं किया था। फिर आक्रमण क्यों ? नासमझी यह थी कि गवर्नर-जनरल ने अफ़ग़ानिस्तान को पका हुआ फल समझ कर एक दम खाने का निश्चय कर लिया। अफ़ग़ानिस्तान भारत का कोई प्रान्त नहीं था, जिसे चिरकाल की दासता ने फूट और निर्बल बना दिया हो। वहाँ के निवासी एक धर्म के मानने वाले, स्वतन्त्र वृत्ति के, हृष्ट-पुष्ट लड़ाके थे। कहा जाता है कि स्वयं इंग्लैण्ड के अनेक प्रभावशाली व्यक्ति इस आक्रमण के विरुद्ध थे, परन्तु उस समय के अंग्रेज़ शासकों की मनोवृत्ति का इससे अच्छा क्या प्रदर्शन हो सकता था कि आकलैण्ड ने चाहा, और बोर्ड से नाममात्र की मंजूरी लेकर एक स्वतन्त्र देश पर अनधिकृत आक्रमण कर दिया।

अफ़ग़ानिस्तान पर किये गये अंग्रेज़ों के उस आक्रमण की कहानी भारतवर्ष की अंग्रेज़ी सरकार की नृशंसता और पराजय की कहानी है। ब्रिटिश सेनायें अफ़ग़ानिस्तान में सिन्ध के रास्ते से घुसीं। सिन्ध तब तक स्वतन्त्र राज्य था। उसके अमीर नहीं चाहते थे कि ब्रिटिश सेनायें उनके प्रदेश में से जायें—परन्तु उन्हें डरा-धमका और झूठे वायदे करके चुप करा दिया गया। १८३९ में अंग्रेज़ी सेनायें अफ़ग़ानिस्तान में घुसकर ग़ज़नी को जीतती हुई काबुल जा पहुँचीं। दोस्त मुहम्मद को काबुल छोड़ना पड़ा। अंग्रेज़ी सरकार ने उसके स्थान पर शाह शुजा को अमीर की गद्दी पर बिठा दिया। इस सफलता को ऐसा महत्त्वपूर्ण समझा गया कि विलायत से पुरस्कारों की झड़ी लग गई। आकलैण्ड को अर्ल बना दिया गया, सेनापति कीन को लार्ड की उपाधि मिली, और सेक्रेटरी मैक्नौटन सर की उपाधि से विभूषित हुआ। भारत से इंग्लैण्ड तक ब्रिटिश हथियारों का डंका पीटा गया।

इसके पश्चात् अंग्रेज़ी सेनाओं पर दैव की मार पड़ने लगी। शाह शुजा अमीर तो बन गया, परन्तु पठान लोग उससे घृणा करने लगे। वह केवल अंग्रेज़ संगीनों के बल पर

शासक बना रह सकता था। यह दशा किसी भी शासक के लिए अत्यन्त संकटपूर्ण है। उसकी रक्षा के लिए लगभग सारी आक्रमणकारी सेना काबुल में ही रखी गई।

शाह शुजा और अंग्रेज़ सेना के चारों ओर असन्तोष का राज्य था। अफ़ग़ानिस्तान का बच्चा-बच्चा उनकी जान का दुश्मन बना हुआ था। स्थान-स्थान पर उपद्रव होने लगे, जिनकी लपटें काबुल तक पहुँचती थीं। इधर अंग्रेज़ सिपाहियों के अत्याचारों ने अफ़ग़ान लोगों में त्रास और क्षोभ फैला दिया था। गोरे सिपाही काबुल की सुन्दर स्त्रियों की खोज में घूमने लगे, यह कुप्रवृत्ति यहाँ तक बढ़ी कि कई प्रतिष्ठित पठान परिवारों की पवित्रता को भी नष्ट किया गया।

तब तो अफ़ग़ानिस्तान में चारों ओर विद्रोह की आग भड़क उठी। उधर लार्ड आकलैण्ड और उसके अफ़सर भूलों पर भूलें कर रहे थे। आकलैण्ड ने सेनापति पद पर एल्फिस्टन नाम के एक ऐसे व्यक्ति को नियुक्त कर दिया, जिसकी आयु बड़ी और सेहत ख़राब थी। उसने काबुल के महलों का बाला हिसार नाम का क़िला तो मौज से रहने के लिए शाह शुजा को दे दिया और अपनी सेनाओं को खुले मैदान में कैम्प लगाकर रखा। परिणाम जो होना था—वह हुआ। अफ़ग़ान जनता बिगड़ उठी, और अंग्रेज़ों पर टूट पड़ी। बर्न्स, जो अंग्रेज़ों की सेना का दिमाग़ समझा जाता था, घर से घसीटकर काट डाला गया। अंग्रेज़ गारद की कायरता की यह दशा थी कि बर्न की रक्षा के लिए एक भी संगीन न हिली। कन्धार आदि शहरों में फैली हुई अंग्रेज़ी सेना से मदद की अपील की गई, वहाँ से टका-सा जवाब मिला। अफ़ग़ानों की हिम्मत इतनी बढ़ गई कि उन्होंने अंग्रेज़ सेना का स्टोर लूट लिया। इस पर घबराकर अंग्रेज़ सेनापति ने जो सन्धि की, वह इतनी हीन थी कि उससे लड़कर मर जाना अच्छा होता। सुलह की शर्तें यह थीं कि अंग्रेज सेना अफ़गानिस्तान से निकल जाय, और उनका गुर्गा शाह शुजा या तो उनके साथ ही चला जाय, अथवा यदि चाहे तो पेन्शन लेकर अफ़ग़ानिस्तान में क़ैदी की तरह रहे। इस बातचीत के सिलसिले में दोस्त मुहम्मद के लड़के अकबर ख़ां ने अंग्रेज अफ़सर मैक्नौटन को बातचीत करने के बहाने से अलग बुलवाकर कत्ल करवा दिया। अंग्रेज सेनापति आत्मसम्मान और आत्मविश्वास खोकर इतना हीन हो चुका था कि वह इस बलात्कार को भी सह गया, और अपना बहुत सा सामान अफ़ग़ानों की भेंट करके १,६०० सिपाहियों के साथ भारत की सीमा की ओर रवाना हो गया।

समझौता यह हुआ था कि अकबर खां हारकर लौटती हुई सेना की रक्षा करेगा, परन्तु वह केवल धोखा था। लौटतीहुई अंग्रेज़ सेना पर पठान कबालिये ऐसे टूट पड़े जैसे लाश पर गीध टूटते हैं। हालत यहाँ तक पहुँची कि सेनापति एल्फिस्टन और अंग्रेज़ अफ़सरों को स्त्रियाँ और बाल-बच्चे बन्धक के तौर पर अकबर ख़ां के हाथ में दे देने पड़े, और शेष सिपाही मरने के लिए बर्फ़ीली सड़कों और कबायलियों की दया पर छोड़ दिये गये। अफ़ग़ानिस्तान को जीतने के लिए बड़ी धूमधाम से चढ़ी हुई अंग्रेज़ सेना की, नैपोलियन के नेतृत्व में रूस पर विजय पाने के लिए मास्को तक पहुँची हुई फ्रेंच सेना से भी अधिक दुर्दशा हुई। ६ जनवरी को काबुल से जो १,६०० सिपाही जलालाबाद की ओर चले थे, एक

सप्ताह पीछे उनका मृत्यु-समाचार सुनाने के लिए केवल एक बचा हुआ अंग्रेज़ डा० ब्राइडन भूखी और घायल दशा में लड़खड़ाता हुआ जलालाबाद के कैम्प में पहुँचा।

जब यह समाचार कलकत्ते में और वहाँ से होकर विलायत में पहुँचा तो अंग्रेज़ों पर मातम-सा छा गया, और साथ ही क्षोभ और क्रोध का एक तूफ़ान-सा उठ खड़ा हुआ। बेतहाशा रुपया खर्च करके, और सैकड़ों जाने गवाँकर मिला केवल पराजय और अपमान—इससे रुष्ट होकर बोर्ड ने लार्ड आकलैण्ड को विलायत वापिस बुला लिया। 'वापिस बुलाना' वस्तुतः 'पदच्युत' करने का शिष्ट नाम था। लार्ड आकलैण्ड के स्थान पर लार्ड एलिनबरा को, जो कई बार कम्पनी के बोर्ड ऑव डायरेक्टर्स का अध्यक्ष रह चुका था, परिस्थिति को सँभालने और सुलझाने के लिए गवर्नर-जनरल के पद पर नियुक्त किया गया।

नये गवर्नर-जनरल ने ई० १८४२ के फ़रवरी मास में काम सँभाला। उस समय यह परिस्थिति थी कि अंग्रेज़ फ़ौजें अफ़ग़ानिस्तान के हरेक मोर्चे पर हार रही थीं। हकलज़ाई में जनरल इंग्लैण्ड और गज़नी में जनरल पामर को मार खानी पड़ी थी, और कन्धार की सेनायें मुसीबत में फँसी हुई थीं। लार्ड एलिनबरा को इसके सिवाय मान-रक्षा का कोई उपाय न सूझा कि ब्रिटिश फ़ौजों को अफ़ग़ानिस्तान खाली करने की आज्ञा दी जाय। आज्ञा दे दी गई, परन्तु इसी बीच में काबुल में शाह शुजा की हत्या हो गई, जिससे चारों ओर अव्यवस्था फैल गई। उस अव्यवस्था से लाभ उठाकर, जाते-जाते पठानों को एक ठोकर मारने के लिए लार्ड एलिनबरा ने कुछ दिन पीछे अपनी आज्ञा को इस रूप में परिवर्तित कर दिया कि जनरल नौट यदि उचित समझे तो कन्धार से जलालाबाद को सीधा वापिस न आकर गज़नी और काबुल होता हुआ आये, जिसका अभिप्राय यह था कि जीत या हार की उत्तरदायिता जनरल नौट की हो गई, परन्तु गवर्नर-जनरल का आर्डर बहाल रहा। जलालाबाद की सेनाओं को लेकर जनरल पौलक भी नौट से जा मिला। दोनों सेनायें अफ़ग़ानों की बिखरी हुई सेनाओं को परास्त करती हुई, काबुल में जा पहुँचीं, और बाला हिसार पर ब्रिटिश झण्डा गाड़ दिया।

उस क्षणिक सफलता के समय अंग्रेज़ सिपाहियों ने फिर एक बार छिपी हुई क्रूर प्रवृत्तियों का परिचय दिया। उस अवसर पर अंग्रेज़ सिपाहियों ने काबुल में जो अत्याचार किये, उस पर टिप्पणी करते हुए स्वयं लार्ड वैलिंग्टन ने एलिनबरा को लिखा था—

"तुम्हें धन्यवाद देने से भी अधिक संकोच मुझे जनरल पौलक को धन्यवाद देने में है। मैं नहीं समझ सकता कि जो मनुष्य सिपाहियों की प्रवृत्ति जानता है वह उन्हें काबुल के बाज़ार और दो मस्जिदों को नष्ट करने की आज्ञा कैसे दे सकता है। क्या उसने यह नहीं सोचा था कि उस नाश से शहर भी लुटेगा और नष्ट होगा······"

इस प्रकार सभ्य कहलाने वाली अंग्रेज़ जाति की सेनायें अपनी ऊँची सभ्यता का झण्डा गाड़कर काबुल से भाग निकलीं। आती हुई वह दोस्त मुहम्मद को कैद से छोड़कर अमीर बनने के लिए स्वतन्त्र करती आईं।

लार्ड एलिनबरा ने इन शानदार कारनामों के उपलक्ष्य में विजय-दुन्दुभि बजाना

आवश्यक समझा। उसने इस विजयिनी सेना से मिलने के लिए कलकत्ते से फ़िरोजपुर तक की दौड़ लगाई। वहाँ सजे हुए विजय-सूचक द्वारों और बैण्ड-बाजों से उनका स्वागत किया गया। उस अवसर पर एलिनबरा ने जो घोषणा-पत्र निकाला वह आत्मप्रतारणा और जगत्प्रतारणा का एक बढ़िया नमूना है।

"हमारी विजयिनी सेना बड़ी धूमधाम से अफ़ग़ानिस्तान से सोमनाथ के मन्दिर के वह द्वार लेकर आई है, जिन्हें महमूद की भग्न की गई कब्र ग़ज़नी के खंडहरों को दुःखभरी दृष्टि से देख रही है। ८०० वर्ष पहले का बदला ले लिया गया है।"

पीछे की छान-बीन से पता चला कि वह द्वार चन्दन की लकड़ी के नहीं थे, और न सोमनाथ के मन्दिर के थे। उन पर सुबुक्तगीन के समय का कोई अरबी का लेख था, जिससे अनुमान लगाया जा सकता है कि किसी इस्लामी इमारत से निकालकर लाये गये थे।

लार्ड आकलैण्ड ने जिस मूर्खतापूर्ण काण्ड का आरम्भ किया था, लार्ड एलिनबरा ने उसे द्विगुण मूर्खतापूर्ण ढंग से समाप्त किया। अफ़ग़ानिस्तान पर अंग्रेज़ों का वह पहला आक्रमण अनौचित्य, अदूरदर्शिता और अयोग्यता का बहुत ही भद्दा नमूना था। सोमनाथ के कल्पित द्वार सोमनाथ तक न पहुँचकर केवल आगरा तक पहुँचे, और वहाँ एक मालगोदाम में बन्द कर दिये गये।

बावनवाँ अध्याय

सिन्ध की स्वाधीनता का अपहरण

अफ़ग़ानिस्तान की वह मुहिम, जिसके द्वारा लार्ड आकलैण्ड ब्रिटेन की विजय-पताका ग़ज़नी और कन्धार पर फहराना चाहता था, ब्रिटेन के घोर अपमान में समाप्त हुई, और जिस व्यक्ति को यह कलंक का टीका माथे पर लगाना पड़ा, वह था लार्ड एलिनबरा। लार्ड एलिनबरा के हृदय में यह शूल कटकने लगा, और वह पराजय के अपमान को किसी चमकती हुई जीत से धोने का उपाय सोचने लगा।

उपाय आसानी से ही मिल गया। हम देख आये हैं कि अफ़ग़ानिस्तान पर आक्रमण करने के समय अंग्रेज़ सेनायें सिन्ध में से होकर सिन्ध नदी के मार्ग से उत्तर की ओर गई थीं। अंग्रेज़ों का ध्यान उससे पहने ही सिन्ध नदी की ओर खिंच चुका था। जब १८३१ में एलेग्जेण्डर वर्न्स ने काबुल से लाहौर को लौटते हुए सिंध नदी को देखा, तभी से उसके प्रवाह और गति को देखकर अंग्रेज़ों के मुँह से लार टपक रही थी। जब एक सय्यद ने सिन्ध नदी के तीर पर अंग्रेज़ की सूरत देखी तो वह कह उठा था—'हाय, अंग्रेज़ ने इस नदी को देख लिया, अब सिन्ध की खैर नहीं।' उन दिनों अंग्रेज़ों के यश का डंका इसी रूप में बज रहा था।

सिन्ध में उस समय अमीरों का राज्य था। वे अमीर बलूचिस्तान से आये हुए थे। उनकी तीन राजधानियाँ थीं—हैदराबाद, खैरपुर और मीरपुर। तीनों में अलग-अलग अमीरों का शासन था। अहमदशाह दुर्रानी के समय में वे अफ़ग़ानिस्तान के अधीन थे, परन्तु अब धीरे-धीरे लगभग स्वतन्त्र हो गये थे।

रनजीतसिंह ने जब अपने राज्य का विस्तार करना शुरू किया तो उसकी दृष्टि सिन्ध पर पड़ी। अंग्रेज़ों को यह मालूम हुआ तो उन्होंने रनजीतसिंह के इस मन्सूबे के मार्ग में अड़चनें डालीं, और यह बात सिन्ध के अमीरों को बताकर उनसे कृतज्ञता प्राप्त कर ली। वह कृतज्ञता इस रूप में प्रकट हुई कि अंग्रेज़ों ने अमीरों से सिन्ध नदी में व्यापारी जहाज़ों या किश्तियों को चलाने की अनुमति प्राप्त कर ली। १८३८ में अंग्रेज़ों ने रियायतों की एक और किश्त इस रूप में प्राप्त कर ली कि एक अंग्रेज़ रेज़ीडेण्ट सिन्ध में रहे। इस प्रकार एक के पीछे दूसरा क़दम रखती हुई अंग्रेज़ी सरकार सिन्ध प्रान्त के केन्द्र तक घुस गई।

१८३८ की सन्धि में एक शर्त यह भी थी कि सिन्ध नदी में अंग्रेज़ों के केवल व्यापारी जहाज़ चल सकेंगे, लड़ाई के जहाज़ नहीं। जब अफ़ग़ानिस्तान की लड़ाई के अवसर पर अंग्रेज़ों को सिन्ध के रास्ते सेनायें ले जाने की आवश्यकता अनुभव हुई तब सब अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के विरुद्ध, अंग्रेज़ी सरकार की ओर से अमीरों को केवल यह सूचना दे दी गई कि 'जब तक वर्तमान परिस्थिति रहेगी तब तक सन्धि की वह शर्त, जिसमें सिन्ध नदी द्वारा लड़ाई के सामान का लेना बन्द किया गया है, स्थगित रहेगी।' सन्धि दुतर्फ़ा होती है, नियम

यह कि उसे केवल एक पक्ष नहीं तोड़ सकता। परन्तु उस समय के अंग्रेज़ नियमों को नहीं मानते थे, उनकी सम्मति में सभ्य होने के कारण वह स्वयं ही नियम थे। अमीरों को सूचना मात्र देकर अंग्रेज़ों ने सिन्ध नदी को सेना भेजने का साधन बना लिया।

अफ़ग़ानिस्तान की पहली लड़ाई अंग्रेज़ों की अपमानजनक हार में समाप्त हुई। उस अपमान को धोने के लिए निर्बल शिकार की आवश्यकता थी। लार्ड एलिनबरा ने निश्चय किया कि वह शिकार सिन्ध है। अंग्रेज़ों की ओर से अमीरों को सर्वथा नष्ट कर देने की धमकी पहले से ही दी जा रही थी। जब शाह शुजा द्वारा अमीरों से पुराने कर की राशि की माँग की गई, अंग्रेज़ों में बीच-बचाव करके मामले को निपटा दिया, तब अमीरों को निम्नलिखित शब्दों में चेतावनी दी गई थी—

"ब्रिटिश सरकार के पास इतनी शक्ति है कि यदि साम्राज्य और उसकी सीमाओं की रक्षा के लिए आवश्यक समझा गया तो वह अमीरों को कुचलकर नष्ट करने में कोई संकोच न करेगी।"

भेड़ और भेड़िया की कहानी ऐसे ही दृष्टान्तों के लिए घड़ी गई है। आख़िर वह समय आ गया जब भेड़िये का दिल बेईमान हो गया। अंग्रेज़ सरकार ने अपने मन को यह विश्वास दिला दिया कि साम्राज्य और उसकी सीमायें ख़तरे में हैं अतः इस कारण अमीरों को कुचलकर नष्ट कर देना और सिन्ध को खा जाना चाहिए।

लार्ड एलिनबरा ने अपने अशुभ संकल्प की पूर्ति के लिए पहला काम यह किया कि हैदराबाद में अंग्रेज़ दूत को बदल दिया। वहाँ के रेजीडेण्ट मेजर जेम्स औटरम को ईमानदार और नर्म आदमी समझा जाता था, इस कारण उसके स्थान पर सर चार्ल्स नेपियर को रेजीडेण्ट के पद पर नियुक्त किया गया। नेपियर एक योग्य सेनापति था, परन्तु उसका स्वभाव अत्यन्त उग्र, अहम्मानी और झगड़ालू था। सबसे बड़ी बात यह थी कि वह लार्ड एलिनबरा का गहरा मित्र था।

कार्यसिद्धि के लिए दूसरा क़दम यह उठाया गया कि अमीरों पर यह आरोप लगाया गया कि वह गुप्त रीति से अंग्रेज़ों के विरुद्ध पत्र-व्यवहार करते रहे हैं। वे आरोप सच हैं या नहीं, इसका निर्णय सर जान नेपियर पर छोड़ दिया गया। उस योग्य न्यायाधीश ने बिना विशेष जाँच-पड़ताल के यह फ़ैसला दे दिया कि अमीर लोग अपराधी हैं; इस कारण सिन्ध पर से इनका प्रभुत्व हट जाना चाहिए।

इस शुभ उद्देश्य की पूर्ति के लिए अमीरों पर तीन दण्ड लगाये गये—(१) अमीर अपना अलग सिक्का न चला सकेंगे। सिन्ध के सिक्के पर इंग्लैण्ड के बादशाह की मूर्ति रहेगी। (२) सिन्ध नदी में चलने वाले अंग्रेज़ी जहाज़ों को ईंधन देना अमीरों का कर्तव्य होगा और (३) अंग्रेज़ी छावनी के खर्च की जो राशि अमीरों के नाम शेष है, उसके बदले में अंग्रेज़ी सरकार कुछ इलाके पर कब्जा कर लेगी। इस तीसरी शर्त को पूरा करने में इतनी उतावली की गई कि अमीरों की अनुमति की प्रतीक्षा किये बिना ही अंग्रेज़ी फ़ौजें सिन्ध के प्रसिद्ध क़िले ईमानगढ़ पर चढ़ गईं, और उसे तोड़-फोड़ डाला।

सिन्ध के बेचारे अमीर इस सीनाज़ोरी से घबरा गये, और उनकी प्रजा क्रोध में आकर बेकाबू हो गई। बहुत सी भीड़ रेज़ीडेंसी पर चढ़ गई। मेजर औटरम यदि भागकर स्टीमर पर शरण न ले लेता तो उसका बचना कठिन था। बस अब तो नैपियर को पूरा बहाना मिल गया। १७ फ़रवरी, १८३९ को सिन्ध के अमीरों के विरुद्ध खुली युद्ध-घोषणा कर दी गई। मियानी में दोनों सेनाओं की लड़ाई हुई। अमीरों की सेना में ३०,००० सिपाहियों की भीड़ थी, और नैपियर की सेना में ३,००० नियन्त्रित सिपाही थे। सिन्धी सेना पूरी तरह पराास्त हो गई। उसके ५,००० के लगभग सैनिक घायल हुए या मारे गये। इस प्रकार कोरी शक्ति के प्रयोग से भेड़ों पर भेड़िये की जीत हो गई। अन्त में हैदराबाद को ख़ूब जी भरकर लूटा गया। लूट में से ७० हज़ार पौण्ड की राशि सर चार्ल्स नैपियर की जेब में चली गई, कुछ रक़म सर जेम्स औटरम को भी पेश की गई, परन्तु उसने उसे रखने से इन्कार कर दिया।

सिन्ध-विजय की सबसे अच्छी व्याख्या स्वयं नैपियर ने की। उसने अपनी डायरी में लिखा था—

"हमें सिन्ध पर कब्ज़ा करने का कोई अधिकार नहीं। फिर भी हम कब्ज़ा करेंगे ही, और इसमें सन्देह नही कि हमारा काम ख़ूब साहसपूर्ण, और माननीय बदमाशी (Rascality) का होगा। मैं यहाँ जिस परिस्थिति में हूँ, वह मुझे पसन्द नहीं, हमें यहाँ (सिन्ध में) रहने का कोई अधिकार नहीं, और हमारे हाथ अफ़ग़ानों के ख़ून से रंगे हुए हैं।"
१८४३ में वैधानिक रीति से सिन्ध को ब्रिटिश राज्य में मिला लिया गया।

जब सिन्ध-दलन के पूरे समाचार विलायत पहुँचे तब वहाँ इसकी काफ़ी निन्दा हुई। कई अंग्रेज इतिहास-लेखकों ने उस सारी घटना को अंग्रेज़ जाति के लिए अत्यन्त लज्जाजनक बतलाया। सर जॉन के (Kaya) ने कलकत्ता रिव्यू में लिखा—

"अमीरों को जो सज़ा दी गई उसका असली कारण यह था कि अंग्रेज़ अफ़ग़ानों से पिट गये थे। उन्होंने यह दिखाना उचित समझा कि ब्रिटिश जाति भी किसी को पीट सकती है। बस इस कारण सिन्ध के अमीरों को पीट दिया गया।"

हैदराबाद पर कब्ज़ा करने के पश्चात् यूरोपियन सिपाहियों ने जो लूट मचाई, उसके विषय में फ्रेंच लेखक जी० पी० फेरियर (J. P. Ferrior) ने लिखा है—

"जनरल नैपियर के अफ़सर उन अभागी राजकुमारियों (अमीरों की स्त्रियों तथा लड़कियों) के अन्तःपुर में प्रविष्ट हो गये, और उनकी स्त्रियों के ख़ज़ाने, गहने और कपड़े तक छीन ले गये।"

इतिहास-लेखक इन्स (Innes) ने लिखा है कि—

"यदि अफ़ग़ान-काण्ड हमारे इतिहास की सबसे अधिक दुर्दशापूर्ण घटना है—तो सिन्ध काण्ड न्याय की दृष्टि से उससे भी अधिक अक्षम्य है।"

सिन्ध की विजय पर अपने संगी सर जेम्स औटरम ने नैपियर को लिखा था—

"मैं तुम्हारी इस नीति से परेशान हो गया हूँ। मैं यह तो नहीं कहूँगा कि तुम्हारी तलवार की नीति सर्वोत्कृष्ट है। हाँ, इतना अवश्य कह सकता हूँ कि यह झटपट परिणाम

पैदा करने वाली है। परन्तु ओह, मैं चाहता हूँ कि इसे तुम किसी बेहतर उद्देश्य की पूर्ति में प्रयुक्त करते।"

यों तो कम्पनी के बोर्ड ऑव डायरेक्टर्स ने भी नैपियर की नीति की निन्दा की, परन्तु उसके परिणाम—सिन्ध—को चुपके से पाकेट में डाल लिया और नैपियर को उसका पहला गवर्नर बना दिया। सिन्ध के अमीरों को सिन्ध से बाहर निकाल दिया गया।

लार्ड एलिनबरा ने १८४४ में भारत छोड़ने से पहले एक और कारगुज़ारी की। ग्वालियर के राजा दौलतराव सीन्धिया की मृत्यु पर उसकी विधवा ने एक लड़के को गोद ले लिया था। इस पर महलों में फूट पड़ गई और घर का झगड़ा जारी हो गया। झगड़ा यहाँ तक बढ़ा कि लड़ाई की नौबत आ गई। जब यह समाचार गवर्नर-जनरल को मिला, तब उसने इस आशय की घोषणा की कि मामला ऐसा नहीं कि इसकी उपेक्षा की जाय, क्योंकि इससे देश में अशान्ति फैल जाने का डर है और ब्रिटिश सेनायें स्थिति को क़ाबू करने के लिए भेज दीं। चम्बल नदी के समीप अंग्रेज़ और मराठा सैन्यों के दो युद्ध हुए, जिनमें मराठा हार गये। १९वीं सदी में ब्रिटिश सेना से हारने वाले का एक ही इनाम था—राजनीतिक दासता। वह ग्वालियर को मिल गई। ग्वालियर में रीजेंसी स्थापित कर दी गई। रियासत को छत्र-छाया के नीचे ले लिया गया।

तरेपनवाँ अध्याय

सिख राज्य में गृह-कलह

जिस समय अफ़ग़ानिस्तान पर आक्रमण करने से पहले अंग्रेजों ने महाराज रनजीतसिंह के साथ त्रिगुट सन्धि की थी, उस समय महाराज की शक्ति का सूर्य आकाश की चोटी पर था। पंजाब का बहुत बड़ा भाग उसकी प्रभुता को स्वीकार करता था, पेशावर और काश्मीर पर विजय प्राप्त कर लेने के पश्चात् उसकी युद्ध-शक्ति की धाक भारत भर पर बैठ गई थी, यही कारण था कि अंग्रेज़ उससे मित्रता रखने में अपना कल्याण समझते थे। मित्रता का एक यह भी कारण था कि वह अपने राज्य और दर्रे ख़ैबर के बीच में एक लोहे की दीवार खड़ी रखना चाहते थे, और वह थी महाराज रनजीतसिंह की खालसा सेना। अफ़ग़ानों से महाराज का जो विरोध-भाव चल रहा था, उसके आधार पर अंग्रेज़ों को यह विश्वास था कि सिख सिपाही अफ़ग़ानिस्तान तथा सिन्ध को दबाने में उनके सहायक हो सकेंगे। १८३८ के नवम्बर मास में लार्ड आकलैण्ड के फिरोज़पुर जाकर मिलने का यही महत्त्व था। हम कह सकते हैं कि महाराज रनजीतसिंह का यश और दबदबा उस समय अपनी चरम सीमा पर पहुँचा हुआ था।

महाराज रनजीतसिंह बहुत भाग्यशाली, वीर योद्धा और चतुर शासक था परन्तु दुर्भाग्य से वह अपने समय के प्रचलित दोषों से मुक्त नहीं था। उस युग में, क्या यूरोप में और क्या भारत में मदिरा और उससे सम्बद्ध दोषों को शासक श्रेणी के गुण माना जाता था। नियम यही था, कुछ विरले अपवाद भी थे। महाराज रनजीतसिंह उस नियम का उग्र नमूना था। वह शराब का प्रसिद्ध पियक्कड़ तो था ही, अफीम भी खाने लगा था। एक ओर निरन्तर युद्ध, और दूसरी ओर दुर्व्यसन—दोनों ने मिलकर महाराज को १८३८ में इतना शिथिल कर दिया था कि जिन अंग्रेज़ों ने उसे पहली बार फिरोज़पुर में देखा, वह यह न समझ सके कि इस व्यक्ति ने एक विशाल राज्य की स्थापना कैसे की है?

अगले वर्ष पक्षाघात से महाराज का देहान्त हो गया। अपने जीवन-काल में ही महाराज ने अपने बड़े लड़के खड्गसिंह के माथे पर तिलक लगाकर राज्य का उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था। साथ ही राजा ध्यानसिंह को नायबुल सुल्तानते-ए-उज़मा, ख़ैरख़ाही समीमी दौलते सरकार, वज़ीरे मुअज़्ज़िम, दस्तूरे मुकर्रम, मुख़्तार वा मुदारुल महम कुल आदि उपाधियों से विभूषित करके वज़ीरे आज़म के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया था।

रनजीतसिंह की बीमारी का समाचार लगभग चार वर्ष से पंजाब भर में फैला हुआ था। मृत्यु के समाचार से लोगों को विशेष आश्चर्य नहीं हुआ। बड़ी धूमधाम से महाराज का अन्त्येष्टि संस्कार किया गया। ४ रानियाँ और ७ दासियाँ अपने स्वामी के शव के साथ चिता में आरूढ़ हो गईं। शव-दाह से पहले राजा ध्यानसिंह ने अपने स्वामी के पाँव छूकर सब

लोगों के सामने प्रतिज्ञा की कि वह महाराजा खड्गसिंह की सच्चे दिल से सेवा करेगा, और यह भी वायदा किया कि खड्गसिंह और उसके लड़के नौनिहालसिंह में मेल बनाये रखने की भरसक चेष्टा करेगा।

देखने में नये राज्य का यह प्रारम्भ अच्छा था, परन्तु इसमें एक भारी निर्बलता थी। रनजीतसिंह वीर भी था, और चतुर भी, परन्तु बहुत दूरदर्शी राजनीतिज्ञ नहीं था, और न उसके पास कोई महान् राष्ट्रीय आदर्श थे, जिनके सूत्र मे पिरोकर राष्ट्र का निर्माण करता। उसकी जीत व्यक्तिगत रणकुशलता का परिणाम थी, और उसकी नैतिक सफलता का मूल कारण उसकी व्यक्तिगत चतुराई थी। न तो उसने अपना शासन चलाने के लिए शिवाजी के अष्टप्रधानों की भाँति कोई स्थिर संस्था बनाई और न खालसा के अन्दर राष्ट्रीय भावना उत्पन्न की। परिणाम यह हुआ कि सिक्ख राज्य का आधार बहुत निर्बल रह गया। जिन लोहे के पुर्जों को मिलाकर महाराजा रनजीतसिंह ने एक विशाल यन्त्र तैयार किया था, उन्हें परस्पर मिलाने वाले पेंच लकड़ी के थे, जो कारीगर का हाथ हटते ही टूट गये। महाराज रनजीतसिंह ने मरते हुए खड्गसिंह को राज्य का उत्तराधिकारी और ध्यानसिंह को मन्त्री नियुक्त किया था—बस सारे राज्य का भविष्य इन दो व्यक्तियों की योग्यता के निर्बल तागों से लटका हुआ था, उसे सहारा देने वाली और कोई वस्तु न थी।

पंजाब के खून में जोश है। महाराज रनजीतसिंह ने उस जोश को अपनी असाधारण नेतृत्व-शक्ति से वश में लाकर निर्माण के काम में लगा दिया था—परन्तु ज्योंही वह शक्ति शान्त हुई, कि सीमा के बाँध टूट गए, और भयानक गृह-कलह आरम्भ हो गया। १८३९ ईस्वी में महाराज रनजीतसिंह की मृत्यु हुई, और १८४९ में सिख राज्य समाप्त हो गया—इन बीच के दस वर्षों का इतिहास वस्तुतः लज्जाजनक है। आइये पाठक, उसमें से हम संक्षेप में ही गुजर जायें।

खड्गसिंह राजा तो बन गया, परन्तु वह राजा बनने की योग्यता नहीं रखता था। वह दिन में दो बार अफीम की गोली चढ़ाता था, महा आलसी था, और नीति से शून्य था। उसने पहला काम यह किया कि राजा ध्यानसिंह और उसके पुत्र हीरासिंह का दरबार में आना बन्द कर दिया और एक अयोग्य परन्तु चलतेपुर्जे सरदार चेतसिंह को मन्त्री-पद पर नियुक्त कर दिया।

राजा ध्यानसिंह ने इस अपमान का बदला लेने के लिए खड्गसिंह के लड़के नौनिहाल सिंह को अपना औजार बनाया। खड्गसिंह के दुर्व्यवहारों के कारण सेना और सरदार बहुत असन्तुष्ट हो चुके थे, असन्तोष यहाँ तक बढ़ गया था कि जब नौनिहालसिंह पेशावर से लाहौर आया, तो उसकी माता (खड्गसिंह की पत्नी) भी अपने पति के विरुद्ध षड्यन्त्र में शामिल हो गई।

इधर षड्यन्त्र पक रहा था, और उधर खड्गसिंह अफीम की पिनक में झूम रहा था। एक दिन प्रातःकाल षड्यन्त्रकारी मिलकर क़िले में घुस गये, और उसके पट्टेदारों को मारकर, खड्गसिंह को गिरफ़्तार कर लिया। उसका पिट्ठू चेतसिंह डरकर ख्वाबगाह में छुप गया। उसे ढूँढ़कर निकाल लिया गया। सामने आने पर ध्यानसिंह ने अपने हाथ से उसकी छाती

पर छुरे के दो वार करके उसे मार डाला। पीछे से उसकी लाश के टुकड़े करके फेंक दिये गये।

नौनिहालसिंह की आयु उस समय केवल १८ वर्ष की थी। वह महाराज रनजीतसिंह का लाडला पोता था। प्रजा को और सरदारों को उससे बड़ी-बड़ी आशायें थीं। उसमें राजा के योग्य कई गुण थे। वह वीर था, समझदार था और परिश्रमी था, परन्तु साथ ही कुछ बड़े दोष भी थे। वह ग्रन्थियों और ब्राह्मणों में अगाध श्रद्धा रखता था। वे खुशामदी लोग अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए नौजवान नौनिहालसिंह के दिमाग़ में प्रायः असम्भव और हवाई बातें भरते रहते थे।

नौनिहालसिंह का सबसे बड़ा अपराध था कि उसने अपने क़ैदी पिता की केवल उपेक्षा ही नहीं, उस पर अत्याचार भी होने दिये। यों तो वह अपने पिता से मिलने के लिए जाता ही बहुत कम था, और जब जाता भी था तो उससे अत्यन्त अपमानजनक व्यवहार करता था। बेचारे खड्गसिंह ने लगभग एक वर्ष तक कारागार में अपने दुःखी और तिरस्कृत जीवन को घसीटा। अन्त में १८४० के नवम्बर मास में रोगी होकर उसने प्राण त्याग दिये। पिता की मृत्यु के समय नौनिहालसिंह वहाँ उपस्थित भी नहीं हुआ।

पिता के दाह-संस्कार के समय नौनिहालसिंह उपस्थित था। दो रानियों और ११ दासियों ने स्वामी के साथ जलती चिता में प्रवेश किया। अभी खड्गसिंह का शव आधा ही जला था कि नौनिहालसिंह समाधि-स्थान से चल दिया, और नाले में स्नान करके एक मित्र के हाथ में हाथ डाले पैदल ही हजूरी के बाग़ के सिंहद्वार में से गुजर रहा था कि द्वार की दीवार गिर पड़ी, जिससे नौनिहालसिंह और उसके मित्र के सख्त चोटें आईं। मित्र तो उसी समय मर गया, नौनिहालसिंह की मृत्यु दो घण्टे के बाद हो गई। इस प्रकार पिता की हत्या के लिए उत्तरदाता यह नौजवान पुत्र केवल एक वर्ष तक राज्य के सुख का उपभोग कर सका। उस समय बहुत से लोगों को सन्देह था कि दीवार का गिरना आकस्मिक नहीं था, अपितु यह एक नये षड्यन्त्र का परिणाम था। यह असम्भव नहीं है, क्योंकि उस समय के वातावरण में सभी कुछ सम्भव था परन्तु इतिहास-लेखक तब तक कोई निश्चित सम्मति नहीं बना सकता था जब तक कोई निश्चित प्रमाण न हो। यदि कोई षड्यन्त्र था भी तो वह प्रमाणित नहीं हो सका। घटना आकस्मिक हो सकती है।

नौनिहालसिंह की मृत्यु ने षड्यन्त्रों और हत्याओं की बाढ़ का नया द्वार खोल दिया। राजा ध्यानसिंह ने एक ओर राजमाता महारानी चाँदकौर को विश्वास दिलाया कि यदि वह राजगद्दी पर बैठकर शासन करना चाहती है तो उसे नौनिहालसिंह की मृत्यु को कुछ दिनों तक गुप्त रखना होगा, और दूसरी ओर शेरसिंह को मुकेरियाँ से बुलवा भेजा।

परन्तु ध्यानसिंह की यह धूर्तता उस समय सफल न हुई। महारानी चाँदकौर ने थोड़े ही समय में अपनी पार्टी मजबूत कर ली, और शासन की बाग़डोर हाथ में ले ली। जब राजा ध्यानसिंह ने देखा कि वार खाली गया है तो स्वयं जम्मू के पहाड़ों में चला गया, और अपने भाई राजा गुलाबसिंह को महारानी के पास छोड़ गया।

जम्मू जाकर ध्यानसिंह आराम से नहीं बैठा। लाहौर के घटनाचक्र को अंग्रेज़ी

सरकार बड़ी सावधानता से देख रही थी। यह तो स्पष्ट ही था कि उसकी पंजाब पर आँख थी, परन्तु रनजीतसिंह के डर से वह हाथ आगे नहीं बढ़ा सकती थी। सिखों की बहादुरी और युद्ध करने की प्रवृत्ति से परिचित हो चुकी थी और केवल अवसर की प्रतीक्षा में थी। राजा ध्यानसिंह लाहौर में अंग्रेजी सरकार का मुख्य मित्र था। उसने महारानी चाँदकौर को मात देने के लिए एक गहरी चाल चली। उसने अंग्रेज़ सरकार के पास यह समाचार भिजवाया कि महाराज रनजीतसिह की मृत्यु के कुछ दिन बाद ही उसकी चहेती रानी जिन्दां के एक पुत्र उत्पन्न हुआ था, जिसका समचार दरबार के लोगों ने जान-बूझकर छुपा रक्खा था। इस तरह रनजीतसिह के पुत्र के रूप मे चाँदकौर का एक जबर्दस्त प्रतिद्वन्द्वी मैदान में लाया गया।

इधर कुछ दिनों तक आसपास मँडराकर शेरसिह फिर लाहौर मे आ पहुँचा। इस बार ध्यानसिह ने उसका साथ नहीं दिया, इस कारण उसने नये मित्र तलाश किये, और लड़ने का ढंग भी नया ही निकाला। मित्र बनाया सरदार ज्वालासिह को और ढग यह निकाला कि इनाम और लूट का हिस्सा देने का प्रलोभन देकर राज्य की सेना को बरगलाने का सत्कार्य आरम्भ कर दिया। राज्य का कोई योग्य संचालक न होने से सिपाहियों में नियन्त्रण की भावना बहुत निर्बल हो गई थी। नित्य नये राजा को गद्दी पर बैठते देखकर उनकी राजभक्ति लगभग शून्य होती जा रही थी। शेरसिंह को सेनाओं के दुर्ग की दीवार तोड़ने में आसानी से सफलता मिल गई। खालसा सेना ने अपने पंच स्वयं चुन लिये, और उनके नेतृत्व में रनजीतसिंह के हजारों सैनिक शेरसिंह का समर्थन करने के लिए लाहौर के बाहर 'बुद्धू का आवा' नामक टीले के पास एकत्र हो गये। उस अनगढ़ सेना ने शेरसिंह को पंजाब का महाराजा घोषित कर दिया।

महारानी के समर्थक भी सजग थे। राजा गुलाबसिह के नेतृत्व में लाहौर की रक्षा का समुचित प्रबन्ध किया गया। सिपाहियों को प्रसन्न करने के लिए चार महीनो का वेतन इनाम के रूप में दे दिया गया, और भविष्य मे बड़े-बड़े पारितोषिकों के वायदे कर दिये गये।

दोनों ओर के खालसा सिपाही 'वाहे गुरूजी दा खालसा', 'वाहे गुरूजी दी फतेह' का नारा लगाने और अभिन्न भाव से लाहौर के निवासियों को लूटने में लग गये। अन्त में शेरसिंह की सेना ने क़िले पर हमला कर दिया। दोनों ओर से मारकाट होने लगी। शहरी हर तरह से तबाह हो रहे थे। शेरसिंह के पक्ष की तोपों के गोलों से राजधानी की इमारतें खण्ड-खण्ड होकर गिरने लगी। लेखकों ने लिखा है कि राजा गुलाबसिंह के डोगरे सिपाही शहर की रक्षा का प्रयत्न न करते तो शायद सब बाजार लुट जाते।

जब ऐसा घमासान नाशकाण्ड मचा हुआ था, तब शहर मे खबर फैल गई कि शान्ति की स्थापना के लिए राजा ध्यानसिंह पर्वत पर से उतर आये हैं।

ध्यानसिंह के आने पर युद्ध बन्द हो गया, और सुलह की बातें होने लगीं। सुलह इस शर्त पर हुई कि चाँदकौर गद्दी का परित्याग कर दे और शेरसिंह को राजा माना जाय। इस प्रकार शेरसिंह राजा बनगया, परन्तु इस बन्दर-बाँट में सबसे अधिक लाभ में रहा

राजा ध्यानसिंह। कहा जाता है कि वह सुरक्षा के नाम पर महाराज रनजीतसिंह के खजाने का **जो अंश बच** गया था, गाड़ियों और घोड़ों पर लादकर अपने देश—काश्मीर—को ले गया।

१८४१ ईस्वी के जनवरी मास की १८ तारीख़ के दिन शेरसिंह गद्दी पर बैठा, और उस समय के रिवाज के अनुसार उसी समय से उसके चारों ओर षड्यन्त्रों का जाल बुना जाने लगा। ध्यानसिंह को नये सिरे से वज़ीर के पद पर नियुक्त किया गया। सिपाहियों को तनख्वाह में स्थिररूप से एक रुपया प्रति मास की वृद्धि कर दी गई। जिन सरदारों को शेरसिंह का विरोधी समझा गया, उनकी जायदादें ज़ब्त करके अनुकूल सरदारों को बाँट दी गईं।

इन राजाओं के परिवर्तनों में सेना की शक्ति बहुत बढ़ गई थी। सिपाही लोग अब न केवल आम प्रजा पर, बल्कि उन अफ़सरों पर भी अत्याचार करने लगे जिनसे उन्हें कभी शिकायत हुई थी। अंग्रेज़ लेखकों का कहना है कि सिपाहियों की ओर से लाहौर में रहने वाले यूरोपियन लोगों पर भी कई हमले हुए।

शेरसिंह खड्गसिंह से भी गया-गुजरा था। वह मदिरा और मृगया का दास था। राज्य में क्या हो रहा है, इसकी उसे परवा नही थी। यह काम वज़ीर का समझा गया, और वज़ीर को राज्य या प्रजा की अपेक्षा अपनी अधिक चिन्ता थी। पहला काम उसने यह किया कि अपने सम्भावित प्रतिद्वन्द्वी ज्वालासिंह के विरुद्ध राजा को इतना भड़काया कि उसने ज्वालासिंह को ज़ंजीरों से बाँधकर जेल में डालने का हुक्म दे दिया। वहाँ वह तड़प-तड़प कर मर गया।

शेरसिंह का दूसरा शिकार बेचारी चाँदकौर हुई। शेरसिंह की इच्छा थी कि वह चाँदकौर से शादी करे। चाँदकौर ने इन्कार कर दिया। चाँदकौर से गद्दी परित्याग कराने के समय शेरसिंह ने वायदा कर लिया था कि वह उससे ब्याह करने का आग्रह छोड़ देगा। परन्तु उसकी वासना नहीं मिटी। राजा बनने के पश्चात् फिर उसने चाँदकौर के पास प्रस्ताव भेजा कि वह चद्दर-अन्दाज़ी की रस्म के अनुसार विवाह करना स्वीकार कर ले। चाँदकौर ने तब भी इन्कार किया, इस पर शेरसिंह ने क्रोध में आकर चाँदकौर को नष्ट करने का निश्चय कर लिया। उसने चाँदकौर की चार दासियों को यह आशा दिलाकर मालकिन को मारने पर राज़ी कर लिया कि कार्य पूरा हो जाने पर उन्हें पाँच-पाँच हज़ार रुपये की जागीरें इनाम में दी जायँगी। एक दिन जब वे दासियाँ चाँदकौर के बाल बनाने लगीं, तब उसे पकड़ लिया और लकड़ियों से उसका सिर फोड़ दिया। दासियों को इस कुकृत्य का वही इनाम मिला, जो ऐसे विश्वासघातियों को मिला करता है। नाक, कान और हाथ काटकर उन्हें देश-निकाला दे दिया गया। शेरसिंह के वज़ीर से इतनी भूल हो गई कि दासियों की जीभें नहीं काटी गईं, फल यह हुआ कि शेरसिंह के इस बीभत्स पाप की ख्याति सारे राज्य में फैल गई।

सारे राज्य में तो फूट पड़ी हुई थी, अब दरबार में भी दल बन गये। एक दल राजा ध्यानसिंह का था, और दूसरा सिन्धियावाला सरदारों का, जिनके मुखिया लहनासिंह और

अजीतसिंह थे जो पहले शेरसिंह के राजा होने पर दरबार से निकाल दिये गये थे, फिर सम्मान के साथ वापिस बुला लिया गये। कुछ ही समय में सिन्धियावाला सरदारों का प्रभाव इतना बढ़ गया कि उन्होंने शेरसिंह को विश्वास दिला दिया कि ध्यानसिंह उनका सबसे बड़ा शत्रु है। शेरसिंह ने उन्हें यह लिखित अनुमति दे दी कि वे जिस ढंग से भी हो, ध्यानसिंह को मार डालें, उन्हें अपराधी नहीं समझा जायगा।

राजा से वज़ीर की मृत्यु का आज्ञापत्र लेने के पश्चात् वे सरदार ध्यानसिंह के पास पहुँचे, और उसे विश्वास दिलाया कि उसका सबसे बड़ा शत्रु शेरसिंह है, उसे मारे बिना राज्य की रक्षा नहीं हो सकती। ध्यानसिंह भी उनके चकमे में आ गया और उसने उन लोगों को राजा की मृत्यु का आज्ञापत्र दे दिया। इस प्रकार दोनों के हाथ काटकर सिन्धियावाले सरदारों ने एक विशाल षड्यन्त्र तैयार किया। उस क्रूरता और विश्वासघात से भरे हुए गन्दे षड्यन्त्र की पूरी कहानी सुनाकर हम पाठकों के हृदय को आहत नहीं करना चाहते। इतना ही बतलाना पर्याप्त है कि एक ही आयोजन में लहनासिंह और अजीतसिंह ने थोड़े से साथियों की सहायता से महाराजा शेरसिंह, उसके १२ साल के उत्तराधिकारी प्रतापसिंह और राजा ध्यानसिंह की हत्यायें करके भीषण पाप का एक दृष्टान्त क़ायम कर दिया।

ऐसे भीषण हत्याकाण्ड से भीषण प्रतिक्रिया उत्पन्न होना स्वाभाविक था। शहर में क्रोध और बदले की भावना का तूफ़ान-सा आ गया, जिसका नेतृत्व राजा ध्यानसिंह के लड़के राजा हीरासिंह ने किया। राजा हीरासिंह ने अपने पक्ष के सिख सरदारों और खालसा सिपाहियों को इकट्ठा करके प्रतिशोध के लिए आवाहन किया। वे लोग स्वयं उत्तेजित थे, अतः तैयार हो गये। हीरासिंह एक बड़ी सेना और लगभग सौ तोपों के साथ साँझ के समय क़िले से लाहौर में प्रविष्ट हो गया। लड़ाई से भागते हुए अजीत और लहनासिंह मारे गये, उनके साथी या तो मारे गये या भाग गये। चौथे दिन हीरासिंह और उसके साथियों ने महाराज रनजीतसिंह के शिशु पुत्र दिलीपसिंह को पंजाब का महाराजा उद्घोषित कर दिया। वज़ीर का पद हीरासिंह ने स्वयं सँभाला।

इस राज्य-परिवर्तन ने सिपाहियों की शक्ति को बहुत अधिक बढ़ा दिया। प्रत्येक नेता को उन्हीं का सहारा लेना पड़ता था। इनाम के तौर पर सिपाहियों को शहर और कभी-कभी सरकारी ख़जाने और तोशाखाने के लूटने की भी आज्ञा देनी पड़ती थी। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि सरदार लोग तो केवल मोहरे हैं, असली शक्ति खालसा सिपाहियों की है। इस समय अकाली और निहंग लोग भी काफ़ी ख्याति पा रहे थे। वे सिख सेना के संसप्तक समझे जाने लगे थे।

दिलीपसिंह अभी बालक था। उसकी माता रानी जिन्दां काफ़ी चतुर और महत्त्वाकांक्षा रखने वाली स्त्री थी। उसके दो सहायक थे। एक उसका अपना भाई जवाहरसिंह था, और दूसरा हीरासिंह का चचा सुचेतसिंह था। रानी और जवाहरसिंह हीरासिंह को हटाकर उसकी जगह उसके चचा जवाहरसिंह को वज़ीर बनाना चाहते थे। दिलीपसिंह के राजा घोषित होने के पश्चात् ही यह संघर्ष जारी हो गया, जिसमें उस समय सुचेतसिंह

परास्त होकर जम्मू चला गया परन्तु शीघ्र ही वह अधिक शक्ति लेकर लौटा, और फिर लाहौर पर आक्रमण करने का यत्न कर रहा था कि हीरासिंह के साथियों ने उस पर आक्रमण कर दिया। सुचेतसिंह और उसके मुख्य सब साथी मारे गये। जो लोग मारे गये, उनमें एक केशरीसिंह भी था, जो खालसा सेना का सबसे अधिक वीर योद्धा समझा जाता था। उसने मरने से पहले तलवार से कम से कम २० आदमियों को धराशायी किया था। कहते हैं कि घायल होकर भी वह कई बार उठा। गृह युद्ध का सबसे बड़ा अभिशाप यही होता है कि जो जाति के वीरतम व्यक्ति होते हैं, वे सबसे पहले कट मरते हैं। शत्रु से लड़ने के लिए कायर बच जाते हैं।

सुचेतसिंह की मृत्यु के पश्चात् शीघ्र ही नया षड्यन्त्र तैयार होने लगा। इस षड्-यन्त्र का केन्द्र स्वयं रानी जिन्दां थी। उसका मुख्य साथी लालसिंह यों तो राज्य का खज़ांची था, परन्तु समझा जाता था कि वह रानी का प्रेमी था। इस षड्यन्त्र का उद्देश्य हीरासिंह और उसके सलाहकार पण्डित जल्ला को नष्ट करना था। हीरासिंह को इस षड्यन्त्र का पता चल गया। इस बार का षड्यन्त्र अधिक भयानक था, क्योंकि स्वयं रानी इसकी मुखिया थी। हीरासिंह ने भागने का निश्चय किया। वह प्रातःकाल के समय पंडित जल्ला और तीन-चार सौ घुड़सवारों के साथ शहर से निकल भागने का यत्न करने लगा। उसी समय क़िले के डंके पर चोट लग गई, और विरोधी दल की सेनाएँ पीछा करने के लिए क़िले से निकल आईं। हीरासिंह ने पीछा करने वाले खालसा सिपाहियों से पिण्ड छुड़ाने के लिए अपनी थैलियों के मुंह खोल दिये, और रास्ते में सोना बखेर दिया, परन्तु इससे भी उसकी रक्षा न हो सकी, अन्त में १८४४ ईस्वी के दिसम्बर मास की २१वीं तारीख़ को वह और पण्डित जल्ला मारे गये।

इस प्रकार जवाहरसिंह निष्कण्टक होकर वज़ीर के आसन पर विराजमान हो गया। अब माई जिन्दां और उसके प्रेमी लालसिंह को यह चिन्ता हुई कि कहीं गद्दी का कोई उम्मीदवार शेष न रह गया हो। उन्हें विदित था कि राजकुमार पिथोरासिंह, और काश्मीरसिंह, जिन्हें महाराज रनजीतसिंह के दत्तक पुत्र कहा जाता था, खालसा सेनाओं में काफ़ी लोकप्रिय थे। वे दो-एक बार विद्रोह करने का यत्न भी कर चुके थे। अब उन्हें मारकर मार्ग को निष्कण्टक बनाने की योजना तैयार की गई, और उसकी पूर्ति के लिए सरदार छतरसिंह अटारी वाला और फतेहसिंह टिवाना को नियुक्त किया गया। बेचारा पिशोरासिंह अटक में पकड़ा गया। उसे कालाबुर्ज नाम के बन्दीगृह में बन्द करके रात को गला घोंटकर मार डाला गया।

किशोरासिंह की हत्या से खालसा सेनाओं में भयंकर उत्तेजना फैल गई। वे जवाहर-सिंह के ख़ून की प्यासी हो गईं। जवाहर क़िले में दुबक गया। इस पर खालसा सेनाओं ने हुक्म भेजा कि जवाहरसिंह उनके सामने हाज़िर हो। कायर जवाहरसिंह हाज़िर तो हुआ परन्तु बड़ी धूर्तता से। जिस हाथी पर वह सवार था, उसी पर उसने नाबालिग़ राजा दिलीपसिंह को बिठा लिया। दूसरे हाथी पर स्वयं रानी जिन्दां थीं। दोनों सिपाहियों पर सोना बरसाते और भविष्य में और अधिक इनाम देने की आशायें दिलाते जा रहे थे।

परन्तु यह धूर्तता भी जवाहरसिंह को, उन दिनों के सिख वज़ीरों की अवश्यम्भावी क़िस्मत से न बचा सकी। सिपाहियों ने दिलीपसिंह को उसकी गोद से छीन लिया, और उसे हाथी से उतरने को कहा, तब तो जवाहरसिंह ने हाथ जोड़े और गिड़गिड़ाकर जीवन की भिक्षा माँगी, पर खालसा को दया न आई। जिस व्यक्ति ने कई वज़ीर और सरदारों को मौत के घाट उतार दिया था, वह स्वयं एक सिपाही की संगीन का शिकार बन गया। दूसरे सिपाही ने उसके मस्तक में गोली मार दी, जिससे वह तत्काल मर गया। जब मरे हुए जवाहरसिंह की लाश हाथी पर से नीचे गिरी तब सिपाहियों ने उसे जी खोलकर अपमानित करके सैनिक राज्य की नृशंसता का एक चमकता प्रमाण उपस्थित किया।

जवाहरसिंह के मरने पर लाहौर की हुकूमत पर से डोगरा वंश का वह अधिकार, जो राजा ध्यानसिंह के समय स्थापित हुआ था, समाप्त हो गया। रानी जिन्दां महाराज दिलीपसिंह की माता की हैसीयत से राज्य की शासिका बन गईं, और सरदार लालसिंह को वज़ीर के पद से विभूषित किया गया।

अब हम सिख इतिहास के उस पड़ाव पर पहुँच गये हैं, जहाँ उसका ब्रिटिश शक्ति से संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। इस कारण घरू युद्ध की इस रक्तरंजित कहानी को समाप्त करके हम उन घटनाओं की ओर मुड़ते हैं, जिन्होंने अंग्रेज़ों को लाहौर तक पहुँचने, और सिख राज्य को नष्ट करने में सहायता दी।

चौवनवाँ अध्याय

अंग्रेज़ लाहौर में कैसे पहुँचे ?

मराठा संघ के नष्ट होने के बाद से अंग्रेज़ों की दृष्टि अटक पर लग गई था, इसम कोई सन्देह नहीं। अफ़ग़ानिस्तान पर आक्रमण और सिन्ध का कवलीकरण उसी लालसा के परिणाम थे। पंजाब दिल्ली और अटक के बीच में पड़ता था। महाराज रनजीतसिंह के समय में अंग्रेज सतलुज पार करके लाहौर की ओर बढ़ने की हिम्मत न कर सके, उसके दो कारण थे। एक तो यह कि वह महाराज से डरते थे। उसकी विजयों ने अंग्रेज़ों के हृदयों पर आतंक बिठा दिया। इस समय के अंग्रेज़ लेखकों ने रनजीतसिंह की उपमा नैपोलियन से दी है। दूसरा कारण यह था कि वे अफ़ग़ानिस्तान और सिन्ध के युद्धों में फँसे रहे। जब उधर से निबटकर ब्रिटिश चीते ने शिकार के लिए दृष्टि दौड़ाई तो वह गृह-कलह में उलझ कर निर्बल हुए पंजाब पर पड़ी, और फिर वहीं जम गई। नये गवर्नर लार्ड हार्डिंग (१८४४ १८४८) ने शायद भारत में पहुँचने से पहले ही यह दृढ़ निश्चय कर लिया था कि अब पंजाब का उद्धार किया जायगा, क्योंकि १८४४ में ही पंजाब की सीमा पर अंग्रेज़ सेनाओं का सन्नाह प्रारम्भ हो गया था।

लार्ड हार्डिंग रणक्षेत्र में ख्याति प्राप्त करने का दीवाना था। सिन्ध के सूरमा सर चार्ल्स नेपियर ने उसके विषय में लिखा था कि 'उसकी महत्वाकांक्षा अपरिमित है'। सिखों से बाकायदा युद्ध प्रारम्भ होने से बहुत पहले अंग्रेज़ों ने लुधियाना और फीरोज़पुर में सेनाओं की संख्या लगभग दूनी कर दी थी। १८४५ में सिन्ध नदी पर तैयार हुई ५६ बड़ी किश्तियाँ सेनाओं को नदी से पार उतारने के उद्देश्य से फीरोज़पुर लाकर रखी गईं। इन सब तैयारियों को देखकर सिखों के मन म आशंका उत्पन्न होना स्वाभाविक था। उस समय अंग्रेज़ी शासकों की जो मनोवृत्ति था, उसका परिचय हार्डिंग के तीन उद्धरणों से मिलता है—

१८४५ के जनवरी मास में उसने एलिनबरा को लिखा था—

"यदि हम यह उचित भी समझें कि मुसीबत के समय अपने साथी पर झपट्टा मारना है, तो भी हमें गर्म मौसम और सतलुज का पानी बढ़ने की इन्तज़ार करनी पड़ेगी।"

उसी साल अगस्त के महीने में एक नोट में उसने लिखा था—

"यदि हमें युद्ध में पड़ना ही हो तो ऐसा, दूसरी ओर के किसी बड़े-से आक्रमणात्मक कार्य के कारण ही होना चाहिए। एक निर्बल शक्ति के प्रति छोटी-सी शिकायत होने के कारण ही उस पर कब्ज़ा कर लना ठीक न होगा।"

फिर अक्तूबर मास में उसने एलिनबरा को लिखा था—

"किन्तु यह ठीक है कि पंजाब या तो अंग्रेज़ों का रहेगा या सिखों का। देर करने से समस्या का हल केवल कुछ देर के लिए टल सकता है। साथ ही हमें यह भी स्मरण रखना

चाहिए कि अभी तक लड़ाई का कोई कारण पैदा नहीं हुआ।"

इन उद्धरणों से तीन बातें स्पष्ट हैं—

१. अंग्रेज़ यह निश्चय कर चुके थे कि पंजाब पर कब्ज़ा किया जाय।

२. वे आसानी से सेनायें पार उतारने के लिए केवल सतलुज में पानी बढ़ने की प्रतीक्षा में थे।

३. और वे कोई ऐसा बहाना ढूंढ़ रहे थे जिससे दुनिया के सामने अपने आक्रमण की सफ़ाई दे सकें।

वह बहाना भी मिल गया। लाहौर का गृह-युद्ध अपनी चरम सीमा तक पहुंच चुका था। रानी जिन्दां और लालसिंह रात-दिन नये षड्यन्त्र और उपद्रव के डर से कांप रहे थे, क्योंकि असली शक्ति खालसा सिपाहियों के हाथ में जा चुकी थी, और खालसा सिपाहियों को अर्थलोभ या किसी अन्य कारण से भड़काना कठिन नहीं था। उधर सीमाप्रदेश से निरन्तर यह समाचार आ रहे थे कि अंग्रेज़ अपनी युद्ध-शक्ति को बढ़ा रहे हैं। ४० हज़ार सिपाही, १०० तोपें, और नदी पार करने के लिए ५६ बड़ी किश्तियाँ सीमाओं पर पहुँच चुकी थीं। रानी जिन्दां और उसके सलाहकारों ने यह अवसर अच्छा समझा कि खालसा फ़ौज को राजधानी से दूर सतलज के उस पार अंग्रेज़ों से भिड़ा दिया जाय। ११ दिसम्बर, १८४५ को सिख सेनाओं ने फीरोज़पुर के समीप सतलज नदी को पार कर लिया।

अंग्रेज़ तो तैयार ही थे। गवर्नर-जनरल सर हेनरी हार्डिंग ने १३ दिसम्बर को पंजाब सरकार के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। साथ ही उसने यह भी प्रकाशित कर दिया कि सतलज के बायें तट की सब भूमि अंग्रेज़ी राज्य में मिला ली गई है। पहली झपट मुदकी में हुई। वह स्थान फीरोजपुर से कोई २० मील दूर था। प्रारम्भ में तो सिख सिपाहियों के हल्ले के सामने अंग्रेज़ सेनायें विचलित-सी हो गईं, परन्तु लालसिंह कोई बड़ा सेनापति नहीं था। यदि वीर से वीर सेना का सेनापति समझदार और जीदार न हो तो विजय पाना असम्भव हो जाता है। सिख सिपाहियों की वीरता तो असन्दिग्ध थी, और उनका प्रारम्भिक हल्ला मशहूर था, परन्तु अन्त में अंग्रेज़ों की नियन्त्रित सेना की जीत हुई। जीत तो हुई पर उनकी हानि कम नहीं हुई। दो मेजर-जनरल मारे गये। घायलों और मृतकों की संख्या ९०० के लगभग थी।

मुदकी के पश्चात् सिख सेनाओं ने फीरोज़पुर शहर में बड़ा मोर्चा जमाया। २१ दिसम्बर को अंग्रेज़ सेना ने उस पर आक्रमण कर दिया।

फीरोज़पुर का युद्ध ख़ूब जमकर हुआ। अंग्रेज़ सेनापति का नेतृत्व स्वयं गवर्नर-जनरल कर रहा था। यद्यपि सरकारी तौर पर कमाण्डर-इन-चीफ़ के पद पर लार्ड गफ़ की नियुक्ति थी, बस्तुतः युद्ध का संचालन स्वयं लार्ड हार्डिंग के निर्देश के अनुसार हो रहा था। फीरोज़पुर शहर का युद्ध भारत में साम्राज्य-प्राप्ति के लिए अंग्रेज़ों द्वारा लड़े गये बड़े-बड़े युद्धों का एक छोटा-सा परन्तु स्पष्ट नमूना था। उसमें भारतवासियों की हार और अंग्रेज़ों की जीत के सब कारण बिल्कुल स्पष्ट हो गये।

सेनायें २१ दिसम्बर को प्रातःकाल ही एक दूसरे के सामने आगई थीं, परन्तु अंग्रेज़

सेना को कुमुक पहुँचाने में कुछ देर लग गई, इस कारण आक्रमण सायँकाल के चार बजे आरम्भ हुआ। अंग्रेज़ी सेनाओं ने बड़े ज़ोर से हमला किया, और सिखों ने उससे भी अधिक ज़ोर से उत्तर दिया। खालसा सिपाही उस दिन जिस वीरता से लड़े, उससे अंग्रेज सिपाहियों के छक्के छूट गये। अंग्रेज़ी सेना बार-बार आगे बढ़ती थी, और सिक्ख सिपाहियों की गोलियों की मार खाकर पीछे हटती थी। सर्दी के दिन थे। लड़ाई मुश्किल से डेढ़ घंटा हुई थी कि अँधेरा छा गया, और लड़ाई बन्द करनी पड़ी। उस समय अंग्रेज़ सेना की दशा इतनी शोचनीय थी कि उन्हें फीरोज़पुर शहर का वह भाग भी छोड़ देना पड़ा जिस पर उसने अधिकार किया था। उन अंग्रेज़ अफसरों ने, जो लड़ाई में विद्यमान थे, उस रात को (Night of horrors) 'भीषणता भरी रात' बतलाया है। दिन में जो मार खाई थी, उससे सिपाहियों के दिल टूटे हुए थे, और शरीर थके हुए थे। छावनी बिल्कुल खुले मैदान में पड़ी थी, और बीच-बीच में सिखों का तोपखाना गोले बरसाकर आतंक मचा रहा था। स्वयं जनरल गफ़ और गवर्नर-जनरल रात भर फौजों में घूमते और प्रातःकाल होने पर विजय प्राप्त करने की आशा दिलाकर सिपाहियों की हिम्मत बँधाते रहे। सर्दी इतनी थी कि प्रातःकाल जब अंग्रेजी सेना ने आक्रमण आरम्भ किया, तब अँगुलियां शीत से अकड़ी हुई होने के कारण गोली चलाने से इन्कार कर रही थीं।

दूसरे दिन फिर खूब डटकर लड़ाई हुई। सिख सिपाही बहुत बहादुरी से लड़े परन्तु उनकी बहादुरी व्यर्थ गई, क्योंकि सिख नेता न केवल कायर थे, एक दूसरे को नष्ट करने के लिए भी उत्सुक थे। मुख्य सेना का सेनापति लालसिंह रणभीरु था। वह आगे बढ़कर लड़ने से डरता था और उधर अंग्रेज सेनापति और गवर्नर-जनरल जान को खतरे में डालकर सेना का संचालन कर रहे थे। दोपहर होते-होते सिख सेनाओं के पाँव उखड़ गये, और अंग्रेज़ सेनायें फीरोज़पुर में प्रविष्ट हो गईं।

उस समय एक और घटना हुई। सरदार तेजसिंह २० हज़ार ताज़ा खालसा सिपाहियों के साथ रणक्षेत्र के समीप आ पहुँचा। यदि वह उस समय थकी-माँदी अंग्रेज सेना पर हमला कर देता तो अंग्रेज़ लेखकों की राय है कि शायद उन्हें फीरोज़पुर छोड़ देना पड़ता, परन्तु तेजसिंह पर अंग्रेज़ थैली का जादू चल गया, या अंग्रेज सेना की संगीनों का डर छा गया, यह कहना कठिन है, परन्तु हुआ यह कि वह रणक्षेत्र के पास पहुँचा और लड़े बिना ही वापिस चला गया।

फीरोजपुर की लड़ाई के पश्चात् अलीवाल में एक और झपट हुई, जिसमें अंग्रेज़ी सेना सफल हुई। अन्त में सिख सेनाओं ने सुबराओं में अपना बड़ा मोर्चा लगाया। यह गाँव सतलज के किनारे पर अंग्रेज़ों की प्रभाव सीमा में था। वहाँ खालसा की सेना का मुख्य भाग और तोपों का भारी जमाव था। युद्ध में हारने की दशा में पीछे हटने के लिए नदी पर एक पुल भी तैयार कर लिया गया।

बहुत घोर संग्राम हुआ। सिख सिपाही शेरों की तरह लड़े। परन्तु उनके सेनापति गीदड़ और लोमड़ी सिद्ध हुए। उनमे डरपोक भी थे, और विश्वासघाती भी। ज्योंही युद्ध आरम्भ होता था, त्योंही वह जान बचाकर भागने का रास्ता ढूंढ़ने लगते थे। प्रधान मन्त्री लालसिंह लम्पद

व्यक्ति था, उसे लड़ाई में मरने की अपेक्षा लाहौर वापिस जाकर रानी से मिलने की चिन्ता अधिक रहती थी। सेनापति तेजसिंह जाति का ब्राह्मण था, न उस पर सिखों का पूरा विश्वास था, और न वही उन पर पूरा भरोसा रखता था। वह युद्ध-भीरु भी था। लाहौर में प्रभावशाली व्यक्ति जम्मू का डोगरा राजा गुलाबसिंह था जो बहुत पहले से अंग्रेजी सरकार से दोस्ती गाँठ चुका था। बड़े भाई ध्यानसिंह और भतीजे दीपसिंह की हत्याओं ने उसके मन में सिख राज्य के प्रति विष भर दिया था। वह ऊपर से रानी जिन्दां का सलाहकार बना हुआ था, पर अन्दर से उसके राज्य को अंग्रेज़ों के हाथ बेचने की योजना में लगा हुआ था। रही स्वयं रानी जिन्दां। वह अन्दर-अन्दर से सेनाओं की शत्रु बनी हुई थी। वह युद्ध नही चाहती थी। सतलज पार करने की आज्ञा उसने केवल इसलिए दी थी कि सर्वशक्तिसम्पन्न सिख सिपाही लाहौर से दूर हो जायें। जब युद्ध-क्षेत्र में लाहौर से भेजे हुए ढोलों में से बारूद की जगह आटा और अलसी के बीज निकले तब सिपाहियों ने यही समझा कि यह रानी की करतूत है। सिख सेना का धड़ खूब लड़ा, परन्तु सिर ने उसे धोखा दे दिया। परिणाम यह हुआ कि जिस सिख सेना को महाराज रनजीतसिंह ने बड़े परिश्रम और कौशल से तैयार किया था, वह सुबराओं के मैदान में, दो घण्टों की घनघोर लड़ाई में सर्वथा नष्ट हो गई।

इस सारे निराशाजनक अँधेरे में प्रकाश की एक ही किरण थी, जिसकी चर्चा किये बिना इस अध्याय को समाप्त करना ठीक न होगा। प्रारम्भ में अटारी का वयोवृद्ध सरदार शामसिंह अंग्रेजों से लड़ाई छेड़ने के विरुद्ध था, परन्तु जब लड़ाई छिड़ गई, तब उसने सेनाओं के सामने यह प्रतिज्ञा की कि गुरु के नाम पर लड़ते-लड़ते मर जायँगे, पर युद्ध के मैदान में पीठ न दिखायेंगे। जब सिख सेना के पाँव उखड़ने लगे तब शामसिह ने सिपाहियों को ललकार-कर गुरु के नाम पर आगे बढ़ने की प्रेरणा की, और स्वयं नंगी तलवार हाथ में लेकर आगे हुआ। उस समय देखने वालों ने लिखा है कि जब लम्बी सफ़ेद दाढ़ी और सफ़ेद कपड़ों से शोभायमान शामसिह बहते हुए लाल-लाल रक्त का शृंगार किये अंग्रेज़ों की सेना पर टूट पड़ा तब सैकड़ों सिख योद्धाओं ने उसका अनुकरण किया, और युद्ध गर्म हो गया। कहते हैं, शामसिंह यह पूछता हुआ आगे बढ़ रहा था कि 'बड़ा लाट कहाँ है ?' बहुत घोर जनकर्दम हुआ। स्वयं शामसिह ने बीसियों शत्रुओं को तलवार के घाट उतारा परन्तु उन मुट्ठी भर वीरों की तलवारें गोलियों और गोलों का सामना कहाँ तक करतीं। शामसिह और उसके सब साथी 'वाहे गुरु' का नारा लगाते और लड़ते हुए रणक्षेत्र में धराशायी हो अपना नाम अमर कर गये।

'दैवोऽपिदुर्बलघातकः'—भागते हुए सिखों के साथ क़िस्मत ने भी शत्रुता की। सतलज पर बनाया हुआ पुल सेनाओं के बोझ से टूट गया, जिससे हज़ारों सिख सिपाही नदी में गिर गये। उस समय गोरे अफ़सरों और सिपाहियों ने फिर उस पाशविकता का परिचय दिया, जो बैरकपुर के कत्लेआम के समय दिया था। तैरते हुए सिखों पर तान-तान कर गोलियाँ मारी गईं, जिससे सतलज का पानी लाशों से भर गया और लाल हो गया। जिस निर्दयता से अंग्रेज़ों ने सिखों का संहार किया, उस पर स्वयं उस समय के अंग्रेज लेखकों ने दाँतों-तले अँगुली

दबाई थी। वह युद्ध नहीं था, क्योंकि भागते हुए व्यक्ति की हत्या करना युद्ध नहीं कहलाता।

सुबराओं के युद्ध ने खालसा की शक्ति का अन्त कर दिया। कहा जाता है कि १० हज़ार सिक्ख सिपाही मारे गये। घायल कितने हुए, यह मालूम नहीं। मृतक और घायल अंग्रेज़ों की संख्या सवा दो हज़ार के लगभग बताई गई।

अब अंग्रेज़ी सेनाओं की गति को रोकने वाली कोई शक्ति शेष न रही। सुबराओं का युद्ध १० फ़रवरी को हुआ। ११ फ़रवरी को अंग्रेज़ सेनाओं ने आगे बढ़कर कसूर पर आक्रमण कर दिया और २० फ़रवरी को लाहौर में प्रविष्ट हो गईं।

सर हेनरी हार्डिग को लाहौर के पास पहुँचने से पूर्व ही सिख सरकार की ओर से सुलह का सन्देश पहुँच चुका था। खालसा राज्य की शक्ति टूट चुकी थी, परन्तु उसके नेता किन्हीं भी शर्तों पर जीवित रहने को उत्सुक थे। गवर्नर-जनरल के मार्ग सामने दो खुले थे, या तो वह सिख राज्य को समाप्त करके पंजाब को अंग्रेज़ी राज्य में मिला लेता अथवा उसके हाथ-पाँव बाँधकर और कैदी बनाकर जीने देता। उसने दूसरे मार्ग का अवलम्बन किया, क्योंकि सारे पंजाब को सँभालने के लिए जितनी सैन्य-शक्ति आवश्यक थी, वह उसके पास नहीं थी। सिख सिपाहियों की वीरता ने अंग्रेजों के दिल दहला दिये थे। कई अनुभवी योद्धाओं का कहना था कि यदि कहीं सिख सिपाहियों को वीर और ईमानदार नेता मिल जाते तो शायद अंग्रेज़ों के लिए उन्हें परास्त करना सम्भव न होता। ऐसे हठीले सिपाहियों के देश का सँभालना बहुत कठिन समझकर हार्डिग ने मध्य मार्ग का अवलम्बन किया। अंग्रेज़ी सरकार से सिख सरकार की जो सन्धि हुई, उसकी मुख्य रूप से निम्नलिखित शर्तें थीं—

सतलज के बाये पार्श्व की सब भूमि और द्वाबा बिस्त जालन्धर अंग्रेज़ों के अधिकार में चले जायंगे। सिख सरकार डेढ़ करोड़ रुपया हर्जाने के रूप में देगी, जिसका कुछ भाग नकद देगी और शेष के बदले में काश्मीर और हजारा के इलाके देगी। सिख सेना को सीमित कर दिया गया, और उसकी ३६ बड़ी तोपें अंग्रेज़ ले लेंगे। इन और ऐसी ही अन्य अपमान-जनक शर्तों पर दिलीपसिंह को महाराजा, रानी जिन्दां को उसकी संरक्षिका और सरदार लालसिंह को मुख्य मन्त्री स्वीकार किया गया। गवर्नर-जनरल ने वायदा किया कि अंग्रेज़ी सरकार राज्य के अन्तरंग मामलों में कोई दखल न देगी, परन्तु महाराज दिलीपसिंह की रक्षा के लिए पर्याप्त अंग्रेज़ी सेना को १८४६ के अन्त तक लाहौर में रखा जायगा। उस अंग्रेज़ी सेना का सेनापति हैनरी लारेंस को नियुक्त किया गया।

अंग्रेज़ी सरकार ने काश्मीर को सिख राज्य से छीनकर एक ऐसा सौदा किया, जिसकी भारत और इंग्लैण्ड दोनों जगह निन्दा हुई। शायद सिख राज्य के प्रति अन्तर्द्रोह उत्पन्न करने और अंग्रेज़ी सरकार के प्रति पुरानी वफ़ादारी के बदले में काश्मीर का इलाका राजा गुलाबसिंह को बेच दिया गया।

इंग्लैण्ड में अंग्रेज़ी शस्त्रों की इस शानदार सफलता पर बहुत प्रसन्नता प्रकट की गई। गवर्नर-जनरल और सेनापति दोनों को लार्ड की उपाधि से विभूषित किया गया।

पूर्वोक्त सन्धि ६ मार्च १८१६ दिसम्बर के दिन हुई थी। उसी वर्ष १६ दिसम्बर को

उसमें कुछ ऐसे परिवर्तन किये गये, जिससे अंग्रेज़ी शिकंजा और अधिक कस गया। सिख राज्य के संचालन के लिए ८ सिख सरदारों की एक समिति बना दी गई, जो वस्तुतः अंग्रेज़ रेज़ीडेण्ट की कठपुतली थी। इस प्रकार १८४६ की समाप्ति से पहले ही सिख राज्य प्रायः अंग्रेज़ों के अधिकार में चला गया।

पचपनवाँ अध्याय

डलहौजी का पहला शिकार—पंजाब

१८४६ की सन्धि से पंजाब के शासन की जो व्यवस्था हुई थी, वह दोनों ही पक्षों के लिए असन्तोषजनक थी। भारत में उस समय विद्यमान अंग्रेजों में अधिक संख्या ऐसे लोगों की थी, जिनकी सम्मति यह थी कि लार्ड हार्डिंग ने सिखों के साथ बहुत अधिक नर्म व्यवहार किया है। उनका मत था कि जब दिलीपसिंह के रनजीतसिंह का औरस पुत्र तक होने में सन्देह है, और जब सिखों की शक्ति टूट चुकी है, तब नाम मात्र के सिख राज्य को जीवित रखने से कोई लाभ नहीं, प्रत्युत हानि की सम्भावना अधिक है।

दूसरी ओर सिख सिपाहियों के अरमान भी नहीं बुझे थे। उन्हें विश्वास हो गया था कि सामने की लड़ाई में अंग्रेज़ी सेना के सिपाही खालसा की बराबरी नहीं कर सकते। वे समझते थे और उनका समझना बहुत कुछ सत्य भी था कि सिखों की पराजय अच्छे और ईमानदार नेताओं के अभाव के कारण हुई। उन युद्धों के अंग्रेज आलोचकों ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि यदि सिख सेना का नेतृत्व किसी योग्य सेनापति के हाथ में होता, तो युद्ध का परिणाम कुछ और ही होता।

दोनों ओर एक अतृप्त पिपासा बनी हुई थी। उसका पहला परिणाम तो हम देख आये हैं कि १८४६ के पूरा होने से पहले ही एक सन्धि को तोड़कर दूसरी सन्धि करनी पड़ी। रानी जिन्दां के सलाहकार लालसिंह पर रेज़ीडेंट की ओर से आरोप लगाया गया कि उसने काश्मीर के राजा गुलाबसिंह के विरुद्ध गुप्त षड्यन्त्र किया है। अतः उसे मुख्य मन्त्री के पद से अलग करके बनारस भेज दिया गया।

भारत में शासन करने वाले अंग्रेज़ों की ऐसी मनोवृत्ति केवल पंजाब के बारे में ही नहीं बनी थी। वे सारे देश के देसी राज्यों के विषय में ही इस परिणाम पर पहुँच चुके थे कि अब उनका जीवित रखना अनावश्यक तो है ही, नीति-विरुद्ध भी है। उनका कहना था कि अब अंग्रेज़ भारत के अधिपति हो चुके हैं। भारत उनके साम्राज्य का भाग बन चुका है। ऐसी दशा में इन देशी राज्यों की लाशों को आँगन में पड़े रहने देना ठीक नहीं है।

भारत के अंग्रेज़ शासकों की मनोवृत्ति की यह दशा थी जब लार्ड हार्डिंग के स्थान पर गवर्नर-जनरल नियुक्त होकर लार्ड डलहौजी भारतवर्ष में आया। इंग्लैण्ड से वह क्या आदेश लेकर चला, यद्यपि इसका कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं है, फिर भी इतना अनुमान लगाया जा सकता है कि २० वर्ष पहले की भाँति अब इंग्लैण्ड की सरकार ने यह परामर्श देना छोड़ दिया था कि भारत में ब्रिटिश राज्य की सीमा को न बढ़ाया जाय। सिन्ध के विजय ने उन्हें विश्वास दिला दिया था कि पके हुए आम की तरह भारत के प्रान्त टपककर साम्राज्य की टोकरी में पड़ने को तैयार हैं।

लार्ड हार्डिग के समय पंजाब में सर हेनरी लॉरेंस को रेज़ीडेंण्ट नियुक्त किया गया था। लॉरेंस प्रकृति से नर्म था और व्यवहार में दूरदर्शी था। उसने अपने व्यवहार से सिख सरदारों को मोह लिया था। वह रोगी होकर विलायत चला गया तो उसके स्थान पर सर फ्रेडरिक करी को रेज़ीडेण्ट बनाया गया। करी लॉरेंस से बिल्कुल उलटा व्यक्ति था। उसने पहले सिख युद्ध के अवसर पर एक पत्र में मेजर ब्राडफुट को लिखा था कि जब दिलीपसिंह के रनजीतसिंह का सच्चा उत्तराधिकारी तक होने में सन्देह है तो उसकी सत्ता की रक्षा के लिए अंग्रेजों का रक्त बहाना बिल्कुल पागलपन है।

करी के काम सँभालने के बाद, शीघ्र ही, छेड़-छाड़ शुरू हो गई। यों तो लाहौर में दिलीपसिंह का राज्य था, और रानी जिन्दां की सरक्षा थी, परन्तु असली मे राज्य की नकेल रेज़ीडेण्ट के हाथ में थी। वह जब और जहाँ चाहता, दखल दे देता। १८४८ में, ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधि सर फ्रेडरिक करी ने, सिख राज्य के एक सूबे मुल्तान में हस्तक्षेप करने का निश्चय किया।

मुल्तान को, महाराज रनजीतसिंह ने १८१८ में जीता था, और दीवान सावनमल को उसका सूबेदार बना दिया था। सावनमल बहुत कुशल शासक था। १८४६-५० के शासन की जो रिपोर्ट पजाब के एडमिनिस्ट्रेशन बोर्ड की ओर से प्रकाशित हुई थी, उसमें लिखा था—

"जब सावनमल को मुल्तान का प्रबन्ध सौंपा गया, तब उस प्रान्त का बड़ा भाग मरुस्थल की तरह उजाड़ पड़ा था। लड़ाई, डकैती और असुरक्षा ने मिलकर आबादी को क्षीण कर दिया था—यद्यपि पहले ही वहाँ की आबादी बहुत कम थी। सावनमल ने नहरें खुदवाईं और आसपास के इलाकों से लाकर लोगों को बसाया। कुछ वर्षो मे मुल्तान के बंजर इलाकों से काफ़ी लगान वसूल होने लगा था।"

सावनमल की मृत्यु पर उसका लड़का मूलराज मुल्तान का सूबेदार बना। राज्य में गड़बड़ होने का प्रायः यह परिणाम होता है कि लगान की वसूली रुक जाती है। इधर लाहौर में भी उथल-पुथल हो रही थी। मूलराज को लगान वसूल करने में कठिनाई होने लगी, इस कारण वह नज़राने की राशि लाहौर सरकार के पास न भेज सका। जब उस पर बहुत ज़ोर डाला गया, तो वह स्वयं लाहौर आया, और १८ लाख की बड़ी रक़म देने में असमर्थता प्रकट करके मुल्तान की सूबेदारी से त्यागपत्र देने की इच्छा प्रकट की। उस समय में अंग्रेजी सरकार का रेज़ीडेण्ट सर हेनरी लॉरेंस था। उसकी प्रकृति नर्म थी। उसने मूलराज को समझा-बुझाकर और समझौता करके मुल्तान वापिस भेज दिया।

नया रेज़ीडेण्ट फ्रेडरिक करी उग्र प्रकृति का व्यक्ति था। उसकी दृष्टि से मुल्तान का सूबा सोने के अण्डे देने वाली मुर्ग़ी के समान था। या तो मुर्ग़ी बराबर अण्डे देती रहे अथवा उसे जिबह किया जाय। करी ने मूलराज पर इतना दबाव डाला कि उसे त्यागपत्र देना पड़ा। लाहौर की सरकार ने उसके स्थान पर खानसिंह नामक एक सिख सरदार को नियुक्त कर दिया और उसे ऐग्न्यू (Agnew) और एण्डर्सन (Anderson) नाम के दो अंग्रेज़ अफ़सरों की संरक्षा में मूलराज से सूबे का काम सँभालने के लिए भेज दिया।

खानसिंह, दोनों अंग्रेज़ अफ़सर और उनके ३५० सिपाही १८ मार्च को मुल्तान पहुँचे। मूलराज ने उनका शानदार स्वागत किया। दूसरे दिन मूलराज ने ख़ज़ाने की चाबी खानसिंह को दे दी। चाबी सँभालकर जब खानसिंह और अंग्रेज़ अफ़सर क़िले से बाहर जाने लगे तो ऐग्न्यू कुछ पीछे रह गया। वह घोड़े पर चढ़ रहा था कि दो सिख सवार उस पर टूट पड़े, और उसे घायल कर दिया। घायल ऐग्न्यू को हाथी पर डालकर खानसिंह और उसके हिमायती तेज़ी से क़िले के बाहर निकल गये और ईदगाह में इकट्ठे हो गये। वह रात भर वहीं रहे।

रात भर उन पर क़िले से गोलाबारी होती रही। सुबह होने पर मुल्तान की सेना ने उन्हें चारों ओर से घेर लिया। अंग्रेज़ अफ़सरों और उनके साथियों ने काफ़ी दृढ़ता से सामना करने का प्रयत्न किया, परन्तु अन्त में दोनों अंग्रेज़ मार डाले गये, और खानसिंह कैदी बना लिया गया।

यह समाचार जब लाहौर पहुँचा, तो रेज़ीडेण्ट और अन्य अंग्रेज़ अफ़सरों का अत्यन्त विक्षुब्ध होना स्वाभाविक ही था, परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि फ्रेडरिक करी ने किसी अंग्रेज़ सेनापति के नेतृत्व में सुसंगठित सेना को उपद्रव के दबाने के लिए न भेजकर सरदार शेरसिंह अटारी वाले के सेनापतित्व में खालसा फ़ौज को मुल्तान रवाना किया। उस समय कहा यह गया कि अंग्रेज़ तो केवल महाराज दिलीपसिंह के रक्षक हैं, वस्तुतः हुकूमत उनकी नहीं है, इस कारण उपद्रव को दबाने का काम सिख सेना को ही करना चाहिए। परन्तु जानकारों का अनुमान था कि असली कारण दूसरा ही था। अंग्रेज़ शासक यह जानते थे कि सिख सेना मूलराज को परास्त न कर सकेगी, क्योंकि उसमें न अच्छा नेतृत्व था, और न नियन्त्रण। अंग्रेज़ी सरकार की मंशा यह थी कि यदि शेरसिंह ने मूलराज को हटा दिया तो दो अंग्रेज़ अफ़सरों का बदला मिल जायगा, परन्तु यदि यह परिणाम न हुआ तो सिखों की शक्ति परस्पर लड़ाई में नष्ट हो जायगी, और तब अंग्रेज़ों के लिए पंजाब को ब्रिटिश राज्य में मिला लेना सरल हो जायगा।

रेज़ीडेण्ट ने इधर शेरसिंह को मुल्तान भेजा, और उधर दो नये कार्य ऐसे कर दिये, जिससे प्रान्त भर के सिखों में असन्तोष की लहर चल गई। उसने यह आरोप लगाकर कि उसने गुप्तरूप से दीवान मूलराज को विद्रोह के लिए भड़काया है रानी जिन्दां को देश-निकाला दे दिया और पेन्शन देकर बनारस भेज दिया। सिख लोग उसे खालसा की 'माँ' मानते और पुकारते थे।

दूसरा काम यह किया कि मुल्तान भेजी गई सेना के सेनापति सरदार शेरसिंह के पिता, सरदार छतरसिंह के विरुद्ध आक्रमणात्मक कार्रवाई प्रारम्भ कर दी। छतरसिंह अटारी वाला सिख सरदारों में सर्वसम्मानित व्यक्ति माना जाता था। वह हज़ारा ज़िले का सूबेदार था। वहाँ की अंग्रेज़ी सेना के कैप्टेन ऐबट के दिल में यह बात समा गई कि छतरसिंह अंग्रेज़ों का शत्रु है। उसने आस-पास के मुसलमानों को इकट्ठा करके ख़ूब भड़काया और यह आशा दिलाकर कि अब काफ़िर सिखों से बदला लेने का समय आ गया है, फ़ौज में भर्ती करके छतरसिंह से भिड़ा दिया।

एक और अंग्रेज़ सूरमा ने भी ऐबट का अनुकरण किया। उसका नाम लैफ़्टिनेंट एड्वर्ड्ज़ (Edwards) था। उसने सरहद के मुसलमानों को उकसाकर सिखों से लड़ने के लिए तैयार कर लिया, और उसके अपने ही शब्दों में "उसके नेतृत्व में मुसलमान सेनाओं की टुकड़ी सिख सेना रूपी शेर पर कुत्ते की तरह भौंकने लगी।"

इन सब घटनाओं और अंग्रेज़ों की सिख-विरोधिनी प्रवृत्तियों का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि शेरसिंह के नेतृत्व में जो सिख सेना मूलराज के दमन के लिए भेजी गई थी, उसका बड़ा भाग मूलराज से जा मिला। इतना ही नही, विद्रोह की आग चारों ओर फैलती हुई पंजाब भर में व्याप्त हो गई।

इस प्रकार, अपने व्यवहार से लगाई हुई विद्रोह की आग को देखकर अंग्रेज़ कुछ आश्चर्यित नहीं हुए। इसकी तो वे आशा ही रखते थे। जब नये गवर्नर-जनरल लार्ड डलहौज़ी को ये सब समाचार मिले, तब उसने अपने मानसिक भावों को निम्नलिखित उद्गार द्वारा प्रकाशित किया। उसने १० अक्तूबर की घोषणा में कहा—

"बग़ैर किसी चेतावनी के, और बग़ैर किसी दृष्टान्त के, सिख जाति ने हमारे विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी है। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि वह युद्ध उन्हें सूद सहित वापिस दिया जायगा।"

नये गवर्नर-जनरल की यह घोषणा उसकी प्रवृत्तियों की सूचना दे रही थी। घोषणा के शब्दों में दृढ़ निश्चय के साथ एक विशेष अभिमान और निर्दयता का मिश्रण दिखाई देता था। लार्ड डलहौज़ी स्काटलैण्ड के एक पुराने नवाबी ढंग के परिवार का उत्तराधिकारी था। गवर्नर बनने के समय उसकी आयु केवल ३५ वर्ष की थी। इंग्लैण्ड में उसे बहुत तेजस्वी और होनहार नवयुवक माना गया था और क्योंकि भारतवर्ष को उस समय एक अत्यन्त जोशीले शासक की ज़रूरत थी, इसलिए इस छोटी आयु में लार्ड डलहौज़ी को भारत के करोड़ों निवासियों और दर्जनों राजवंशों का भाग्य-विधाता बना दिया गया।

लार्ड हार्डिंज बहादुर सिपाही और योग्य शासक था। उसमें सिपाहियों वाली वीरता भी थी, और विजय प्राप्त कर लेने पर उदारता भी। परन्तु लार्ड डलहौज़ी उससे उल्टा था। वह स्वयं योद्धा नहीं था। वह काग़ज़ और मेज़ का वीर था, शायद इसी कारण उसमें उदारता का लगभग अभाव था। वह स्वभाव से अभिमानी, काम करने में अत्यन्त परिश्रमी परन्तु प्रकृति से अनुदार था। भारत में कम्पनी-राज्य के इतिहास में उसका लगभग वही स्थान है, जो मुग़ल साम्राज्य के इतिहास में औरंगज़ेब का था।

लार्ड डलहौज़ी की युद्ध-घोषणा के पश्चात् अंग्रेज़ी सरकार के प्रधान सेनापति लार्ड गफ ने सतलज पार करके पंजाब पर विधिपूर्वक आक्रमण कर दिया। पहली लड़ाई चिनाव नदी के तट पर हुई। वहाँ जीत-हार का कोई निश्चय न हो सका। दूसरी लड़ाई चिलियांवाला पर हुई। यह ग्राम झेलम के तट पर है। चिलियाँवाला की लड़ाई लार्ड गफ की अदूरदर्शिता और सिखों की वीरता के लिए प्रसिद्ध है। लार्ड गफ ने आगा-पीछा न सोचकर अपनी सेनाओं को सीधा आक्रमण करने की आज्ञा दे दी। सिख योद्धाओं ने खूब

जमकर मुकाबला किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि यद्यपि सिख सेनाओं को तीन मील पीछे हट जाना पड़ा, परन्तु अंग्रेज़ों की बेहद हानि हुई। उनके ८९ अफ़सर मारे गये, और हजारों सिपाही घायल और मृत हुए।

चिलियाँवाला की लड़ाई के समाचारों ने अंग्रेज़ी सरकार के केन्द्रों में तहलका-सा मचा दिया। लार्ड गफ के विरुद्ध ऐसा हाहाकार मचा कि डलहौज़ी ने लार्ड गफ़ को प्रधान सेनापति पद से ही हटा दिया, और उसकी जगह सिन्ध के विजेता सर चार्ल्स नेपियर को नियुक्त कर दिया। परन्तु इससे पहिले कि नैपियर पंजाब में पहुँचकर सेना की कमान सँभालता, लार्ड गफ ने गुजरात के युद्ध में सिखों की सेना को पूर्ण रूप से पराजित कर दिया। उसे लेखकों ने 'तोपों का युद्ध' नाम से विशेषित किया है। उस लड़ाई का वर्णन करते हुए अंग्रेज इतिहास-लेखक मैलिसन ने लिखा है—"सिख सिपाही जिस वीरता से लड़े, उससे अधिक वीरता से कोई सिपाही नहीं लड़ सकता, और उनका नेतृत्व जितना बुरा किया गया, उससे बुरा नेतृत्व सम्भव नहीं।" सिखों की बहुत हानि हुई। उनके हजारों सिपाही हताहत हुए, और अधिकांश तोपें या तो नष्ट हो गई, अथवा अंग्रेज़ों के हाथ आ गईं। यह लड़ाई २२ फरवरी को हुई। एक महीना पीछे मुल्तान की लड़ाई भी समाप्त हो गई। महीनों के घेरे के पश्चात् साधनों से समाप्त हो जाने से मूलराज ने हथियार डालकर आत्मसमर्पण कर दिया। १२ मार्च को सारी सिख सेना ने हार मानकर युद्ध बन्द कर दिया, और उनके साथी पठान सिपाही भी पीठ दिखाकर भाग निकले। इस प्रकार अच्छे नेतृत्व के अभाव के कारण इस दूसरे युद्ध में भी सिखों को पराजय का मुख देखना पड़ा।



लार्ड डलहौज़ी

अब यह प्रश्न उठा कि पंजाब के साथ क्या सलूक किया जाय? उसमें सिख राज्य को क़ायम रखते हुए परस्पर सहायक सन्धि में बाँधा जाय या उसे ब्रिटिश राज्य में पूरी तरह मिलाकर एक अलग प्रान्त बना दिया जाय। भारत में सर हेनरी लॉरेंस और विलायत में कई नीतिज्ञों की यह सम्मति थी कि महाराज दिलीपसिंह से राज्य को चलने दिया जाय परन्तु ऐसी व्यवस्था की जाय कि निजाम-सिन्धिया आदि कई की तरह वह सिर उठाने योग्य न रहे। परन्तु फ्रेडारिक करी, जान लॉरेंस आदि कई अधिकारियों का मत था कि सिख जाति आसानी से काबू में आने वाली नहीं है। उसे एक बार ही पूरी तरह वश में कर लेना चाहिए, अन्यथा हर रोज़ का झगड़ा रहेगा। लार्ड हार्डिंज ने सुबराओं की जीत के पश्चात् पहले मार्ग का अनुसरण किया था, डलहौज़ी ने मुल्तान-पतन के बाद दूसरे मार्ग का अवलम्बन किया। उसने 'अपनी ज़िम्मेदारी' पर पंजाब का ब्रिटिश राज्य में पूर्ण विलय कर दिया। प्रान्त के प्रबन्ध

के लिए तीन अंग्रेज़ अफ़सरों की एक समिति बना दी गई, जो गवर्नर-जनरल के अनुशासन में कार्य करने लगी।

स्वाधीनता का कोई अंश भी शेष न रहे, इसलिए दिलीपसिंह को विलायत भेज दिया गया, सब लोगों से हथियार छीन लिये गये, और छोटे-से-छोटे अधिकार पर भी अंग्रेज़ कर्मचारी नियुक्त कर दिये गये। डलहौज़ी अपने शासन-काल में जिस नीति का अवलम्बन करने वाला था, उसकी यह पहली झाँकी थी।

छप्पनवाँ अध्याय

डलहौज़ी का दूसरा शिकार—बर्मा

मैंने इससे पहले अध्याय में डलहौज़ी की औरंगज़ेब से उपमा दी थी। वह उपमा पंजाब के दृष्टान्त से उतनी स्पष्ट नहीं होती, जितनी बर्मा के दृष्टान्त से। अब हम बर्मा के कवलीकरण का जो वृत्तान्त सुनाने लगे हैं, उसमें वह सब विशेषतायें सर्वथा स्पष्ट रूप से प्रकट हो जायेंगी, जिनके कारण हम मुग़ल साम्राज्य के अन्तिम महान् बादशाह और कम्पनी राज्य के अन्तिम महान् गवर्नर-जनरल को एक दूसरे के सदृश मानते हैं।

औरंगज़ेब व्यक्तिगत रूप से बहुत परिश्रमी और योग्य था। उसकी बुद्धि बहुत पैनी थी, और कार्य-शक्ति अद्भुत थी। जिस काम में पड़ता था, पूरे दिल से पड़ जाता था, प्रबन्ध की छोटी से छोटी बात पर अधिक से अधिक ध्यान देता था। इन गुणों के साथ उसमें दो दोष थे। पहला दोष तो यह था कि वह भारत के मूल निवासियों को अत्यन्त तुच्छ मानता था। वह सचमुच मानता था कि हिन्दुओं पर इस्लामी हुकूमत क़ायम करने में उन्हीं का भला है। उसका दूसरा दोष यह था कि उसकी महत्वाकांक्षा की कोई सीमा नहीं थी।

डलहौज़ी में भी लगभग यही गुण और दोष पाये जाते थे, मेरे इस कथन की पुष्टि उस घटना-चक्र से होगी, जिस द्वारा बर्मा का निचला भाग ब्रिटिश राज्य में मिलाया गया। इतिहास-लेखकों ने उस घटनाचक्र का 'बर्मा का दूसरा युद्ध' इस शीर्षक के नीचे वर्णन किया है। बर्मा के दूसरे युद्ध के औचित्य या अनौचित्य के सम्बन्ध में इतिहास-लेखकों में मतभेद हो सकता है, परन्तु घटना-चक्र के सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं। डलहौज़ी के भक्तों और उसके आलोचकों ने भी घटना-चक्र का उसी क्रम से वर्णन किया है। वह इस प्रकार है—

अंग्रेज़ों का बर्मा के राजा से जो पहला युद्ध हुआ था, उससे अंग्रेज़ों को बर्मा में व्यापार की बहुत सी सुविधाएँ मिल गई थीं, परन्तु बर्मा के किसी बड़े भाग पर अधिकार नहीं मिला था। इससे अंग्रेज़ों को अपना पूर्वीय सीमाप्रान्त असुरक्षित-सा प्रतीत होता था। पंजाब पर विजय प्राप्त होने से उनकी भूख शान्त होने की जगह और बढ़ गई। वह सोचने लगे थे कि जैसे पंजाब को जीतने से ब्रिटिश राज्य का पश्चिमोत्तरी सीमाभाग सर्वथा सुरक्षित हो गया है, वैसे ही बर्मा पर अधिकार करके पूर्व के सीमाप्रान्त को सुरक्षित क्यों न कर लिया जाय।

जब इच्छा उत्पन्न हो गई, और शक्ति भी थी तो बहाना ढूँढ़ना क्या कठिन था। रंगून के कुछ व्यापारियों ने अंग्रेज़ गवर्नर-जनरल के पास इस आशय की शिकायत भेजी कि बर्मा राज्य के अधिकारी उन्हें तंग करते हैं और ज़बर्दस्ती रुपया ऐंठते हैं। दृष्टान्त के तौर पर एक अंग्रेज अफ़सर का मामला पेश किया गया, जिस पर बर्मा के अधिकारी ने चलते जहाज़ से एक अंग्रेज को फेंक देने का अपराध लगाकर उससे जुर्माने के ७० पौंड वसूल किये थे। बर्मा के अधिकारी का अपराध इतना बड़ा समझा गया कि भारत सरकार की ओर से

बर्मी गवर्नर से हर्जाने के तौर पर ९२० पौंड की माँग की गई।

बर्मा की सरकार अभी हर्जाने के सम्बन्ध में विचार ही कर रही थी, कि लार्ड डलहौज़ी ने मामला अपने हाथ में ले लिया। उसने हर्जाने की वसूली के लिए लैम्बर्ट नाम के एक अफ़सर की कमान में दो जहाज रंगून के लिए रवाना कर दिये। कमोडोर लैम्बर्ट पूरा आग का परकाला था। लार्ड डलहौज़ी ने अपने पत्रों में लिखा है कि उसने लैम्बर्ट को शान्तिपूर्वक मामले को तय करने का आदेश दिया था। दिया होगा, परन्तु लैम्बर्ट ने मामले को बिगाड़ने में कोई कसर न छोड़ी। लार्ड डलहौजी ने स्वयं एक पत्र में यह सम्मति प्रकट की थी कि ये कमोडोर इतने भड़कनेवाले होते हैं कि सुलह करना उनके बस का काम नहीं। बर्मा के राजा को जब लैम्बर्ट द्वारा भेजा हुआ गवर्नर-जनरल का पत्र मिला, तब उसने झगड़े को शान्त करने के लिए बड़ी समझदारी का काम किया। जिस गवर्नर से शिकायतें थीं, उसे पदच्युत करके उसके स्थान पर दूसरा गवर्नर नियुक्त कर दिया, और हर्जाने के सम्बन्ध में विचार करना स्वीकार कर लिया।

परन्तु लैम्बर्ट को इतने से सन्तोष कहाँ। वह अधिक जोर डालने के लिए, एक डेपुटेशन लेकर, एक दिन दोपहर के समय, रंगून के नये गवर्नर के स्थान पर जा पहुँचा। गवर्नर उस समय सो रहा था। नौकरों ने मालिक को नींद से उठाना ठीक नहीं समझा, जिससे डेपूटेशन को १५ मिनट तक बाहर प्रतीक्षा करनी पड़ी। इसे कमोडर लैम्बर्ट ने केवल अपना ही नहीं सर्वशक्तिसम्पन्न अंग्रेज़ सरकार का भी घोर अपमान समझा, और क्रोध मे आकर बर्मा के एक जहाज़ पर, जिसे 'यैलोशिप' कहा जाता था, कब्ज़ा कर लिया, और उसे किनारे से खोलकर अपने जहाज़ों के पास खड़ा कर लिया। बर्मा के अधिकारियों ने जब देखा कि उनका एक जहाज़ छीना जा रहा है, तो स्वभावतः उसे शत्रुता का कार्य समझा गया और किनारे से जहाज़ों पर गोली चलाई गई। इस पर लैम्बर्ट ने निम्नलिखित घोषणा कर दी—

"गवर्नर-जनरल द्वारा दिये गये अधिकारों के आधार पर मै घोषणा करता हूँ कि रंगून, बस्सीन, मोलमीन से ऊपर बसीन की नदियाँ जहाज़ों के यातायात के लिए बन्द कर दी गई हैं। इस आज्ञा का सख़्ती से पालन हो सके, इस उद्देश्य से पर्याप्त शक्ति नदियों के मुहानों पर रखी जायेगी।"

इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध उदार नेता मि० कौबडन ने बर्मा की दूसरी लड़ाई के सम्बन्ध में एक पुस्तिका लिखकर लार्ड डलहौज़ी की बलात्कारपूर्ण नीति की कड़ी आलोचना की थी। कमोडोर लैम्बर्ट की पूर्वोक्त आज्ञा के सम्बन्ध में उसमें लिखा है, कि यह आश्चर्य की बात है कि कमोडोर की घोषणा में गवर्नर-जनरल द्वारा दिये गये अधिकार का स्पष्ट निर्देश होने पर भी गवर्नर-जनरल ने किसी पार्लमेण्टरी पत्र में न तो उसकी पुष्टि की है, और न ही उसकी निन्दा। इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि गवर्नर-जनरल ने जहाँ लिखित रूप में कमोडोर कैम्बल को शान्त रहने का आदेश दिया था, वहाँ ज़ुबानी तौर पर यह छूट दे दी थी कि वह अवसर पाकर युद्ध जारी कर दे।

इस प्रकार विधिपूर्वक प्रयत्न करके अंग्रेज़ी सरकार ने बर्मा से लड़ाई छेड़ी।

कमोडोर के भेजे हुए रंगून की नाकाबन्दी के समाचार जब लार्ड डलहौज़ी के पास पहुँचे तो इसकी जगह कि वह कमोडोर को अनधिकार चेष्टा करने के लिए धिक्कारता, उसने बर्मा के राजा को अल्टीमेटम देकर लड़ाई की तैयारी शुरू कर दी। लार्ड डलहौज़ी आधे दिल से कोई कार्य करना नहीं जानता था। जब लड़ाई का निश्चय कर लिया तब उन सब भूलों से बचने के लिए, जो बर्मा के पहले युद्ध में हुई थीं, उसने छोटी से छोटी चीज़ की व्यवस्था अपनी देखभाल में कराई। युद्ध-घोषणा के बाद दो मास के अन्दर-अन्दर अंग्रेज़ों के बेड़े ने रंगून पहुँचकर सेनायें उतार दीं। बर्मा के राजा के पास न पर्याप्त युद्ध-सामग्री थी, और न योग्य नेता थे। युद्ध आरम्भ होने के कुछ समय पीछे स्वयं गवर्नर-जनरल रंगून जा पहुँचा और आक्रमण को तेज़ करके वर्ष की समाप्ति से पहले ही बर्मा के सम्पूर्ण उत्तरीय भाग पर अधिकार कर लिया।

अब यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि बर्मा के जीते हुए भाग का क्या किया जाय? बर्मा के राजा से कोई सन्धि की जाय, या उतने भाग को ब्रिटिश राज्य में मिला लिया जाय। लार्ड डलहौज़ी की अटल सम्मति थी कि बर्मा के राजा से सन्धि करना व्यर्थ है—बर्मा के लोगों का भला इसी में है कि उसके जीते हुए भाग को अपनी छत्रछाया में ले लिया जाय। अपने इस मत को कोर्ट ऑव डायरेक्टर्स के सामने रखते हुए लार्ड डलहौज़ी ने जिस भाषा का प्रयोग किया था, उससे उसकी अपनी और उस समय के अंग्रेज़ों की मनोवृत्ति का पता चलता है। १८४८ में डायरेक्टरों को पत्र लिखते हुए डलहौज़ी ने लिखा था—

"मैं दूरदर्शिता और समझदार नीति का यह तकाजा समझता हूँ कि ब्रिटिश सरकार भूमि और आय बढ़ाने के ऐसे अवसरों को हाथ से न जाने दें, जो उसके सामने आयें। वह अवसर चाहे तो ऐसे लैप्स के कारण आयें जिसमें कोई किसी प्रकार का भी उत्तराधिकारी न हो, अथवा इस कारण आयें कि जो गोद लिया गया है, उसे अंग्रेज़ी सरकार ने स्वीकार नही किया।"

लार्ड डलहौज़ी के इन वाक्यों से यह अभिप्राय स्पष्ट रूप में प्रकट होता है कि ब्रिटिश सरकार को छल से हो या बल से, राज्य और आमदनी बढ़ाने का कोई मौक़ा न छोड़ना चाहिए।

बर्मा के दूसरे युद्ध के सम्बन्ध में इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध नेता मि० कौबडन ने जो पुस्तिका लिखी थी, उसमें लार्ड डलहौज़ी की नीति और कार्यों की बहुत कड़ी अलोचना की थी। मि० कौबडन ने युद्ध आरम्भ होने की घटना का उल्लेख करते हुए लिखा है—

"रंगून के गवर्नर के व्यवहार की शिकायत अब गौण हो गई है। अब तो राजनीति के पण्डितों, इतिहास-लेखकों और धर्मशास्त्रियों के लिए यह प्रश्न विचारणीय हो गया है कि क्या बर्मा के राजा की अनुकूल प्रवृत्ति को जानते हुए भी बर्मा के निवासियों से युद्ध जारी रखना उचित था?"

कमोडोर लैम्बर्ट ने युद्ध की घोषणा होने से पहले ही बर्मा के एक जहाज़ को हथिया-कर युद्ध आरम्भ कर दिया, इस पर मि० कौबडन ने अपनी जाति से यह प्रश्न किया है कि

लैम्बर्ट ने जो कुछ बर्मा वालों के जहाज़ के साथ किया, यदि वही कुछ इंग्लैण्ड का कोई अफ़सर अमरीका के जहाज़ के साथ करता तो उसका परिणाम क्या होता ? आपने प्रश्न उठाया है—

"वह समाचार जब इंग्लैण्ड में पहुँचता तब उसका क्या असर होता ? क्या इससे किसी को सन्देह है कि इंग्लैण्ड के एक सिरे से दूसरे सिरे तक यही माँग उठती कि कमोडोर लैम्बर्ट को अपमानित और दण्डित किया जाय ! प्रश्न यह है कि अमेरिका और बर्मा के लिए हम न्याय के दो भिन्न-भिन्न पैमाने क्यों रखते हैं ? पाठक, यदि आप अंग्रेज़ हैं तो अपनी आत्मा से पूछिये । क्या इसका यही ठीक उत्तर नहीं है कि अमेरिका बलवान् है और बर्मा निर्बल है।"

मि० कौबडन के इस प्रश्न और उत्तर में उस समय राज्य-लोलुप अंग्रेज़ों की मनोवृत्ति का पूरा-पूरा चित्र खिच गया है । सच बात इतनी ही है कि बर्मा पर भारत की अंग्रेज़ी सरकार के दाँत थे, समय अनुकूल देखकर उन्होंने युद्ध छेड़ दिया, और जितना भाग सुगमता से जीता जा सका, जीतकर अपने राज्य में मिला लिया । आगे बढ़ने में ख़तरा था—इस कारण बर्मा के उपरले भाग को दूसरी बार के लिए छोड़ दिया गया । उस समय के यूरोपियन लोगों की राजनीति और धर्मनीति का यह एक चमकता हुआ नमूना है ।

सत्तावनवाँ अध्याय

लैप्स की लूट-खसूट

जाब और बर्मा के अधोभाग पर अंग्रेज़ों ने जो विजय प्राप्त की, वह युद्ध का परिणाम थी। वह युद्ध उचित था, या अनुचित, सकारण था, या अकारण—यह दूसरी बात है, परन्तु वह था युद्ध ही—इस कारण संसार के प्रचलित नियम के अनुसार उसे जीत कह सकते हैं। परन्तु अब इसके आगे लार्ड डलहौज़ी ने जिन रियासतों को अंग्रेज़ी राज्य में मिलाया, उनसे न लड़ाई हुई, और न सन्धि हुई। उन्हें जिस विधि से अंग्रेज़ी राज्य का अंग बनाया गया, उसका व्यावहारिक नाम 'लूट-खसूट' ही रखा जा सकता है।

'लूट-खसूट' को दो हिस्सों में बाँटा जा सकता है। दोनों हिस्सों के सरकारी और शिष्ट नाम भी अलग हैं। एक का नाम 'लैप्स' (Laps) है और दूसरे का नाम है 'इण्टर्नल रिफार्म' (Internal Reform)।

पहले हम लैप्स के नाम से की गई लूट-खसूट की चर्चा करेंगे। भारतवर्ष में यह पुरानी प्रथा चली आई है कि यदि किसी गृहस्थ की कोई सन्तान उत्तराधिकार पाने के योग्य न हो, तो उसे गोद लेने का अधिकार रहा है। यह प्रथा धार्मिक तथा सांसारिक—दोनों ही दृष्टियों से उपयुक्त थी। इसका धार्मिक पहलू यह था कि गोद लिया हुआ बच्चा गोद लेने वाले माता-पिता के श्राद्ध तथा तर्पण कर सकेगा। सांसारिक पहलू यह था कि उनकी सम्पत्ति को बिखरने से बचा सकेगा। वह उनकी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होगा। यह प्रथा अत्यन्त प्राचीन काल से चली आई थी—अंग्रेज़ों ने भी क़ानूनी तौर पर इसे अंगीकार कर लिया था। उस समय से पूर्व सारे देश में सैकड़ों दृष्टान्त ऐसे हो चुके थे, जिनमें गोद लिये हुए उत्तराधिकारियों ने राजगद्दी प्राप्त की, और अंग्रेज़ी सरकार ने उसे मान्यता दे दी।

हमने तेरहवें अध्याय में बतलाया था कि लार्ड डलहौज़ी के समय अंग्रेज़ों का दृष्टिकोण बदल चुका था। उस परिवर्तित दृष्टिकोण का एक नमूना यह भी था कि दत्तक लेने के अत्यन्त प्राचीन सर्वसम्मत सिद्धान्त में एक नई पख लगा दी गई। वह यह थी कि छोटी रियासतों के शासकों के गोद लिये हुए उत्तराधिकारी को मान्यता देने या न देने का अधिकार अंग्रेज़ी सरकार को है। अंग्रेज़ी सरकार अब अपने आपको 'Suzerain Power' भारत की चक्रवर्ती शक्ति के नाम से विशेषित करने लगी थी। वह व्यवहार में भारत की रियासतों की भाग्यविधाता बनने का दावा करने लगी थी। 'लैप्स' का सिद्धान्त भी उसी दावे का हिस्सा था।

यद्यपि 'लैप्स' के सिद्धान्त का निर्दयतापूर्वक प्रयोग लार्ड डलहौज़ी ने किया, परन्तु यह मानना पड़ेगा कि वह उसका आविष्कार नहीं था। उससे पूर्व १८३५ में भी वह प्रयुक्त हो चुका था। परन्तु जैसे कि अंग्रेज इतिहास-लेखक इन्स (Innes) ने लिखा था—"उसने (लार्ड डलहौज़ी ने) जितनी रियासतों को हथियाया, उनके समान पहले के उदाहरण विद्यमान

थे, परन्तु जहाँ उससे पहिले के अधिकारियों का यह यत्न था कि कवलीकरण (Annexation) से यथासम्भव बचा जाय, वहाँ डलहौज़ी ने इस असूल पर काम किया कि यदि कोई उचित ढंग बन सके तो रियासतों को ब्रिटिश राज्य में विलीन कर लिया जाय।"

लार्ड डलहौज़ी की कवलीकरण नीति के दो मुख्य कारण थे। एक तो यह कि अब भारत में अंग्रेज़ी साम्राज्य की बाह्य सीमायें लगभग निश्चित हो चुकी थीं। उत्तर में दर्रए ख़ैबर, दक्षिण और पश्चिम में समुद्र और पूर्व में अपर बर्मा—इनके बीच के सारे देश को वह अब अपना समझने लगे थे। स्वभावत: उनका यह दृष्टिकोण-सा बन गया था कि जब चारों ओर की रेखायें बन गई हैं, तो बीच की भूमि ऊबड़-खाबड़ क्यों रहे ? क्यों न उसे हमवार करके ब्रिटिश साम्राज्य को सुव्यवस्थित और सुरक्षित कर लिया जाय ?

दूसरा कारण यह था कि लार्ड वैल्ज़ली ने देसी राजाओं के साथ व्यववहार करने की जो नीति निर्धारित की थी, उसमें एक बड़ा दोष था। उसमें राजाओं को उपभोग के सब अधिकार तो प्राप्त थे, परन्तु सुप्रबन्ध का उत्तरदायित्व शून्य के बराबर था। सुप्रबन्ध का उत्तरदायित्व अंग्रेज़ी रेज़ीडेण्ट या सेना पर आ गया था। इस दोष को स्वयं अंग्रेज़ शासक अनुभव करने लगे थे। इस दोष को हटाने के दो उपाय थे। एक तो यह था कि लार्ड वैल्जली की बनाई हुई नीति में ऐसा परिवर्तन किया जाता कि नरेशों के उपभोग करने के अधिकार कम कर दिये जाते और सुप्रबन्ध की उत्तरदायिता बढ़ा दी जाती, जिससे उनके अधिकार और कर्तव्य परस्पराश्रित हो जाते। दूसरा उपाय यह था कि 'लैप्स' के गोले से उड़ाकर उनकी हस्ती ही मिटा दी जाती। लार्ड डलहौज़ी अत्यन्त उग्र स्वभाव का महत्त्वाकांक्षी शासक था। उसने दूसरे मार्ग का ही अवलम्बन किया। अपने शासन में उसने लगभग एक दर्जन छोटी-वड़ी रियासतों के शासकों को पदच्युत करके साम्राज्य की भूमि को हमवार करने का प्रयत्न किया।

'लैप्स' का पहला वार छत्रपति शिवाजी के वंशजों पर हुआ। जब अंग्रेजी सरकार ने पेशवा का नाश करने का निश्चय कर लिया तब शिवाजी के वंशज प्रतापसिंह को सितारा का महाराज घोषित करके महाराष्ट्र के लोगों को अपने पक्ष में कर लिया था। प्रतापसिंह उस समय नाबालिग था। कैप्टेन ग्राण्ट डफ को रेज़ीडेण्ट और महाराज का संरक्षक बनाकर सितारा में स्थापित कर दिया गया। जब प्रतापसिंह वयस्क हुआ और शासन का काम सँभाला तब अंग्रेज़ी सरकार यह देखकर स्तब्ध-सी हो गई कि वह तो सचमुच एक महत्त्वाकांक्षी और योग्य युवक बन गया। चक्रवर्ती राजा योग्य नरेशों को पसन्द नहीं करते। उनकी राय में ऊँचे पेड़ वाटिका की शोभा को बिगाड़ने का कारण बन जाते हैं, और तराशने के योग्य हो जाते हैं। प्रतापसिंह को अयोग्य बतलाकर मोक्ष-प्राप्ति के लिए बनारस भेज दिया गया और उसके भाई को सितारा की गद्दी पर बिठा दिया गया।

१८४८ में दूसरा भाई भी मर गया। दोनों के कोई सन्तान नहीं, इस आधार पर राज्य के उत्तराधिकार को अंग्रेज़ी सरकार ने अपनी पाकेट में डाल लिया। सितारा प्रदेश ब्रिटिश राज्य में मिला लिया गया। महाराज की विधवा ने आवेदन-पत्र द्वारा सरकार से यह

विनती की कि—क्योंकि सितारा का राज्य स्वतन्त्र राज्य था, वह अंग्रेज़ी सरकार को कोई कर या खिराज नहीं देता था, इस कारण उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण न किया जाय, परन्तु 'स्वार्थी दोषं न पश्यंति'। 'लैप्स' के स्वनिर्मित सिद्धान्त का सहारा लेकर सितारा की अलग सत्ता मिटा दी गई। इस कार्य के समर्थन में डलहौज़ी ने यह युक्ति दी थी कि क्योंकि सितारा की गद्दी अंग्रेज़ी सरकार की देन थी, इस कारण अंग्रेज़ी सरकार को उसे छीनने का भी अधिकार था।

दूसरा वार नागपुर के भोंसला राज्य पर हुआ। राघोजी भोंसला १८५३ में मर गया। उसका कोई और उत्तराधिकारी नहीं था। इस पर राघोजी की दादी ने रिश्ते के एक लड़के को दत्तक ले लिया। राघोजी की विधवा भी उस विधान से सहमत थी, परन्तु जब मामला लार्ड डलहौज़ी के पास अन्तिम निर्णय के लिए पहुँचा तो उसने हुक्म दिया कि भोंसला परिवार में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं, जो गद्दी का उत्तराधिकारी समझा जा सके, इस कारण नागपुर की रियासत को तोड़कर उस प्रदेश को अंग्रेज़ी राज्य में मिला लिया जाय। जब सरकार से यह निवेदन किया गया कि दत्तक लेने का अधिकार तो हिन्दूशास्त्र सम्मत और पुराना है, तो उत्तर मिला कि वह अधिकार धार्मिक कृत्यों की पूर्ति के लिए है, राज्य के उत्तराधिकार का उससे कोई सम्बन्ध नहीं।

अंग्रेज़ी सरकार द्वारा नागपुर के विलीनीकरण के प्रसंग में एक घटना ऐसी है, जिसकी उपमा वारेन हेस्टिंग्ज़ के एजेण्टों द्वारा अवध की बेगमों पर किये गये अत्याचारों से ही दी जा सकती है। विलीनीकरण की अनधिकार चेष्टा का काला रंग उस घटना के कारण और भी अधिक गहरा हो जाता है। रानियों के जवाहिरात, कीमती कपड़े और घर का अन्य सामान तक छीनकर बाज़ार में नीलाम कर दिया गया। सरकार के इस कार्य को कई अंग्रेज इतिहास लेखकों ने बहुत निन्दा की है। सर जॉन के (Sir John key) ने बतलाया है कि पहले महल के हाथी, घोड़े और बैलों पर हाथ साफ़ किया गया, उसके पश्चात् रानियों के गहनों और मकान की सजावट के अतिरिक्त कुर्सी, पलँग आदि आवश्यक सामान पर कब्जा होने लगा। यह देखकर वयोवृद्ध राजमाता बंखाबाई इतनी विचलित हो गई कि उन्होंने घोषणा की कि यदि घर के सामान को हाथ लगाया तो महलों को आग लगा देगी। कीमती माल को किस निर्दयता से बेचा गया, इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि औसत से १०० रुपये का सामान ५ रुपयों में नीलाम हुआ।

नागपुर की लूट से अंग्रेज़ी सरकार को लाभ और हानि दोनों हुए। लाभ तो यह हुआ कि रुई का एक महान् केन्द्र हाथ में आ गया। व्यापारिक दृष्टि से यह लाभ हुआ, और हानि यह हुई कि कम्पनी के राज्य की साख सारे देश में कलंकित हो गई। यह अपवाद चारों ओर फैल गया कि अंग्रेज न पुरुषों के मान की परवाह करते हैं और न स्त्री जाति का आदर। वह तो केवल भारत का धन चाहते हैं। इस अपकीर्ति ने कम्पनी राज्य की जड़ों को खोखली करने में अन्य सब कारणों की अपेक्षा अधिक काम किया।

'लैप्स' के तीर से तीसरा जो शिकार मारा गया वह झाँसी का था। १८१७ में

अंग्रेज़ गवर्नर जनरल ने झाँसी के राव रामचन्द्र के राज्याधिकार को एक सन्धि द्वारा अंगीकार कर लिया था। लार्ड विलियम बैंण्टिक ने झाँसी के राव की 'राजा' उपाधि स्वीकार कर ली थी। १८५३ में राजा गंगाधर राव का देहान्त हो गया। राजा ने मृत्यु से पहले अंग्रेज़ राज्याधिकारी को साक्षी बनाकर एक बालक को दत्तक के रूप में ग्रहण कर लिया था। पुराने प्रचलित नियम के अनुसार उचित तो यह था कि राजा की मृत्यु के पश्चात् उसके दत्तक पुत्र को गद्दी का अधिकारी बनाया जाता, और राजा की पत्नी उसकी संरक्षिका के रूप में शासन करतीं, परन्तु लार्ड डलहौज़ी को तो मानों मुँहमाँगी मुराद मिली। उसने आज्ञा दे दी कि हमें दत्तक पुत्र स्वीकार नहीं है, इस कारण झाँसी का राज्य अंग्रेज़ी राज्य में मिला लिया जाय। गुजारे के लिए दत्तक पुत्र को पाँच लाख रुपये की जायदाद और लक्ष्मीबाई को ५०००, की पेन्शन दी गई।

यह हमारा रानी लक्ष्मीबाई से प्रथम परिचय है, इस कारण यहीं उस वीरांगना के प्रारंभिक जीवन के सम्बन्ध में कुछ शब्द लिख देना आवश्यक है। लक्ष्मीबाई के पिता मोरोपन्त तांबे महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे। उनके पिता किसी समय पेशवा के दरबार में उच्च-पदाधिकारी थे। जब बाजीराव बिठूर में क़ैद किये गये, तब लक्ष्मीबाई के पिता उनके साथ वहीं रहने लगे। लक्ष्मीबाई में बचपन से ही होनहारपन के लक्षण पाये जाते थे। वह अत्यन्त सुन्दरी होने के साथ-साथ शस्त्र-विद्या में निपुण और प्रतिभासम्पन्न बालिका समझी जाने लगी। पेशवा की वह इतनी लाडली बन गई कि उन्होंने अपने पुत्र नानासाहब और रावसाहब की भाँति ही उसकी भी शिक्षा का प्रबन्ध कर दिया। फलतः छोटी आयु में ही, लक्ष्मीबाई घोड़े की सवारी, शस्त्रों के संचालन और राज्य सम्बन्धी कार्यों में प्रवीण हो गई। जब अंग्रेज़ सरकार ने उसके राज्य को छीनने का निश्चय किया, तब वह बहुत छटपटाई, और विलायत तक पुकार की, परन्तु उस समय तक विलायत और भारत—दोनों जगह के अंग्रेज़ शासकों के मुँह को रियासत का रक्त लग चुका था—लक्ष्मीबाई की पुकार सर्वथा व्यर्थ गई। अंग्रेज़ सरकार झाँसी को लेकर शायद निश्चिन्त हो गई, परन्तु मनस्विनी लक्ष्मीबाई के हृदय में अपमान और वेदना की कील इतनी गहरी चुभ गई, कि समय उसे निकालने में समर्थ न हुआ। ४ वर्ष बाद, जब देश ने स्वाधीन होने के लिए क्रान्ति के रूप में पहली करवट ली, तब लक्ष्मीबाई भारत की दबी हुई स्वाधीनता का शरीर धारण करके देश के अन्तरिक्ष में बिजली की तरह चमक गई। वह अपनी अद्भुत शूरता से शत्रुओं के दिल दहला गई, और भारतवासियों को यह विश्वास दिला गई कि अभी जगज्जननी की सन्तान के शरीर का रक्त ठंडा नहीं हुआ है।

इन बड़ी रियासतों के अतिरिक्त कुछ और छोटी रियासतें भी 'लैप्स' के प्रयोग द्वारा समाप्त कर दी गईं। बिहार में संबलपुर, बुन्देलखण्ड में जैतपुर, हिमाचल प्रदेश में बघाट, बंगाल में उदयपुर, राजपूताने में करौली, और खानदेश में बुदावल आदि रियासतें, एक के पीछे दूसरी, ब्रिटिश राज्य के पेट में विलीन हो गईं। इन सुलभ सफलताओं से लार्ड डलहौज़ी का साहस बढ़ता गया, और विलायत के देवताओं की भूख में भी वृद्धि होती गई।

अट्ठावनवाँ अध्याय

अवध और बरार

अब हम कवलीकरण के उन मामलों पर आते हैं, जिनके लिए 'लैप्स' का बहाना भी नहीं किया जा सकता। कहने को तो कारण अनेक थे, परन्तु वास्तविक कारण एक ही था कि लार्ड डलहौज़ी भारत के ब्रिटिश साम्राज्य को अविच्छिन्न करके एक रंग में रंग देना चाहता था।

कर्नाटक के नवाब का टाइटिल १८५३ में छीन लिया गया। इसका कारण यह बतलाया गया कि उसे शासन का अधिकार तो पहले भी नहीं था, केवल नवाब का टाइटिल था—और वह भी व्यक्तिगत था। नवाब मर गया तो नवाब का टाइटिल भी मर गया। इस तरह अरकाट की नवाबी समाप्त हो गई।

तंजौर का राजा १८५५ में मर गया। लार्ड डलहौज़ी ने फैसला किया कि राजा का लड़का राजा नहीं होगा, क्योंकि किसी को 'राजा' मानना या न मानना यह चक्रवर्ती शासक की मर्ज़ी की बात है, और अंग्रेज़ सरकार अपने को भारत का चक्रवर्ती शासक मान चुकी थी।

बाजीराव पेशवा की इच्छा थी कि उसके मरने के पश्चात् दत्तक पुत्र नाना साहिब को उसका उत्तराधिकारी मान लिया जाय और उसे ८० हज़ार पौण्ड की वार्षिक पेन्शन मिलती रहे। लार्ड डलहौज़ी ने व्यवस्था दी कि पेन्शन बाजीराव को केवल व्यक्तिगत रूप में दी गई थी—गोद लिये लड़के को वह नहीं पहुँच सकती। इस प्रकार कलम की एक मार से पेशवा का पद और नाम दोनों समाप्त कर दिये गये।

बरार हैदराबाद का एक समृद्ध भाग था। विशेष रूप से वह कपास की खेती के लिए प्रसिद्ध था। व्यापारी अंग्रेज़ों के, उस पर प्रारम्भ से ही दाँत थे। उसके हथियाने की प्रक्रिया कुछ भिन्न हुई। यह हम देख आये हैं कि अंग्रेज़ी सरकार के सहायक सन्धि रूपी माय जाल में फँसने वाला पहला भारतीय शासक हैदराबाद का निज़ाम था। उस सन्धि की एक यह भी शर्त थी कि हैदराबाद में निज़ाम के खर्च पर अंग्रेज़ों की कुछ सेना रहेगी, जिसका उद्देश्य यह बतलाया गया कि वह शत्रुओं से रियासत की रक्षा करेगी। यह तो कहने की बात थी। वस्तुत: तो वह सन्धि निज़ाम के माथे पर अंकुश के समान थी। एक अंग्रेज़ रेज़ीडेण्ट रखा गया, जिसका काम निज़ाम को नेक सलाहें देना था। उन दिनों देसी रियासतों में जो रेज़ीडेण्ट नियुक्त होते थे, वह राजदूत या एजेण्ट से बहुत अधिक होते थे। वह शासन के हरेक विभाग में तो मदद दे ही सकते थे, शासकों के घरेलू मामलों में भी हस्तक्षेप कर सकते थे। रियासतों की प्रजा भी इस बात को समझ जाती थी कि हमारे राजा या नवाब केवल काठ के खिलौने हैं, असली खिलाड़ी तो अंग्रेज़ रेज़ीडेण्ट है। फलत: शासक का दबदबा बिल्कुल नष्ट हो जाता था। न रियासत का प्रबन्ध ठीक होता था, और न पूरा लगान वसूल होता था। शासक लोगों के खर्च बढ़ते जाते थे, और वसूली कम होती जाती थी, जिसका परिणाम होता

था कि अंग्रेज़ी सरकार को इस शिकायत का मौका मिल जाता था कि हमारी सेनाओं का पूरा ख़र्च नहीं दिया जाता।

बस, यही कवलीकरण की प्रक्रिया का पहला अध्याय था। जब रियासत के सिर पर अंग्रेज़ी फ़ौजों के ख़र्च की बहुत सी राशि ऋण के रूप में चढ़ जाती थी तब किसी न किसी उपजाऊ ज़िले या सूबे की माँग की जाती थी। ज़बर्दस्त की माँग का दूसरा नाम कब्ज़ा है। इधर माँग की, और उधर फ़ौज भेजकर अधिकार कर लिया। इस प्रकार काग़ज़ी तौर पर पूरे विधि-विधान के साथ इच्छानुसार रियासतों के टुकड़ों को अपने राज्य में मिला लेना कम्पनी राज्य का रिवाज था। उसी रिवाज के अनुसार, १८५५ में लार्ड डलहौज़ी ने, बड़ी उदारता से निज़ाम को सूचना दे दी, कि क्योंकि वह कायदे के अनुसार अंग्रेजी सेनाओं का ख़र्च देने में असमर्थ है, इस कारण अंग्रेज़ी सरकार बरार के इलाके को अपने प्रबन्ध में ले रही है। भविष्य में हैदराबाद में जो अंग्रेज़ी सरकार की सेनायें रहेंगी, उसका खर्च निजाम को नहीं देना पड़ेगा। इस प्रकार बरार का सूबा हैदराबाद से काटकर ब्रिटिश राज्य का भाग बना लिया गया।

अब हम लार्ड डलहौज़ी के अन्तिम और शायद सबसे अधिक निन्दनीय कारनामे पर आते हैं। उसे इतना अधिक निन्दा-योग्य माना गया था कि डलहौजी के समर्थक लेखकों ने यह कहकर सफ़ाई पेश की है कि वह कार्य गवर्नर-जनरल को विलायत के हुक्म से करना पड़ा। वह कारनामा था, अवध के नवाब को पदच्युत करके सारी रियासत का अंग्रेज़ी राज्य मे कवलीकरण।

सिन्ध के विजेता सर चार्ल्स नैपियर ने अपने जर्नल में लिखा है— 'जब डलहौज़ी का पिता भारत का कमाण्डर-इन-चीफ था, तब वह अवध के नवाब से मिला था। उस समय उसने नवाब से (लेडीशिप) का परिचय कराया। नवाब यह न समझ सका कि मामला क्या है? उसने कल्पना की कि वह स्त्री बिकाऊ है। थोड़ी देर के पश्चात् नवाब ने अपने आदमियों से कहा—"ठीक है इसे, ले जाओ।"

इस पर टिप्पणी करते हुए नैपियर ने आगे लिखा है—"अवध के कवलीकरण के कारणों में इसकी भी चर्चा होनी चाहिए। अब तक जो कारण दिये गये हैं, यह उन सब से जबर्दस्त होता।"

सम्भव है, डलहौज़ी के हृदय में उसी घटना की कील खटक रही हो।

अवध का नवाब पर्याप्त समय से अंग्रेज़ों का मित्र समझा जाता था। मित्रता का सबसे बड़ा चिन्ह यह था कि राज्य के आन्तरिक शासन में अंग्रेज़ रेज़ीडेण्ट मनचाहा हस्तक्षेप कर सकता था। जब कभी अंग्रेज़ों को रुपये की तुरन्त आवश्यकता होती थी, तो अवध का कान ऐंठकर किसी-न-किसी तरह पूरी कर ली जाती थी। अंग्रेज़ शासक उस सोने का अण्डा देने वाली मुर्ग़ी से इतने संतुष्ट थे कि लार्ड हेस्टिंग्ज़ ने १८१९ में मुग़ल सम्राट् से पूछे बिना ही अवध के नवाब को 'किंग' की उपाधि से विभूषित करके 'हिज़ मैजेस्टी' बना दिया था। लार्ड हेस्टिंग्ज़ ने जब नवाब को इतनी बड़ी तरक्की दी, तब अवश्य ही यह देख लिया

होगा कि वह अंग्रेज़ों का मित्र है, और उसका शासन कम-से-कम गुजारे के लायक अच्छा है। २५ वर्ष के समय में ऐसी नई क्या बात हो गई कि पुरानी मित्रता को भुलाकर, बड़ी-बड़ी धन-राशियों को पचाकर, और खुदा को हाज़िर-नाज़िर मानकर की गई सन्धियों को तोड़कर नवाब को पदच्युत करके राज्य से निर्वासित कर दिया गया, यह समझना आसान नहीं है। डलहौज़ी के समर्थकों ने अवध के कवलीकरण का औचित्य सिद्ध करने के लिए पुराने गवर्नर-जनरलों की चिट्ठियों या इकरारनामों के उद्धरण दिये हैं। उन उद्धरणों से केवल यह सिद्ध होता है कि अवध के नवाब से शासन में सुधार करने का आग्रह किया गया था। लार्ड ऑकलैण्ड ने अपने समय में नवाब से जो सन्धि की उसमें स्पष्ट रूप से कहा गया था कि यदि शासन का सुधार करने के लिए राज्य का प्रबन्ध अंग्रेज़ी सरकार को अपने हाथ में भी लेना पड़ा तो नवाब की पदवी क़ायम रहेगी।

लार्ड हेस्टिंग्ज़ के समय से लार्ड डलहौज़ी के समय में यदि कोई भेद आया था तो यही कि १८५३ में ब्रिटिश जाति की धन-बुभुक्षा और राज्य-बुभुक्षा बहुत बढ़ गई थी। कई युद्धों में निरन्तर जीतने के कारण अब जीतने की लालसा ने ज्वाला के रूप में परिणत होकर न्याय-अन्याय, या औचित्य-अनौचित्य के विचार को जलाकर राख कर दिया था। अब भारत के अंग्रेज़ शासक सारे भारत को एकाकार करके ब्रिटिश साम्राज्य का सब से अधिक फरमा-बरदार प्रदेश बना देने के लिए उतावले हो रहे थे। दो अंग्रेज़ अफ़सरों से अवध की अवस्था के सम्बन्ध में रिपोर्ट माँगी गई। कर्नल स्लीमन ने १८५१ में, और कर्नल औटरम ने १८५४ में रिपोर्ट दी, कि राज्य की दशा बहुत ख़राब है। नवाब लम्पट और अत्याचारी है, और प्रजा अत्यन्त दुःखी और असन्तुष्ट है। यों यह रिपोर्ट कुछ नई नहीं थी, अवध के नवाब पहले से ऐसे ही रहे थे, और प्रजा की अवस्था भी यथापूर्व ही थी, परन्तु वह पतझड़ का मौसम था। अवध का पत्ता भी झड़ गया। सन् १८५६ के आरम्भ में कोर्ट ऑव डॉयरेक्टर्स से आज्ञा प्राप्त हो गई कि अवध को अंग्रेज़ी राज्य में मिला लिया जाय। तदनुसार डलहौज़ी ने फरवरी मास में नवाब को राजगद्दी से उतारने और अवध को ब्रिटिश राज्य में मिला देने की आज्ञा एक घोषणा-पत्र के रूप में प्रकाशित कर दी। इस प्रकार भारत में ब्रिटिश साम्राज्य को पूर्णता देने वाला यह अन्तिम काम भी लार्ड डलहौज़ी के हाथों ही सम्पन्न हुआ।

उस समय अनेक अंग्रेज़ लेखकों ने अवध के नवाब की विलासिता, फिज़ूलख़र्ची, और बेहूदगियों का बहुत विस्तृत वर्णन किया है। उन्होंने यह भी लिखा कि अवध की प्रजा अत्यन्त दरिद्र और दुखी थी। सामान्य रूप से उस समय की दशा के उन वर्णनों को अति-रंजित मानते हुए भी हम बहुत-कुछ ठीक मानते हैं। विशेष रूप से उस समय के नवाब वाजिदअली शाह की अय्याशी के कारनामे भारत की सीमाओं से बाहर भी प्रख्यात हो चुके थे। वाजिदअली शाह ने विलासिता को चरमसीमा तक पहुँचा दिया था। यह सब मानते हुए भी हम यह मानने को तैयार नहीं हैं कि अंग्रेज़ी सरकार ने अवध का कवलीकरण केवल विलासिता को नष्ट करने की धार्मिक भावना से, या प्रजा के आर्तनाद से प्रेरित होकर किया था। अंग्रेज़ अब इस निश्चय पर पहुँच चुके थे, कि भारत ब्रिटिश साम्राज्य का एक

भाग बन चुका है। उन्हें यह अनुभव हो गया कि भारत की किसी रियासत में अंग्रेज़ों की सेना के सामने खड़ा होने की शक्ति नहीं है। अवध प्रान्त देश के बीच में पड़ता था। वह सुन्दर था, फल-फूल से समृद्ध था, सेहत के लिए अच्छा था। १८५६ में एक अंग्रेज़ लेखक ने कलकत्ता रिव्यू में अवध की प्रशंसा करते हुए लिखा था—

"सर्दियों में अवध का जैसा सुन्दर मौसम होता है—वैसा शायद और कहीं का नहीं होता।"

ये कारण थे, जिनसे प्रेरित होकर अंग्रेज़ों ने अपने एक पुराने मित्र को गद्दी से उतारकर उसके देश को हथिया लिया! अपनी कुवृत्तियों और प्रजा-हितों के उपेक्षा के कारण अकेला वाजिदअली शाह ही नहीं, अपितु अन्य भी अनेक देसी शासक उस दण्ड के अधिकारी थे, जो उन्हें मिला, परन्तु यदि हम अंग्रेज़ी सरकार के कार्यों और उद्देश्यों की परीक्षा करते हैं तो न्याय की दृष्टि से उनकी निन्दा करनी पड़ती है। अवध के कवलीकरण के सम्बन्ध में स्वयं लार्ड डलहौज़ी ने १८५५ में सर जार्ज कौपर को लिखे हुए एक पत्र में माना था कि वह अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार सर्वथा अनुचित था।

अंग्रेज़ों की ओर से यह आरोप लगाया गया था कि अवध का शासन बहुत खराब था। उसके लिए भी स्वयं बहुत दूर तक अंग्रेज़ों की नीति ज़िम्मेदार थी। पर हेनरी लॉरेंस जैसे प्रमुख अंग्रेज़ शासक ने सम्मति दी थी कि "अवध के सम्बन्ध में लिखनेवाले सब लेखक इस विषय में सहमत हैं कि उस प्रदेश के प्रबन्ध में अंगेज़ों का हस्तक्षेप दरबार और प्रजा दोनों के लिए अत्यन्त नाशकारी था, ब्रिटेन के नाम पर कलंक लगाने वाला था।"

कई वर्षों से अंग्रेज़ों की बलात्कारपूर्ण नीति का जो दौर चल रहा था, वह अवध के कवलीकरण के साथ अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गया। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि लार्ड डलहौज़ी के भारत से विदा होने तक कम्पनी के गुनाहों का प्याला लबालब भर गया था।

लार्ड डलहौज़ी ने गवर्नर-जनरल के तौर पर अन्तिम शुभ कार्य यह किया कि नवाब वाजिदअली शाह को पेन्शन देकर कलकत्ते भेज दिया, जहाँ नज़रबन्दी की हालत में उसने जीवन के अन्तिम दिन व्यतीत किये।

इसे अत्यन्त परिश्रम का परिणाम कहें, या उसने जिन भारतीय शासकों और उनके परिवारों को अधिकारच्युत करके क्लेशित किया था, उनके अभिशाप का फल कहें। भारत को छोड़ने के समय लार्ड डलहौज़ी की सेहत का दिवाला निकल चुका था। उसने एक पत्र में जान लॉरेंस को लिखा था—"मेरी सेहत की दशा यह है कि मैं हर प्रकार से लूला-लँगड़ा हो गया हूँ।" जब विलायत के लिए जहाज़ पर चढ़ने का समय आया, तब उसे कुर्सी पर डालकर ले जाना पड़ा। विलायत जाकर बहुत से इलाज किये गये, परन्तु रोग बढ़ता ही गया। कलकत्ते के कुछ नागरिकों के विदाई-अभिनन्दन के उत्तर में उसने कहा था—"मैं थका हुआ हूं, और क्षीण हो गया हूँ। मैं अब केवल आराम चाहता हूँ, और इसी के योग्य हूँ।"

जब हम लार्ड डलहौज़ी के इन शब्दों के साथ, आलमगीर बादशाह औरंगज़ेब के अन्तिम दिनों में अपने पुत्र आजम के लिखे गये शब्दों की तुलना करते हैं, तब हमें उन दोनों असाधारण व्यक्तियों की समानता का भली प्रकार अनुभव हो जाता है। औरंगज़ेब ने लिखा था—"मैं अकेला हूँ और अकेला ही जा रहा हूँ।······मैं अपनी निर्बलताओं के पुलिन्दे को अपने साथ ले जा रहा हूँ। अस्तु, कुछ भी हो, मैंने अपनी किस्ती दरिया में डाल दी है।"

दोनों असाधारण पुरुष अपनी धुन के पक्के थे। जिस कार्य को हाथ में लेते थे, उसकी पूर्ति के लिए शरीर और मन की सारी शक्ति लगा देते थे। जब किसी लक्ष्य को सामने रख लेते थे, तब अपने आपको सर्वशक्तिसम्पन्न समझकर यह पर्वा नहीं रखते थे कि वहाँ पहुँचने में कितने प्राणी पाँव के नीचे आकर कुचले जाते हैं, और कितने घर बरबाद होते हैं। परन्तु जब अन्त का समय समीप आता है, तब उन्हें अनुभव होने लगता है कि शायद वह रास्ता भटक गये हैं, क्योंकि उन्हें अपने चारों ओर निराशा का अन्धकार दिखाई देने लगता है। उन्हें उस सन्तोष का अनुभव नहीं होता जो उन लोगों को होता है जो अपनी भावनाओं की पूर्ति करने में दूसरों की भावनाओं का निर्दय दमन नहीं करते।

उनसठवाँ अध्याय

१८५६ में भारत की दशा (१)

प्लासी की लड़ाई १७५७ में हुई थी। उस लड़ाई से भारत में ब्रिटिश राज्य प्रारम्भ हुआ। तब से लार्ड डलहौज़ी के शासन-काल की समाप्ति तक लगभग सौ वर्ष पूरे हो जाते हैं। डलहौज़ी १८५६ के मार्च मास में भारत से बिदा हुआ। अब समय आ गया है कि हम ब्रिटिश राज्य की स्थापना और वृद्धि के इन सौ वर्षों के परिणामों पर दृष्टिपात करें। हम देखें कि इन सौ वर्षों में देश ने क्या पाया, और क्या खोया? तभी हम भली प्रकार जान सकेंगे कि डलहौज़ी के शासन-काल के अन्त में भारत में जो प्रत्यक्ष शान्ति प्रतीत होती थी, वह वास्तविक थी, या केवल शान्ति का आवरण मात्र था।

देश को हम दो भागों में बाँटते हैं—पहला शासन अर्थात् राज्य और दूसरा शास्य अर्थात् प्रजा।

शासन ब्रिटिश राज्य का प्रकाशवान् पहलू था। उसे हम पहले लेते हैं। भारत में अंग्रेज़ों की जीत का एक मुख्य कारण उनकी सेना और शासन-यन्त्र का उत्कृष्ट नियन्त्रण था। इंग्लैण्ड की शक्ति नियन्त्रित थी, और भारत की अनियन्त्रित—यही कारण था कि जहाँ भी दोनों की परस्पर टक्कर लगी, वहीं अन्त में भारतवासियों की शक्ति बिखरकर परास्त हो गई।

ज्यों-ज्यों भारत के प्रदेश अंग्रेज़ों के हाथों में आते गये, देश में नियन्त्रण का दौर-दौरा होता गया। पिण्डारियों और ठगों के उत्पात दब गये, पुलिस की सुव्यवस्था हो गई, अदालतों और सदर अदालतों के बन जाने से जनता के मन में न्याय पर भरोसा उत्पन्न हो गया और भिन्न-भिन्न प्रान्तों में एक ही शासन-सत्ता क़ायम हो जाने से देश में सड़कों और यातायात की दशा बहुत सुधर गई।

भारत कृषिप्रधान देश है। यहाँ की सुख-समृद्धि मुख्य रूप से कृषि पर ही अवलम्बित है। भारत भर में अंग्रेज़ों का शासन-काल फैल जाने से दो लाभ हुए। जब तक आभ्यन्तर युद्ध जारी रहे, तब तक खेतियाँ उजड़ती रहीं, परन्तु जब अन्त में अंग्रेज़ जीत गये, और आभ्यन्तर युद्ध बन्द हो गये, तब खेती-बाड़ी का काम निर्विघ्न चलने लगा। दूसरा परिवर्तन यह हुआ कि अंग्रेज़ों ने सभी विजित प्रदेशों में लगान की व्यवस्था निश्चित कर दी। एक प्रान्त से दूसरे प्रदेश में भेद अवश्य था, परन्तु जिस प्रान्त में जो व्यवस्था थी वह निश्चित थी, और उसे चलाने के लिए सेना, पुलिस और अदालतों का जाल बिछ गया था। इन दोनों कारणों से सुभिक्ष के वर्षों में भारत का कृषिक निश्चिन्त होकर कृषि करने लगा था।

जिन प्रदेशों को अंग्रेज़ों ने अभी-अभी जीता था, वहाँ की साधारण प्रजा तो बहुत ही सन्तुष्ट प्रतीत होती थी। पंजाब महाराज रनजीतसिंह की मृत्यु के पश्चात् दस वर्षों में मानो रौरव नरक में होकर गुजरा था। जब अंग्रेज़ों ने उस पर अधिकार कर लिया, तब

सर हेनरी लॉरेंस जैसे अनुभवी शासक और उसके प्रबन्ध कला में सिद्धहस्त अंग्रेज़ सहायकों के प्रयत्न से ऐसी सुव्यवस्था स्थापित हो गई, कि पंजाब के निवासी मानो स्वर्ग का सुख अनुभव करने लगे। उनके लिए 'सिक्खाशाही' की समाप्ति मानो वरदान बनकर भगवान् की ओर से अवतीर्ण हुई।

लार्ड डलहौज़ी के शासन-काल में देश में कई नई योजनायें कार्यान्वित हुईं। पहली रेल की लाइन १८५३ ई० में बिछाई गई। ग्रेट इण्डियन पैनन्शुला रेलवे (जी० आई० पी०) पहली रेलवे लाइन थी और बम्बई का विक्टोरिया टर्मिनस पहला बड़ा स्टेशन था। उस समय से रेलवे के विस्तार का जो उपक्रम हुआ, वह निरन्तर बढ़ता ही गया।

टेलीग्राफ़ लाइन (तार) का प्रारम्भ भी लार्ड डलहौज़ी के समय में हुआ। इस योजना को पूरा करने में लार्ड डलहौज़ी को बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। पहले तो इंग्लैण्ड के इंजीनियर भारत के अनुकूल व्यवस्था करने में असफल होते दिखाई दिये। तारों के जोड़-पेंच इस देश की गर्मी को सहने में असमर्थ थे परन्तु लार्ड डलहौज़ी अपनी धुन का पक्का व्यक्ति था। इंजीनियर नये-नये परीक्षण करने में लगे रहे जब तक सारी व्यवस्था यहाँ की ऋतुओं के अनुसार न हो गई।

लार्ड डलहौज़ी के समय की तीसरी विशाल योजना सस्ते पोस्टेज के सम्बन्ध में थी। उससे पहले डाक पहुँचाने का साधन केवल एक ही था कि सरकारी हरकारे एक स्थान से दूसरे स्थान पर जायें, और चिट्ठियाँ बाँटें। हरेक स्थान का अलग किराया लगता था, जो दूरी और कठिनाई से सम्बन्ध रखता था। लार्ड डलहौज़ी के समय में दो पैसे वाले कार्ड का चलन किया गया जिसकी सफलता में रेल से सहायता मिली।

शिक्षा के क्षेत्र में लार्ड डलहौज़ी का नाम सर चार्ल्स वुड के खरीते से सम्बद्ध है। उस खरीते की विशेष बात यह थी कि उसने प्रारम्भिक और माध्यमिक शिक्षा में देसी भाषाओं को प्रमुख स्थान देने का प्रस्ताव किया था, जो स्वीकार कर लिया गया। साथ ही उस समय से सहायताप्राप्त प्राइवेट स्कूलों की प्रथा को भी प्रामाणिक रूप से जारी कर दिया गया।

इन योजनाओं का अंग्रेज़ों के शासन पर जो अनुकूल प्रभाव पड़ा, वह बिल्कुल स्पष्ट है। देश के व्यापार को लाभ पहुँचा, यह भी असन्दिग्ध है, तो भी हमें दो प्रश्नों पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है, ताकि भारत के हित की दृष्टि से उनका मूल्यांकन हो सके? वे दो प्रश्न यह हैं—

इन योजनाओं के बनाने और कार्यान्वित करने में लार्ड डलहौज़ी और बोर्ड ऑव डायरेक्टर्स का मुख्य लक्ष्य क्या था?

इन योजनाओं को कार्यान्वित करने का देश की परिस्थिति पर क्या असर हुआ?

यहाँ हम इन दोनों में से केवल पहले प्रश्न का संक्षेप से उत्तर देंगे। दूसरे प्रश्न का उत्तर तो हमारे इतिहास का सम्पूर्ण दूसरा भाग देगा।

लार्ड डलहौज़ी से पहले अंग्रेज़ी सरकार की सेनायें कुछेक प्रेसीडेंसी शहरों में केन्द्रित

थी। ज्यों-ज्यों राज्य का विस्तार होता गया, त्यों-त्यों यह भावना उत्पन्न होने लगी कि सेनाओं का थोड़े से केन्द्रों में ही इकट्ठा होना राज्य की रक्षा की दृष्टि से अपर्याप्त है। एक और भी आशंका उत्पन्न हो गई थी। मराठा राज्य, सिख और बर्मा की लड़ाइयों के निमित्त से अंग्रेज़ी सरकार की देसी सेनाओं में बहुत वृद्धि हो गई थी। लार्ड डलहौज़ी के समय अंग्रेज़ अफ़सर यह समझने लगे थे, कि एक ही केन्द्र में बहुत अधिक सिपाहियों का जमाव ख़तरनाक है। विशेषत: बैरकपुर के सिपाही-विद्रोह ने उनकी आँखें खोल दी थीं। इस ख़तरे से बचने के लिए बैरकपुर का अड्डा तोड़कर सेनाओं को दूर-दूर फैला दिया गया। उत्तरीय भारत पर खास दृष्टि रखने के लिए मेरठ की एक नई छावनी बनाई गई, जो अपने समय की बहुत मज़बूत छावनी मानी जाने लगी।

जब सैनिक छावनियाँ देश भर में बिखर गईं, तब एक नई आशंका ने जन्म लिया। यदि कहीं उपद्रव हो, या सीमा की रक्षा करनी पड़े तो बिखरी हुई सेनाओं को इकट्ठा कैसे किया जायगा? यदि यातायात और समाचार प्राप्त करने के उचित साधन न हुए तो इतने बड़े साम्राज्य की रक्षा कैसे होगी? इन प्रश्नों ने लार्ड डलहौज़ी के उपजाऊ दिमाग़ को वह खरीता लिखने की प्रेरणा की जिसने भारत में रेल और तार की बुनियाद रखी। रेल, तार, डाक आदि नव विधानों का, और बन्दरगाहों की उन्नति आदि का मुख्य प्रेरक कारण अंग्रेज़ों का अपना राजनीतिक तथा आर्थिक हित था—इसके प्रमाण स्वयं लोर्ड डलहौज़ी के उन विवरण-पत्रों में मिलते हैं, जो उसने बोर्ड ऑव डायरेक्टर्स को लिखे थे। हम यहाँ उनमें से कुछ प्रासंगिक भाग उद्धृत करते हैं।

अपने शासन-काल की समाप्ति पर लार्ड डलहौज़ी ने एक बहुत लम्बा पत्र कोर्ट ऑव डायरेक्टर्स को लिखा था। उसमें रेलवे की योजना पर लिखा था—

"यह ख़ास तौर से हिदायत की गई थी कि सबसे पहले ऐसी ट्रंक लाइन बनाई जाये, जो प्रेसीडेंसी के आन्तरिक भाग को बन्दरगाहों से जोड़ दें, और साथ ही प्रेसीडेंसियों (बड़े प्रान्तों) को एक दूसरे से जोड़ दें।"

इससे स्पष्ट है कि रेलवे का मुख्य लक्ष्य देश के बड़े नगरों को आपस में तथा बन्दरगाहों से मिलाकर सेनाओं के यातायात के लिए सुविधा करना और विदेशी व्यापार के रास्ते खोलना था। हमारे इस विचार की पुष्टि डलहौज़ी के जीवन-चरित्र लेखक सर डब्ल्यू हण्टर के निम्नलिखित वाक्यों से मिलती है। डलहौज़ी की रेल सम्बन्धी योजना का उल्लेख करके लेखक ने लिखा है—

"यह लार्ड डलहौज़ी का महत्त्वपूर्ण विचार था। उसका लक्ष्य रेलवे द्वारा केवल नये जीते हुए प्रदेशों को दृढ़ करना, और साम्राज्य के हरेक बिन्दु को सैनिक शक्ति के प्रहार के दायरे में लाना नहीं था, अपितु रेलों के निर्माण द्वारा विलायत और भारत के मूलधन को व्यापार की ओर इतनी मात्रा में आकृष्ट करना भी था, जिसका उससे पहले के गवर्नर-जनरल स्वप्न भी नहीं ले सकते थे।"

स्पष्ट है कि रेलवे की योजना का मुख्य उद्देश्य नये जीते हुए प्रदेशों को दृढ़ बनाना,

देश भर में सेनाओं के यातायात को सुलभ बनाना, और विलायती मूल धन के लिए कमाई के क्षेत्र तैयार करना था।

बन्दरगाहों की उन्नति का भी लक्ष्य था। डलहौज़ी ने भारत के बन्दरगाह विलायत के व्यापारी जहाज़ों के लिए खुले कर दिये। इस पर लार्ड डलहौज़ी ने काफ़ी अभिमान प्रकट किया है कि उसके प्रयत्नों से भारत से रूई और अन्न का निर्यात ८ वर्षों में लगभग ४ गुना हो गया है। इन्हीं वर्षों में विलायत का बना हुआ जो माल भारत में बिकने के लिए आया, उसकी मात्रा भी ढाई गुना हो गई। कच्चे माल के जाने और तैयार माल के आने में बढ़ोतरी होने से देश के शोषण का प्रवाह डलहौज़ी के समय में बहुत तेज़ हो गया।

लार्ड डलहौज़ी ने अन्तिम खरीते में बोर्ड को अपने शासन-काल के कारनामों का जो ब्योरा भेजा था, उसमें ग्रांड ट्रंक रोड और गंगा की नहर की भी चर्चा की थी। इन दोनों कार्यों का प्रारम्भ डलहौज़ी से काफ़ी पहले हो चुका था, पूर्ति उसके समय में हुई।

इस ब्योरे में एक विशेष ध्यान देने के योग्य बात यह है कि रेल-तार जैसी योजनायें हों या प्रान्तों का कवलीकरण हो, गवर्नर-जनरल ने उनके परिणामों का बखान सरकार की सुरक्षा और आमदनी के रूप में ही किया था। उसने ८ वर्षों के आँकड़े देकर यह सिद्ध करने का यत्न किया था, कि अनेक रियासतों को ब्रिटिश राज्य में मिला लेने से सरकार की आय कई गुना बढ़ गई है, तो रेल की स्थापना और बन्दरगाहों की सुव्यवस्था से तट्-कर आदि द्वारा भविष्य में आपके सरपट भागने की आशा हो गई है।

लार्ड डलहौज़ी के चरित लेखक सर डब्ल्यू० हण्टर ने अभिमानपूर्वक यह बतलाया है कि— "The British India which Lord Dalhousie requested to his successor, was between a third and half larger than the India of which he had received charge when he assumed the Governor Generalship" और आगे चलकर यह भी बतलाया है कि "During the same period (1848-1856 inclusive) the total revenue of India rose from over $24\frac{1}{2}$ millions to over $30\frac{3}{4}$ millions or, in round figures, by nereby $6\frac{1}{4}$ million sterling." परन्तु यह बतलाने की आवश्यकता नहीं समझी कि उसके शासन-काल में भारत की प्रजा की प्रति व्यक्ति आमद्नी या उनकी सुख-सामग्री में कितनी वृद्धि हुई, और न यही बतलाना आवश्यक समझा कि देश की ग्रामीण जनता में शिक्षा-प्रचार के सम्बन्ध में कितना धन व्यय किया गया? इससे स्पष्ट है कि उस समय तक भारत के शासन के सम्बन्ध में अंग्रेज़ों का दृष्टिकोण यह था कि वे समस्त भारत को कैसे जीतें, राज्य को कैसे स्थिर बनायें, और भारत से इंग्लैण्ड को अधिक से अधिक आर्थिक लाभ कैसे पहुँचायें? लार्ड डलहौज़ी को बहुत से कट्टर अंग्रेज़ लेखकों ने 'सबसे बड़ा गवर्नर-जनरल' कहा है। उस समय के अंग्रेज़ों का भारत के सम्बन्ध में जो दृष्टिकोण था, केवल उससे देखें तो मानना पड़ेगा कि डलहौज़ी अंग्रेज़ गवर्नर-जनरलों में सबसे बड़ा था।

सातवाँ अध्याय

१८५६ में भारत की दशा (२)

व्यापार और कारीगरी

अब हम जो वृत्तान्त लिखने लगे हैं, वह भारत पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन का सबसे अधिक कलंकपूर्ण अध्याय है। यदि अंग्रेज़ व्यापारी बनकर धन कमाने के लिए भारत में न आये होते, और केवल जीतना उनका लक्ष्य होता, तो यह बात निश्चय से कही जा सकती है कि देश का इतना भयानक शोषण न होता। वे आये धन कमाने के लिए और बन गये शासक—फलतः उनके राज्य का मुख्य उद्देश्य येन केन प्रकारेण धन कमाना हो गया। कम्पनी के समय में, भारत के अपने व्यापार और कारीगरी का जो इतना नाश हुआ, उसका यही कारण था।

कहानी बहुत लम्बी है, यहाँ हम उसकी केवल रूपरेखा देकर सन्तोष करेंगे। कम्पनी को सबसे पहले जहाँ का शासनाधिकार मिला, वह बंगाल था। अंग्रेज़ों से पहले यरोप के अन्य देशवासियों ने भी भारत में व्यापार के अड्डे बनाने का यत्न किया था, परन्तु उन्हें अधिक सफलता नहीं मिली, और अन्त में, जब वे अंग्रेज़ों की बढ़ती हुई राज्य-शक्ति से परास्त हो गये तब मैदान उनके हाथ से निकल गया। पुर्तगाल, फ्रांस और हालैण्ड थोड़े-थोड़े समय के लिए राजनीति और व्यापार दोनों क्षेत्रों में इंग्लैण्ड के प्रतिद्वन्द्वी रहे। जब प्लासी और बक्सर के रणक्षेत्रों की सफलताओं से इंग्लैण्ड को बंगाल की दीवानी प्राप्त हो गई, तब धीरे-धीरे सब प्रतिद्वन्द्वियों के निकल जाने से पहले बंगाल का, और फिर अन्य प्रान्तों का आर्थिक दुर्ग अंग्रेज़ कम्पनी के हाथ में आ गया। १७५७ से लेकर १८५६ तक के एक सौ वर्षों में ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत के आर्थिक भाग्यों के बनाने-बिगाड़ने वाली रही।

जब हम, आर्थिक क्षेत्र में, उन सौ वर्षों में कम्पनी के कारनामों पर दृष्टि डालते हैं, तो स्तब्ध हो जाना पड़ता है। जब अंग्रेज़ों को बंगाल की दीवानी मिली, तब वहाँ के व्यापारी टर्की, अरब, ईरान और तिब्बत से पुष्कल व्यापार करते थे। बंगाल से जाने वाली वस्तुओं की मात्रा बहुत अधिक थी। जाने वाली वस्तुओं में सूत और रेशम के कपड़े, चीनी, नमक, पटसन, अफीम आदि मुख्य थीं। बंगाल के महीन और सुन्दर सूती कपड़ों की दुनिया भर में धाक थी। यूरोप के व्यापारी उन्हें बहुत चाहते थे। उनके द्वारा, ढाके की मलमल, एक ओर जापान और दूसरी ओर हालैण्ड आदि देशों में पहुँचाई जाती थी। बंगाल से बाहर जाने वाले माल की मात्रा आने वाले माल से अधिक होने के कारण देश में सोना बरसता था, क्योंकि अधिक चीज़ों के दाम सोने में लिये-दिये जाते थे।

अंग्रेज़ों के आने से पहले बंगाल का व्यापार बहुत समृद्ध दशा में था। अंग्रेज़ों को दीवानी का अधिकार मिलने के पश्चात् उसका निरन्तर ह्रास होने लगा। अंग्रेज़ भारत की

आर्थिक खेती पर मानो टिड्डी दल की तरह पड़े। पहला वार चिरकाल से संचित सोने पर हुआ। मीर जाफ़र और मीर कासिम को कम्पनी और उसके कर्मचारियों को हर्जाना और रिश्वतों के रूप में जो धन-राशि देनी पड़ी, उसकी मात्रा तीन करोड़ रुपये से कम न होगी। यह मात्रा कितनी बड़ी थी, इसका अनुमान तब लगाया जा सकता है, जब हम यह ध्यान में रखें कि उस समय रुपये की कीमत वस्तुओं के रूप में आज-कल के रुपये से कम से कम सात-आठ गुना अधिक थी। जब कम्पनी को लगान वसूली का अधिकार मिल गया, तब तो पूरी लुटाई होने लगी। अनेक भागों से भारत का सोना विलायत जाने लगा। अंग्रेज़ सरकारी नौकर और व्यापारी जो कुछ कमाते थे, या ऐंठते थे, उसका बड़ा भाग विलायत को चला जाता था। हिसाब लगाया गया है कि १७५५ और १७८० के मध्य में न्यून से न्यून ६० करोड़ रुपये बंगाल से निकलकर विलायत पहुँच गये।

जिन उपायों से कम्पनी और उसके अंग्रेज़ कर्मचारी धन लूटते या ऐंठते थे, वह अनेक थे। उनमें से मुख्य दस्तक प्रथा थी। दस्तक-प्रथा की बुनियाद शाहज़ादा शुजा के समय में पड़ी थी। वह बंगाल का गवर्नर था। उस समय बंगाल में अंग्रेज़ों के व्यापार की मात्रा बहुत कम थी। कम्पनी ने शाहज़ादा से यह अधिकार प्राप्त कर लिया कि प्रतिवर्ष इकट्ठी ३००० रुपयों की रक़म लेकर कम्पनी को आन्तरिक व्यापार पर लगने वाली २½ फ़ीसदी चुंगी से मुक्त कर दिया जाय। बादशाह फ़र्रुख़सियर के समय में इस फ़ैसले में इतनी बात और बढ़ा दी गई कि कम्पनी अपने कर्मचारियों को व्यापार के जो आज्ञापत्र या दस्तक प्रदान करे, उनका किसी निजू व्यापार में प्रयोग न किया जाय। वे केवल कम्पनी के व्यापार के लिए थे, निजू व्यापार के लिए नहीं। ज्यों-ज्यों कम्पनी की शक्ति बढ़ती गई, त्यों-त्यों दस्तकों का दुरुपयोग भी बढ़ता गया। कम्पनी के व्यापार की मात्रा बहुत बढ़ गई, वह तो अलग चीज़ थी, कम्पनी के दस्तकों से अंग्रेज़ कर्मचारी और उनके पिट्ठू हिन्दुस्तानी जो लूट मचाने लगे, असली समस्या वह बन गई। चुंगी से मुक्त हो जाने के कारण कम्पनी के आदमियों ने व्यापार के मुख्य भाग पर कब्ज़ा कर लिया। देसी व्यापारी लगभग चौपट हो गये। मीर जाफ़र और मीर कासिम ने इस सम्बन्ध में कम्पनी से बहुत शिकायतें कीं, परन्तु कोई सुनाई नहीं हुई। अन्त में तंग आकर मीर कासिम ने आन्तरिक व्यापार से चुंगी बिल्कुल हटा दी ताकि देसी व्यापारी घाटे में न रहें। इससे कम्पनी के देवता इतने नाराज़ हुए कि कासिम की गद्दी और प्राण—दोनों जाते रहे।

बंगाल की मुख्य कारीगरी जुलाहों के हाथ में थी। उनके बनाये सूत और रेशम के वस्त्र देश-विदेशों में बहुत पसन्द किये जाते थे। जब कम्पनी ने दीवानी के अधिकार को व्यापार का सहायक बना दिया तो उसके कर्मचारी जुलाहों से कपड़ा तैयार करने के इकरारनामे करने लगे। कम्पनी का ज़ोर था, इसलिए एक तो दर बहुत कम ठहराये जाते थे, और दूसरे जुलाहों से यह वायदा ले लिया जाता था कि कम्पनी के सिवा अन्य किसी के लिए कपड़ा तैयार न करेंगे। इन शर्तों का ख़ूब सख़्ती से पालन कराया जाता था, जिससे कारीगर इतने तंग आ गये कि अपने घर और पेशा छोड़-छोड़कर भागने लगे। प्रसिद्ध तो यह है कि कम्पनी के कर्मचारियों के डर से बहुत से कारीगरों ने अपने हाथों के अँगूठे कटवा डाले। १७६७

तक कपड़े की कारीगरी का ऐसा ह्रास हो गया था कि अंग्रेज़ अफ़सर जुलाहों के अभाव की शिकायत करने लगे। इस प्रकार बंगाल का कपड़े का फलता-फूलता व्यापार कम्पनी और उसके कर्मचारियों की लोलुपता और कठोरता से बर्बाद हो गया।

इतने से भी सन्तुष्ट न होकर अंग्रेज़ व्यापारियों ने एक अनूठी स्वार्थान्धता का परिचय दिया। कम होकर भी भारत का बढ़िया कपड़ा विलायत के बाज़ार में जाकर बिकता रहा, इससे इंग्लैण्ड के निवासियों के मन में इतनी जलन पैदा हुई कि ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने १७०० और १७२० में क़ानून पास करके भारत के सूती तथा रेशमी का पहिनना तथा अन्य उपयोग में लाना बन्द कर दिया। १७८० में अंग्रेज़ व्यापारियों के दबाव से कम्पनी ने यह स्वीकार कर लिया कि बंगाल का छपा हुआ सूती कपड़ा विलायत न भेजा जायगा।

बंगाल की कारीगरी और व्यापार को अन्तिम चोट ज़मीन के स्थायी बन्दोबस्त से पहुँची। स्थायी बन्दोबस्त ने ज़मीदरी को बढोतरी दी, जिससे मूल धन की बड़ी मात्रा खेती की ओर झुक गई। व्यापार पहले ही मन्दा हो रहा था, इस अन्तिम चोट ने उसका लगभग सर्वनाश ही कर दिया।

इन परिस्थितियों से इंग्लैण्ड के व्यापारियों ने पूरा लाभ उठाया। ज्यों-ज्यों भारत की व्यापारिक इमारत गिरती गई, इंग्लैण्ड का भवन खड़ा होता गया। कारीगरी और व्यापार के नाश की जो प्रक्रिया बंगाल में बरती गई, लगभग वही सारे देश में दुहराई गई। भारत के कारीगरों और व्यापारियों की कठिनाइयाँ बढ़ती गईं, और इंग्लैण्ड का व्यापार बढ़ता गया। अंग्रेजी शिक्षा के फैलने का एक परिणाम यह हुआ कि सब प्रकार के विलायती माल की माँग बढ़ने लगी। शराब की आमद शायद सबसे अधिक बढ़ी। विलायत के कपड़ों और जूतों का पहिनना रिवाज में शामिल हो गया, जिससे अंग्रेज़ी शिक्षा और अंग्रेज़ी माल की बिक्री में मानो नित्य सम्बन्ध हो गया।

उधर इंग्लैण्ड में, १९वीं सदी के मध्य में, शिल्प-कला में बड़ी भारी जागृति उत्पन्न हो गई। कुछ लेखकों का विचार है कि उस जागृति का मूल कारण भारत से खिंचा हुआ बेहिसाब धन ही था। उस जागृति का प्रभाव यह हुआ कि वहाँ वस्तुओं के उत्पादन की बाढ़-सी आ गई। यदि उस समय भारत में कोई ऐसी सरकार होती, जिसके हृदय में भारत की कारीगरी और व्यापार के लिए दर्द होता तो वह क़ानून द्वारा देश का संरक्षण करता, परन्तु कम्पनी का तो अपना दिल ही ईमानदार नहीं था। उसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि लार्ड डलहौज़ी के समय बन्दरगाहों की सुविधाओं को बढ़ाकर विलायत के माल के निर्बाध प्रवेश का मार्ग और भी अधिक खुला कर दिया गया। परिणाम यह हुआ कि १९वीं सदी के मध्य तक पहुँचते-पहुँचते भारत की कारीगरी और व्यवसाय लगभग नष्ट हो गये। बंगाल, लखनऊ, अहमदाबाद, नागपुर, मदुरा, बनारस, तंजोर, पूना, नासिक और काश्मीर जैसे उत्तमोत्तम वस्तुओं के निर्माण के ठिकाने उजड़ने लगे, और उनकी जगह मान्चेस्टर और लिवरपूल के कारखानों का धुआँ आकाश को चूमने लगा।

इस तरह आधी १९वीं सदी व्यतीत होने तक, कम्पनी की धनलोलुप नीति के कारण भारत, कारीगरी और व्यापार की दृष्टि से, सर्वथा अपाहज और पराधीन हो चुका था।

इकसठवाँ अध्याय

१८५६ में भारत की दशा (३)

ज्यों-ज्यों भारत में ब्रिटिश राज्य का क़दम आगे बढ़ता गया त्यों-त्यों मुग़ल बादशाह का प्रभाव पीछे हटता और लाल क़िले की दीवारों के अन्दर सिमटता गया। शक्ति तो मुग़ल बादशाह के हाथ से तभी छिन गई थी, जब १७८५ में सिन्धिया ने दिल्ली पर कब्जा कर लिया था। सिन्धिया ने सारी राज्य-शक्ति अपने हाथ में लेकर शाहआलम के लिए केवल वार्षिक ६ लाख रुपये की पेन्शन बाँध दी थी—और वह भी नियम से नहीं मिलती थी।

१८०३ में अंग्रेजों ने दिल्ली पर कब्ज़ा कर लिया। शाहआलम की ऐसी दुर्दशा हो गई थी कि वह संसार के सभी दुर्दशाग्रस्त व्यक्तियों की तरह खाई से बचने के लिए कुएँ में गिरने को तैयार रहता था। जब अंग्रेज़ आये तब उसने उनके हाथों में आत्मसमर्पण करके अच्छी पेन्शन प्राप्त करने का प्रयत्न जारी कर दिया। शाहआलम ने अंग्रेज़ सेनापति लार्ड लेक को अपना सब से बड़ा राज्याधिकारी बनाकर शाब्दिक शान की रक्षा कर ली, उसके बदले में लार्ड वैल्ज़ली की सरकार ने उसकी निजी पेन्शन की राशि बढ़ा दी। ६० हज़ार रुपये प्रतिमास शाहआलम के अपने काम के लिए, और लगभग चालीस हज़ार रुपये सैलातीन—अर्थात् राज्य-परिवार के लोगों के लिए, देने तय हुए।

अंग्रेज़ों ने मुग़ल बादशाह के खर्चे के लिए लगभग १२ लाख की वार्षिक राशि निश्चित करके समझा कि हमने बादशाह का बहुत उपकार किया है, क्योंकि उसकी शान और मान को सुरक्षित रखा है, परन्तु बूढ़ा और अन्धा शाहआलम उतने से सन्तुष्ट नहीं था। वह अपने असन्तोष को पत्रों और प्रतिनिधियों द्वारा निरन्तर गवर्नर-जनरल तक पहुँचाता रहा—परन्तु कुछ परिणाम न निकला। समय मुग़ल बादशाह के प्रतिकूल था। ब्रिटिश शक्ति का सितारा चढ़ता गया, और मुग़लों का उतरता गया, यहाँ तक कि वह अस्ताचल की चोटी पर जा पहुँचा। हालत यहाँ तक पहुँच गई कि गवर्नर-जनरल ने बादशाह की पर्वाह करनी ही छोड़ दी। तब तंग आकर शाहआलम के उत्तराधिकारी अकबर द्वितीय ने इंग्लैण्ड की सरकार के दरबार में अपील करने का निश्चय किया। बंगाल के सुधारक राजा राममोहनराय का नाम उन दिनों भारत भर में प्रसिद्ध हो गया था। अकबर ने उन्हें राजा की उपाधि से विभूषित करके अपना प्रतिनिधि नियत कर दिया, और गवर्नर-जनरल से प्रार्थना की कि वह राजा को आवेदनापत्र लेकर विलायत जाने की आज्ञा दे दें। पहले तो लार्ड विलियम बैण्टिक ने आज्ञा देने में आनाकानी की, परन्तु अन्त में राजा राममोहनराय को विलायत जाने की अनुमति दे दी।

राजा राममोहनराय ने मुग़ल बादशाह की ओर से जो आवेदन पत्र पेश किया, वह बहुत युक्तियुक्त और योग्यतापूर्ण था। उसमें लार्ड लेक और अंग्रेज़ सरकार द्वारा किये गये वायदों, तथा सन्धि-पत्रों के आधार पर सिद्ध किया गया था कि उस समय बादशाह के साथ अंग्रेज़ी सरकार

की ओर से जो रुखाई का व्यवहार किया जा रहा था, वह अन्यायपूर्ण था। राजा राममोहनराय ने विलायत में जाकर अपनी बात सुनाने में कोई कसर नहीं छोड़ी। सब द्वार खटखटाये, परन्तु परिणाम लगभग कुछ भी न निकला। कारण यह था कि दोनों के दृष्टिकोण सर्वथा भिन्न हो गये थे। मुग़ल बादशाह अब भी अपने को बादशाह मानकर बात कर रहा था और अंग्रेज़ी सरकार उसे कुतुब मीनार या ताजमहल की तरह केवल पुराने समय का स्मारक मानकर सुरक्षित रखने को तैयार थी। जब दृष्टिकोण में इतना भेद हो, तब समझौते की क्या आशा हो सकती थी ?

दोनों के दृष्टिकोणों का भेद कई बहुत उपहासास्पद घटनाओं में प्रकट होता रहता था। लार्ड वैल्ज़ली, और लार्ड हेस्टिंग्ज़ आदि पुराने गवर्नर-जनरलों की नीति यह थी कि मुग़ल बादशाह के हाथ से शासन-शक्ति तो सारी छीन ली जाय, परन्तु उसकी मान-मर्यादा को बहाल रखा जाय। जब कोई अंग्रेज़ अधिकारी बादशाह से भेंट करने जाता था तो पुराने रिवाज के अनुसार दोनों हाथों द्वारा मुहर भेंट करता था। १८२९ में अंग्रेज़ी सरकार का दिल्ली में स्थानापन्न रेज़ीडैण्ट हौकिन्स बना। उस पर नवीनता का पूरा रंग चढ़ा हुआ था। उसे दोनों हाथों से मुहर पेश करना एक अंग्रेज़ के लिए अपमानजनक प्रतीत हुआ, और पेश करना आवश्यक था, तो उसने दो की जगह एक ही हाथ से मुहर पेश की, और इस कारनामे की सूचना सरकारी तौर पर ऊपर के अधिकारियों को भी दे दी। पहले अंग्रेज़ रेज़ीडैण्ट बेग़मों के सामने खड़े हो जाते थे। हौकिन्स ने उस पद्धति को भी लज्जाजनक मानकर खड़े होने से इनकार कर दिया।

पहले तो कलकत्ते की सरकार ने हौकिन्स के अविनय को निरुत्साहित किया, परन्तु कुछ वर्ष पीछे उसका दृष्टिकोण भी बदल गया। लार्ड एलिनबरो ने इस आधार पर कि भारत के स्वामी अंग्रेज़ों के लिये शक्तिहीन बादशाह के सामने मुहर पेश करना सर्वथा उपहासास्पद और फिज़ूल है, भेंट की रीति को ही उड़ा देना चाहा। भेंट बन्द हो जाने से बादशाह की वार्षिक दस हज़ार रुपये की आमदनी घट गई। उसने नाराज़ होकर प्रतिवाद रूप में जश्न करना ही छोड़ दिया—और डायरेक्टरों को शिकायती चिट्ठी भेजी, परन्तु प्रतिवाद से कोई लाभ न हुआ, और शिकायती चिट्ठी से बादशाह के नकली ताज का एक और पंख झड़ गया। कोर्ट आव डायरेक्टर्स ने नज़र पद्धति को तो बन्द कर दिया, पर आँसू पोंछने के लिये उसके बदले में, पेन्शन में, ८३३) रुपये वार्षिक की वृद्धि कर दी।

नज़र के बन्द होने और पेन्शन में नाम-मात्र की वृद्धि होने के सम्बन्ध में हम नीचे एक अंग्रेज़ लेखक की सम्मति उद्धृत करते हैं। हमारी सम्मति में उस समय की परिस्थिति का उससे सुन्दर विश्लेषण नहीं हो सकता। कैम्ब्रिज के० डी० पर्सिवल स्पियर (Percival Spear) में 'ट्वाई लाईट आव दि मुग़ल्ज़' में लिखा है—

"नज़र की घटना मुग़ल परिवार के प्रति अंग्रेज़ी सरकार से बदले हुए दृष्टिकोण का स्पष्ट प्रमाण थी, क्योंकि जब उसे नज़र देना बन्द किया गया, तब केवल इतना ही नहीं था कि उसके भारत पर शासनाधिकार को मानने से इनकार किया गया, अपितु उसके

बादशाह पद को ही अस्वीकार कर दिया गया।"

इससे पहले अंग्रेज़ी सरकार इस नीति पर चल रही थी कि मुग़ल बादशाह के राजत्व के अधिकार तो सब छीन लिये जायें परन्तु उसकी बादशाह पदवी को मान्यता दी जाय परन्तु नज़र देना बन्द करने से उस नीति का रूप बदल गया। एक प्रकार से अंग्रेज़ी सरकार ने यह घोषणा कर दी कि वह अब तक बहादुरशाह को नवाब बे-मुल्क मानने को तैयार थे, परन्तु अब उसकी नवाबी से ही इनकार है।

इस कठपुतली बादशाह के लम्बे नाटक का अन्तिम दृश्य लार्ड डलहौज़ी के समय में दृष्टिगोचर हुआ। लार्ड डलहौज़ी की इच्छा थी कि बादशाह को लाल क़िले से हटाकर कुतुब के पास एक महल में रखा जाय, और क़िले में बारूदघर बनाया जाय। उसकी यह भी मन्शा थी कि बूढ़े बहादुरशाह के मरने पर मुग़ल परिवार को भी लैप्स जैसे किसी चक्कर में डाल कर किस्सा ही ख़त्म कर दिया जाय, परन्तु उस समय योजना पूरी न हो सकी। केवल इतना ही हुआ कि बादशाह अपने कुनबे के साथ कुतुबवाले महल में चला गया, और उसे अपनी मुग़लिया शान छोड़कर लार्ड डलहौज़ी से बिल्कुल बराबरी से मिलना पड़ा।

बोर्ड आव डायरेक्टर्स की नीति यह थी कि मुग़ल बादशाह के नाम और मान को तो जीवित रखा जाय, परन्तु उसकी शासन-शक्ति सर्वथा छीन ली जाय। इस अधकचरी नीति का आधार अंग्रेज़ जाति का नैसर्गिक सनातन-प्रेम ही था, या कोई बहुत गहरी दूरदर्शिता भी थी, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है, परन्तु इतनी दूरी से, और परिणामों की भयंकरता को देखते हुए हमें यही कहना पड़ता है कि वह नीति अत्यन्त हानिकारक थी। हम देखते हैं कि मनुष्य-जाति विद्यमान नई इमारति को उस प्रेम की दृष्टि से नहीं देखती, जिससे पुराने खण्डहरों को। पुरानी नीति से बिखरे और बिगड़े हुए टुकड़ों को देखकर मनुष्यों के मनमें जो करुणामिश्रित सहानुभूति उत्पन्न होती है, वह उन्हें लगभग पवित्र बना देती है। यह तो जड़ खण्डहरों का हाल है। यदि कहीं वे खँडहर बोल सकें तो फिर कहना ही क्या? तब तो दुनिया उन्हें पूजने लगती हैं। ब्रिटिश सरकार ने उस समय मुग़ल बादशाहों को शानदार सल्तनत के रोते कलपते खण्डहर बना दिया था। परिणाम यह हुआ मनुष्य स्वभाव के अनुसार भारत भर में उनके प्रति गहरी सहानुभूति का भाव उत्पन्न हो गया। विशेष रूप से मुसलमानों में तो बहादुरशाह को शहीद माना जा रहा था। आज नज़र मिलनी बन्द हो गई, कल पेन्शन काट ली गई—इसी तरह के समाचार देश भर में फैलकर बूढ़े बहादुरशाह के लिए सहानुभूति और अंग्रेज़ोंके प्रति द्वेष की भावना फैलाते रहते थे।

दिल्ली और उसके पड़ोस का वातावरण तो बहुत ही विक्षुब्ध हो गया था। उसमें विक्षोभ की मात्रा कितनी बढ़ गई थी, यह विलियम फ्रेज़र की हत्या के दृष्टान्त से स्पष्ट हो जायगा। विलियम फ्रेज़र १८३५ में, दिल्ली में गवर्नर-जनरल का एजण्ट था। गुड़गाँव के जिले में फिरोज पुर नाम की एक छोटी-सी रियासत थी, जिसके उत्तराधिकार के सम्बन्ध में झगड़ा चल रहा था। नवाब अहमद बख़्श के मर जाने पर उसके तीनों लड़कों में तनातनी तैदा हो गई तो अंग्रेज़ी सरकार उस समय की प्रचलित नीति के अनुसार बीच में पड़ गई। उसने

रियासत को दो हिस्सों में बाँट दिया। बड़े भाई को फीरोज़पुर दे दिया और दोनों छोटे भाइयों को लोहारू सौंप दिया। बड़े भाई शमसुद्दीन को यह फैसला अच्छा नहीं लगा, और उसने सरकार से अनुनय-विनय करके लोहारू वापिस ले लिया। विलियम फ्रेज़र की सहानुभूति छोटे भाइयों के साथ थी। उसने छोटे भाई अमीनुद्दीन को उकसाया कि वह कलकत्ते में जाकर अपने मामले की अपील करे। शमसुद्दीन को यह मालूम हो गया कि फ्रेज़र उसके साथ शत्रुता कर रहा है और उसे बरबाद करना चाहता है। इसी बीच में शमसुद्दीन को एक और शिकायत हो गई। जब वह अपनी पेन्शन लेने के लिए दिल्ली आया तो फ्रेज़र ने उसे न केवल मिलने से इनकार कर दिया, अपने मकान से दूर चले जान की आज्ञा दी।

हमने देखा है कि सामान्य-रूप से दिल्ली और उसके आस-पास के प्रदेश का वायुमण्डल १९वीं शताब्दी के मध्य में काफी गर्म हो रहा था। यह भावना कि अंग्रेज़ मुसलमानों के दुश्मन हैं, उग्र हो रही थी। शमसुद्दीन भी उससे पूरी तरह प्रभावित था। उसने क्रोध में आकर फ्रेज़र की हत्या करने का निश्चय किया।

हत्या के लिए एक गहरा षड्यन्त्र बनाया गया। शमसुद्दीन का एक मित्र क़िले में रहता था। उसका नाम मुग़ल बेग था। उससे शमसुद्दीन ने यह पता लगा लिया कि फ्रेजर की दिनचर्या क्या है और आने-जाने के रास्ते कौन से हैं? मारने के काम के लिए उसने करीमखाँ नाम के व्यक्ति को नियुक्त किया। करीमखां का उपनाम भस्मारू था। शमसुद्दीन का दरियागंज में एक अपना मकान था। करीमखां वहाँ जाकर रहने लगा। उसने अपना दिल्ली जाने का यह निमित्त बतलाया कि वह नवाब के लिए ऊँची नसल के कुत्ते खरीदने आया है। वह दिल्ली में रहकर फ्रेजर का पीछा करके रात में हत्या करने का अवसर तलाश करने लगा। अच्छा अवसर तलाश करने में बहुत समय लग गया। इस विषय में नवाब से उसका जो पत्र-व्यवहार होता था, उसकी भाषा इस प्रकार की होती थी। "अच्छे कुत्ते नहीं मिले", "व्यापारी कुत्ते के बहुत दाम मांगता है", "कुत्तों की रक्षा बहुत कड़ाई से की जा रही है" इसी तरह छः महीने निकल गये। अन्त में १८३५ के मार्च मास में अनुकूल अवसर हाथ लग गया।

फ्रेज़र पहाड़ी पर उस मकान में रहता था, जिसमें अब हिन्दूराव हॉस्पिटल है। वह जब शहर की ओर जाता था, तब घोड़े पर सवार होता था, और अर्दली भी साथ रहता था। २२ मार्च की रात को किशनगढ़ के राजा ने एक पार्टी दी, जिसमें फ्रेज़र भी गया। उस रात अर्दली उसके साथ नहीं था। करीम को मौका मिल गया। आधी रात के समय पार्टी से लौटते हुए फ्रेज़र ज्यों ही उस स्थान से गुजरा, जिसके पास करीम बैठा हुआ था, करीम ने गोली दाग़ दी। गोली ठिकाने पर लगी। फ्रेज़र घोड़े से नीचे गिर गया। खाली घोड़ा हत्या की सूचना देने के लिए सरपट चाल से घर की ओर भागा।

यह घटना केवल एक अंग्रेज़ अफ़सर की हत्या तक परिमित थी, परन्तु वस्तुतः यह उस समय की बेचैनी की जीती-जागती सूचना थी। फ्रेज़र की हत्या से दिल्ली से कलकत्ते तक के अंग्रेज़ों में बहुत सनसनी फैल गई। स्पेशल ऑफिसर नियुक्त किये गये, जिन्होंने सारे षड्यन्त्र को खोद निकाला, और कड़ी सजायें दे दीं, परन्तु आश्चर्य की बात यही है कि अंग्रेज़

शासकों ने चेतावनी की उस ध्वनि को न सुना, जो करीम की बन्दूक ने दी थी। यदि वह सुनते तो १८५७ में आने वाले भयंकर तूफ़ान का अनुमान लगा लेते। उनकी समझ में आ जाता कि वह जिस दिल्ली को अपने लिए आमोद-प्रमोद की भूमि मानकर चैन की बंसी बजा रहे हैं, उसके नीचे असन्तोष रूपी लावा की नदियाँ बह रही हैं जिनके फटने में देर नहीं है।

अधिक आश्चर्य तो इस बात पर है कि स्वयं लार्ड डलहौज़ी भारत से जाने से पूर्व समझने लगा था कि अब ज्वालामुखी के फटने में देर नहीं है, और वह अपनी इस आशंका को प्रकट भी कर गया था, परन्तु भवितव्यता ऐसी प्रबल है कि सँभलने की चेष्टा किसी ने भी न की—न डलहौज़ी ने और कोर्ट ऑव डायरेक्टर्स ने। दोनों मस्त होकर अपनी उसी गर्वित चाल से चलते रहे। उधर मुग़ल सम्राट्, राजा महाराजा, व्यापारी वर्ग, कारीगर और सर्वसाधारण प्रजा इन सभी में अविश्वास, भय और आशंका का विष अधिकाधिक फैल रहा था। देश की, फटने के लिए तैयार ज्वालामुखी की सी स्थिति थी, जब मरणासन्न लार्ड डलहौज़ी ने भारत से प्रयाण किया, और लार्ड कैनिंग ने गवर्नर-जनरल के भवन में पदार्पण किया।

बासठवाँ अध्याय

ज्वालामुखी कैसे फटा ?

अब तक हमने भारत के उर:स्थल पर ब्रिटिश राज्य रूपी रथ के निरन्तर आगे ही आगे बढ़ने की कहानी सुनाई, अब हम उस विशाल प्रतिक्रिया की कहानी आरम्भ करते हैं, जिसका अन्त सन् १९४७ के अगस्त मास में हुआ। प्रगति का युग १०० वर्षों तक जारी रहा तो प्रतिक्रिया के युग का विस्तार भी लगभग सौ साल तक—९० वर्ष ४ महीनों तक—रहा। उस कहानी की पूर्व-पीठिका की थोड़ी-बहुत झाँकी पहले भाग के अन्तिम अध्यायों में दी जा चुकी है। अब आप सन् '५७ के प्रसिद्ध विद्रोह का पूरा विवरण सुनिये।

सूखे हुए भुस के ढेर में आग लगाने के लिए एक छोटी-सी चिनगारी ही पर्याप्त होती है। विद्रोह का असली विस्फोट भी एक छोटी-सी घटना से हुआ।

ईस्वी सन् १८५७ के जनवरी मास की बात है। कलकत्ते के समीप दमदम की छावनी में जो देसी फ़ौजें तैनात थीं, उनमें बहुत से पूरब के ब्राह्मण सिपाही भी थे। वह लोग अपने पुराने रीति-रिवाजों में बहुत आस्था रखते थे। एक ब्राह्मण सिपाही पानी का भरा लोटा लिये जा रहा था। एक मेहतर ने उससे पीने को पानी माँगा। ब्राह्मण सिपाही ने देने से इन्कार करते हुए कहा कि "यदि मैं अपने लोटे से तुझे पानी पिलाऊँगा तो मेरा धर्म भ्रष्ट हो जायगा।" इस पर मेहतर ने ताने के तौर पर उत्तर दिया—"तुम्हारा धर्म तो मुझे लोटे से पानी पिलाये बिना भी जल्दी ही भ्रष्ट हो जायगा, क्योंकि अंग्रेज़ी सरकार ऐसे कारतूस बना रही है, जिसमें गौ और सूअर की चर्बी लगाई जाती है। बन्दूक के भरने में पहले सिपाहियों को वह कारतूस दाँत से काटना पड़ेगा।"

वह मेहतर दमदम के हथियार बनाने के कारखाने में काम करता था। बहुत समय से यह चर्चा कानों-कान चल रही थी कि सरकार कोई ऐसा काम कर रही है, जिससे हिन्दू और मुसलमान दोनों का धर्म भ्रष्ट हो जायगा, उस मेहतर के ताने ने मानो उस चर्चा पर पक्की मुहर लगा दी। उस ब्राह्मण सिपाही ने भागकर वह समाचार अपनी बैरक में सुनाया, और वहाँ पानी में पड़े तेल की तरह समाचार छावनी से छावनी में होता हुआ देश के बड़े भाग में फैल गया। हिन्दुस्तानी सिपाहियों के हृदय विश्वास से भर गये।

कारतूस-चर्चा का भारतीय सिपाहियों के मन पर कैसा उग्र प्रभाव हुआ, और अंग्रेज़ों पर उसकी कैसी प्रतिक्रिया हुई, यह वीर मंगल पांडे की घटना से स्पष्ट हो जायगा। अंग्रेज इतिहास-लेखक मि० हालन्स ने वह घटना निम्नलिखित प्रकार से सुनाई है—

"२९ मार्च (१८५७) को बैरकपुर की ३४ नम्बर की हिन्दुस्तानी सेना में असाधारण हलचल दिखाई दी। हवालदार मेजर हाँपता हुआ, अपने अंग्रेज़ अफ़सर के पास पहुँचा और यह खबर सुनाई कि एक दबंग सिपाही ने यह घोषणा कर दी है कि वह बाग़ी है और वह बारगों

में बग़ावत का प्रचार करता घूम रहा है। लेफ़्टिनेण्ट बा (Baugh) घोड़े पर सवार होकर लाइन की ओर गया तो देखता क्या है कि एक अकेला नौजवान सिपाही, जिसका नाम मंगल पांडे था, सिपाहियों में घूमघूमकर यह प्रेरणा कर रहा है कि अंग्रेज़ी सरकार हमारे धर्म का नाश करना चाहती है, हमें उसकी नौकरी छोड़ देनी चाहिए। वह यह घोषणा भी कर रहा था कि 'मैंने प्रण कर लिया है कि जो अंग्रेज़ मेरे सामने आयगा, उसे गोली मार दूंगा।"



वीर मंगल पाण्डे

वह घोषणा कर ही रहा था कि एक गोरा अफ़सर उसके सामने आ गया। मंगल पांडे ने क्षण भर का भी विलम्ब न किया और एक दम अफ़सर पर गोली दाग़ दी। गोली घोड़े के लगी —घोड़ा गिर गया और लैफ़्टीनेंट बा कूदकर अलग खड़ा हो गया। उसने वहीं से मंगल पाण्डे पर गोली चलाई, जो खाली गई। अब तो पाण्डे भूखे बाघ की तरह गोरे अफ़सर पर टूट पड़ा। उसने अपनी तलवार से एडजूटेंट को दायें बायें घायल कर दिया। इस पर बा की सहायता के लिए अंग्रेज़ सार्जेण्ट मेजर कूदकर आया—पर मंगल पाण्डे दोनों के लिए काफी था। उसने दोनों के दाँत खट्टे कर दिये। पास ही २० सिपाही खड़े थे—वे तमाशा देखते रहे। उन्होंने न पाण्डे की मदद की और न गोरों की। मेजर जनरल ने सिपाहियों के जमादार को कई बार पुकारा पर न वह स्वयं आगे बढ़ा और न सिपाहियों को आज्ञा दी। इसी बीच में कुछ और गोरे अफ़सर और एक मुसलमान सिपाही मदद के लिए आ पहुंचे। ३४ वीं पल्टन के कर्नल व्हीलर ने पास आकर सिपाहियों को हुक्म दिया कि बाग़ी को पकड़ लो, परन्तु कोई टस से मस न हुआ।

देर तक यही दशा रही। दोनों गोरे पाण्डे की तलवार की मार खाते रहे। इतने में फ़ौज का बड़ा अफ़सर वहाँ जा पहुँचा। उसके साथ उसके दो जवान लड़के और कुछ अन्य गोरे सिपाही भी थे। अफसर ने आकर छोटे अफ़सरों से पूछा कि 'तमाशा क्यों देख रहे हो सिपाहियों को हुक्म क्यों नहीं देते कि बाग़ी को गिरफ़्तार करें।" उन्होंने उत्तर दिया कि "हम क्या करें, सिपाही कहना नहीं मानते" "कहना नहीं मानते।" गर्ज कर बड़े अफ़सर ने कहा, और पिस्तौल तानकर सिपाहियों को आज्ञा दी। "मेरी बात सुनो। मेरे हुक्म देने पर जो आदमी आगे नहीं बढ़ेगा, उसे गोली मार दूंगा।" 'फार्वर्ड मार्च', 'फार्वर्ड मार्च' के हुक्म पर आगे क़दम रखने वाले सिपाही कर्नल हियरसे (Hearsey) के हुक्म के जादू को न टाल सके। वे मंगल पाण्डे को पकड़ने के लिए आगे बढ़ने लगे। प्रतीत होता है कि वीर पाण्डे पहले से तैयार था। ज्योंही उसे गिरफ्तार होने की आशंका हुई उसने बन्दूक का मुंह अपनी छाती की ओर करके गोली छोड़ दी। सन् ५७ के महान् विद्रोह का पहला शहीद मंगल पाण्डे

अपनी गोली से आहत होकर भूमि पर गिर पड़ा। गोली ने उसे घायल तो कर दिया, परन्तु कोर्ट मार्शल के लिए जीवित छोड़ दिया।

उसे घायल दशा में गिरफ़्तार कर लिया गया। कुछ दिन पीछे उसका कोर्ट मार्शल किया गया, जिसमें फाँसी का हुक्म सुनाया गया। गोरों को हिन्दुस्तानी सिपाहियों तथा सेना से सम्बन्ध रखने वाले अन्य व्यक्तियों पर इतना अविश्वास हो गया था, कि पाण्डे को फाँसी देने के लिए ४ हत्यारे कलकत्ते से बुलाये गये। पाण्डे को हिन्दुस्तानी सिपाहियों के सामने फाँसी पर चढ़ाया गया। अंग्रेज लोग यह देख आश्चर्यित रह गये कि वह देश और धर्म का मस्ताना अकेला नवयुवक अन्त समय तक अपनी आन पर जमा रहा, और ऊँचे स्वर से सिपाहियों को धर्म की रक्षा के लिए विद्रोह करने की प्रेरणा करता रहा।

मंगल पाण्डे का जीवित शब्द फाँसी की रस्सी से बन्द हो गया, परन्तु उसकी प्रति ध्वनि सैकड़ों लहरों में परिणत होकर देश के एक कोने से दूसरे कोने तक फैल गई। कार्तूस की चर्चा के साथ-साथ मंगल पाण्डे के बलिदान का समाचार सुनाने के लिए हिन्दू साधु हाथियों पर, मुसलमान फकीर घोड़ों पर और एक तारे वाले वैरागी पैदल, मानों किसी अज्ञात शक्ति से प्रेरित होकर पश्चिम और उत्तर की ओर चल दिये, जिससे लगभग एक महीने में देश बड़े भाग की सभी छावनियों में अंग्रेजी राज्य के प्रति घोर विद्रोह का भाव व्याप्त हो गया।

अब हम कलकत्ते से चलकर ज्वालामुखी फटने के प्रारम्भिक केन्द्र मेरठ में पहुँचते हैं। अप्रैल के अन्त तक असन्तोष और क्रोध की भावना वहाँ की छावनी में भी व्याप्त हो चुकी थी। क्या हिन्दू और क्या मुसलमान सभी सिपाहियों के मन में अंग्रेज़ी राज्य और अंग्रेज़ अफ़सरों के प्रति घृणा के भाव प्रज्वलित हो गये थे। क्रान्ति के हरकारों, और क्रान्ति के चिन्ह चपातियों के प्रसार द्वारा कलकत्ते की सब घटनाओं का सांगोपांग वृतान्त जानकर भारतीय सिपाही विद्रोह के लिए तैयार बैठे थे कि तीसरे हिन्दुस्तानी घुड़सवार दस्ते के अक्खड़ कप्तान कर्नल स्मिथ के मन में यह खुजली उठी कि अपनी शक्ति की परीक्षा की जाय। उसने २४ अप्रैल को अपने दस्ते के सिपाहियों को इकट्ठा करके आज्ञा दी कि बन्दूक में नये कार्तूस लगाये जायँ। सिपाही संख्या में ९० थे। उनमें से केवल ५ ने आज्ञा का पालन किया। शेष सबने साफ़ इनकार कर दिया।

परेड तोड़ दी गई, और सेनापति के पास ख़बर भेजी गई। सेनापति ने सिपाहियों के कोर्ट मार्शल का हुक्म दिया। कोर्ट मार्शल करने वाले फ़ौज के ही अंग्रेज़ अफ़सर थे, अपराध बहुत संगीन समझा गया, इस कारण सब अपराधी सिपाहियों को १० साल के कठोर कारागार का हुक्म सुनाया गया।

यह अत्यन्त कठोर दण्ड ही सिपाहियों में विक्षोभ फैलाने के लिए पर्याप्त था, परन्तु ब्रिटेन की शान के पहरेदार कर्नल स्मिथ को चुप-चाप दण्ड देना पर्याप्त न मालूम हुआ। ९ मई के दिन तपते हुए सूर्य पर बादल मँडरा रहे थे, जब डिवीज़न के कमाण्डर जनरल हिवेट ने पेरेट के मैदान में वफादारी का सबक देने के लिए छावनी की सब सेनाओं को एकत्र किया,

और उनके सामने अपराधी घोषित किये गये सैनिकों का घोर अपमान किया गया। सिपाहियों की वर्दियाँ उतार ली गईं, और लुहारों को बुलाकर सब के सामने उनके हाथों और पाँवों में हथकड़ियाँ पहिनाई गईं। बेचारे सिपाही अपनी भूल के लिए क्षमा माँगते रहे, परन्तु अंग्रेज का बाघपन पूरे ज़ोर पर था। जब उन्हें हथकड़ी-बेड़ी पहिनाकर जेल की ओर ले जाया जाने लगा, तब उन्होंने ऊँचे स्वर से अग्रेज़ सरकार और अंग्रेज़ अफ़सरों को भरपेट शाप दिये, और साथ ही अपने साथियों को चुपचाप खड़े होकर भाइयों का घोर तिरस्कार होते देखने के लिए कोसा। साथियों का खून अन्दर-ही-अन्दर खौल रहा था, परन्तु उस समय तोपों और अंग्रेज़ सिपाहियों की बन्दूकों के मुँह ऐसे तने हुए थे कि हिन्दुस्तानी सिपाहियों के लिए सिर उठाना भी कठिन था। उस समय वे बेचारे दिल पर पत्थर रखकर उस अत्याचार के अपमानजनक दृश्य को देखते रहे।

सौ साल के अनुभव से अंग्रेज़ इस निश्चय पर पहुँच चुके थे कि हिन्दुस्तानियों का इलाज केवल डण्डा है। जहाँ उन्हें कठोरता से दबाया गया कि वे चित हो जाते हैं। भारत वासी भी हृदय रखने वाले मनुष्य हैं, उनमें भी आत्मसम्मान की भावना है, उनमें भी वीरों का रक्त है—ये भावनायें ही अग्रेज़ों के मन में से निकल गई थी। ९ मई को ८५ हिन्दुस्तानी सैनिकों के हाथों और पाँव में हथकड़ी पहिनाकर अंग्रेज़ अफ़सरों ने अपने मन को तसल्ली दे ली थी कि हमने विद्रोह का सिर काट दिया, अब इसके आगे कोई सिपाही अंग्रेज़ अफ़सर की हुक्म-अदूली करने की हिमाकत न करेगा।

रात को अंग्रेज़ खूब निश्चिन्तता से पाँव पसारकर सोये। उधर हिन्दुस्तानी सिपाहियों के हृदयों में अपमानजनित क्रोध की ज्वाला जल रही थी। वे रात भर अपमान का बदला लेने और अपने साथियों को मुक्त करने की योजना बनाते रहे।

१० मई को इतवार था। यह मानकर कि बग़ावत का मस्तक कुचला जा चुका है, अंग्रेज़ अफ़सर बहुत उत्साह से छुट्टी मनाने की तैयारी करने लगे। दिन भर शान्ति से व्यतीत हो गया। शाम के समय अंग्रेज़ पुरुष स्त्री और बच्चे गिर्जों में चले गये या तफ़रीह के लिए बाहिर निकल गये। जो मकान में थे, वह भी जाने की तैयारी कर रहे थे कि रविवार के सन्नाटे को भेदती दुई बन्दूकों की ध्वनि छावनी में गूंजने लगी। उस समय अंग्रेज़ अफ़सरों की मनोवृत्ति पर क्या बीती, इसका अनुभूत वर्णन एक अंग्रेज़ अफ़सर के शब्दों में सुनिये। कर्नल मैकेंज़ी उस समय मेरठ की छावनी में एक दस्ते का सेनापति था। उसने अपने संस्मरणों में १० मई की घटना का जो वर्णन किया, हम यहाँ उसका अनुसरण करेंगे, क्योंकि वह एक सम्बद्ध व्यक्ति की आपबीती है।

"१० मई के सायंकाल हमारे बहुत से साथी गिर्जे गये थे, और मैं अपने बरामदे में बैठा किताब पढ़ रहा था कि मेरा बहरा शिवदीन भागा हुआ आया, और बोला कि "हुज़ूर लाइन में हल्ला-गुल्ला हो रहा है। सिपाही बाग़ी हो गये हैं, साहब लोगों को मार रहे हैं।" मुझे उसकी पूरी बात का विश्वास नहीं हुआ परन्तु बार-बार गोली चलने की आवाज़ आ रही थी, इससे गोलमाल होना तो निश्चित ही था। मेरे मन में विचार आया कि शायद अंग्रेज़

सिपाही हिन्दुस्तानी सिपाहियों की गालियों और व्यंग्यों से तंग आकर आपे से बाहिर हो गये हैं और उन्हें सजा दे रहे हैं। मुझे मानना पड़ता है कि मेरे मन में इस कल्पना से प्रसन्नता हुई। मैंने सोचा कि मेरे साथी बदला ले रहे हैं, वह अच्छा ही है। मैंने झटपट यूनिफार्म पहना, तलवार सँभाली, और घोड़े पर सवार होकर लाइन की ओर बढ़ा। अभी थोड़ी ही दूर गया था कि मैंने एक अंग्रेज़ अफसर को पीछे मुड़-मुड़ कर देखते पैदल भागते देखा। मेरे पुकारने पर भी वह न रुका और मेरे बंगले की दीवार फांदने का यत्न कर रहा था कि सिपाहियों ने उसे आ घेरा। मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि मेरी कोठी का रात का चौकीदार भी बदमाशों की उस मण्डली में था। चौकीदार की तलवार से अंग्रेज़ के होंठ कट गये, परन्तु साथ ही अंग्रेज़ की गोली से चौकीदार भी ठंडा पड़ गया। इसके पश्चात् वह अंग्रेज़ अफ़सर दीवार के दूसरी ओर गिर गया।

इसी समय एक सिपाही ने मुझ पर तलवार से वार किया। मेरे पास तलवार निकालने के लिए समय नहीं था। मैंने अपने घोड़े को एड़ी लगाकर उस बदमाश पर चढ़ाने का यत्न किया। सिपाही का वार खाली गया। इसी बीच में मैंने अपनी तलवार म्यान में से निकाल ली—उसे देखकर वह सिपाही भागकर एक दीवार पर चढ़कर बच निकला।"

इस प्रकार अकस्मात सुख-निद्रा में सोये हुए अंग्रेज़ों की नींद सिपाहियों की गोलियों से और अली अली के नारों से टूटी और वे घबराकर जान बचाने की चिन्ता करने लगे।

यह प्रारम्भ था। विद्रोह प्रारम्भ होने के एक घण्टे के अन्दर ही अन्दर सारे हिन्दुस्तानी सिपाही संगठित ढंग से विनाश के काम में लग गये। तीसरे रिसाले के घुड़सवारों ने जेल पर हमला कर दिया, और उसके दरवाजे तोड़कर अपने साथियों को छुड़ा दिया। अब तो विद्रोही सिपाहियों की शक्ति बहुत बढ़ गई, और कैद से छूटे हुए सिपाहियों की प्रेरणा से बदले की भावना का मानों तूफ़ान उमड़ पड़ा। जोश में भरे हुए सिपाहियों ने अंग्रेज़ों के बंगले जला दिये और जिस गोरे को देखा उस पर वार कर दिया।

कुछ अंग्रेज अफ़सरों ने सिपाहियों को समझा-बुझाकर शान्त रहने का यत्न किया। वे उनसे बात-चीत कर रहे थे कि इतने में एक सिपाही भागा हुआ आया, और उसने चिल्ला-कर सूचना दी कि गोरा फ़ौज हिन्दुस्तानी सिपाहियों के हथियार छीनने के लिए आ रही है। इस समाचार से सिपाही एकदम भड़क गये, जब उनके कप्तान कर्नल फिंनिवनस ने उन्हें समझाने का यत्न किया, तो कुछ सिपाहियों ने उस पर गोलियाँ दाग दीं। कर्नल फिंनिवनस की गोलियों से छलनी हुई लाश घोड़े से गिर पड़ी।

उसके पश्चात् तो सुलह या शान्ति की बात का कोई मौका ही न रहा। गोरे अफ़सर और सिपाही अपनी और अपने परिवारों की रक्षा में लग गये और हिन्दुस्तानी सिपाहियों को मनमानी करने का खुला अवसर मिल गया।

जब रात पड़ गई, और पर्याप्त मार-काट हो चुकी तो सिपाहियों के कैम्प से "दिल्ली चलो" का नारा बुलन्द हुआ। चारों ओर अली अली के आक्रोश के साथ 'चलो दिल्ली' 'चलो दिल्ली' की पुकार सुनाई देने लगी, और देखते ही देखते सारा सिपाहीमण्डल मेरठ की छावनी

को जलते छोड़कर दिल्ली की ओर रवाना हो गया।

अंग्रेज़ अफ़सर और सिपाही पहली चोट से इतने स्तब्ध हो गये थे कि वे दिल्ली पर चढ़ाई करने वाली हिन्दुस्तानी सिपाहियों की सेना को रोकने का साहस तक न कर सके। वे रात भर आत्म-रक्षा के लिए मोर्चा जमाये छावनी के मैदान में पड़े रहे।

विद्रोही हिन्दुस्तानी सिपाही पूरे वेग से दिल्ली के लाल क़िले पर अपना झण्डा फहराने के लिए सर पर बढ़े जा रहे थे, जब आधी रात के समय १० मई के मुंह पर ११ मई का पटाक्षेप हुआ।

तरेसठवाँ अध्याय

सन् ५७ की क्रान्ति क्यों हुई ?

दमदम की छावनी में जो विद्रोहाग्नि चिनगारी के रूप में प्रकट हुई थी, वह मेरठ में ज्वाला के रूप में परिणत हो गई, और आगे हम देखेंगे कि वह शीघ्र ही देशव्यापी क्रान्ति बनकर देश के उरस्थल पर छा गई। दमदम में वह बेचैनी थी, मेरठ में उसने सिपाही-विद्रोह का रूप धारण कर लिया, और दो मास व्यतीत होने के पूर्व ही वह देशव्यापिनी क्रान्ति के रूप में प्रकट हो गई। एक प्रसिद्ध लेखक ने लिखा है कि असफल क्रान्ति को विद्रोह का नाम दिया जाता है, और सफल विद्रोह को क्रान्ति के नाम से याद किया जाता है। इस दृष्टि से कुछ लोगों ने सन् सत्तावन के सक्रिय जागरण को ग़दर, बग़ावत या म्यूटिनी नाम दिया है, क्योंकि उनकी सम्मति है कि वह अभ्युत्थान असफल हुआ। मेरी सम्मति में सन् ५७ के अभ्युत्थान को असफल कहना भूल है। यद्यपि वह प्रत्यक्ष में सफल नहीं हुआ, क्योंकि उसके पश्चात् भी अंग्रेज़ भारत में बने रहे, परन्तु वस्तुतः उसे पूरी सफलता मिली, क्योंकि उसने न केवल ईस्ट इण्डिया कम्पनी की हुकूमत को जड़ से उखाड़कर फेंक दिया, उसने उस ओजस्विनी प्रतिक्रिया को भी जन्म दिया, जिसका अन्तिम फल सन् १९४७ के १५ अगस्त के दिन प्रकट हुआ, जब अंग्रेज़ शासक बोरिया-बदना बाँधकर भारत से विदा हो गये। मैं सन् ५७ के विद्रोह को भारत की राज्य-क्रान्ति का पहला पर्व, और मंगल पाण्डे को देश के स्वाधीनता-संग्राम का पहला शहीद मानता हूँ।

मेरठ में विद्रोह आरम्भ होने के समाचार से अंग्रेज़ अफ़सर आश्चर्यित-से हो गये। मानो वह उसके लिए बिल्कुल तैयार न थे। उन्हें विश्वास-सा हो गया था कि प्रथम तो हिन्दुस्तान के निवासी विद्रोही हो ही नहीं सकते, क्योंकि वह ब्रिटिश राज्य से बहुत संतुष्ट हैं, और यदि वह विद्रोह की बात सोचें भी तो अंग्रेज़ की एक घुड़की या हाथ में ली हुई पिस्तौल उसका दिमाग़ सीधा करने के लिए पर्याप्त है। अंग्रेज़ आते हुए तूफ़ान से कितने बेख़बर थे, इसका यह प्रमाण है कि जब मेरठ में तबाही मचाकर भारतीय सिपाही दिल्ली को जीतने के लिए प्रयाण कर रहे थे, तब बड़े-बड़े अंग्रेज़ पहाड़ों पर जाकर सर्दी का आनन्द लेने के लिए बिस्तर बाँध रहे थे। उस समय के प्रादेशिक शासकों में सब से अधिक ज़ोरदार पंजाब के लेफ़्टिनेण्ट गवर्नर सर जान लॉरेंस को माना जाता था। उसे जब मेरठ के विस्फोट की ख़बर लगी तब वह मरी के पहाड़ की ठंडी हवा खाने की तैयारी कर रहा था। मेरठ के समाचारों ने उसे स्तब्ध कर दिया।

इधर लार्ड डलहौज़ी के विदा होने पर लार्ड कैनिंग ने गवर्नर-जनरल का काम सँभाला। लार्ड कैनिंग एक उदार विचार और मृदु स्वभाव का व्यक्ति था। भारत में आने से पहले वह शासन के अनेक विभागों का अनुभव प्राप्त कर चुका था। उस समय के

साधारण अंग्रेज़ों की तरह उसका हृदय भारत और भारतवासियों के लिए सर्वथा शून्य नहीं था। सम्भव है, वह एक सफल शासक सिद्ध होता यदि वह लार्ड डलहौज़ी का उत्तराधिकारी न होता। जो कांटे लार्ड डलहौज़ी के तानाशाही और गर्वीले स्वभाव ने बोये थे, यह लार्ड कैनिंग का दुर्भाग्य था कि उसे उन पर चलना पड़ा।



लार्ड कैनिंग

यों, लार्ड कैनिंग ने विलायत से भारत के लिए प्रयाण करने से पूर्व ही स्थिति को थोड़ा-बहुत पहिचान लिया था। नये गवर्नर-जनरल को भारत भेजने के समय लन्दन के शानदार बैंक्वटिंग हाल में विदाई का जो विशाल समारोह किया गया, उसमें विदाई के अभिनन्दन का उत्तर देते हुए लार्ड कैनिंग ने अपने भाषण में बहुत सी शिष्टाचार की बातों के अतिरिक्त निम्नलिखित शब्द भी कहे थे—

"मुझे मालूम नही कि घटनाचक्र कैसे चलेगा? हमें आशा है, और ईश्वर से प्रार्थना है कि हम युद्ध की मारकाट से बचे रहें। मै चाहता हूँ कि मेरा कार्य-काल शान्ति से गुज़र जाय, परन्तु···हमें यह न भूलना चाहिए कि भारत के आकाश में, यद्यपि अभी सब कुछ शान्त दिखाई देता है, परन्तु एक हाथ भर का बादल उठ सकता है, जो सम्भव है, बढ़ता और बड़ा होता हुआ तूफ़ान बनकर फट जाय, और हमें विनाश में धकेल दे। जो एक बार हो चुका है, वह फिर भी हो सकता है। अशान्ति के कारण कम हो गये हैं--परन्तु सर्वथा नष्ट नहीं हुए।"

इन वाक्यों से प्रतीत होता है कि लार्ड कैनिंग ने भारत आने से पूर्व ही यहाँ की दशा को बहुत कुछ भाँप लिया था, परन्तु उससे एक बहुत बड़ी भूल हो गई थी। नये गवर्नर-जनरल ने समझा था कि बेचैनी के कारण कम हो गये है, वस्तुत: बात यह थी कि लार्ड डलहौजी के कारनामों ने भारत में बेचैनी की आग को कोने-कोने में फैलाकर लगभग देशव्यापी बना दिया था। दक्षिण को छोड़कर देश का कोई भाग ऐसा नहीं था, जो विद्रोह के लिए उद्यत नहीं हो रहा था।

विद्रोह के कारण तो अंग्रेज़ी राज्य के विकास में ही अन्तर्हित थे। अबतक के वृत्तान्त से पाठक स्वयं इस परिणाम पर पहुँच चुके होंगे कि भारत की आन्तरिक दशा धीरे-धीरे विस्फोट के लिए तैयार हो रही थी। कुछ अंग्रेज़ लेखकों ने विस्फोट के कारणों को राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक इन तीन कारणों में बांटा है। यों तो राष्ट्र के जीवन का प्रत्येक पहलू एक-दूसरे से इतना गुँथा हुआ है कि सब एक-दूसरे पर आश्रित रहते हैं, परन्तु यदि सन् ५७ की क्रान्ति के कारणों पर विचार करें तो उनमें राजनीतिक और धार्मिक कारणों की ही मुख्यता थी।

पहले आप प्लासी के युद्ध से लेकर सन् १८५६ तक के १०० वर्षों की राजनीतिक प्रगति पर विचार कीजिए। पुराने राजवंशों को रौंदती, पहाड़ों और नदियों की सीमाओं को लाँघती हुई, अंग्रेज़ी राज्य की गाड़ी आगे ही आगे बढ़ती गई थी। भारत में शासन करने वाले बड़े-छोटे शासकों और सामन्तों की संख्या उस समय शायद सहस्रों तक पहुँचती थी। ब्रिटिश राज्य की गाड़ी के पहिये उन सब की छाती पर से गुजरे थे। यदि अंग्रेज़ी राज्य इतनी तीव्र गति से न फैलता, और अंग्रेज़ी शासक जो घाव लगाते थे, उस पर साथ ही साथ मरहम भी लगाते जाते तो शायद बेचैनी इतनी अधिक न बढ़ती परन्तु सरल सफलता ने उन्हें इतना गर्वित और असावधान कर दिया कि उन्हें आहत स्थान पर मरहम लगाने की तो क्या रोलने तक की फ़ुर्सत न मिली।

मराठाशाही के नाश ने हिन्दुओं के हृदयों पर आतंक बिठा दिया था। यदि पेशवा बिठूर में कैदी किया जा सकता है, तो सुरक्षित कौन है ? मुगल बादशाह की आन और शान को अंग्रेज़ लोग जिस प्रकार निरन्तर घटाते जा रहे थे, उससे मुसलमानों के दिलों में जलन पैदा हो रही थी। यह तथा ऐसे सामान्य कारण तो पहले ही विद्यमान थे, ब्रिटिश राज्य के औरंगज़ेब लार्ड डलहौजी ने अपनी बलात्कारपूर्ण नीति से परिस्थिति को सौ गुना अधिक विक्षुब्ध कर दिया। बर्मा और पंजाब जीतकर अंग्रेज़ी राज्य में मिला लिये गये ! सतारा, नागपुर, झाँसी तथा बहुत सी रियासतों को 'लैप्स' का बहाना बनाकर हड़प लिया गया, और पेशवा बाजीराव के उत्तराधिकारी नाना साहब की पेन्शन बन्द करके मराठों के घायल हृदयों पर नमक छिड़का गया। सब के अन्त में और सबसे बढ़कर यह काम किया कि अपने पुराने मित्र अवध के नवाब को राज्य-च्युत करके कलकत्ते में नज़रबन्द कर दिया। अवध की नवाबी तो सौ साल से अंग्रेज़ों की मुहरों की थैली बनी हुई थी। जब जरूरत हुई, गवर्नर-जनरल ने हाथ डाला और मुहरें निकाल लीं। सब उपकारों को भूलकर अहदनामों और आश्वासनों पर राख डालकर जब अंग्रेज़ों ने नवाब वाजिदअली शाह को सिंहासन से धकेलकर क़ैद में पहुँचा दिया, तब देश भर में एक मूक हाहाकार मच गया। मुग़ल बादशाह के साथ किये जा रहे सलूक से घायल हुए मुसलमानों के हृदय नवाब के पतन से सर्वथा छलनी हो गये और यह अनुभव किया जाने लगा कि हिन्दू और मुसलमान दोनों का सर्वस्व खतरे में है।

यह तो थे बाग के बड़े-बड़े पेड़, जो काटे गये। छोटे-मोटे पौदों की तो गिन्ती ही कठिन है। डलहौज़ी के पाँचवें वर्ष में एक 'इनाम कमीशन' नियुक्त किया गया था—जिसका उद्देश्य यह पता लगाना था कि कौनसी ज़मींदारियाँ क़ानून की दृष्टि से ठीक हैं—कौनसी नहीं। उस कमीशन के परिणामस्वरूप लगभग दो हज़ार ज़मींन्दारियाँ रद्द कर दी गईं, और उनके प्रदेश सरकार की भूमि में मिला लिये गये। उस समय के अंग्रेज कैसे भारत का स्वप्न लेते थे, यह लार्ड डलहौज़ी के प्रतिद्वन्द्वी सर जॉन नैपियर ने अपने एक मित्र के पत्र में लिखा था—

"यदि मैं १२ वर्ष के लिए भारत का सम्राट् बन जाऊँ तो सारे देश में रेल द्वारा यात्रा होने लगे, और सब नदियों पर पुल बन जायँ···कोई हिन्दुस्तानी राजा न रहे, निजाम

की चर्चा समाप्त हो जाय,···नेपाल भी हमारा हो जाय।"

यह १९वीं सदी के पूर्व भाग में अंग्रेज़ों का स्वप्न था, जिसे पूरा करने में लार्ड डलहौज़ी ने सारी शक्ति लगा दी।

इन सब राजनीतिक कारणों के अतिरिक्त, परन्तु उनके साथ ही साथ चलने वाला एक ज़बर्दस्त कारण धार्मिक भी था। पश्चिम की जातियाँ जब भारत में आईं, तो उनके एक हाथ में व्यापारी का थैला था दूसरे हाथ में ईसाई धर्म का क्रास। जो जहाज़ यूरोपियन लोगों को लेकर यहाँ आते थे, उनमें व्यापारियों, अफ़सरों और सिपाहियों के साथ पादरी भी होते थे। ज्यों-ज्यों यूरोपियनों की शक्ति फैलती गई, पादरियों के प्रचार का क्षेत्र भी बढ़ता गया। प्रारम्भ में तो पश्चिम के शासक वर्ग ने पादरियों को राजनीतिक कार्य में बाधक समझा, परन्तु शीघ्र ही उनकी समझ में आ गया कि पादरी उनके प्रतिद्वन्द्वी न होकर सहायक हैं। सिपाही साम्राज्य-भवन की जो ईंटें चुनता था, पादरी मानों चूने और सीमेण्ट की तहें लगाकर उन्हें दृढ़ता से जमाता था।

पादरियों के प्रचार का सामान्य रूप से हिन्दुओं और मुसलमानों पर यह प्रभाव पड़ता था कि अंग्रेज़ भारतवासियों के धर्म पर कुठाराघात करना चाहते है। हिन्दू देवी-देवताओं को पूज्य मानते थे, ईसाई उनका खण्डन करते थे। मुसलमान मुहम्मद को सब से बड़ा पेशवा मानते थे, ईसाई सबसे ऊपर ईसा को रखते थे। हिन्दुओं और मुसलमानों के सदियों से चले आये रीति-रिवाजों का उपहास करके ही पादरी अपने सिद्धान्तों की सचाई को सिद्ध करते थे।

ईसाइयों के प्रचार से हिन्दू-मुसलमानों के मन में अपने धर्म के नष्ट होने का जो भय उत्पन्न हुआ था, वह अधिक गहरा हो गया, जब मैकाले और उसके हमजोलियों ने संस्कृत, अरबी और फ़ारसी के सम्पूर्ण वाङ्मय को निःसार और मिथ्या बातों से भरा हुआ बतलाकर भारतवासियों को नकली अंग्रेज़ बनाने का उपक्रम किया।

कुछ लेखकों ने यह सिद्ध करने का यत्न किया कि रेल, तार आदि नवीन यन्त्रों के प्रचलन से भी मूर्ख हिन्दुस्तानियों में बेचैनी उत्पन्न हो रही थी। यह विचार निर्मूल है। हमारे देश के उस समय के साहित्य में रेल-तार जैसी उपयोगी वस्तुओं के प्रति असन्तोष और अविश्वास के कोई निर्देश नहीं मिलते। प्रजा की बेचैनी का असली कारण यह था कि अंग्रेज़ पादरी और शिक्षक मिलकर प्राचीन धर्म, संस्कृति और परम्पराओं की जड़ पर कुठाराघात कर रहे थे। भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की दृढ़ता के लिए अंग्रेज़ों को यह आवश्यक प्रतीत होता था कि भारतवासी (कम से कम) आधे अंग्रेज़ बन जायँ। धीरे-धीरे भारतीय सिपाहियों के सम्बन्ध में अंग्रेज़ों की मनोवृत्ति में जो भेद आ गया था, उसके विषय में "हिस्टरी ऑव दी ब्रिटिश एम्पायर" के दूसरे भाग में मि० नोलन ने लिखा है—

"सरकार हिन्दुस्तानी सिपाहियों के धार्मिक विचारों पर आघात पहुँचाने में अधिक निःसंकोच हो गई थी। ऐसी अनेक घटनायें हो गई थीं, जिनसे धार्मिक भावनाओं के आहत होने पर भी सिपाहियों ने विद्रोह नहीं किया परन्तु सरकार नहीं समझ सकी कि ऐसी प्रत्येक

चौंसठवाँ अध्याय

दिल्ली में क्या हुआ ?

हमने पहले अध्याय के अन्त में मेरठ छावनी के विद्रोही सिपाहियों को दिल्ली की ओर जाते छोड़ा था। उनका दिल्ली की ओर जाना किसी पूर्व-निश्चित षड्यन्त्र का परिणाम था, या तुर्त बुद्धि का, यह निश्चय करना कठिन है, परन्तु जिस तीव्रता से वे राजधानी की ओर बढ़े, और जिस तत्परता से दिल्ली के सिपाहियों ने उसका स्वागत किया, उससे यह अवश्य प्रतीत होता है कि कम से कम विद्रोह के कार्यक्रम की हल्की-सी रूपरेखा सिपाहियों के दिमाग़ में पहले से थी।

विद्रोही सिपाही और उनके साथ जेल से छूटे हुए बहुत से अपराधी 'दिल्ली चलो' का नारा लगाते हुए जब दिल्ली की ओर रवाना हुए, तब तक मेरठ में बचे हुए अंग्रेज़ अफ़सर और सिपाहियों के दिलों पर, सिपाहियों का ऐसा आतंक बैठ चुका था—मानों उन्हें काठ मार गया हो। अंग्रेज इतिहास-लेखकों ने उन अफ़सरों की भरपेट निन्दा की है और उन्हें आगे आने वाली अनेक आपत्तियों का कारण बतलाया है। वे दोषी तो थे, परन्तु उतने नहीं जितना उन्हें बतलाया जाता है। असली दोषी तो उस समय की अंग्रेज़ी सरकार थी, जिसकी खाट के नीचे भयानक आग धधक रही थी, और वह सोई पड़ी थी। मेरठ के अंग्रेज़ चोट खाकर ऐसे स्तब्ध हो गये कि उनमें सिपाहियों का पीछा करने की हिम्मत न रही।

प्रभात होते-होते सिपाहियों की भीड़ दिल्ली से लगभग १० मील दूर हिंडन नदी पर पहुँच गई। उस पर एक छोटा-सा पुल था। इसी बीच में मेरठ के समाचार दिल्ली के अंग्रेज़ सेनापति ब्रिगेडियर ग्रेब्ज़ को मिल गये थे। वह चाहता तो हिंडन के पुल को उड़ा सकता था' परन्तु यह नदी गर्मियों में बहुत उथली होती है। उसे कहीं से भी पार किया जा सकता था, इस कारण ब्रिगेडियर ने शहर में रहकर ही उसकी रक्षा करने का निश्चय किया।

विद्रोही सिपाही हिंडन को पार करके जमना पर पहुँचे। उस समय तक अंग्रेज सावधान हो चुके थे, परन्तु उनको आगे बढ़कर रास्ता रोकने की हिम्मत न हुई। विद्रोहियों ने दो स्थानों पर यमुना को पार किया। एक तो पुल पर से और दूसरे राजघाट से। जो सिपाही राजघाट से पार उतरे वे सीधे जेल पर टूट पड़े, और वहाँ के क़ैदियों को रिहा कर दिया। जो सिपाही पुल से पार हुए वे सीधे क़िले की ओर बढ़े।

अंग्रेज़ अफ़सर कुछ हिन्दुस्तानी सिपाहियों के दस्तों को लेकर पुल का रास्ता रोकने के लिए आगे बढ़ा। वहाँ उसने क्या देखा, इसका वर्णन एक अंग्रेज़ अफ़सर की ज़बानी सुनिये। उसने 'बंगाल की सेना की बग़ावत' (The Mutiny of Bengal Army) नाम की पुस्तक में लिखा है—

"जब वे (अंग्रेजी सेना के सिपाही) प्रत्यक्ष में बड़े बहादुराना ढंग पर आगे बढ़े, उन्हें हिंडन

की ओर से बढ़ती हुई कोलाहलपूर्ण सेना दिखाई दी। उनके आगे-आगे तीन नम्बर की घुड़सवार सेना के २५० सिपाही सरपट चाल से बढ़े चले आ रहे थे। उन सवारों की छातियों पर अंग्रेजों की प्रभुता के लिए लड़े हुए संग्रामों में वीरता के लिए प्राप्त पदक झूम रहे थे, उनके चेहरे से आत्मविश्वास दमक रहा था, और उनके हावभाव से उग्रता प्रगट हो रही थी। उनके पीछे-पीछे दिल्ली की सुनहली मीनारों तक पहुँचने की जल्दी में, मिट्टी से सने हुए लाल कोट पहिने पैदल सिपाही लगभग भागते हुए आ रहे थे। उनकी संगीनें सूर्य की रोशनी में चमक रही थीं। उनकी गतिविधि में थोड़ी-सी भी घबराहट नहीं थी, इन्हें मानो अपनी सफलता का पूरा भरोसा था। घुड़सवार और पास आ गये। इस तेज़ी से बढ़ते रहे तो वे जल्दी ही ५४वीं कम्पनी की संगीनों पर पहुँच जायेंगे। अफ़सर ने ४५वीं कम्पनी के सिपाहियों को गोली चलाने की आज्ञा दी। उनके उत्तर पर भारत की क़िस्मत लटक रही थी। उन्होंने गोलियाँ तो छोड़ीं—परन्तु छोड़ीं आकाश में। विद्रोहियों की एक भी काठी खाली न हुई। विद्रोही घुड़सवार ५४वीं कम्पनी के बीच में आ पहुँचे—दोनों एक-दूसरे से घुल-मिल गये। अंग्रेज़ सिपाही अपनी क़िस्मत के भरोसे पर रह गये और वे जहाँ भी मिले, निर्दयता से काट डाले गये।"

इस प्रकार विद्रोही सिपाही यमुना के पुल से पार होकर क़िले के समीप पहुँचे। वहाँ क्या हुआ, यह आप बादशाह बहादुरशाह के शाही अखबारनवीस चुन्नीलाल के रोज़नामचे से सुनिये। यह रोज़नामचा उस फ़ौजी अदालत में पेश हुआ था, जिसने विद्रोह की समाप्ति पर बहादुरशाह पर लगाये गये अभियोग सुने थे। उससे पता चलता है कि पुल पार करके सिपाही जब क़िले के नीचे पहुँचे तब वे उन खिड़कियों के नीचे एकत्र हो गये, जिनसे बादशाह नदी की ओर देख सकते थे। वहाँ से वह चिल्लाकर कहने लगे कि हम लोग दीन के लिए लड़ते हैं—हमारे लिए क़िले के दरवाज़े खोले जायें। बादशाह ने तुरन्त क़िलेदार को ख़बर भेजी कि कुछ बागी मेरठ से आये हैं—और उपद्रव करना चाहते हैं। यह सुनते ही क़िले का अफ़सर कप्तान डगलस बादशाह के पास आया, और सिपाहियों से कहा कि तुम लोग क्यों परेशान कर रहे हो, यहाँ से चले जाओ। बागियों ने जवाब दिया 'हम कप्तान को देख लेंगे' इसके बाद मि० फ्रेजर और कप्तान डगलस कलकत्ता दरवाज़े की ओर गये, और वहाँ की हिन्दुस्तानी फ़ौज से मदद माँगी। उन्होंने जवाब दिया कि "अगर कोई बाहरी शत्रु आयगा तो हम लड़ेंगे पर अपने भाइयों से नहीं लड़ सकते।" फ्रेजर



बादशाह बहादुरशाह

और डगलस कलकत्ता दरवाज़े की सुरक्षा का प्रबन्ध सोच रहे थे कि उन्हें राजघाट की ओर से बाग़ियों के थम्बी बाज़ार और दरियागंज में घुस आने की ख़बर मिली। वहाँ शहर के मुसलमानों ने दिल्ली दरवाज़ा खोल दिया था। सिपाहियों के साथ क़ैद से छूटे हुए लोग और शहर के उपद्रवी भी शामिल हो गये, और उन्होंने दरियागंज के सब अंग्रेज़ों और ईसाइयों को मार डाला। पुरुष, स्त्री या बच्चा जो मिला, उसे मारते, और उनके मकानों को आग लगाते गये।

इधर कप्तान डगलस और फ्रेजर बग्घी पर चढ़कर क़िले की ओर चल दिये। कप्तान साहब ऊपर चढ़ गये, और मि० फ्रेजर ऊपर चढ़ने ही वाले थे कि बाग़ी सवारों और बादशाह के सशस्त्र सिपाहियों ने दूसरी सीढ़ी पर उन्हें मार डाला, फिर बाग़ी ऊपर चढ़ गये। कहाँ उन्होंने कप्तान डगलस रेवरेण्ड जैनिङ्गस, उनकी लड़की और एक अंग्रेज़ का बध किया। सर थ्यूइस मैटकाफ़ के पीछे भी बाग़ी सिपाही लगे परन्तु वह घोड़ा भगाकर अजमेरी दरवाज़े से बाहर निकल गये और बचने में सफल हो गये। इसके बाद शहर के हिन्दू और मुसलमानों ने मिलकर शहर की कोतवाली और १२ छोटे थानों पर अधिकार कर लिया। तमाम सड़कों की लालटेनें तोड़ दी गईं। चीफ़ पुलिस अफ़सर भाग गये, असिस्टेंट अफ़सर घायल हुए और फिर ग़ायब हो गये। बाग़ियों ने बैंक पर भी धावा बोल दिया और २ अंग्रेज़, ३ मेमें, २ बच्चे जो छत पर चढ़े थे, उन्हें मार डाला, तीनों रेज़ीमेण्टों ने खज़ाना लूट लिया, और आपस में बाँट लिया। जुडीशल कोर्ट और कालिज को भी लूट लिया और इमारतों में आग लगा दी। सवारी के रिसालों ने छावनी जाकर वहाँ भी आग लगा दी।"

इधर शहर में विद्रोही सिपाही हत्याकाण्ड मचा रहे थे, और उधर क़िले में दूसरा ही नाटक खेला जा रहा था। पहले तो बूढ़ा बादशाह बहादुरशाह बहुत घबरा गया। वह बेचारा कभी शासक नहीं रहा था। पेन्शनर बनकर दिन काट रहा था, और उर्दू में शायरी करके दिल बहला रहा था, शायद हुकूमत करने की तमन्ना तो कभी दिल में उठी होगी परन्तु वह पूरी होगी, इसकी आशा नही की थी। जब सिपाहियों ने खिड़की के नीचे आकर पुकार की कि हम अंग्रेज़ों की बग़ावत करके आये हैं, हमें अन्दर आने दिया जाय, तब बहादुरशाह ने पहला काम यह किया कि क़िले के अंग्रेज़ अफ़सर को सूचना भेज दी और अपने पास से दो तोपें भी शहर की रक्षा के लिए भेज दीं। प्रतीत होता है कि वह विद्रोहियों का साथ देना नहीं चाहता था। यदि अंग्रेज़ अफ़सर उन्हें शहर में घुसने से रोक सकते तो बहादुरशाह प्रसन्न होता।

परन्तु वैसा न हुआ। दिल्ली में जो हिन्दुस्तानी सिपाही थे, उनकी पूरी सहानुभूति विद्रोहियों के साथ थी। वे अवसर पाते ही उनमें मिल गये। शहर के कुछ निवासियों, विशेषतः मुसलमानों ने दिल्ली दरवाज़ा खोलने और थानों पर कब्जा करने में विद्रोहियों का साथ दिया। परिणाम यह हुआ कि विद्रोही न केवल क़िले में घुस गये, वे शहर पर भी हावी हो गये।

जब विद्रोही क़िले में पहुँचे तो उन्होंने पहला काम यह किया कि सब लोगों पर

आतंक जमाने के लिए आकाश में कई फायर किये। इसके पश्चात् वे क़िले में फैल गये, और दरबारे आम में डेरा डाल दिया। जब तूफ़ान सिर पर आ पहुँचा, तब बहादुरशाह अपने महल से बाहर निकलकर आया, और दीवाने ख़ास के दरवाज़े पर खड़े होकर नौकरों से कहा—"लोगों को शोर मचाने से रोको, और आगे आने को कहो।"

इस पर घुड़सवार घोड़ों पर चढ़े हुए ही बादशाह के सामने आये, और सहायता माँगी। बादशाह ने उन लोगों से कहा कि हमने तुम्हें नहीं बुलाया है, फिर भी तुम लोग यहाँ आ गये, यह काम बहुत बुरा हुआ। इस पर लगभग २०० पैदल सिपाही दीवाने ख़ास में घुस गये और कहा कि जब तक हजूर हमारी सहायता नहीं करेंगे, तब तक हम मुर्दा हैं। बादशाह ने उत्तर दिया कि "मेरे ख़ज़ाने में रुपया नहीं है। मैं तुम्हें तनख़्वाह नही दे सकता।" इस पर सिपाहियों ने अर्ज की कि हम हुजूर से तनख़्वाह नही माँगेंगे। हम अंग्रेज़ी ख़ज़ानों को लूटकर अपनी तनख़्वाहें ले लेंगे।

इसके बाद बहादुरशाह ने भवितव्यता के सामने सिर झुका दिया। सम्भव है उसको तसल्ली हो गई हो कि अब विद्रोह सफल हो जायगा। वह कुर्सी पर बैठ गया, और क्रमशः सवार और पैदल सिपाही सामने आकर सिर झुकाने लगे, और बहादुरशाह उनके सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद देने लगा।"

दिन के तीन बजे तक इसी तरह नाटक की पूर्व-पीठिका होती रही। उसके पश्चात् युद्ध घोषणा कर दी गई कि बादशाह बहादुरशाह ने हिन्दुस्तान की सल्तनत अपने हाथ में ले ली है। यह घोषणा क़िले से होती हुई जनश्रुति के साथ सारे शहर में फैल गई।

लगभग ४ बजे काश्मीरी दरवाज़े की ओर बड़े जोर का धमाका सुनाई दिया। काश्मीरी दरवाज़े के अन्दर, जहाँ अब बड़ा डाकख़ाना है, उन दिनों वहाँ शहर का बड़ा बारूद-घर और शस्त्रागार था। उसकी रक्षक सेना का बड़ा अफ़सर लैफ़्टिनेण्ट विलफबाई (Willoughby) एक नवयुवक और वीर योद्धा था। उसके पास कुल ६ गोरे और कुछ हिन्दुस्तानी सिपाही थे। जब उसे शहर के उपद्रवों का समाचार मिला तब उसने निश्चय कर लिया कि चाहे कुछ हो, मैगजीन शत्रुओं के हाथ में नहीं दी जायगी। उसने ऐसी व्यवस्था कर दी थी कि यदि आक्रमणकारियों को अन्दर आने से न रोका जा सका तो बारूदघर को आग लगा दी जाय। एक आदमी पलीते को आग लगाने को तैयार खड़ा कर दिया गया, और उसे इशारा बतला दिया गया। तीन बजे के लगभग बहुत से विद्रोही सिपाही क़िले से ऊँची-ऊँची सीढ़ियाँ लिये हुए आ पहुँचे, और मैगजीन की दीवारों पर चढ़कर अन्दर घुसने का यत्न करने लगे। उन्होंने कर्नल विल्फबाई को बतलाया कि बादशाह ने मैगज़ीन का द्वार खोल देने का हुक्म दिया है। जब उस बहादुर अंग्रेज़ ने देखा कि सिपाहियों को रोकना कठिन है, तब उसने निश्चित इशारा दे दिया। इशारे का अभिप्राय यह था कि बारूद में आग दे दो। आग लगाने का परिणाम निश्चित था कि आग लगाने वाला और उसके सब साथी उसके साथ ही उड़ जायँगे। इतिहास-लेखक उन कर्तव्य के पक्के बाँके बहादुरों की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता, जिन्होंने जान हथेली पर रखकर मैगज़ीन को आग लगाई। मैगज़ीन तो जल ही गई,

उसके साथ ही लगभग सब अंग्रेज़ सिपाही, अनुमान से दो हज़ार विद्रोही सिपाहियों को साथ लेकर अग्निसात् हो गए। यदि सारी मैगज़ीन सिपाहियों के हाथ में आ जाती तो उनकी शक्ति इतनी बढ़ जाती कि अंग्रेजी सेनायें दिल्ली पर दूसरी बार आसानी से अधिकार न जमा सकतीं, जिससे विद्रोह की प्रगति और परिणाम दोनों ही बदल सकते थे।

तीन दिन पीछे क़िले में एक और वीभत्स काण्ड हो गया। बादशाह की ओर से यह मुनादी करा दी गई थी कि किसी अंग्रेज़ या ईसाई को मारा न जाय, बल्कि पकड़कर क़िले में लाया जाय। इसी तरह पकड़े हुए अंग्रेज और ईसाई पुरुष-स्त्री और बच्चों की संख्या लगभग ४६ के हो गई। बादशाह के हुक्म से उन सब को एक ऐसी जगह में बन्द कर दिया गया, जिसमें केवल एक खिड़की थी। हवा की कमी के कारण सब लोग बहुत परेशान हो गये। कहा जाता है कि बहादुरशाह उन्हें बचाना चाहता था, परन्तु जिन लोगों के हाथ में शासन की बाग़डोर चली गई थी उन्होंने दबा-डराकर बादशाह से यह आज्ञा ले ली कि उन सबको मार दिया जाय। क्रान्ति दबने के पश्चात् मुकदमे में यह आरोप लगाया गया था कि उन बेचारों को मारने वाले स्वयं बादशाह के नौकर थे। विद्रोहियों ने, क़िले के आँगन में सब क़ैदियों को रस्सों के घेरे में ले लिया, और बड़ी क्रूरता से तलवारों से काट-काटकर मार डाला। बादशाह बहादुरशाह ने मुकदमे में अपनी जो सज़ाई दी थी, उसमें यह कहा था कि "यह सारा काण्ड मेरी इच्छा के बिना, और उसके खिलाफ़ हुआ।"

११ मई को दिन के तीन बजे बहादुरशाह के बादशाहत सँभालने की घोषणा की गई। उसी रात शहर में इस शुभ समाचार की सूचना देने के लिए २० तोपों की सलामी दी गई।

दो दिन के बाद चाँदनी चौक में हाथी पर बहादुरशाह की सवारी निकली, जिसके साथ एक पैदल रेज़ीमैण्ट, कुछ तोपें, बैंड बाजा और कुछ शरीर-रक्षक घुड़सवार थे। उस जलूस का उद्देश्य नगरवासियों में भरोसा उत्पन्न करना और हड़ताल खुलवाना था। सवारी का अभीष्ट असर हुआ, और शहर में कारोबार जारी हो गया। इस प्रकार बूढ़ा बहादुरशाह इच्छा या अनिच्छा से सिपाही-विद्रोह के मोर्चे पर सबसे आगे आकर खड़ा हो गया।

पैंसठवाँ अध्याय

क्रान्ति का विस्तार

१० मई को सन् ५७ को सिपाही-विद्रोह का पहला दिन माना जाता है, परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि भारतीय सिपाहियों का असन्तोष उसी दिन पहली बार प्रकट हुआ। उससे पहले भी कई वर्षों से अन्दर-अन्दर सुलगती हुई आग की ज्वालायें प्रकट हो चुकी थीं। १८२४ में बैरकपुर में सिपाहियों का जो हत्याकाण्ड हुआ था—वह ५७ की क्रान्ति का पूर्वाभास था। १८४४ में बंगाल की रेजीमेण्टों ने सिन्ध के मोर्चे पर जाने से इनकार कर दिया था, जब तक उन्हें अधिक भत्ता देना स्वीकार न कर लिया गया। १८४५ में गोविन्दगढ़ में ६६वीं देसी पैदल फ़ौज ने विद्रोह किया था, और १८५२ में ३८वीं बंगाल इन्फेन्टरी ने बर्मा में जाकर लड़ने से इन्कार कर दिया था। इस तरह गत १० वर्षों से विद्रोह की चिनगारियाँ समय-समय पर हिन्दुस्तानी फ़ौजों में प्रकट होती रहती थीं।

हिन्दुस्तानी सिपाहियों के असन्तोष के कारण सर्वथा स्पष्ट थे। वह देख रहे थे कि अंग्रेज़ी सरकार के कठिन से कठिन मोर्चे पर उन्हें झोंका जाता था, परन्तु गोरे सिपाहियों की तुलना में उनके वेतन बहुत ही कम थे। वे ४-५ रुपये तलब पाते थे, और जब यात्रा करनी हो तो सवारी का प्रबन्ध स्वयं करना होता था। गोरों को और बीसों प्रकार के आराम थे जिनसे भारतीय सिपाही सर्वथा वंचित थे।

एक ओर असन्तोष के इन कारणों की विद्यमानता, और दूसरी ओर देश की सेनाओं में गोरे सिपाहियों की अपेक्षा भारतीय सिपाहियों की बेतरह बढ़ती हुई संख्या। दोनों कारणों ने मिलकर एक ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी थी जो विषम थी। बहुत से अंग्रेज़ लेखकों ने तो विद्रोह का मुख्य कारण ही इसे बतलाया है। ज्यों-ज्यों अंग्रेज़ी सरकार विजय के नये-नये क्षेत्र चुनती, और आगे बढ़ने के लिए नई-नई सेनाओं की भरती करती गई, त्यों-त्यों सरकारी सेना में गोरे सिपाहियों की अपेक्षा, भारतीय सिपाहियों का अनुपात बढ़ता गया, यहाँ तक कि जिस समय लार्ड डलहौज़ी ने भारत से विदाई ली, उस समय सेना में सब मिलाकर २,३३,००० सिपाही थे जिनमें से केवल ४५,३२२ गोरे थे, शेष हिन्दुस्तानी थे। ये सब हिन्दुस्तानी सिपाही कुछेक बड़े-बड़े केन्द्रों में एकत्रित थे। वे जहाँ अंग्रेज़ी सरकार के लिए अपनी अनिवार्य आवश्यकता को अनुभव करते थे, वहाँ साथ ही उनके मन में यह विचार कील की तरह चुभता था कि उन्हें गोरे सिपाहियों की अपेक्षा बहुत घटिया दर्जा और बहुत कम वेतन दिया जाता है। असन्तोष की यह भावना सिपाहियों के किसी ख़ास दायरे तक परिमित न थी। हरेक छावनी और हरेक धर्म के मानने वाले समान रूप से उस अपमान का अनुभव कर रहे थे—जो बड़ी से बड़ी सरकारी सेवायें करने के पश्चात् भी उन्हें केवल इसलिए सहना पड़ता था कि वे हिन्दुस्तानी हैं। यही कारण था कि जब मेरठ में एक

छोटी-सी फुंसी निकली तो देश के लगभग सारे शरीर में छाले उबल पड़े।

एक विशेष बात यह थी कि जब एक बार विद्रोह की ज्वाला भड़क उठी, तो देश की सामान्य प्रजा उससे अलग न रह सकी। विद्रोह के पश्चात्, पहले तो अंग्रेज़ लेखक यह मानने को ही तैयार न थे, कि उससे साधारण प्रजा की भी कोई सहानुभूति थी, परन्तु धीरे-धीरे उन्हें स्वीकार करना पड़ा कि सन् ५७ का विद्रोह चाहे सिपाहियों से आरम्भ हुआ हो, परन्तु अन्त में वह प्रजा के बहुत बड़े भाग में व्याप्त हो गया था।

'आक्सफोर्ड हिस्टरी ऑव इण्डिया' में ग़दर के कारणों का विवेचन करते हुए लिखा है—

"विद्रोह यद्यपि प्रारम्भ में बंगाल की सेनाओं का था, जिसका तात्कालिक कारण चर्बी वाले कारतूसों का प्रयोग था, अन्त में उन तक परिमित न रहा। सिविल प्रजा में भी असन्तोष और बेचैनी की भावना विस्तृत रूप से फैली हुई थी। कई स्थानों पर छावनियों में पहले जनता ने विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया।"

यह साधारण प्रजा के उत्थान का ही परिणाम था कि मेरठ के विद्रोही सिपाहियों को दिल्ली के दरवाज़े खुले मिल गये।

इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ बेंजमैन इज़राईली ने २७ जुलाई १८५७ को एक भाषण में कहा—

"मुझे मानना पड़ा है कि बंगाल की सेना के विद्रोही केवल अपने पेशे (सिपाही-गीरी) की शिकायतों का बदला लेने वाले नहीं थे, (वे वस्तुतः सब प्रभावशाली वर्गों के प्रतिनिधि थे क्योंकि) भारत सरकार ने गत वर्षों में (भारत की) प्रत्येक प्रभावशाली वर्ग को अपने से दूर और विक्षुब्ध कर दिया था।"

इसी सचाई को भारत के विख्यात विद्वान् श्री रमेशचन्द्र दत्त ने इन शब्दों में प्रकट किया है—

"इसमें कोई सन्देह नहीं कि जो प्रारम्भ में केवल सिपाहियों का विद्रोह था, वह राजनीतिक कारणों से उत्तरीय तथा केन्द्रीय भारत की बहुत बड़ी श्रेणियों में फैलकर एक राजनीतिक अभ्युत्थान के रूप में परिणत हो गया।" (इण्डिया इन विक्टोरियन एज)

यह दूसरा मुख्य कारण था, जिससे वह विद्रोह जो प्रारम्भ में हाथ भर की चौड़ाई का था, एक मास के भीतर ही भीतर गगनव्यापी काले बादल के रूप में परिणत हो गया। एक बार तो भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की चूलें ही हिल गईं।

साधारण जनता और प्रभावशाली वर्गों के असन्तोष के कारणों को समझना कुछ कठिन नहीं है। लैफ़्टिनेण्ट जनरल मैकल्योड इन्स उन अफ़सरों में से हैं—जिसने सन् ५७ के विद्रोह को इतिहास में यथासम्भव पक्षपातहीन दृष्टि से लिखने का यत्न किया। उसने (The Sepoy Revolt) 'दि सिपोय रिवोल्ट' के प्रारम्भ में उस समय सर्वसाधारण अंग्रेज़ों को भारतवासियों के बारे में जो राय थी, उसे इन शब्दों में प्रकट किया है—

"देसी लोगों (Natives) को केवल ऐसे काले जंगली आदमी माना जाता था जो

संख्या में अधिक होने के कारण हमारे सिपाहियों को कभी-कभी कष्ट देते रहते हैं।"

अंग्रेज़ समझते थे कि क्योंकि हमने हिन्दुस्तानियों पर हुकूमत क़ायम कर ली है, इसलिए हम मनुष्य हैं, और हिन्दुस्तानी जंगली हैं। शक्ति के मद में मस्त वह इस सचाई को भूल गये थे कि भारतवासी भी मनुष्य हैं, और मनुष्य भी ऐसे है जिनका गौरवयुक्त इतिहास उस समय से आरम्भ होता है, जब अभी अंग्रेज़ पेड़ों की छाल से शरीर ढकना सीख रहे थे। यदि वे इस सचाई का ध्यान रखते तो उन्हें स्वयं अनुभव हो जाता कि यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से उस समय के भारतवासी अधीन हो गये थे, तो भी उनके हृदयों में अपमानजनित आग बेतरह सुलग रही थी। सन् ४७ के विद्रोह की असली पृष्ठभूमि में हमें भारत का वह व्यापी और तीव्र असंतोष दिखाई देता है, जिसे शक्ति के मद में चूर अंग्रेजों के दुर्व्यवहार ने उत्पन्न किया था। पुराने सुनहले इतिहास से साभिमान परन्तु वर्तमान में अधीन भारतवासी पश्चिम के अर्धसभ्यों को फिरंगी कहकर दिल को हल्का कर लेते थे।

जिन श्रेणियों को अंग्रेज़ों ने अधिकारच्युत किया था, तथा जिनके रोजगार उनके आने से मारे गये थे, वे सब मन में अंग्रेज़ी राज्य के विरोधी हो चुके थे। कारीगरी के नाश और कारीगरों की बेरोजगारी की बात हम सुना चुके है। देसी शासकों और हजारों जागीरदारों के अधिकारच्युत होने से अधिकारच्युत लोग और उनके परिवार तो सरकार के दुश्मन बन ही गये, उनके आश्रय से जिन मध्यम और निचली श्रेणी के लोगों का पालन होता था, वे भी मानसिक विद्रोही बन चुके थे।

अधिकारच्युत लोगों में से जो शक्तिसम्पन्न व्यक्ति थे, वे कई वर्ष पहले से, अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध योजनायें बनाने में लगे हुए थे। उन योजनाओं या षड्यन्त्रों के दो मुख्य केन्द्र थे। मुख्य केन्द्र कानपुर के पास, बैठूर के 'ब्रह्मावर्त' में था। ब्रह्मावर्त उस स्थान का नाम था, जहाँ पूना से निर्वासित होकर पेशवा बाजीराव द्वितीय ने अपना निवास-स्थान बनाया था। बाजीराव को अंग्रेज़ी राज्य से जो पेन्शन मिलती थी, वह पुष्कल थी। उसे बाजीराव ने दो कामों में खर्च किया। वह आरामपसन्द व्यक्ति था, उसने अनेक विवाह किये और अपने निवास-स्थान को देशदेशान्तर से लाई हुई बहुमूल्य चीज़ों से खूब सजाया। पहला काम तो यह था, और दूसरा काम यह था कि उसकी धार्मिक कामों में दान करने की प्रवृत्ति थी उससे खिचे हुए विद्वान् और ब्राह्मण दूर-दूर से आते थे, और 'ब्रह्मावर्त' में आदर-सम्मान पाते थे। अन्त समय में बाजीराव ने जो वसीयत लिखी, उसमें अपनी सब चल-अचल सम्पत्ति और सरकार से प्राप्त होने वाली पेन्शन का अधिकार गोद लिये पुत्र नाना साहब धूधूपन्त को दिया था। अंग्रेज सरकार ने सम्पत्ति के अधिकार में तो कोई हस्तक्षेप न किया, परन्तु पेन्शन बन्द कर दी। सरकार का कहना था कि वह पेन्शन केवल बाजीराव द्वितीय के लिए थी, उसके उत्तराधिकारियों के लिए नहीं।

नाना साहब बहुत तेजस्वी और महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति था। अंग्रेज़ लेखकों ने उसका बहुत ही जघन्य और भयानक चित्र खेंचा है, तो भी उन्हें मानना पड़ा है कि वह एक चतुर पुरुषार्थी और संसार के व्यवहार में निपुण व्यक्ति था। उसे सरकार का यह व्यवहार,

सह्य न हुआ। अपनी शिकायत सुनाने के लिए उसने अजीमुल्ला खां नाम के एक होनहार नवयुवक को वकील बनाकर विलायत भेजा। वहाँ अजीमुल्ला खां अंग्रेजी सरकार को नाना साहब की माँग पूरा करने के लिए तो तैयार न कर सका, परन्तु वह वहाँ कुछ ऐसे लोगों से मिला, और भ्रमण करके यूरोप की परिस्थिति का इतना अनुशीलन किया कि उसके मन में क्रान्ति की भावनायें जागृत हो गईं। उसने अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति पर दृष्टि डाली तो देखा कि इंग्लैण्ड और फ्रांस की मिली हुई सेनाओं को अकेले रूस की सेनाओं ने सेबास्तोपोल (Sebastopol) में परास्त कर दिया था, और इंग्लैण्ड और ईरान में युद्ध गरम हो रहा है। इन सब समाचारों और क्रान्ति के सस्कारों को लेकर जब अजीमुल्ला खां भारत में वापिस आया तो नाना के अंग्रेजों के प्रति, द्वेषभाव को स्थूल रूप धारण करते देर न लगी। उसके मन में क्रान्ति द्वारा भारत में अंग्रेजी राज्य को जड़ से उखाड़ देने की प्रबल भावना उत्पन्न हो गई।



नाना साहब

उस समय से नाना गुप्तरूप से भारत की सब असन्तुष्ट शक्तियों को एक सूत्र में पिरोकर देशव्यापी विद्रोह खड़ा करने में लग गया। उसने दिल्ली, लखनऊ, मैसूर जैसे एक दूसरे से दूरस्थ नगरों के ऐसे व्यक्तियों को, जो अंग्रेजी सरकार के नृशंस व्यवहारों से घायल हो चुके थे, निजी पत्र भेजे; बहुत रुपया खर्च करके अनेक वेषधारी दूतों द्वारा सन्देश पहुँचाये, और अन्त में १८५७ के मार्च मास में स्वयं तीर्थयात्रा के नाम पर असन्तोष के मुख्य-मुख्य केन्द्रों का दौरा किया। उस तीर्थयात्रा में नाना साहब के साथ उसके भाई बाला साहब और सेक्रेटरी अजीमुल्ला खां भी थे। वह यात्री-मण्डल दिल्ली, अम्बाला, लखनऊ आदि स्थानों का चक्कर लगाकर अप्रैल के अन्त में घर वापिस पहुँचा, और मई में विस्फोट हो गया।

असन्तोष का दूसरा प्रमुख केन्द्र दिल्ली में था। ज्यों-ज्यो अंग्रेज़ी सरकार मुग़ल बादशाह के ताज के मोती झाड़ती जा रही थी, त्यों-त्यों दिल्ली का वातावरण गर्म होता जा रहा था। अब तो यह सन्देह हो गया था कि बहादुरशाह की सन्तान को बादशाह की पदवी का अधिकारी भी माना जायगा या नहीं। बहादुरशाह को क़िला छोड़कर महरौली के महल में जाकर रहने की आज्ञा मिल ही गई थी। उसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि बादशाह के चारों ओर षड्यन्त्र का वातावरण छा गया। जब विद्रोह दब जाने पर, बहादुरशाह पर लाल क़िले में अभियोग लगाये गये, तब बहुत सी ऐसी बातें प्रकट हुईं, जिनसे प्रतीत होता था कि लाल क़िला मेरठ के विद्रोहियों के स्वागत के लिए पहले से ही तैयार था। हकीम अहसानुल्ला

बहादुरशाह का बहुत समीपवर्ती मुसाहिब था। उसने अपने बयान में बताया कि मुहम्मद हसन ग्रस्करी नाम का एक व्यक्ति देहली दरवाज़े के बाहर रहता था। वह बादशाह के पास प्रति दिन आता रहता था। बूढ़े बादशाह के मन पर उसका पूरा अधिकार था। बादशाह उसे भविष्यवक्ता मानते थे। जब ईरानी सेना हिरात में आई तब अस्करी ने अपना एक स्वप्न बादशाह को सुनाया कि पश्चिम से एक बवण्डर उठा जिसके पीछे एक बड़ी बाढ़ आई, जो बवण्डर का पीछा करती हुई मुल्क से बाहर निकल गई। इस बाढ़ से बादशाह को कोई कष्ट नहीं हुआ, और वह आराम से बैठे रहे। हसन अस्करी ने इस स्वप्न का विचार-फल यह बताया कि ईरान का बादशाह पूर्व की अंग्रेज़ी शक्ति को नष्ट करके बादशाह को फिर सिंहासन पर बिठा देगा, और फिरंगी मार डाले जायँगे।

इस प्रकार वृद्ध बादशाह के मन को विद्रोह के लिए तैयार किया गया। कुछ समय पीछे बादशाह ने अपना पत्र देकर शीरी कब्ज़ नाम के व्यक्ति को शाह फारस के पास एक पत्र देकर भेजा। समझा जाता है कि उसमें बादशाह ने अपनी दुर्दशा का वर्णन करके शाह से सहायता माँगी थी।

पब्लिक अख़बारनबीस चुन्नी ने अपने बयान में बतलाया कि ग़दर से पहले दिल्ली में तीन अख़बार निकलते थे। उनके नाम थे दिल्ली अख़बार, सादिकुल अख़बार और सिराजुल अख़बार। इन अख़बारों में अंग्रेज़ों पर रूस की जीत के और ईरान की लड़ाई के हाल-चाल प्रकाशित किये जाते थे, जिसे दिल्ली के लोग काफ़ी शौक से पढ़ते थे। वे अख़बार क़िले में भी पढ़े जाते थे।

विद्रोह के कुछ मास पहले जामा मस्जिद में एक इश्तिहार चिपकाया गया था, जिसमें शाह ईरान की ओर से हिन्दुस्तान के मुसलमानों को उकसाया गया था कि अब वक़्त आ गया है कि सब मुसलमानों को आपस के विरोध भुलाकर एक हो जाना चाहिए, और इस्लामी झण्डे के नीचे आकर अंग्रेज़ों के विरुद्ध जिहाद कर देना चाहिए। गवाहों ने बतलाया कि वह एलान रद्दी-से कागज़ पर लिखा हुआ था, जिससे सन्देह होता था कि वह बनावटी है, और उसमें शियापन की बू भी आती थी, तो भी शहर के मुसलमानों में उसने बहुत सनसनी उत्पन्न करके उन्हें आने वाली आँधी के लिए तैयार कर दिया था।

बैठूर और दिल्ली विद्रोह की योजनाओं के मुख्य केन्द्र थे, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि शेष नगर सर्वथा शान्त थे। बंगाल, बिहार, बुन्देलखण्ड, अवध, पंजाब आदि सूबों के प्रायः सभी बड़े-बड़े शहरों के सिपाहियों तथा आम जनता में बेचैनी घर कर गई थी। बंगाल में उस बेचैनी का चिन्ह लाल कमल को और मध्य और उत्तरीय भारत में उसका चिन्ह चपाती को बनाया गया, और उनकी मार्फ़त विदोह की चिनगारियाँ देश के बड़े भाग में फैला दी गईं।

छयासठवाँ अध्याय

क्रान्ति का विस्तार (१)

रुहेलखण्ड

हमने यह देख लिया है कि सन् ५७ की क्रान्ति के बीज कैसे बोये गये, और वे कहाँ अंकुरित हुए। अब हम उसके विशाल वृक्ष के रूप में परिणत होकर देशव्यापी होने का इतिवृत्त सुनायेंगे।

यह बात निश्चित हो चुकी है कि क्रान्ति के नेताओं ने विद्रोह प्रारम्भ करने की तारीख़ ३१ मई तय की थी। अंग्रेज़ अफ़सरों की अदूरदर्शिता ने ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी कि विस्फोट १० मई को हो ही गया। उससे विद्रोहियों को यह तो लाभ हुआ कि मेरठ और दिल्ली के अंग्रेज़ अफ़सर ऊँघते हुए पकड़े गये, परन्तु हानि यह हुई कि अशान्ति के अन्य केन्द्र शान्त रहे। विद्रोह की आग केवल मेरठ और दिल्ली इन दो शहरों में भभक कर रह गई। लगभग ३ सप्ताह तक देश के अन्य किसी केन्द्र में विस्फोट न हुआ।

ये तीन सप्ताह अंग्रेज़ी सरकार के लिए वरदान सिद्ध हुए। सन् ५७ की क्रान्ति के पूर्णरूप से सफल न होने का एक मुख्य कारण यह भी था कि पहला विस्फोट समय से पूर्व होने के कारण एकदेशी हुआ। यदि सब केन्द्रों में एक साथ ही विद्रोह फूट पड़ता तो सम्भव है, परिणाम दूसरा ही होता।

मई के शेष तीन सप्ताहों में सरकार को अपनी रक्षा के लिए मोर्चाबन्दी करने का अवसर मिल गया। सबसे कठिन परिस्थिति पंजाब में थी। वहाँ तीन ओर से ख़तरा था। अफ़ग़ानिस्तान की ओर से आक्रमण हो सकता था, सिख अपना राज्य वापिस लेने के लिए विद्रोह खड़ा कर सकते थे, और वहाँ की परिस्थिति को हिन्दुस्तानी सिपाही बिगाड़ सकते थे। अंग्रेज़ों के सौभाग्य से तीनों ही ख़तरे टल गये। अमीर दोस्त मुहम्मद १८५५ की सन्धि पर क़ायम रहा, सिख लोगों ने अंग्रेज़ों का साथ देने का फ़ैसला किया, और पंजाब के अंग्रेज़ शासक सर जॉन लॉरेंस ने बड़ी मुस्तैदी से उन सब देसी पल्टनों को बे-हथियार कर दिया, जिन पर उसे सन्देह था।

प्राय: इतिहास-लेखकों को यह बात रहस्यमय प्रतीत होती है कि सिखों ने विद्रोहियों का साथ देकर अपनी छिपी हुई हुकूमत को वापिस लेने का यत्न क्यों नहीं किया? वस्तुत: यह कोई बड़ा रहस्य नहीं है। सिखों के मन में सन् ५७ के विद्रोहियों के साथ सहानुभूति न होने के दो स्पष्ट कारण थे। एक कारण था, उनका नैसर्गिक मुस्लिम-द्वेष। सिख राज्य अहमदशाह अब्दाली के राज्य के खण्डहरों पर बना था। उसे निरन्तर मुसलमानों से लड़ना पड़ा। जब उन्हें मालूम हुआ कि मेरठ के विद्रोहियों ने दिल्ली पहुँचकर बूढ़े बहादुरशाह को भारत का बादशाह घोषित कर दिया है, तब उनके हृदय में विद्रोह के प्रति विद्वेष की भावना

उत्पन्न हो गई। अभी भारत के साधारण निवासियों में इतना गहरा राष्ट्रीय भाव उत्पन्न नहीं हुआ था कि वे देशी और विदेशी में बारीक विवेक कर सकते। उन्हें जब बतलाया गया कि विद्रोह का उद्देश्य भारत पर फिर से मुग़लों की बादशाहत क़ायम करना है तो उनके मन में स्वभावतः विरोधी प्रतिक्रिया उत्पन्न हो गई।

सिखों की विरोधी भावना का दूसरा कारण यह हुआ कि जिन लड़ाइयों द्वारा अंग्रेज़ों ने सिखों को परास्त किया था, उनमें मुख्य रूप से पूर्व के हिन्दू सिपाहियों को लड़ाया था। वह स्मृति अभी ताज़ा थी। सिख लोग अपनी स्वतन्त्रता खोने का एक मुख्य कारण पूर्वी हिन्दुस्तानियों को समझने लगे थे। चतुर अंग्रेज अफ़सरों के लिए यह काम बहुत आसान था कि सीधे-सादे सिख सिपाहियों के मन में पूरब के विद्रोही सिपाहियों के प्रति घृणा और द्वेष का भाव भर देते। सारे विद्रोह में, सिखों का जो विरोधी भाव रहा, उसके ये ही दो मुख्य कारण थे। फलतः सर जॉन लॉरेंस को सिखों की मदद से, पूरब के हिन्दुस्तानी सिपाहियों के हथियार छीनने या उन्हें दण्ड देने में कुछ भी कठिनाई नहीं हुई।

बेचैनी का दूसरा बड़ा केन्द्र अवध में था। अवध की नवाबी समाप्त हुए अभी थोड़े ही दिन हुए थे। नवाब वाजिदअली शाह अपने वजीर के साथ कलकत्ते में नज़रबन्द था। नवाब के जो सहस्रों सम्बन्धी रईस और नौकर-चाकर नवाबों के दिनों में गर्दन अकड़ाकर चलते और बहार लूटते थे, वे अब मदहीन हाथी की तरह निस्तेज और निर्धन हो गये थे। अवध की बेचैनी का एक बड़ा कारण यह भी था कि अंग्रेज़ों की फ़ौज में अधिकतर हिन्दुस्तानी सिपाही अवध से ही भर्ती हुए थे। सिपाहियों की विद्रोही मनोवृत्ति और उनके लिए दिये गये दण्डों का घरवालों पर विषैला प्रभाव होना आवश्यक ही था। वस्तुतः उन दिनों सारा अवध भट्टी पर चढ़े हुए तेल की तरह खौल रहा था।



सर हेनरी लॉरेंस

प्रान्त का गवर्नर सर हेनरी लॉरेंस एक अत्यन्त दूरदर्शी और सुलझे हुए दिमाग़ का व्यक्ति था। मेरठ और दिल्ली के समाचार सुनकर वह एकदम चौकन्ना हो गया, और उसने विद्रोह के सिर को उठने से पहले ही तोड़ देने का प्रयत्न जारी कर दिया। अवध की दशा वर्ष भर से बहुत बिगड़ रही थी। अहमदुल्ला शाह (उपनाम सिकन्दरशाह) नाम के एक मौलवी ने १८५६ में फिरंगियों के विरुद्ध जिहाद की घोषणा कर दी थी, जिसके प्रभाव से मुसलमानों के कई विद्रोही जत्थे प्रान्त भर में फैल गये थे। उनमें से एक जत्थे ने, जिसका नेता फजल अली था, प्रान्त भर में आतंक मचा दिया था। उसे मारने के लिए पुलिस की जो टुकड़ी

भेजी गई, उसका अफ़सर स्वयं डाकुओं की गोली का निशान बन गया। सर हेनरी लॉरेंस ने अवध का प्रबन्ध सँभालने के साथ ही स्थिति को सँभालने का प्रयत्न आरम्भ कर दिया था, मेरठ के समाचारों से उस प्रयत्न में और अधिक तेज़ी आ गई।

सर हेनरी लॉरेंस उन थोड़े से शासकों में से था, जो भारत की समस्याओं पर सहानुभूति और दूरदर्शिता से विचार करते थे। पंजाब के शासक की हैसियत से वह अपने असाधारण गुणों का परिचय दे चुका था। उसने विद्रोह से चार वर्ष पहले एक लेख लिखा था, जिसमें अशान्ति के सब कारणों का ठीक-ठीक विवेचन करते हुए आने वाले विस्फोट की आशंका प्रकट कर दी थी।

लॉरेंस ने पहला काम तो यह किया कि बहुत सी फ़ौजें भेजकर फ़ज़ल अली और उसके दल को नष्ट कर दिया, और दूसरा काम यह किया कि अहमदुल्ला शाह जिहादी को गिरफ़्तार करके जेल में डाल दिया। इतने में विद्रोह की चर्चा लखनऊ पहुँच गई। उसने जहाँ एक ओर देसी सिपाहियों की बिगड़ी हुई तथा सन्दिग्ध टुकड़ियों को बेहथियार करने का काम शुरू किया, वहाँ साथ ही विद्रोह होने की दशा में गोरों की सुरक्षा के लिए मच्छी भवन (Mutchi Bhawan) नाम की इमारत की क़िलेबन्दी करने की आज्ञा दे दी।

विद्रोह के अंग्रेज़ इतिहास-लेखकों ने उस समय के गवर्नर-जनरल लार्ड कैनिंग और प्रधान सेनापति एन्सन पर यह आरोप लगाया है कि उन्होंने मई मास के तीन सप्ताहों की शान्ति से कोई विशेष लाभ नहीं उठाया। प्रतीत होता है कि उन्होंने परिस्थिति के असली रूप को पहिचाना ही नहीं था। उन्होंने बर्मा से गोरों की एक रेजीमेण्ट को कलकत्ता बुलाने के अतिरिक्त अन्य कोई क़दम उठाना आवश्यक नहीं समझा।

मई का महीना बीतने लगा। क्रान्तिकारी दल अन्दर ही अन्दर योजनायें तैयार करता रहा, और सरकार सुरक्षा के उपाय करके सन्तुष्ट-सी हो गई। एक सदी की निरन्तर सफलताओं ने अंग्रेज़ों को प्रमादी और सुलभ सन्तोषी बना दिया था। उन्हें यह बात सम्भव ही नहीं प्रतीत होती थी कि हिन्दुस्तानी लोग बग़ावत कर सकते हैं। फलतः जब स्थान-स्थान पर विद्रोह की आग भड़कने लगी, तब अंग्रेज़ अफ़सर सोते हुए पकड़े गये।

विविध स्थानों पर विस्फोट के कारण और नेता, भिन्न-भिन्न प्रकार के आविर्भूत हुए। अलीगढ़ में क्रान्ति के अग्रदूत एक ब्राह्मण देवता बने। वह विद्रोह का सन्देश लेकर अलीगढ़ से बोलन्द पहुँचे और वहाँ के सिपाहियों में आग भड़काने का यत्न करने लगे। तीन ग़द्दार सिपाहियों ने इस घटना की अफ़सरों से रिपोर्ट कर दी, जिस पर ब्राह्मण को पकड़कर अलीगढ़ ले जाया गया, और अत्यन्त संक्षिप्त अभियोग करके फाँसी का हुक्म सुना दिया गया। जब यह समाचार बोलन्द की छावनी में पहुँचा कि २० मई को ब्राह्मण के गले में रस्सी डाली जायगी तो छावनी के सब सिपाही, बिना अफ़सरों से आज्ञा प्राप्त किये, अलीगढ़ पहुँच गये। सरकार को हिन्दुस्तानी सिपाहियों के हृदयों पर आतंक जमाने का एक और अवसर हाथ आ गया। ब्राह्मण को सिपाहियों के सामने फाँसी पर चढ़ा दिया गया। उस समय अंग्रेज़ अफ़सर यह देखकर आश्चर्यित हो गये कि तिनके भी साँप बन गये। ब्राह्मण की हत्या होते

देखकर हिन्दुस्तानी सिपाहियों ने तलवारें म्यान से निकालकर ऊँची उठा लीं, और 'मारो फिरंगी को' की घोषणा से आकाश को गुँजा दिया। उस घोषणा को सुनकर अंग्रेज़ों के दिल दहल गये, आधी रात होने से पहले सब अंग्रेज़ स्त्री-पुरुष अलीगढ़ छोड़कर भाग निकले।

अलीगढ़ के समाचार जब इटावा में पहुँचे तो वहाँ भी विद्रोह फूट पड़ा। २३ मई के दिन सिपाहियों ने स्वाधीनता का जयघोष करके पहले ख़ज़ाने को लूटा, फिर जेल तोड़कर क़ैदियों को स्वतन्त्र किया और अन्त में अंग्रेज़ों को नोटिस दे दिया कि या तो एकदम यहाँ से भाग जाओ अथवा मार दिये जाओगे। वे सब भाग गये। इटावे के कलेक्टर मि० ए० ओ० ह्यूम ने जब मामला बिगड़ता देखा तो कुछ सिपाहियों की सहायता से हिन्दुस्तानी स्त्री के कपड़े पहिनकर जान बचाई।

अब तो क्रान्ति का सन्देश मानो पर लगाकर उड़ने लगा। २८ मई को अजमेर से १२ मील की दूरी पर नसीराबाद की छावनी में ३०वीं हिन्दुस्तानी पैदल फ़ौज ने और तोपख़ाने के आदमियों ने विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। विद्रोही सिपाहियों ने तोपख़ाने पर कब्ज़ा कर लिया। जिन गोरे अफ़सरों ने विरोध किया उन्हें मार डाला और ख़ज़ाने को अपने हाथों में लेकर बहादुरशाह को अपना बादशाह घोषित कर दिया। इतना काम करके नसीराबाद के भारतीय सिपाही दिल्ली की ओर रवाना हो गये।

मई के महीने में रुहेलखण्ड के कई स्थानों पर गुप्त रूप से क्रान्ति की तैयारी होती रही। पहल बरेली में हुई। क्रान्तिकारियों के सौभाग्य से बरेली में एक योग्य नेता भी मिल गया। अन्तिम रुहिल्ला शासक हाफ़िज़ रहमत का वंशज खान बहादुर खां बहुत प्रभावशाली और साहसी व्यक्ति था। यों वह अंग्रेज़ी सरकार से पेन्शन पाता था, परन्तु वह पेन्शन उसके हृदय पर से गई हुई हुकूमत की याद को नहीं धो सकी थी। निश्चित योजना के अनुसार, ठीक ३१ मई के दिन के ११ बजे छावनी में तोप की एक गर्ज सुनाई दी। वह विद्रोह के प्रारम्भ की घोषणा थी। आश्चर्यचकित अंग्रेज़ों ने देखा कि तोप की गर्ज के साथ ही हिन्दुस्तानी सिपाहियों की बन्दूकें गोली उगलने लगीं, और तलवारें म्यानों से बाहर निकल आईं। अंग्रेज अफ़सरों ने थोड़ी-बहुत रुकावट डालने की चेष्टा की, परन्तु बहुत शीघ्र वे सब काट डाले गये, केवल ३२ गोरे भागकर नैनीताल तक पहुँच सके। इस प्रकार लगभग ६ घण्टों में बरेली पर से अंग्रेज़ी हुकूमत उठ गई और ३१ मई की रात स्वतन्त्र बरेली पर अवतीर्ण हुई। ख़ान बहादुरख़ां, बादशाह बहादुरशाह के सूबेदार की हैसियत से स्वतन्त्र रुहेलखण्ड का शासक उद्घोषित कर दिया गया।

उसी दिन शाहजहाँपुर में भी विद्रोह फूट पड़ा। रविवार होने के कारण गोरे या तो गिरजे में एकत्रित थे, अथवा छुट्टी की मौज मना रहे थे। इतने में सिपाहियों ने मारकाट आरम्भ कर दी। बहुत से अंग्रेज अफ़सर मारे गये, और शेष भाग गये।

मुरादाबाद में २९वीं पैदल फ़ौज तैनात थी। ३१ मई को वह भी बिगड़ उठी। वहाँ के गोरे ऐसे घबरा गये कि वे आत्मरक्षा में हाथ भी न उठा सके। कहा जाता है कि उनमें से वह बच गये, जिन्होंने मुसलमान बनना स्वीकार कर लिया।

बरेली से कुछ सिपाही बदायूं पहुँच गये। उनकी प्रेरणा से दूसरे दिन बदायूं के सिपाही भी उठ खड़े हुए, और सरकारी ख़ज़ाना लूटकर दिल्ली की ओर रवाना हो गये। अंग्रेज अपने बीवी-बच्चों को लेकर जंगलों में भाग गये, जहाँ उनमें से कुछ मारे गये, कुछ भूख के शिकार हो गये, और कुछ हिन्दुस्तानियों की नैसर्गिक दया के प्रभाव से बच निकले।

इस प्रकार ३१ मई और १ जून के दो दिनों में लगभग सारा रुहेलखण्ड अंग्रेज़ों के हाथ से निकल गया।

सरसठवाँ अध्याय

क्रान्ति का विस्तार (२)

बनारस-प्रयाग

मई का महीना रुहेलखण्ड की आज़ादी के साथ समाप्त हुआ, और जून का महीना उत्तर प्रदेश के अन्य शहरों की हलचल के साथ प्रारम्भ हुआ। ३ जून को आजमगढ़ में हरा झण्डा खड़ा किया गया। उसका अभिप्राय यह था कि वह शहर अंग्रेज़ी हुकूमत से निकलकर दिल्ली के बादशाह की अधीनता में चला गया। आजमगढ़ के विद्रोह की यह विशेषता थी कि वहाँ के अधिकांश गोरे अफ़सर हिन्दुस्तानी सिपाहियों की उदारता और सहायता से बच निकले। वह भागकर बनारस या फैजाबाद चले गये।

आज़मगढ़ से भागे हुए गोरे अफ़सरों के साथ ही साथ क्रान्ति का सन्देश लेकर हिन्दुस्तानी सिपाही भी बनारस पहुँच गये। ४ जून को वहाँ भी विद्रोह का कड़ाहा गर्म होने लगा। परन्तु बनारस के अंग्रेज़ अफ़सर असाधारण रूप से चौकन्ने और तैयार थे। वहाँ बाहर से कई अंग्रेज़ सिपाहियों के दस्ते पहुँच चुके थे, और सबसे बड़ी बात यह थी कि जनरल नील, जो अपनी क्रूरता के लिए प्रसिद्ध था, वहाँ की सेनाओं की कमान सँभाल चुका था। बनारस में बहुत से सिख सिपाही भी थे। अंग्रे अफ़सरों को उन पर बहुत भरोसा था परन्तु एक आकस्मिक घटना ने उन्हें ब्रिटिश सरकार के शत्रुओं में शामिल कर दिया।

४ जून के सायंकाल, बनारस के सब हिन्दुस्तानी सिपाहियों को परेड में आने की आज्ञा हुई। उस अवसर पर जो कुछ हुआ, उसका वर्णन हम देशभक्त सावरकर की क्रान्ति सम्बन्धी पुस्तक के दूसरे भाग के ७वें अध्याय से उद्धृत करते हैं—

"इस आज्ञा को सुनकर सिपाही सब कुछ समझ गये। उन्हें यह समाचार भी मिल गया था कि अंग्रेज़ तोपखाने को तैयार रखेंगे। जब परेड के मैदान में अंग्रेज अफ़सरों ने उन्हें हथियार डाल देने की आज्ञा दी, तब वे साफ़ समझ गये कि पहले उन्हें बेहथियार किया जायगा, और फिर तोप के मुंह पर रखकर उड़ा दिया जायगा, इसलिए उन्होंने हथियार रखने की जगह—पास के बारूदघर पर—आक्रमण कर दिया—और भयानक जयनाद के साथ अंग्रेज अफ़सरों पर टूट पड़े। उसी समय सिपाहियों का दमन करने के लिए एक सिख पल्टन पहुँच गई।…एक हिन्दू सिपाही ने उनके अंग्रेज़ कमाण्डर गाईस पर वार किया, जो तत्क्षण मर गया। मरे हुए अफ़सर का स्थान लेने के लिए ब्रिगेडियर डौडसन आया ही था कि समय के प्रभाव से प्रभावित एक सिख सिपाही ने उस पर गोली चला दी, परन्तु कुछ अन्य सिख सिपाही (राजभक्ति के जोश में) उस पर टूट पड़े और उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये। सिख लोग अपनी राजभक्ति के पारितोषिक की प्रतीक्षा कर रहे थे कि इतने में अंग्रेज़ी तोपखाने ने सिखों पर भी गोले बरसा दिये।…अब तो बेचारे सिख सिपाहियों के लिए क्रान्तिकारियों में

शामिल हो जाने के अतिरिक्त और कोई चारा न रहा।"...

सन् ५७ की क्रान्ति के इतिहास में यही एक ऐसा अवसर आया, जब सिख सिपाहियों ने विद्रोहियों का साथ दिया। परन्तु भारतीय सिपाहियों का वह उद्योग सफल न हुआ। सरकार के साथ अनेक शक्तियाँ शामिल हो गईं। बनारस के महाराज के अतिरिक्त शहर के सिख सरदार सूरतसिंह और पण्डित गोकुलचन्द ने अपनी सारी शक्ति अंग्रेजों की सहायता में लगा दी। अन्त में बेचारे सिपाहियों को मैदान से हट जाना पड़ा।

बनारस नगर से बिखरे हुए हिन्दुस्तानी सिपाही सारे बनारस ज़िले में फैल गये। वे जवानपुर की छावनी में भी पहुँचे। वहाँ के अंग्रेज़ अफ़सर हिन्दुस्तानी सिपाहियों को शान्त करने का यत्न कर रहे थे। उसी समय बनारस से आये हुए हिन्दुस्तानी घुड़सवार वहाँ पहुँच गये। वातावरण एकदम गरम हो गया। कुछ गोरे अफ़सर वहीं गोलियों के शिकार हो गये, कुछ भाग निकले, और बाकी किश्ती में चढ़कर नदी-पार जाते हुए माँझियों द्वारा लूट लिये गये। यह विशेषरूप से निर्देशयोग्य बात है, जिसे अंग्रेज़ लेखनी ने भी अंगीकार किया है कि सारे ज़िले के विद्रोह में कोई अंग्रेज़ स्त्री नहीं मारी गई, और बहुत से अंग्रेज़ भारतीय लोगों की उदारता से बच गये। भारतीयों की इस उदारता का जो भयंकर उत्तर जनरल नील के सिपाहियों ने दिया, उसकी चर्चा अन्यत्र की जायगी। यहाँ इतना ही बतलाना पर्याप्त है कि जनरल नील के काले कारनामों ने सिद्ध कर दिया था कि कभी-कभी अपात्र पर की हुई दया अपने राष्ट्र के लिए अहितकर भी हो जाती है।

अब हम बनारस से इलाहाबाद पहुँचते हैं। इलाहाबाद ऐसे स्थान पर बसा हुआ है कि उसे भारत का मर्मस्थल कह सकते हैं। वह उत्तर से पूर्व और दक्षिण को मिलाने वाली गाँठ के समान है। वहाँ का क़िला बहुत दृढ़ और विशाल है। उन दिनों, जब क़िले की दीवारों को सेना की सबसे बड़ी ढाल माना जाता था, संगीन क़िला सहस्रों सैनिकों से भी अधिक मूल्यवान समझा जाता था। इलाहाबाद के क़िले की गिन्ती ऐसे ही मूल्यवान् क़िलों में की जाती थी।

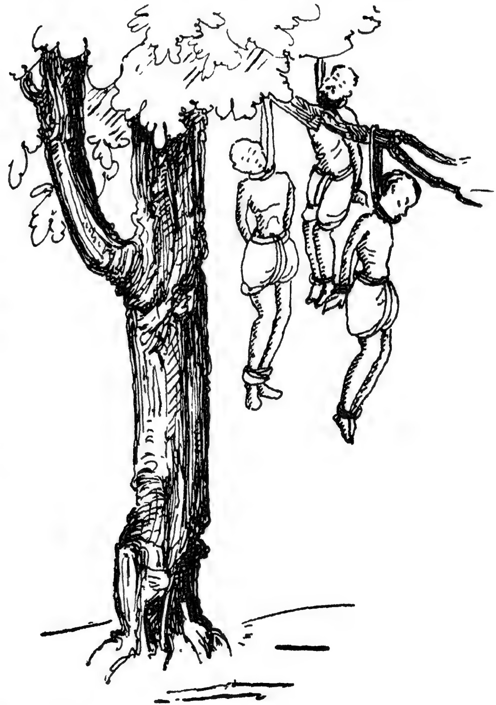
मेरठ और बनारस के समाचारों ने प्रयाग पर अपनी पूरी छाप बिठा दी थी। न केवल सिपाही, वहाँ की जनता भी विद्रोह की भावनाओं से ओतप्रोत हो गई थी, तो भी इसे वहाँ के क्रान्तिकारियों की चतुराई का चिन्ह समझिये, या अंग्रेज अफ़सरों की जड़बुद्धिता का—कि वे पूरी तरह असावधान रहे। जब ५ जून के सायंकाल हिन्दुस्तानी सिपाहियों की ६ठी रेजीमेण्ट ने अकस्मात् विद्रोह का बिगुल बजा दिया तब अंग्रेज़ अफ़सर भौंचक्के-से रह गये। ६ जून को प्रातःकाल एलेग्जेण्डर और हार्वर्ड नाम के दो अंग्रेज़ अफ़सर देसी घुड़सवारों की टुकड़ी को लेकर ६ठी रेजीमेण्ट के दमन करने के लिए पहुँचे, और हमले का आदेश दिया तो वे खड़े के खड़े रह गये, क्योंकि घुड़सवारों ने अपने देशवासी सिपाहियों पर आक्रमण करने से इन्कार कर दिया। यह देखकर कुछ अंग्रेज़ अफ़सर भाग निकले, और दोनों पल्टनों के भारतीय सैनिक एक-दूसरे के गले मिलने लगे। जो गोरे अफ़सर भागकर न जा सके वे मारे गये।

छावनी की खबरें जब शहर में पहुँची, तो वहाँ भी हरा झण्डा खड़ा कर दिया गया। सिपाहियों ने और जनता ने मिलकर खज़ाने को लूट लिया, तारों को काट दिया, और क़ैदियों को जेल से रिहा कर दिया। जब शहर स्वतन्त्र हो गया तो उसे एक नेता की आवश्यकता हुई। दुर्भाग्यवश प्रयाग में कोई ऐसा व्यक्ति न निकला, जो कमान अपने हाथ में ले लेता, फलतः नेतृत्व का ताज लियाकतअली नाम के एक मौलवी के सिर पर रखा गया। नेता की योग्यता का युद्ध के भविष्य पर कैसा असर पड़ता है, यह तब मालूम हुआ जब दस-ग्यारह दिन के संघर्ष के पश्चात् मौलवी लियाकतअली इलाहाबाद ज़िले के निवासियों को जनरल नील के निर्दय हाथों में सौंपकर स्वयं दिल्ली की ओर रवाना हो गया।

विद्रोही सिपाहियों ने क़िले पर अधिकार जमाने के जो यत्न किये, वह सफल नहीं हुए। उसके दो कारण हुए। एक तो यह कि इलाहाबाद में विद्रोह का कोई प्रभावशाली नेता नहीं निकला, और दूसरा यह कि क़िले में जो सिख पल्टन थी, उसने पूरी तरह अंग्रेज़ों का साथ दिया। जब ११ जून को जनरल नील ने गोरी सेना के साथ प्रयाग में प्रवेश किया तो क़िला सर्वथा सुरक्षित दशा में मिला।

यों तो उस समय के प्रायः सभी अंग्रेज़ अफ़सरों ने मौका मिलने पर हिन्दुस्तानी सिपाहियों तथा अन्य नागरिकों के साथ निर्दयता का सलूक किया, परन्तु क्रूरता में जो नाम जनरल नील ने कमाया, वह शायद उस समय के किसी दूसरे अंग्रेज़ जनरल ने नहीं कमाया। हाँ, लगभग ६० वर्ष पीछे अमृतसर में जलियां वाला के कत्लेआम द्वारा डायर ने जनरल नील को मात देने की चेष्टा की थी। उस समय के अंग्रेज़ अफ़सरों में तो जनरल नील ने ही वीरता का पदक प्राप्त किया था।

जनरल नील के कारनामे तो बहुत हैं यहाँ उनमें से कुछ थोड़े से ही दिये जा सकते हैं। बनारस में विद्रोह के असफल हो जाने पर जनरल नील ने प्रत्याक्रमण के लिए गोरों और सिखों की टुकड़ियाँ चारों ओर फैला दीं। विद्रोहियों को पकड़ने के निमित्त से यह घोषणा की गई कि जो व्यक्ति किसी विद्रोही को पकड़ देगा, उसे एक हज़ार रुपये का इनाम दिया जायगा। नील को आशा थी कि इनाम के लोभ



पेड़ों पर टंगे हुए भारतवासियों का चित्र

से जनता विद्रोहियों को एकदम गिरफ्तार करवा देगी, परन्तु वैसा न हुआ। चार्ल्स बौल ने अपने 'इण्डियन म्यूटिनी' नाम के ग्रन्थ के पहले भाग में गोरों के जो बयान दिये हैं उनमें कहा गया है कि—"मजिस्ट्रेट ने लोगों में प्रख्यात विद्रोही नेता या उसके सिर के लिए एक सहस्र रुपयों के इनाम की घोषणा की, तो भी लोगों के मन में हमारे प्रति घृणा इतनी उग्र थी कि उसका कुछ भी असर नहीं हुआ।"

इलाहाबाद के बारे में एक अंग्रेज़ सिपाही का बयान पढ़ने योग्य है—

"एक यात्रा बहुत ही मज़ेदार हुई। हम बन्दूक लेकर एक स्टीमर पर चढ़ गये, और सिख बन्दूकची शहर की ओर चले। हम दायें-बायें गोलियाँ चलाते हुए ऊपर की ओर चलते गए जब तक बुरी जगह न पहुँच गये। वहाँ पहुँचकर हम स्टीमर से उतरकर किनारे पर चले गये, और वहाँ तड़ातड़ गोलियाँ बरसाने लगे। मेरी डबल बैरल गन ने बहुत से निगर लोगों (हिन्दुस्तानियों) का काम तमाम किया। मेरी बदले की प्यास इतनी तीव्र थी। हम दायें-बायें गोली दाग़ते गये, जिससे आग लग गई, जो हवा के झोंकों से बढ़कर आकाश को चूमने लगी, जिससे प्रतीत होता था कि बेईमान बदमाशों के सिरों पर बदले का दिन आ गया है। प्रतिदिन हम प्रभावित गाँव पर इसी तरह के आक्रमण करते, और बदला लेते थे।...हमारे हाथ में उनकी जिन्दगियाँ हैं, और मैं विश्वास दिलाता हूँ कि हम उन्हें जीता नहीं छोड़ेंगे।"

यह नीलशाही का एक बढ़िया नमूना है। सावरकर ने अपने इतिहास में लिखा है—

"नील ने बूढ़ों को जलाया, अधेड़ों को जलाया, जवानों को जलाया, बालकों को जलाया, शिशुओं को जलाया, दूध पीते बच्चों को जलाया, और माँ की छाती से दूधपीतों को भी जलाया। इतिहास-लेखक ने स्वीकार किया है कि उपर्युक्त स्थान पर ६ हज़ार भारत-वासियों का संहार किया गया।"

नील की क्रूरताओं की कहानी बहुत लम्बी है, और लगभग निर्विवाद है। कुछ अंग्रेज़ इतिहास-लेखकों ने उसे टाल दिया है, परन्तु उनसे इन्कार कोई नहीं कर सका। हिस्टरी ऑव दी इण्डियन म्यूटिनी के लेखक टी० आर० ई० हालन्स उन अंग्रेज़ लेखकों में से हैं, जिन्होंमें यथासम्भव संयत भाषा में विद्रोह के बारे में अंग्रेज़ों का पक्ष पेश करने का यत्न किया है। वह लिखता है—

"१८ जून के लगभग ज़िलों (बनारस और इलाहाबाद) पर पूरा अधिकार हो चुका था। परन्तु बदला लेने का काम अभी पूरा नहीं हुआ था। उनके देशवासियों पर जो अत्याचार किये गये थे, उनसे पागल होकर (उनमें से कुछ गोरे सिपाही) मारते चले गये, और यह नहीं देखा कि किसे मारते हैं। वालंटियर और सिख सिपाही क़िले में से निकलकर बाजार में पहुँचते थे, और जो नेटिव सामने आता था, उसे मारते चले जाते थे।"...

पूरे के पूरे गाँव जलाये जाने तथा बूढ़ों, असहाय स्त्रियों और बच्चों की नृशंस हत्या करने की घटनाओं को स्वीकार करते हुए अन्त में वह अंग्रेज़ लेखक लिखता है—

"परन्तु हम नील की सफ़ाई में इतना अवश्य कहेंगे कि नील ने ऐसे दण्ड का प्रयोग

प्रसन्नतापूर्वक नहीं किया, अपितु कठोर कर्तव्य समझकर किया।"

नील के पाशविक अत्याचारों की सफ़ाई में एक संयत भाषा का प्रयोग करने वाला अंग्रेज़ लेखक इतना ही लिख सकता है कि उसने जो कुछ किया कर्तव्य समझकर किया, केवल दिल बहलाने के उद्देश्य से नहीं किया। इन अमानुषिक क्रूर कार्यों के लिए प्रमाणपत्र देता हुआ होलम्स अन्त में लिखता है—

"इतिहास के किसी भी युग में एक व्यक्ति की कार्य-नीति ने उतना चमत्कारी परिणाम उत्पन्न नहीं किया होगा जितना भारतीय विद्रोह में।"

यह इतिहास-लेखक इस बात पर ध्यान देना भूल गया कि बदला कभी एक ही अध्याय में पूरा नहीं होता। बदले के एक अध्याय के पश्चात् दूसरा जवाबी अध्याय आवश्यक होता है। मनुष्य का स्वभाव है कि वह बदले में की गई अपनी चोट को दण्ड और दूसरे की चोट को अत्याचार के नाम से पुकारता है। नील को यह मालूम नहीं था, कि उसके इतिहास में अनूठे और चमत्कारी कारनामों का उत्तरार्ध कानपुर में तैयार हो रहा था, जहाँ नाना साहब के नेतृत्व में सन् ५७ की भारतीय क्रान्ति का एक रक्तपूर्ण नाटक आरम्भ हो चुका था। नाना साहब के समर्थकों ने उस नाटक को 'दण्ड प्रयोग' का नाम दिया और नील के पक्षपोषकों ने 'क्रूर कर्म' का। क्रिया-प्रतिक्रिया का सिद्धान्त ऐसा ही है।

अड़सठवाँ अध्याय

क्रान्ति का विस्तार (३)

कानपुर

अब हम इलाहाबाद से चलकर कानपुर पहुँचते हैं, जहाँ घिरे हुए अंग्रेज़ों की ओर से जनरल नील के पास निरन्तर कुमुक की माँग आ रही थी।

कई वर्षों से कानपुर क्रान्ति का एक गम्भीर केन्द्र बन चुका था। कानपुर के समीप, बैठूर के ब्रह्मावर्त प्रासाद में बैठकर नाना साहब और उसके साथी कई वर्षों से उस तिरस्कार का बदला लेने की योजना बना रहे थे, जो लार्ड डलहौज़ी की प्रेरणा से उन पर ढाला गया था। कल का शासक मराठा ब्राह्मण, अंग्रेज के हाथों अपमानित होकर, सोया नहीं रह सकता था।

नाना साहब के तीन मुख्य सलाहकार थे। पहला था नाना का सगा भाई बाला साहब, दूसरा चचेरा भाई राव साहब था, और तीसरा उसका मित्र, मन्त्री और प्रतिनिधि अजीमुल्ला खां था। ये तीन मुख्य साथी थे, परन्तु एक और साथी भी था, जो कानपुर में नहीं, कालपी में रहता था। तांत्या टोपे की वीरता और युद्ध-कला को उसकी अन्तिम सफलता से नहीं नापना चाहिए। उसे सफलता नहीं मिली, इसके वही सब कारण थे, जिन्होंने सन् ५७ की क्रान्ति को असफल बनाया, परन्तु यह बात उसके शत्रुओं को भी माननी पड़ी कि वह मराठा सरदार बहुत ऊँचे दर्जे का लड़ाका और वीर नायक था। यदि वह किसी अनुकूल समय में उत्पन्न होता तो अपने देश के इतिहास पर अपनी छाप छोड़ जाता।

कानपुर में विद्रोह का बीजारोप मई मास में हो गया था। उसे अंग्रेज़ शासक अपनी एक ज़बर्दस्त छावनी समझते थे, इस कारण वहाँ लगभग एक डिवीज़न (Division) सेना रहती थी, और कुछ अंग्रेज़ सिपाही भी थे। वहाँ का अंग्रेज़ सेनापति सर ह्यूग ह्वीलर वयोवृद्ध होता हुआ भी काफी फुर्तीला होने के कारण गुणों से जवान समझा जाता था। जब विद्रोह के समाचार मेरठ और दिल्ली से कानपुर पहुँचे तो वहाँ के अंग्रेज़ अफ़सरों को यह चिन्ता हुई कि यदि यहाँ भी आग भड़क उठी तो आत्म-रक्षा का क्या उपाय किया जायगा? कानपुर में प्रयाग के ढंग का कोई क़िला नहीं था, इस कारण ह्वीलर ने मैगजीन की इमारत को क़िले का रूप देने का निश्चय किया। चारों ओर मिट्टी की दीवारें बनाने के अतिरिक्त अन्दर भी थोड़ा-बहुत सुरक्षा का उपाय कर लिया, और लखनऊ से सहायता के लिए आये हुए ५० गोरे सिपाहियों की सहायता से उसे सब प्रकार से सुसज्जित कर दिया गया।

ह्वीलर को सरकारी खज़ाने की भी चिन्ता थी। उसकी रक्षा का उसने जो उपाय किया, उससे सिद्ध होता है कि ह्वीलर चाहे जितना बड़ा वीर हो, दूरदर्शिता का उसमें सर्वथा अभाव था। उसने नाना साहब से प्रार्थना की कि वह सरकारी खज़ाने की रक्षा में सरकार की सहायता करे। शायद ह्वीलर ने समझा हो कि पूरा विश्वास दिलाने से नाना साहब की मित्रता

खरीदी जा सकेगी, परन्तु इससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि वह न मनुष्य प्रकृति से परिचित था, और न नाना साहब थे। जिस व्यक्ति का पद और मान छीन लिया गया हो, उसे अपना खज़ाना सौंपकर कैसे अपनाया जा सकता है? और फिर वह व्यक्ति भी राठौर या चौहान राजपूत नहीं—मराठा ब्राह्मण। ह्वीलर ने वह किया, जो मनुष्य भाग्यों के विपरीत होने पर करता है। वह शत्रु के हाथ में खेल गया। ह्वीलर ने स्वयं खज़ाना नाना के हाथ में सौंप दिया!

उधर शहर के अन्दर, गुप्त रूप से, विद्रोह का जाल बहुत चतुराई से बुना जा रहा था। गुप्त मन्त्रणा का मुख्य केन्द्र सूबेदार टिक्कासिंह का मकान था। दूसरा केन्द्र शमसुद्दीन खां नाम के सिपाही के यहाँ था। वहाँ जो परामर्श होते थे, उनमें नाना साहब की ओर से ज्वालाप्रसाद और मुहम्मद अली नाम के दो व्यक्ति सम्मिलित होते थे। बीच-बीच में सूबेदार टिक्कासिंह की नाना साहब से गुप्त मुलाक़ात होती रहती थी। आश्चर्य की बात यह है कि अंग्रेज़ अफ़सर मंत्रणाओं के इस सारे जाल से बहुत-कुछ अपरिचित रहे। यदि वे परिचित रहते तो अपना ख़ज़ाना नाना साहब के हाथों में न सौंप देते।

अन्त में वह दिन भी आ गया जब ज्वालामुखी फट पड़ा। कानपुर के भारतीय सैनिकों में, मेरठ और दिल्ली के समाचारों ने जो बीज बोया था, वह देशव्यापक बेचैनी और स्थानीय प्रयत्नों से सींचा जाकर ४ जून की रात को पूर्ण विद्रोह के रूप में प्रकट हो गया। आधी रात के समय बन्दूक की तीन ध्वनियों ने विद्रोह के प्रारम्भ की सूचना दी। उन ध्वनियों के होते ही सूबेदार टिक्कासिंह के घोड़े की टाप सुनाई दी, जिसके पीछे सैकड़ों घुड़सवार और पैदल सिपाही 'दीन दीन' और 'हरहर महादेव' के नारे लगाते हुए मैदान में निकल आये। रात की गहरी निस्तब्धता में कानपुर का भयंकर विद्रोह काण्ड आरम्भ हो गया।

पाँच जून को एक ऐतिहासिक मुलाक़ात हुई। इतिहास-लेखक हौलम्स ने उसका निम्नलिखित वृत्तान्त दिया है।

"इसी बीच में विद्रोहियों ने नाना साहिब का अभिप्राय जानने के लिए उनके पास एक शिष्टमण्डल भेजा। सामने पहुँचकर शिष्टमण्डल के नेता ने नाना से कहा—

"महाराज! यदि आप हमारे साथ शामिल हो जाओ, तो राजगद्दी आपकी प्रतीक्षा कर रही है। परन्तु यदि आप शत्रुओं में शामिल हो गये तो मृत्यु निश्चित है।"

नाना ने उत्तर दिया—

"मुझे अंग्रेज़ों से क्या करना है? मैं तो हर तरह तुम्हारे साथ हूँ।"

यह उत्तर देकर, नाना ने सिपाहियों के सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया, और प्रतिज्ञा की कि मैं पूरी तरह तुम्हारा साथ दूंगा।

इससे पहले कानपुर के विद्रोही सिपाहियों ने निश्चय किया था कि वे सब दिल्ली चले जायेंगे, एक पड़ाव आगे चले भी गये थे, परन्तु नाना साहब के हाथ में नेतृत्व आते ही योजना बदल गई। यह निश्चय किया गया कि दिल्ली न जाकर के कानपुर में ही स्वाधीनता का युद्ध लड़ा जाय। इस विचार-परिवर्तन के दो कारण सम्भव हैं। पहला कारण संग्राम-नीति

से सम्बन्ध रखता है। दुश्मन को सब जगह से निश्चिन्त करके केवल एक केन्द्र पर आक्रमण करने की सुविधा देना समझदारी का काम नहीं है। उसे अनेक स्थानों पर लड़ने के लिए बाधित करना युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए अधिक उपयुक्त है। दूसरा कारण व्यक्तिगत हो सकता है। नाना साहब का यह सोचना स्वाभाविक था कि दिल्ली के महासागर में जाकर अपनी सत्ता खो देने की अपेक्षा पेशवाई की पृथक् स्वतन्त्र शक्ति को स्थापित करना उत्तम है। इस नई युद्ध-योजना में यह सावधानता रखी गई थी कि देशव्यापिनी क्रान्ति के साथ बँधा हुआ नाता तोड़ा न जाय। जब कुछ दिन पीछे नाना साहब का राज्याभिषेक हो गया, और स्वाधीन राज्य के झण्डे फहराये गये तो महाराष्ट्र की ध्वजा के साथ-साथ हरा झण्डा भी शोभायमान हो रहा था।

विद्रोही सेना नाना के आदेशानुसार कल्याणपुर से वापिस आ गई। दूसरे दिन प्रातःकाल ह्वीलर को नाना का एक पत्र मिला, जिसमें उसे यह सूचना दे दी गई कि यदि गोरों ने हथियार न रख दिये तो उन पर आक्रमण कर दिया जायगा। ह्वीलर ने कोई उत्तर न दिया, इस पर दिन के १० बजे के लगभग नाना साहब की सेनाओं ने अंग्रेज़ों के मोर्चे पर हमला कर दिया। इस तरह कानपुर का प्रसिद्ध घेरा ६ जून को दिन के १० बजे आरम्भ हो गया।

घेरे के अन्दर सब ४०० व्यक्ति थे, जिनमें १०० के लगभग गोरे सिपाहियों के अतिरिक्त कुछ अंग्रेज़ भक्त भारतीय सिपाही थे, कुछ सिविलियन अंग्रेज थे और बहुत सी स्त्रियाँ और बच्चे थे। घेरा डालने वालों की संख्या ३ हज़ार के लगभग थी। अंग्रेज़ों के पास आठ तोपें थीं, और बहुत सा बारूद भी था। विद्रोही सेना भी तोपों और अन्य विनाशकारी सामग्री से सन्नद्ध थी।

घेरा लगभग ३ सप्ताह तक जारी रहा। घेरे में आये हुए लोगों को जिन कठिनाइयों में से गुजरना पड़ा होगा, उनका अनुमान लगाया जा सकता है। जिस इमारत की क़िलाबन्दी की गई थी, उसकी दीवारें मिट्टी की थीं और अन्दर सुरक्षित स्थानों का अभाव-सा था। मई और जून की गर्मी में अंग्रेज़ सिपाहियों, औरतों और बच्चों की जो दुर्दशा हो रही थी, उसका वर्णन पढ़कर रोमांच हो आता है, फिर भी तीन सप्ताह तक घेरा जारी रहा, यह रक्षकों की वीरता और दृढ़ता का सूचक है। इस बीच में उस क़िले पर कई आक्रमण किये गये, परन्तु सफल नहीं हुए। अधिकतर लड़ाई तोपों की ही होती रही। स्वभावतः तोप के गोलों से घिरे हुए लोगों की शक्ति निरन्तर क्षीण होती गई। आज किसी बैठक की छत उड़ गई तो कल किसी तोप का अंग-भंग हो गया। घायल और मरने वालों की संख्या प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही थी। ह्वीलर ने सहायता के लिए जो अभ्यर्थनायें भेजीं, उनका भी कोई सन्तोषजनक उत्तर न मिला। अन्य स्थानों से निराशाजनक उत्तर मिलने पर ह्वीलर को भरोसा था कि लखनऊ से सर हेनरी लॉरेंस थोड़ी-बहुत कुमुक अवश्य भेजेंगे, परन्तु १६ जून को उसका भी इन्कार आ गया। लॉरेंस ने बड़े दुःखी हृदय से ह्वीलर को सूचित किया था कि वर्तमान दशा में उसके लिए सहायता भेजना सम्भव नहीं। अन्य केन्द्रों से निषेधात्मक उत्तर आ ही चुके थे। लॉरेंस के उत्तर ने आशा का बचा-खुचा तन्तु भी काट दिया, जिससे रक्षाकारियों का धैर्य अन्तिम साँस लेने लगा।

यह परिस्थिति थी जब ह्वीलर को नाना साहब की ओर से एक सन्देश पहुँचा। सन्देश का आशय यह था कि यदि तुम लोग हथियार डाल दो तो तुम लोगों में से उन्हें, जो लार्ड डलहौज़ी के कुकृत्यों से सम्बद्ध नहीं, इच्छापूर्वक जाने का निर्विघ्न रास्ता दे दिया जायगा। अंग्रेज़ों की शारीरिक और मानसिक दशा इतनी हीन हो चुकी थी कि उन्होंने नाना के सन्देश को गनीमत समझकर अंगीकार कर लिया। २५ जून को अंग्रेज़ों ने हथियार रख दिये।

व्यवस्था इस प्रकार की गई कि किले के लोग अपना ख़ज़ाना, तोपखाना आदि सब सामान नाना साहब के आदमियों को सौंपकर मोर्चे से बाहर चले जायें, और नाना साहब की ओर से उनके प्रयाग पहुँचने के लिए किश्तियों का प्रबन्ध कर दिया जाय। २५ जून की शाम को अग्रेज़ों ने अपना ख़ज़ाना और तोपखाना सौंप दिया, और दूसरे दिन सुख-पूर्वक इलाहाबाद जाने की आशा से तीन सप्ताहों में पहली बार रात भर आराम से सोये।

इधर दोनों दलों के नेताओं में युद्ध-विराम की योजना बन रही थी, और उधर शहर की जनता और साधारण हिन्दुस्तानी सिपाहियों में उसे व्यर्थ करने की मन्त्रणा चल रही थी। कहा जाता है कि एक प्रतिष्ठित पण्डित नगर में घूम-घूम कर यह प्रचार कर रहा था कि आततायी के प्रति विश्वासघात करने या उसे मारने में कोई पाप नहीं। सिपाहियों का एक बड़ा समुदाय केवल युद्ध-विराम से सन्तुष्ट नहीं था। वह इस अवसर से लाभ उठाकर बनारस और इलाहाबाद में जनरल नील द्वारा किये गये हत्याकाण्डों का बदला लेने के पक्ष में था।

२७ जून के प्रातःकाल अंग्रेज़ पुरुष स्त्री और बच्चे सिपाहियों की संरक्षा में मोर्चे से बाहर निकले। उन्हें नौकाओं में चढ़ाकर इलाहाबाद रवाना करने की देखभाल का काम तांत्या टोपे के सुपुर्द था। देखने के लिए एकत्र हुई भीड़ में से वह करुणाजनक जलूस इस प्रकार रवाना हुआ कि स्त्रियें और बच्चे या तो बैलगाड़ियों में थे, या हाथियों पर। घायल लोग पालकियों में थे, और सिपाही पैदल जा रहे थे। मोर्चे से लगभग पौन मील की दूरी पर नदी का किनारा था। वहाँ पहुंचकर अंग्रेज़ उन नौकाओं पर चढ़ने लगे, जो फूंस की छतों और खाद्य-सामग्री के गोदामों द्वारा विशेष रूप से सन्नद्ध की गई थीं। कुछ लोग नौकाओं में चढ़ गये, और शेष चढ़ने की तैयारी में थे कि एक दम दृश्य बदल गया। मानो शान्त और सौम्य आकाश पर क्षण भर में काले-काले बादल छा गये हों, और बड़े-बड़े ओले बरसने लगे हों। आन की आन में सिपाहियों की तलवारें चमकने लगीं, और बन्दूकें दनदनाने लगीं। चारों ओर से सिपाही भूखे बाघों की तरह गोरों पर टूट पड़े, और भयंकर मार-काट मचा दी। कानपुर का सती चौला घाट कुछ देर के लिए मकतल बन गया।

वह हत्याकाण्ड नानासाहब और तांत्या टोपे की निश्चित योजना का परिणाम था, या बनारस और प्रयाग के हत्याकाण्डों से भड़की हुई भारतीय जनता का स्वाभाविक विस्फोट था, यह कहना कठिन है। अंग्रेज़ लेखकों का बहुमत है कि वह काण्ड योजना का परिणाम था, परन्तु बहुत से भारतीय लेखकों ने यह माना है कि वह योजना का परिणाम न होकर, जनता के उद्धत आवेश का फल था। कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि वह काण्ड अत्यन्त दुःखजनक और लज्जाजनक हुआ। नाना और उनके सलाहकार यदि अपने सिपाहियों

और जनता की विक्षुब्ध मनोवृत्ति से अपरिचित थे तो वे स्पष्ट रूप से दोषी हैं, परन्तु यदि वे उससे परिचित होते हुए भी रक्षा की ठीक व्यवस्था न कर सके तब तो वे महापाप के भागी हैं, क्योंकि हत्या और वह भी विश्वासघात के साथ—इससे बड़ा पाप नहीं है। प्रत्येक पक्षपातहीन व्यक्ति को स्वीकार करना पड़ेगा कि सती चावला घाट की उस भीषण मार-काट ने सन् ५७ की क्रान्ति के माथे पर कलंक की एक रेखा खेंच दी है। उसे जनरल नील के कुकृत्यों का उत्तर कहें तो भी वह बुरा तो था ही।

गोलियों से नौकाओं की छतों के फूंस में आग लग गई। जो बैठ चुके थे, वह जल गये या झुलस गये। जब उन्होंने नदी में कूदकर जान बचाने का यत्न किया तो गोली या तलवार के शिकार बन गये।

लगभग १० बजे तक कत्लेआम होता रहा, १० बजे नाना का आदेश पहुँचा कि स्त्रियों और बच्चों का वध न किया जाय। आदेश का पालन किया गया, और अंग्रेज़ स्त्रियाँ तथा बच्चे बचाकर कानपुर वापिस ले जाये गये।

नौकाओं में से केवल वही बची, जो जल की तीव्र धारा में पड़कर दूर निकल गई थीं। सिपाहियों ने उसका भी पीछा किया। नौकाओं की वह दौड़ दो दिन तक जारी रही। अंग्रेज़ों ने बड़ी दृढ़ता और वीरता से आक्रान्ताओं से बचते और लड़ते हुए काफ़ी दौड़ लगाई परन्तु अन्त में उनकी किश्ती दलदल में फँस गई, और बहुत से साथी मारे गये अन्त में उनमें से केवल ४अंग्रेज़ ६ मील तक पानी में तैरकर किनारे पर लगे, जहाँ उन्हें अवध के एक राजा ने शरण दी। इन चार को छोड़कर कानपुर के अंग्रेज़ मर्दों में से कोई जीवित न बच सका। स्त्रियों और बच्चों को कानपुर के एक मकान में, जिसे सवादा हाउस कहते थे, बन्द कर दिया गया।

१ जुलाई को, एक शानदार दरबार में नाना साहब का राज्याभिषेक हुआ। उसे पेशवा घोषित किया गया। जब तोपों की सलामी का समय आया तो पहली १०१ तोपें दिल्ली के बादशाह के नाम पर, २१ तोपें नाना साहब के उपलक्ष में, और सत्रह तोपें नाना के दोनों भाइयों के आदर में दाग़ी गई। सेनापति तांत्या टोपे को ११ तोपों की सलामी मिली। इस प्रकार, कानपुर को अंग्रेज़ों से खाली करके नाना साहब ने राजमुकुट अपने सिर पर रखलिया।

कुछ दिन पीछे, सब बचे हुए बन्दी अंग्रेज़ी स्त्रियों तथा बच्चों को बीबीगढ़ नाम के एक छोटे से मकान में बन्द कर दिया गया। वहाँ उनके साथ कठोर दण्ड के कैदियों का-सा सलूक किया। कहा जाता है कि स्त्रियों से चक्की पीसने का काम लिया जाता था, और उन्हें बहुत थोड़ा और रद्दी खाना दिया जाता था। कुछ अंग्रेज़-लेखकों ने यह आरोप भी लगाया था कि नाना तथा उसके आदमियों ने कुछ अंग्रेज औरतों पर बलात्कार किया, परन्तु परीक्षा से यह आरोप सर्वथा असत्य सिद्ध हुआ। यह एक निर्विवाद सचाई है कि सन् ५७ के सम्पूर्ण स्वाधीनता-युद्ध में भारतीय विद्रोहियों की ओर से शत्रु की स्त्रियों पर बलात्कार करने की एक भी घटना सिद्ध नहीं हुई। जो इस प्रकार के आरोप लगाये भी गये थे वह अन्त में निर्मूल सिद्ध हो गये।

यह कानपुर के विद्रोह का पूर्वार्द्ध हुआ। अब हम समय की सीमा का उल्लंघन करके

कानपुर-विद्रोह के उत्तरार्द्ध की रोमांच करने वाली कहानी भी यहीं सुनाकर इस अध्याय को समाप्त करेंगे।

लखनऊ में जून के आरम्भ से ही कानपुर के घिरे हुए अंग्रेज़ों की ओर से सहायता की पुकार पहुँच रही थी। जब तक लखनऊ में दशा निर्बल रही, सर हेनरी लॉरेंस ने तरह दी, परन्तु जब हैवलॉक ओटरम जैसे दो अनुभवी सेनापतियों के संगम से स्थिति कुछ दृढ़ दिखाई दी तो हैवलॉक को एक बड़ी कुमुक के साथ कानपुर रवाना कर दिया गया। हैवलॉक ने रैनौड के अग्रगामी दल को तीव्र गति से आगे भेज दिया, और स्वयं मुख्य सेना के साथ जुलाई के आरम्भ में लखनऊ से प्रयाण किया। उसके साथ एक सहस्र अंग्रेज़ पैदल, १५० सिख सिपाही, अंग्रेज़ घुड़सवारों का एक दल, और ६ तोपें थीं। रास्ते में उसने यह भी सुन लिया कि ह्वीलर के दल को हथियार डालने पड़े हैं। अब तो उसके विश्वास का ठिकाना न रहा, और दाँत पीसता, और रास्ते के ग्रामों में तबाही मचाता हुआ कानपुर की ओर झपट पड़ा।

नाना साहब को जब समाचार मिला कि अंग्रेज सेना का अग्रभाग आक्रमण के लिए आ रहा है तो उसने सेनानायक ज्वालाप्रसाद और टिक्कासिंह की कमान में एक छोटी-सी सेना की टुकड़ी फतेहगढ़ की ओर भेज दी। जब तक फतेहपुर में दोनों सेनाओं की टक्कर होती, तब तक स्वयं हैवलॉक रैनोड की सहायता को आ पहुँचा। जो भारतीय सेना यह सोचकर आगे बढ़ी थी, कि उसे केवल रैनोड के अग्रगामी दल से लड़ना पड़ेगा, जब उस पर पूरा अंग्रेज़ दल टूट पड़ा तब वह चकित और परास्त होकर पीछे हटने पर मजबूर हो गई। १२ जुलाई को फतेहगढ़ पर अंग्रेज़ों का पुनः अधिकार हो गया। अधिकार करने के पश्चात् अंग्रेज़ और सिख सिपाहियों ने शहर में जो तबाही मचाई, उसका अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि सिपाहियों को पहले शहर के लूटने की छुट्टी दे दी गई, फिर घरों में आग लगादी गई, और जो 'निगर' सामने आये, उन्हें मौत के घाट उतार दिया गया। अंग्रेज़ लेखकों का कहना है कि बहादुरी के ये सब कारनामे सिख सिपाहियों ने किये। सम्भव है यह ठीक हो, हम इसमें इतना और मिला देना चाहते हैं कि सिख सिपाहियों ने जो कुछ किया, अंग्रेज़ अफ़सरों की अनुमति और इशारे से किया।

फतहपुर को जीतकर हैवलॉक ने विश्राम नहीं लिया। कानपुर के हत्याकाण्ड की ध्वनि उसके कानों में गूँज रही थी। वह गरुड़ के वेग से आगे बढ़ा।

फतहपुर की हार और हैवलॉक के ससैन्य प्रयाण के समाचार जब कानपुर में पहुँचे तो नाना और उसके साथी स्तब्ध-से रह गये। उन्हें इतना शीघ्र आक्रमण होने की आशंका नहीं थी। उस समय घबराहट ने नाना साहब और उसके साथियों से एक ऐसा काम करा दिया, जिसने न केवल उन लोगों के मस्तक पर, अपितु सम्पूर्ण क्रान्ति के मस्तक पर कलंक का टीका-सा लगा दिया है। बीबीगढ़ के कैदियों में अधिक संख्या स्त्रियों और बच्चों की थी, कुछ मर्द भी थे। उन सबको नाना साहब के दरबार में लाकर खड़ा किया गया। जिन हिन्दुस्तानियों को अंग्रेज़ों के खुफ़िया दूत समझा गया, उनके हाथ-पाँव काट दिये गये, और जो

अंग्रेज़ थे उन्हें गोली से उड़ा दिया गया।

अब रह गईं अंग्रेज़ स्त्रियाँ और बच्चे। उनकी हत्या करने का काम सिपाहियों के सुपुर्द किया गया। उनकी संख्या डेढ़ सौ के लगभग थी। सिपाही आज्ञा पाकर बीबीगढ़ में चले तो गये, परन्तु स्त्रियों और बच्चों पर उठने से उनकी तलवारों और तलवार वाले हाथों ने इन्कार कर दिया। वे उलटे वापिस चले गये। तब कानपुर से दो मुसलमान कसाई और दो हिन्दू हत्यारे बुलाकर उस विद्रोह का नृशंसतम परिच्छेद लिखने के लिए बीबीगढ़ के अन्दर भेजे गये। उन्होंने नाना के आदेश का पालन कर दिया। डेढ़ सौ के डेढ़ सौ निहत्थे, निर्बल और निरपराध प्राणियों के रक्त से वह कारागार एक सरोवर बन गया, जिसमें से लाशों को निकालकर कुएँ में डाल दिया गया। सन् सत्तावन की रक्तरंजित क्रान्ति की यह घटना सबसे अधिक वीभत्स है।

कहा जा सकता है कि बीबीगढ़ का हत्याकाण्ड फतेहपुर के अत्याचारों का उत्तर था। पाप का उत्तर होने से कोई पाप प्रशंसनीय या क्षन्तव्य नहीं हो जाता।

कानपुर के लिए अन्तिम लड़ाई पाण्डु नदी पर हुई। वहाँ स्वयं नाना साहब अपनी सेना का नेतृत्व कर रहा था। नाना की सेना संख्या में अधिक थी, परन्तु नेतृत्व की दृष्टि से नाना की हैवलॉक से कोई तुलना नहीं थी। हैवलॉक एक मँजा हुआ सिपाही था। नाना का जीवन ब्रह्मावर्त के मादक वातावरण में व्यतीत हुआ था। हिन्दुस्तानी सेनायें बहुत सुन्दर और दृढ़ व्यूह रचना करके पाण्डु नदी के पास शत्रु की प्रतीक्षा कर रही थीं कि हैवलॉक ने सामने से आक्रमण न करके नाना की सेना के वामपार्श्व पर तूफ़ानी आक्रमण कर दिया। मानवीय तूफ़ान के सामने अकेला वामपार्श्व खड़ा न रह सका, और जैसे एक ओर से लिपटने लगे तो चटाई लिपटती ही चली जाती है, वैसे बायीं ओर से जो सेना उखड़ने लगी तो वह दायें छोर तक उखड़ती ही चली गई।

वहाँ से भागकर नाना की सेना ने कानपुर के सामने अन्तिम मोर्चाबन्दी की, परन्तु हैवलॉक को विजयिनी सेनाओं के धक्के के सामने वह खड़ी न रह सकीं। उनके पाँव उखड़ गये, और अंग्रेज़ी सेनाओं के कानपुर में प्रवेश का मार्ग खुल गया। १७ जुलाई के दिन हैवलॉक ने सेना सहित कानपुर में प्रवेश किया तो देखा कि बीबीगढ़ के सब कैदी तलवार के घाट उतारे जा चुके हैं, और बहुत से ख़ज़ाने के साथ नाना कानपुर से बहुत दूर जा चुका है।

कानपुर पर अधिकार करके हैवलॉक ने कैसा न्याय किया, और उस अद्भुत न्याय का क्रान्तिकारियों ने कैसा सामना किया, उसका वर्णन हम एक अंग्रेज़ लेखक के शब्दों में ही सुनाते हैं। स्वाभाविक है कि इस वर्णन में हैवलॉक के कारनामों के काले रंग को शब्दों के पानी से धोकर थोड़ा-बहुत हलका करने का यत्न किया गया है।

चार्ल्स बाल ने 'इण्डियन म्यूटिनी' के प्रथम भाग में लिखा है—

"जनरल हैवलॉक ने सर ह्यूग ह्वीलर की मृत्यु का भयंकर बदला लेने का उपक्रम किया। नेटिव लोगों के गिरोह के गिरोह फाँसी पर लटकाये गये। मृत्यु के समय क्रान्तिकारियों ने मन की शक्ति और व्यवहार की विशालता का जो दृश्य दिखलाया, वह उन

लोगों के योग्य था जो किसी ऊँचे सिद्धान्त के लिए शहीद होते हैं। उनमें से एक व्यक्ति, जिसने नाना साहब के समय में मजिस्ट्रेट का काम किया था, पकड़ा गया और उस पर अभियोग चलाया गया। अभियोग के मध्य में वह ऐसे उपेक्षा-भाव से खड़ा रहा मानो किसी दूसरे पर मुकदमा चल रहा हो। जब उसे मृत्यु-दण्ड दे दिया गया, तब वह उठा, और जज की ओर पीठ कर और बड़े-बड़े डग भरता हुआ फांसी की ओर चल दिया। जब बधिक लोग उसे फांसी पर चढ़ाने की तैयारी कर रहे थे, वह बड़ी शान्ति और स्वाभाविक दृष्टि से देखता रहा, और जब इशारा मिला, तब ऐसे शान्तिभाव से फाँसी चढ़ गया जैसे कोई योगी समाधि के लिए बैठता है।

उनसठवाँ अध्याय

दिल्ली की लड़ाई (१)

उद्योग पर्व

अब हम सन् सत्तावन के विद्रोह के उस मोर्चे पर आते हैं, जिसे क्रान्ति का सबसे मुख्य मोर्चा कहा जा सकता है। वह दिल्ली का मोर्चा था। घटना-चक्र ने बहादुरशाह को क्रान्ति-युद्ध के शतरंज का मुख्य मोहरा—शाह—बना दिया था। यदि दिल्ली के राजसिंहासन पर बहादुरशाह बैठा रहता तो संसार की दृष्टि में अंग्रेज भारत के स्वामी नहीं कहे जा सकते थे। अंग्रेज इस बात को खूब अच्छी तरह जानते थे। दिल्ली हाथ से निकलने के साथ ही अंग्रेजों ने उसे वापिस लेने की योजना प्रारम्भ करदी। इस कार्य में उन्होंने एक दिन का भी विलम्ब नहीं किया।

इधर अंग्रेजों का प्रभुत्व उठ जाने पर दिल्ली की दशा बहुत अद्भुत हो गई थी। नाम का बहादुरशाह शाहन्शाह बन गया, परन्तु एक तो वह ८२ साल का बूढ़ा, दूसरे उसे कभी युद्ध से काम नहीं पड़ा था, वह पेन्शन के बल पर ऐश करता और शेर लिखता था, उसमें न कुशल योद्धा की योग्यता थी, और न चतुर शासक की। उसने मेरठ से आये हुए विद्रोही सिपाहियों से ठीक ही कहा था कि "मेरे पास न फ़ौज है, न बारूद है और न खज़ाना है।" सिपाहियों ने उसके उत्तर में कहा था—"बस, आप हमारा साथ दे दो, बाकी सब कुछ हम कर लेंगे।" सिपाहियों ने यह घोषणा करके बहादुरशाह को पकड़कर तख्त पर बिठा दिया, और बाकायदा सिर झुकाकर आशीर्वाद प्राप्त कर लिया। इस प्रकार नाम को दिल्ली का बादशाह बहादुरशाह बना परन्तु असल में सारी शक्ति सिपाहियों के हाथ में चली गई।

दिल्ली शहर में कुछ समय से फिरंगियों के विरुद्ध जो आन्दोलन हो रहा था, उसकी सामान्य चर्चा होते हुए भी न लाल क़िले के निवासी इतने बड़े परिवर्तन के लिए तैयार थे, और न नगर के निवासी। उन पर तो मानो यह आकस्मिक उल्कापात-सा हुआ। जब विद्रोही सिपाही, और उनके साथ शहर के कुछ लोग 'दीन बोलो दीन' का नारा लगाते हुए शहर में अंग्रेजों और ईसाइयों की हत्या करने लगे, तब दिल्ली के निवासी आतंक-भरी आँखों से उनकी ओर देखने लगे। कहते हैं, 'दीन दीन' के नारों के अतिरिक्त कहीं-कहीं 'महाराज पृथ्वीराज की जय' का नारा भी लगाया गया था। दोनों ही जयघोषों को साधारण दिल्ली वाले आश्चर्यचकित होकर सुन रहे थे।

बहादुरशाह के सामने पहला प्रश्न यह आया कि शासन की क्या व्यवस्था की जाय। यह प्रश्न सिपाहियों ने ही हल किया। उनके आग्रह पर शाहज़ादा ज़हूरुद्दीन को मिर्ज़ा मुग़ल के नाम से प्रधान सेनापति, और अन्य शाहज़ादों को सेनापति घोषित कर दिया गया। बादशाह के लाडले बेटे जीवन बख़्त को वज़ीर के पद पर नियुक्त किया गया। बादशाह को

सन्तुष्ट करने के लिए उसे वज़ीर तो बना दिया गया, परन्तु शहर का असली शासन कोतवाल शेख रजाब अली के हाथ में था, जो चाँदनीचौक की कोतवाली में बैठकर नगरनिवासियों के जान-माल के सौदे करता था।

सिपाही-राज्य की पहली और सबसे बड़ी समस्या स्वयं सिपाही थे। वह उन दिनों दिल्ली के विधाता बने हुए थे। उनकी लूट-मार को रोकने के लिए बहुत यत्न किये गये, परन्तु वह अन्त तक भी पूरी तरह सफल न हुए। सिपाहियों के इस अनियन्त्रण के दो कारण थे। एक तो यह कि उन्हें नियमपूर्वक वेतन नहीं मिलते थे, और दूसरा यह कि दिल्ली में कोई चतुर और समर्थ नेता नहीं था। बहादुरशाह बूढ़ा तो था ही, अत्यन्त निर्बल भी था। शाहज़ादों ने अब तक सिवा अय्याशी करने और पतंग उड़ाने के कुछ किया ही नहीं था। जो दो-तीन पुराने मुसलमान सरदार दरबारी शासन का कुछ अनुभव रखते थे, उन्हें सिपाही लोग फिरंगियों का साथी समझते थे। उन्हें मारने की धमकियाँ दी जाती थीं, और उनके घर एक से अधिक बार लूट लिये गये थे। सेना और शहर की व्यवस्था बिगड़ चुकी थी, जब २ जुलाई को रुहेलखण्ड के विद्रोही सिपाहियों के साथ बख़्तखां दिल्ली में पहुँचा। इस साहसिक सैनिक का पूरा नाम मुहम्मद बख़्तखां था। वह अंग्रेज़ी सेना में साधारण ज़मादार था, क्रान्ति की बाढ़ ने उसे पानी के ऊँचे स्तर पर लाकर अगुआ बनने का अवसर दे दिया। वह चतुर था, दबंग था, और कुछ संगठन-शक्ति भी रखता था। ये उसके गुण थे, और दोष यह थे कि उसका स्वभाव बहुत अक्खड़ था, और उसकी प्रतिभा इतनी ऊँची नहीं थी कि अच्छे शासन या गम्भीर युद्ध में सफल हो सकती। उसकी विशेषताओं का परिचय बादशाह को पहली मुलाक़ात में ही मिल गया था। जब वह रुहेलखण्ड के बहुत से भारतीय सैनिकों और अंग्रेज़ी सरकार से लूटे हुए पुष्कल खज़ाने के साथ यमुना के पुल पर पहुँचा, तब दिल्ली के बड़े-बड़े अफ़सरों ने उसका शानदार स्वागत किया। जब उसे बहादुर शाह के सामने उपस्थित किया गया, तब उसने लाल क़िले की पद्धति के अनुसार झुककर सलाम न करके अंग्रेज़ी ढंग का मिलिटरी सलाम किया, और बादशाह की सेवा में अपनी तलवार पेश करते हुए कहा—

"यदि बादशाह सलामत चाहें कि मैं सारी इन्कलाबी सेनाओं का सेनापतित्व सँभाल लूँ तो मैं उसके लिए बिल्कुल तैयार हूँ।"

इस वाक्य से बूढ़े बादशाह को इतनी प्रसन्नता हुई कि उसने प्रेम से बख़्तखां का हाथ दबाया, जिसका अभिप्राय यह समझा गया कि बादशाह को बख़्तखां का प्रधान सेनापति बनना स्वीकार है। इस पर वहाँ विद्यमान सेनाओं के सेनापतियों को इकट्ठा करके पूछा गया कि क्या उन्हें बख़्तखाँ की प्रधानता स्वीकार है। सबने कहा, 'आमीन' और उस समय से सेनाओं का प्रधान सेनापति और दिल्ली का गवर्नर-जनरल बख़्तखां को मान लिया गया। तब से शाहज़ादा मिर्ज़ा मुग़ल नाम मात्र को सेना का अध्यक्ष रह गया। बख़्तखां की सरकारी उपाधि 'साहिबे आलम' हुई।

बख़्तखां ने प्रारम्भ में नगर के प्रबन्ध और युद्ध दोनों में जान डालने की चेष्टा की।

नगरवासियों की बड़ी शिकायतें दो थीं। एक शिकायत तो यह थी कि सिपाही लोग उन्हें मनमाना लूटते हैं, और दूसरी यह थी कि सिपाहियों के वेतन देने के लिए सरकार की ओर से नगर के धनी लोगों को बेतरह चूसा जा रहा है। लूट को रोकने के लिए बख़्तखां ने यह आज्ञा निकाली कि जो सिपाही लूट-मार करेगा, उसके हाथ काट दिये जायँगे। कुछ अपराधों के लिए नाक-कान काटने की घोषणा भी की गई थी। इन आज्ञाओं और उनके पालन कराने में तत्परता का यह परिणाम हुआ कि कुछ समय के लिए लूट-मार बन्द हो गई। बख़्तखां रुहेलखण्ड के सरकारी ख़ज़ानों की लूट का कई लाख रुपया अपने साथ लाया था। वह सिपाहियों के वेतन देने के काम में लाया गया। उससे भी बहुत-कुछ शान्ति हो गई। परन्तु यह शान्ति अधिक देर तक न चल सकी। रुहेलखण्ड का रुपया शीघ्र ही समाप्त हो गया, जिससे नगर के धनी लोग—जिनमें हिन्दुओं की संख्या अधिक थी—फिर चूसे जाने लगे। कुछ लोगों को इतना तंग किया गया कि वे शहर छोड़-छोड़ कर भागने लगे। रुपये की तंगी होने पर सिपाहियों ने लूट-मार का काम भी फिर से जारी कर दिया।

उस युग के शासन का एक कारनामा ऐसा है जिसे उस समय का सबसे अधिक चमकीला पहलू कह सकते हैं। वह था हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए प्रयत्न। विद्रोही सिपाहियों में हिन्दू भी थे और मुसलमान भी। देश भर में फैले हुए विद्रोह के केन्द्रों में हिन्दू नेताओं की संख्या अधिक थी, और सबसे ऊपर बूढ़ा मुग़ल बादशाह था। यह स्पष्ट था कि क्रान्ति की सफलता के लिए हिन्दुओं और मुसलमानों को मिलकर प्रयत्न करना आवश्यक था। जहाँ साम्प्रदायिक संघर्ष की अधिक से अधिक सम्भावना हो सकती थी, वह दिल्ली शहर था। इसे हम बहादुरशाह की दूरदर्शिता और शान्तिप्रियता का एक प्रबल प्रमाण समझते हैं कि उसने नगर में एकता की स्थापना के लिए कोई उपाय उठा नहीं रखा। बादशाह ने प्रारम्भ में ही यह फरमान जारी कर दिया था कि ईद पर गाय की कुर्बानी न की जाय। एक धर्मान्ध मौलवी ने, जिसका नाम मुहम्मद सईद था, जामा मस्जिद में जिहाद का एलान करके दिल्ली के मुसलमानों को हिन्दुओं के विरुद्ध भड़काना चाहा, परन्तु बादशाह की सावधानता ने उसे सफल न होने दिया। बादशाह की ओर से नगर भर में घोषणा करा दी गई कि "हमारी दृष्टि में हिन्दू और मुसलमान बराबर हैं।" जब कुछ हिन्दू सिपाहियों ने मौलवी के एलान के सम्बन्ध में शिकायत की तो बादशाह ने उन्हें समझा दिया कि जिस जिहाद का एलान किया गया है वह अंग्रेज़ों के विरुद्ध है, हिन्दुओं के विरुद्ध नहीं। जुलाई में ईदुज्जुहा के अवसर पर डर था कि गौ की कुर्बानी के सम्बन्ध में झगड़ा खड़ा हो जायगा। बादशाह ने हुक्म दे दिया कि न केवल गौ, बल्कि भैंस और बैल की भी कुर्बानी न की जाय, और पूरे ज़ोर से उस आज्ञा का पालन कराया। कसाइयों पर ख़ास पहरा बिठा दिया गया, और नगर की सीमाओं के अन्दर गाय की बिक्री बन्द कर दी गई। यह अफ़वाह थी कि शायद शाहज़ादे गाय की कुर्बानी पर ज़ोर दें, इसलिए उन पर ख़ास तौर से प्रतिबन्ध लगा दिया गया। यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि हिन्दू-मुसलमानों की एकता को सुरक्षित रखने में क्रान्ति की उस अस्थिर सरकार को लगभग पूरी सफलता प्राप्त हुई। शहर भर में यह भावना व्याप्त हो गई थी कि

हिन्दू मुसलमानों में फूट डालना फिरंगियों को सहायता पहुँचाना है। हिन्दू उसे पाप और मुसलमान गुनाह मानने लगे थे।

यह तो हुआ उस समय की दिल्ली की आन्तरिक दशा का चित्र। आइये, अब ज़रा उस सांग्रामिक चित्रपट पर भी दृष्टि डालें, जो नगर के उत्तर में तैयार हो रहा था। दिल्ली पर अधिकार करने के लिए, क्रान्ति और अंग्रेज़ी सरकार की सेनाओं में जो युद्ध हुए, अंग्रेज़ इतिहास-लेखकों ने उसे 'दिल्ली का घेरा' नाम से निर्दिष्ट किया है। वह नाम वस्तुतः यथार्थ नहीं है। हम देखेंगे कि अन्तिम लड़ाई होने तक एक दिन के लिए भी दिल्ली अंग्रेज़ी सेनाओं के घेरे में नहीं आया। हम दिल्ली के लिए लड़े गये युद्धों को 'घेरे' के नाम से न पुकारकर दिल्ली पर अधिकार प्राप्त करने के लिए युद्ध ही कहेंगे।

११ मई की रात तक पूरा दिल्ली शहर—जिसमें छावनी भी शामिल थी अंग्रेज़ों के अधिकार से निकल चुका था। जो कुछ थोड़े से अंग्रेज़, शहर से भगाकर बौटें (फ्लेगस्टाफ या रिज) पर जा छुपे थे, वे भी दूसरे ही दिन लुक-छिप कर पंजाब या मेरठ की ओर चल दिये थे।

हज़ारों वर्षों से दिल्ली भारत का हृदय रहा है। जिस शासक का दिल्ली पर अधिकार हो गया, वह भारत भर का शासक समझा जाने लगता था। दिल्ली से निकाले जाने का असर यह हुआ कि भारत भर में अंग्रेज़ी हुकूमत का आसन डोल गया। अंग्रेज़ी सरकार ने भी समझ लिया कि यदि भारत में शासक बनकर रहना है तो दिल्ली को फिर से जीतना होगा। दिल्ली छूटने के दूसरे ही दिन से अंग्रेज़ों ने उस पर अधिकार प्राप्त करने का उद्योग आरम्भ कर दिया। यह अंग्रेज़ों की राजनीतिक दूरदर्शिता का प्रमाण था। यदि वे तुरन्त ही दिल्ली पर मोर्चा जमाने का आयोजन न करते, तो वे किसी तरह भी क्रान्ति की बाढ़ को नहीं रोक सकते थे।

उत्तर प्रदेश में विद्रोह की प्रबलता होने के कारण अंग्रेज़ों के लिए वह मार्ग तो बन्द ही था, इस कारण उन्होंने दिल्ली पर आक्रमण करने के लिए पंजाब का सहारा लिया। यह भाग्यों की बात थी कि वह सहारा बहुत ही शक्तिशाली सिद्ध हुआ। उस समय पंजाब का प्रधान शासक सर जान लॉरेंस था। वह बहुत ही कुशल शासक था। उसकी सावधानता और कुशलता ने पंजाब में उपजते हुए विद्रोह के अंकुरों को ही दबा दिया था। क्रान्ति के प्रारम्भ के दूसरे ही दिन दिल्ली के सिंहासन पर बहादुरशाह का बैठ जाना क्रान्ति की सफलता के लिए कितना बाधक हुआ, इसका अनुमान केवल इतने से लगाया जा सकता है कि इस घटना ने सिखों और गोरखों को अंग्रेज़ों की गोद में डाल दिया। सिखों ने समझा कि अंग्रेज़ों के साथ मिलकर शीशगंज का बदला लेने और दिल्ली को लूटने का सुअवसर मिलेगा, और गोरखों ने उस अवसर को अपने चिर शत्रु अवध के मुसलमानों को दण्ड देने और लखनऊ तक मार करने के लिए शुभ समझा। सिखों के मन में दिल्ली की घटनाओं का यह प्रभाव पड़ा कि मुग़लों का राज्य फिर से क़ायम किया जा रहा है, और वे उसके विरोधी बन गये।

पूर्वोक्त दोनों कारणों से अंग्रेज़ों के लिए सेनासन्नाह करके दिल्ली पर प्रत्याक्रमण

बहुत आसान हो गया।

अंग्रेज़ी सेनाओं का प्रधान सेनापति एन्सन (Anson) शिमले में था, जब उसे दिल्ली के स्वतन्त्र होने का समाचार मिला। शीघ्र ही उसे गवर्नर-जनरल लार्ड कैनिंग का आदेश मिला कि दिल्ली पर चढ़ाई करो। एन्सन ने एकदम अम्बाले पहुँचकर सेनासन्नाह की तैयारी आरम्भ करदी परन्तु प्रारम्भ से उसके मार्ग में असाधारण बाधायें आकर खड़ी हो गईं। जो हिन्दुस्तानी सेनायें अभी तक अंग्रेज़ों के साथ थीं, उनका भी कोई भरोसा नहीं था। जो आज्ञायें दी जाती थीं, उनका पालन नहीं होता था, और यदि होता भी था तो अधूरा। यदि उस समय पटियाला और जींद के राजा अंग्रेज़ों की पूरी सहायता देने को उद्यत न हो जाते तो एन्सन का दिल्ली की ओर शीघ्र प्रयाण करना असम्भव हो जाता। सिख राजाओं की सैनिक सहायता पाकर एन्सन की हिम्मत बँध गई, और उसने २५ मई को अम्बाले से दिल्ली की ओर कूच कर दिया। परन्तु दिल्ली विजय करना उसके भाग्य में नहीं था। कर्नाल पहुँचते-पहुँचते उसे हैजे ने दबा लिया, जिससे उसकी मृत्यु हो गई। उसके स्थान पर सर हेनरी बर्नार्ड ने प्रधान सेनापति का पद सँभाला।

इधर बर्नार्ड की सेना पंजाब से दिल्ली की ओर बढ़ रही थी, तो दूसरी ओर मेरठ के बचे हुए अंग्रेज़ सैनिक उनकी सहायता के लिए आ रहे थे। ३० मई को वह टुकड़ी हिंडन नदी के तट पर पहुँची, तो दिल्ली की सेनाओं ने उसका रास्ता रोकने का यत्न किया। थोड़ी देर तक जमकर लड़ाई हुई परन्तु दिल्ली की सेना का वामपार्श्व निर्बल था। उसे पीछे हटना पड़ा। यही उस समय की भारतीय सेनाओं की निर्बलता थी कि उनमें ठहराव और नियन्त्रण का अभाव था और यही दो गुण थे, जो अंग्रेज़ों को विजयी बनाते थे। हिंडन की लड़ाई में अंग्रेज़ों के जीतने का भी यही कारण हुआ। इस युद्ध की एक घटना स्मरणीय है। जब अंग्रेज़ हिन्दुस्तानी सेना के तोपखाने पर कब्ज़ा करने के लिए पहुँचे, तो एकदम ज़बर्दस्त धड़ाका हुआ, क्योंकि एक भारतीय सिपाही ने जान-बूझकर गोली द्वारा अपने बारूदखाने में आग लगा दी, जिससे न केवल बहुत से अंग्रेज़ सैनिक उड़ गये, वह सिपाही स्वयं भी आग की आहुति हो गया। इस घटना पर टिप्पणी करते हुए 'हिस्टरी ऑव इण्डियन म्यूटिनी' के लेखक के (Kay) ने लिखा है—

"इसने हमें सिखाया कि विद्रोहियों में ऐसे वीर और साहसिक व्यक्ति भी थे जो राष्ट्र-हित के लिए तत्क्षण मृत्यु को निमन्त्रण दे सकते थे।"

हिंडन की जीत ने अंग्रेज़ सेनाओं के लिए दिल्ली का द्वार खोल दिया।

पंजाब से आने वाली सेनाओं की दिल्ली की सेनाओं से मुख्य मुठभेड़ बुन्देले-की-सराय पर हुई। यहाँ पर भी खूब जमकर लड़ाई हुई, परन्तु जब अंग्रेज़ों की घुड़सवार फ़ौज ने दिल्ली की सेना पर सरपट हमला किया, तो उसके पाँव उखड़ गये। पीछे से मालूम हुआ कि मिर्ज़ा मुग़ल, जो उस समय क्रान्ति की सेनाओं का सेनापति था, तोप की पहली आवाज़ सुनकर दिल्ली को लौट गया था। भला उस युग के मुग़ल शाहज़ादे को लड़ाई से क्या काम? बुन्देला की लड़ाई में गोरखा सिपाहियों से अंग्रेज़ सेना को बहुत भारी सहायता मिली।

बुन्दकी की सराय की जीत ने अंग्रेज़ सेनाओं को उस पहाड़ी पर पहुँचा दिया, जिसे अंग्रेज़ों ने रिज का नाम दिया, और जिसे दिल्ली के लोग 'बौंटा' के नाम से पुकारते हैं। उस समय की अंग्रेज़ी सेनाओं का मुख्य मोर्चा बौंटे पर स्थापित हो गया। दिल्ली के लिए अगली सब लड़ाइयाँ उसी के चारों ओर होती रहीं।

सत्तरवाँ अध्याय

दिल्ली की लड़ाई (२)

अंग्रेज़ों की जीत

अंग्रेज़ों ने बौंटे की पहाड़ी पर अपना मोर्चा जमा लिया। यह पहाड़ी बहुत ऊँची न होती हुई भी, आस-पास की पहाड़ियों से और दिल्ली शहर से काफ़ी ऊँची है। उस पर से सारे नगर पर दृष्टि पड़ सकती है। इसके पीछे की ओर, पहाड़ी के नीचे यमुना का जल बहता था, और सामने की ओर काश्मीरी दरवाज़ा और मोरी दरवाज़ा के लक्ष्य, तोपों की मार में, सिर उठाये खड़े थे।

पहले तो अंग्रेज़ सेनापति जनरल बर्नार्ड ने विचारा था कि दिल्ली को सीधा आक्रमण करके जीत लिया जायगा, परन्तु उसका वह मन्सूबा पूरा न हो सका। दिल्ली में भिन्न-भिन्न प्रान्तों से आने वाले विद्रोही सिपाहियों की संख्या प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी। बख्तखां ने बारूद और हथियार तैयार करने का एक कारखाना खोल दिया था, और अंग्रेज़ सेनापति को यह देखकर घबराहट हो रही थी कि प्रतिदिन कुछ न कुछ हिन्दुस्तानी सिपाही अंग्रेज़ों का साथ छोड़कर विद्रोहियों में जा मिलते थे। फलतः अंग्रेज़ सेनापति को और अधिक सिपाहियों और अत्यधिक तोपखाने की प्रतीक्षा करनी पड़ी।

दिल्ली की सेना के लिए यह बहुत सुअवसर था। यदि कोई योग्य नेता होता तो अंग्रेज़ों की वह मुट्ठी भर सेना, चिर काल तक, दिल्ली से दो मील की दूरी पर आक्रमण की तैयारी न कर सकती। दिल्ली की सेना ने समय-समय पर कई आक्रमण किये, प्रारम्भिक सफलता भी दिखाई दी, परन्तु अन्त में निष्फलता का मुँह देखना पड़ा। प्रत्येक आक्रमण के पश्चात् अंग्रेज़ी सेना की स्थिति दृढ़ होती गई।

११ जून के पश्चात् प्रायः नित्य ही क्रान्तिकारियों के दस्ते शहर पनाह से निकलकर अंग्रेज़ी मोर्चों पर आक्रमण करने लगे। १२ जून को पहला आक्रमण हुआ। उसमें भारतीय सिपाही अंग्रेज़ी सेनाओं से केवल ५० गज़ की दूरी पर रह गये थे। १३ जून को भारतीय सेनाओं ने हिन्दूराव हाउस (वर्तमान हिन्दूराव हास्पिटल) पर आक्रमण किया। यह मकान उस समय अंग्रेज़ों का खूब मज़बूत मोर्चा था। १७ जून को ईदगाह पर लड़ाई हुई। क्रान्तिकारियों ने वहाँ तोपें लगाने का यत्न किया, अंग्रेज़ी सेनाओं ने उन्हें रोका। जमकर लड़ाई हुई, जिसमें लगभग सभी क्रान्तिकारी सिपाही मारे गये।

इन छुटपुट हमलों के पश्चात् सेनापति बख्तखां के नेतृत्व में, भारतीय सेना ने एक चौतर्फ़ा हमला करके अंग्रेज़ सेनाओं को पीछे हटाने की योजना बनाई। २० जून के प्रातः काल बहुत से भारतीय सिपाही चुपचाप सब्ज़ीमण्डी में से गुजरकर अंग्रेज़ी सेनाओं के सिर पर जा पहुँचे, और गोलियाँ बरसाने लगे। वे बढ़ते-बढ़ते इतने बढ़ गये कि अंग्रेज़ों की तोपों पर

अधिकार जमाने में अधिक विलम्ब नहीं प्रतीत होता था। इतने में रात आ गई। लड़ाई हल्की तो हो गई, परन्तु बन्द नहीं हुई। आधी रात तक गोलियाँ चलती रहीं। अंग्रेज़ सेनापति लार्ड रौबर्ट्स की राय है, कि "उस दिन की लड़ाई मे 'विद्रोहियों ने हमारे छक्के छुड़ा दिये।' यह सब कुछ करने के पश्चात् जब भारतीय सिपाहियों ने पीछे की ओर दृष्टि डाली तो उन्हें पता चला कि प्रातःकाल उन्हें गोला-बारूद की या आदमियों की कुमुक पहुँचने की कोई आशा नहीं। उन्हें लाचार होकर पीछे लौटना पड़ा।

२३ जून को पलासी की लड़ाई की बरसी थी। भारतीय सिपाहियों में उस दिन बहुत उत्साह था। वह दिल्ली के मैदान मे पलासी का बदला लेना चाहते थे। प्रातःकाल होते ही भारतीय सिपाही लाहौरी दरवाज़े से निकलकर सब्ज़ी मण्डी के रास्ते से रिज पर टूट पड़े और दिल्ली की दीवारों पर चढी हुई तोपें गर्ज-गर्ज कर अंग्रेजी सेना में तबाही मचाने लगीं। दोपहर के समय तक युद्ध का जोर बढता गया। इस युद्ध के बारे में मेजर रीड ने लिखा है—

"दिन के १२ बजे के लगभग विद्रोहियों ने मेरी सारी पंक्ति पर बहुत ज़ोर का आक्रमण किया। कोई मनुष्य उनकी अपेक्षा अच्छा नही लड़ सकता था। वे बन्दूकचियों पर, मार्गदर्शकों पर, और मेरे आदमियों पर बार-बार हमला करते थे, यहाँ तक कि एक समय मुझे यह प्रतीत होने लगा था कि मै हार गया।"

इतने में पंजाब से कुछ नई सेनायें अंग्रेजों की सहायता के लिए आ गई। वे आते ही लड़ाई में झोंक दी गई। तो भी क्रान्ति के सिपाही तब तक लड़ते रहे, जब तक रात न हो गई। शत्रु की संख्या और शक्ति निरन्तर बढ रही थी, और दिल्ली से किसी कुमुक की आशा नही थी। फलतः रात के अन्धकार से लाभ उठाकर विजयिनी भारतीय सेनाओं को शहर में वापिस जाना पड़ा।

क्रान्ति की सेनाओ का सेनापतित्व सँभालने के पश्चात् बख़्तख़ां ने लड़ाई मे गर्मी उत्पन्न करने की चेष्टा की। प्रायः नित्य ही दिल्ली की सेनायें दीवार से बाहर निकलकर आक्रमण करती थी। अंग्रेज़ी सेनायें आगे बढ़कर उन्हें रोकती थीं। ९ जुलाई को बहुत भयानक संघर्ष हुआ। कई जगह तो तलवारों से आगे जाकर हाथोंहाथ लड़ाई हुई। गोरे सिपाही बहुत मार खा गये। शाम को जब अपने कैम्प में वापिस गये तो इतने झल्लाये हुए थे कि 'खिसियानी बिल्ली खम्भा नोचे' की कहावत को चरितार्थ करते हुए अपने हिन्दुस्तानी नौकरों पर टूट पडे। भारतीय विद्रोह के इतिहास-लेखक के और मैलिसन (Kay and Melleson) ने लिखा है—"कहा जाता है कि सामने शरीरधारी शत्रुओं को न देखकर हमारे कई सिपाहियों ने कई निरपराध बारबरदारी के नौकरों को मार डाला, जो बेचारे डर के मारे ईसाई कब्रिस्तान के पास दुबके हुए थे। हमारे गोरे सिपाहियों के दिलों में पूर्व के काले आदमियों के प्रति जो घृणा की आग जल रही थी, वह नौकरों की वफादारी, स्वामिभक्ति या धैर्यपूर्वक की गई सेवाओं के जल से न बुझाई जा सकी।"

जुलाई के मध्य तक दोनों सेनाओं में इसी प्रकार की चोंचबाजी होती रही। अंग्रेजों की ओर के तीन जनरल धराशायी हो चुके थे। गवर्नर-जनरल का आदेश था कि दिल्ली को

शीघ्र से शीघ्र जीता जाय, परन्तु परिस्थिति ऐसी थी कि अंग्रेज़ी सेनाओं के लिए रिज के मोर्चे पर जमे रहना भी कठिन हो रहा था। सफलता से निराश होकर जुलाई के मध्य में जनरल रीड ने त्याग-पत्र दे दिया, और जनरल विल्सन को उसके स्थान पर दिल्ली पर आक्रमण करने वाली सेनाओं का प्रधान सेनापति नियुक्त किया गया। विल्सन का मुख्य सहायक इंजिनियर बेयर्ड स्मिथ था, जो आक्रमण के मानचित्र बनाने में कुशल था। जुलाई में एक बार ऐसी स्थिति हो गई थी कि अंग्रेज़ी सेनायें दिल्ली के मोर्चे से हट जाने का विचार करने लगी थीं। उस समय बेयर्ड स्मिथ का ही प्रोत्साहन था, जिसने विल्सन को जमे रहने की प्रेरणा दी। दिल्ली की लड़ाई में उस वीर और दूरदर्शी अंग्रेज़ अफ़सर का विशेष स्थान है।

अगस्त में पंजाब से अंग्रेज़ी सेना का उस समय का सर्वोत्कृष्ट सेनाध्यक्ष निकल्सन युद्ध की आग में पड़कर बिखरी हुई एक सेना को लेकर पंजाब से दिल्ली आ पहुँचा। निकल्सन आदर्श क्षत्रिय था। विशाल शरीर, उन्नत मस्तक, शानदार चेहरा दाढ़ी और मूछों से शोभायमान, आँखों में तेज और होठों पर दृढ़ता—ये निकल्सन की विशेषता थीं। आज भी निकल्सन की जो विशाल मूर्ति काश्मीरी दरवाज़े के सामने खड़ी है उसे देखकर असली निकल्सन का अनुमान लगाया जा सकता है। उसके आगमन से अंग्रेज़ सेनाओं का बैठता हुआ उत्साह फिर खड़ा हो गया। परिणाम यह हुआ कि २५ अगस्त को जब दिल्ली की सेना नजफगढ़ पर आक्रमण करने के लिए निकली तो निकल्सन ने उन पर ऐसा आकस्मिक और ज़ोरदार आक्रमण कर दिया कि नीमच के सिपाही देर तक खड़े न रह सके। अकस्मात् आक्रमण हो जाने पर भी भारतीय सिपाही खूब डटकर लड़े। किसी ने पीठ दिखाने का नाम न लिया परन्तु वही अच्छे नेतृत्व का अभाव यहाँ भी अभिशाप सिद्ध हुआ। उस मोर्चे पर आये हुए लगभग सभी भारतीय सिपाही काम आ गये। नजफगढ़ के मैदान पर, अंग्रेज़ी सेना की पूरी जीत हुई।

इस पराजय ने दिल्ली पर बहुत घातक प्रभाव डाला। नगर की दशा वैसे ही बिगड़ती जा रही थी। पहले बादशाह की अपील से और फिर बख्तखां के प्रयत्न से कुछ समय के लिए सिपाहियों द्वारा नागरिकों की लूट-मार कम हो गई थी, परन्तु जब चारों ओर से विद्रोही सिपाही दिल्ली में ही इकट्ठे होने लगे तो उनके वेतनों और रसद की व्यवस्था असम्भव हो गई। रुहेलखण्ड की फ़ौज के साथ कुछ राशि आई थी, वह थोड़े दिनों में ही बिखर गई, शाही ख़ज़ाने में धरा ही क्या था. एक बार तो रुपये की माँग होने पर बहादुरशाह ने परेशान होकर सिंहासन पर से उठाकर तकिया नीचे फेंकते हुए आज्ञा दी थी कि "घोड़ों की काठियाँ, हाथियों के होदे और कुर्सियाँ मिर्ज़ा मुग़ल के पास भेज दो, वह उन्हें बेचकर फ़ौज के ख़र्च चला ले।" जब कठिनाई बढ़ी, शहर के धनियों की लुटाई शुरू हो गई। वह लुटाई सरकारी ढग पर भी चलती थी, और ग़ैर सरकारी ढंग पर भी। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया शहर की व्यथा बढ़ती गई और साथ ही नियमित वेतनादि न मिलने से सिपाहियों का असन्तोष भी बढ़ता गया। जुलाई के अन्त तक दिल्ली के सैनिकों में नियन्त्रण की भावना

लगभग शून्य की रेखा तक पहुँच चुकी थी।

रसद की भी बहुत दिक्कत हो रही थी। उसका एक बड़ा कारण यह हो गया कि शहर के व्यापारी खाद्य-सामग्री को दिल्ली की सरकार के हाथ बेचने की अपेक्षा अंग्रेज़ी सेना के हाथ बेचना अधिक पसन्द करते थे, क्योंकि वहाँ ऊँचे और नकद दाम मिलते थे। व्यापारी गुप्त रूप से रिज पर माल भेजकर दाम वसूल करते थे, और दिल्ली के अधिकारियों को अपने खाली कोठे दिखा देते थे।

शस्त्रास्त्रों की बहुत कमी न होते हुए भी कठिनाई अवश्य थी। विशेषत: जब ७ अगस्त को बेग़म समरू के महल और फिर चूड़ीवालान में बने हुए बारूदखाने अग्निसात् हो गये, तब युद्ध-सामग्री की न्यूनता निरन्तर अनुभव होने लगी।

इन सब कठिनाइयों को अनुभवी बहादुरशाह खूब समझता था। उसे अपनी स्थिति के बारे में कोई सन्देह नहीं था। वह वर्तमान परिस्थिति में जबर्दस्ती धकेला गया था। वह भली प्रकार जानता था कि वह रेत के खम्भों पर खड़ा है। दिल्ली के निवासी उस समय के शासन को गर्दी के नाम से पुकारते थे। बहादुरशाह उस गर्दी से इतना परेशान था कि एक बार, जब बादशाह के अन्तरंग मित्र और सलाहकार हकीम अहसानुल्लाखां को शाहज़ादा मिर्ज़ा मुग़ल ने नज़रबन्द कर दिया, और बादशाह की आज्ञा और अनुनय दोनों पर नहीं छोड़ा तो बेचारे बूढ़े बहादुरशाह ने लिखा था—

"यदि तुम मेरी प्रार्थना को नहीं मानते तो मुझे सुरक्षित रूप से ख्वाजा साहिब की दरगाह पर पहुँचा दो। वहाँ बैठकर मैं मुजाविर की तरह दिन काटूंगा। यदि तुम्हें यह भी मंजूर न हो तो मैं सब वास्ता तोड़कर चला जाऊँगा। जो लोग समझते हैं कि मुझे रोक लेंगे वे रोककर तो देखें। मैं अंग्रेज़ो के हाथों से तो नहीं मरा, पर मैं तुम्हारे हाथ से मर जाऊँगा। साथ ही समझ लो कि जो अत्याचार आजकल प्रजा पर किये जा रहे हैं, वह प्रजा पर नहीं हो रहे, वह मुझ पर हो रहे हैं। तुम्हारा फ़र्ज़ है कि उन्हें बन्द करो। मुझे जल्दी जवाब दो, नहीं तो मैं हीरा खाकर जान दे दूंगा।"

इस पत्र में अशान्ति के साथ-साथ जो मार्मिक वेदना प्रकट हो रही है, वह एक शायर के ही योग्य है।

अपनी सेनाओं की अव्यवस्था, शहर की व्यथा और अंग्रेज़ों की चढ़ती कला को देख जब बहादुरशाह बहुत खिन्न हो गया, तो उसने राजपूताने के राजाओं को एक पत्र लिखा, जो उसकी भावुक प्रकृति के योग्य ही था। उसने जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, अलवर आदि राज्यों के शासकों को एक लम्बा पत्र लिखा था, जिसके कुछ उद्धरण हम नीचे देते हैं।

"मेरी यह प्रबल इच्छा है कि मैं फिरंगियों को हिन्दुस्तान से बाहिर निकलता देखूं, चाहे उसके लिए कितने उपाय करने पड़ें, या कितनी ही कुर्बानी देनी पड़े। मेरी यह प्रबल इच्छा है कि सारा हिन्दुस्तान आज़ाद हो। परन्तु आज़ादी का जो युद्ध हो रहा है, उसमें सफ़लता असम्भव है, जब तक कोई ऐसा नेता न आगे आये, जो सारे युद्ध का संचालन कर सके, और देश भर की शक्तियों को एक माला में पिरो सके। मेरे मन में अंग्रेज़ों के निकल

जाने पर भारत पर शासन करने की इच्छा नहीं है। यदि आप सब राजा लोग फिरंगियों को निकालने के लिए अपनी तलवारें उठाने को तैयार हों तो मैं अपना शासनाधिकार देसी शासकों के उस संघ को सौंपने को तैयार हूँ, जिसका आप लोग चुनाव करें।"

दिल्ली नगर और उसके शासकों की यह हारी हुई मनोवृत्ति थी, जब सितम्बर के प्रारम्भ में अंग्रेज़ों की क़िलातोड़ तोपें पंजाब से दिल्ली पहुँच गईं। तोपों के पहुँचते ही अंग्रेज़ी सेनाओं की दिल्ली पर सीधा आक्रमण करने की योजना प्रारम्भ हो गई। उस समय दोनों पक्षों की सेनाओं का बलाबल इस प्रकार था कि सब मिलाकर दिल्ली की सेना में लगभग ३० हजार सैनिक थे, और अंग्रेजी सेना में गोरे और हिन्दुस्तानी सिपाही मिलाकर ११,२०० लड़ाके थे। संख्या में दिल्ली की सेना बढ़ी हुई थी, तो नेतृत्व, नियन्त्रण और युद्ध-सामग्री की दृष्टि से अंग्रेज़ी सेना का हाथ बहुत ऊँचा था।

११ सितम्बर को अंग्रेजों के किलातोड़ तोपखानों ने अपने मुँह खोले, और काश्मीरी दरवाज़े की दिशा में शहर पनाह को तोड़ना शुरू किया। १२ सितम्बर को और तोपखाने भी गोले बरसाने लगे। १४ सितम्बर को हमला बोल दिया गया। अंग्रेज़ी सेनायें चार टुकड़ियों में बँटकर आगे बढ़ीं। सबसे मुख्य मोर्चा काश्मीरी दरवाजे का समझा गया, उस पर आक्रमण की कमान स्वयं जनरल निकल्सन ने सँभाली। आक्रमण का फैलाव शहर दीवार के पूर्वोत्तर कोने से लेकर लाहौरी दरवाज़े तक था। सीधा आक्रमण था, इस कारण बड़ी भयंकर मार-काट हुई। दिल्ली की तोपों और बन्दूकचियों ने प्रतिरोध करने में कोई कसर नहीं छोड़ी, परन्तु वह दिन केवल गोलियों का नहीं था, वह तो दृढ़ निश्चय का था। अंग्रेज़ सेनापति यह समझकर लड़ रहे थे कि भारत में अंग्रेजों की सत्ता आज की जीत पर अवलम्बित है। आज हारे तो भारत छोड़ देना पड़ेगा। जीत या मौत यह संकल्प था, जिसने अंग्रेज़ सेनाओं से अद्भुत वीरता के काम कराये। सेनापति पर सेनापति गिर रहा था, पर अंग्रेज़ी सेना के सिपाही पीछे हटने का नाम न लेते थे। सिपाहियों की पंक्ति के पीछे पंक्ति गोले-गोलियों की शिकार हो रही थी, परन्तु पिछली पंक्तियाँ आगे बढ़ती ही जाती थीं। लड़ाई दीवार से आगे चलकर गली-कूचों तक फैल गई, तो भी आक्रमणकारी सेना जिसमें गोरे और हिन्दुस्तानी दोनों शामिल थे, लड़ते और रास्ता बनाते गये। इतने में अंग्रेज़ी सेनाओं में समाचार फैल गया कि वीर निकल्सन घायल हो गया है। इस समाचार ने शेष अंग्रेज़ अफ़सरों को और अधिक उत्तेजित कर दिया, और सायंकाल से पहले ही काश्मीरी दरवाज़े की दीवारों में सूराख हो गया। रास्ता मिलते ही मरती-मारती अंग्रेज़ी सेनायें शहर में घुस गईं, और बढ़ती-बढ़ती जामा मस्जिद तक पहुंच गईं।

रात हो गई, जिसने उस दिन की लड़ाई को समाप्त कर दिया। अंग्रेज़ शहर में तो पहुँच गये, परन्तु उनकी स्थिति बहुत संकटपूर्ण थी। कल प्रातःकाल क्या होगा, जनरल विल्सन को यह चिन्ता खाये जा रही थी। कहा जाता है कि १४ तारीख की रात को एक वार तो उसने यह विचार भी प्रकट कर दिया था कि रात ही रात में पीछे हटकर दिल्ली की चार-दीवारी से बाहिर निकल जाना अच्छा होगा। जब यह बात घायल निकल्सन तक पहुँची तो

उसने गर्जकर कहा—"पीछे हटना ! ईश्वर की कृपा से मेरे अन्दर इतनी शक्ति अब भी विद्यमान है कि में पीछे हटते हुए विल्सन को गोली से उड़ा दूं !"

इस वीर-गर्जना ने विल्सन का विचार बदल दिया। दूसरे दिन प्रात.काल होने के साथ ही गली-कूचों और बाज़ारों में फिर लड़ाई आरम्भ हो गई। लड़ाई जारी रही, परन्तु जीत-हार का निश्चय तो तभी हो गया था, जब प्रातःकाल के समय भी क्रान्ति की सेनायें आक्रमण-कारियों पर कोई संगठित आक्रमण करने की योजना न बना सकीं। दूसरा दिन समाप्त होने से पहले दिल्ली का तीन-चौथाई भाग अंग्रेजों के हाथ में आ चुका था।

जब यह निश्चय हो गया कि अब दिल्ली के बचने की कोई आशा नहीं तो मुहम्मद बख़्तखां ने बादशाह की सेवा में जाकर निवेदन किया कि दिल्ली तो हमारे हाथ से निकल गई है, परन्तु इसमें घबराने की कोई बात नहीं। हम दिल्ली से बाहर जाकर दुश्मनों से लड़ सकते है। में उन साथियों को लेकर, जो अन्त तक मेरे साथ रहकर आज़ादी की लड़ाई को जारी रखना चाहते हैं, दिल्ली से निकलने का यत्न करूँगा। यह अच्छा होगा कि आप भी हमारे साथ निकल चलें। हम आपके झण्डे के नीचे युद्ध जारी रखेंगे।"

बहादुरशाह उस मसाले से नहीं बना था जो लड़ते-लड़ते मर सकते हैं। वह स्वभाव से सुखार्थी था, उसके दिन शायरी करते व्यतीत हुए थे, और अब तो बूढ़ा भी था। उसने साफ़ इन्कार कर दिया। बख़्तखां निराश होकर चला गया तो बहादुरशाह जान बचाने के लिए शाहज़ादों के साथ क़िले से भागकर हुमायूँ के मकबरे में जा छुपा।

जब अंग्रेज़ सेनापति को समाचार मिला कि बादशाह हुमायूँ के मकबरे में जा छुपा है तो उसने कर्नल हडसन को उसे पकड़कर लाने के लिए भेजा। हडसन अपने कुछ घुड़सवारों को साथ लेकर मकबरे पहुँचा, और बादशाह को प्राणों का अभय-दान देकर साथ ले आया और लाल क़िले में कैद कर दिया।

कुछ समय पीछे हडसन को ख़बर मिली कि शाहज़ादे भी मकबरे में ही छुपे हुए हैं। वह तुरन्त उन्हें पकड़ने के लिए भी रवाना हो गया। मकबरे में पहुँचकर उसने जो कुछ किया वह भारत में अंग्रेज़ी शासन के अनेक काले कारनामों में शायद सबसे काला है। अंग्रेज़ लेखक भी उसका समर्थन नहीं कर सके। मकबरे में पहुँचकर उसने शाहज़ादों को गिरफ़्तार करके बैलगाड़ी में बिठा दिया और शहर की ओर ले चला। शहर में घुसने पर हडसन ने एकदम रुख बदला, और सिपाहियों को आज्ञा दी कि शाहज़ादों को गाड़ियों से नीचे घसीट लो। नीचे आने पर हडसन ने घोषणा की कि जिन आदमियों ने अंग्रेज़ बच्चों और औरतों का बध किया है, वे किसी दया के अधिकारी नहीं। इस घोषणा के पश्चात् पहले तीनों शाहज़ादों की ख़ानातलाशी ली गई, और फिर तीन गोलियों से उनका अन्त कर दिया गया। मुग़ल वंश के अन्तिम वंशजों को मारकर ही हडसन का क्रोध शान्त नहीं हुआ, उसने तीनों लाशों को शहर के केन्द्र में कोतवाली के सामने पटक दिया, जहाँ वे देर तक कुत्तों और गीधों का नाश्ता बनती रहीं। जब उनमें सड़ांध पैदा होने लगी तो उन्हें भंगियों से उठवाकर नदी में फिंकवा दिया गया।

दिल्ली शहर की लड़ाई २४ सितम्बर तक थोड़ी-बहुत जारी रही। २५ को पूरा शहर अंग्रेज़ों के अधिकार में आ गया।

इस प्रकार जिस मुग़ल साम्राज्य की नींव लगभग ३०० वर्ष पहले वीर बाबर ने रखी थी, उसका सबीज नाश शायद बहादुरशाह की गिरफ़्तारी के साथ २५ अगस्त, १८५७ के दिन हो गया।

इकहत्तरवां अध्याय

लखनऊ और अवध

जब मेरठ और दिल्ली से अंग्रेज़ी राज्य के पाँव उखड़ने के समाचार देश भर में फैले, उस समय अवध के शासन की बागडोर सर हेनरी लॉरेंस के हाथ में थी। अशान्ति के समाचार सुनते ही उस दूरदर्शी शासक ने जहाँ एक ओर अशान्ति को दूर करने और विस्फोट को रोकने के उपाय काम में लाने आरम्भ कर दिये, वहाँ साथ ही आड़े वक़्त पर आत्म-रक्षा के लिए मच्छी भवन और रेज़ीडेंसी की मोर्चाबन्दी करने की आज्ञा भी दे दी। कुछ दिन तक तो ऐसा प्रतीत हुआ कि तूफ़ान टल जायगा और कहीं दायें-बायें होकर निकल जायगा, परन्तु मई मास की समाप्ति होने से पहले ही लखनऊ और उसके समीपवर्ती अन्य शहरों के वातावरण में हलचल के चिन्ह दिखाई देने लगे, और अन्त में, २८ जून को, सर हेनरी लॉरेंस को समाचार मिला कि अवध के अन्य अशान्त स्थानों से इकट्ठी होकर विद्रोही फ़ौजें लखनऊ पर चढ़ाई कर रही हैं।

सर हेनरी इस परिस्थिति के लिए भी तैयार था। वह सेना की एक टुकड़ी लेकर विद्रोहियों का रास्ता रोकने के लिए स्वयं आगे बढ़ा। विद्रोहियों से मुठभेड़ फैजाबाद जाने वाली सड़क पर चिनहट गाँव के समीप हुई। या तो सर हेनरी को अपने ७०० सिपाहियों पर सीमा से अधिक भरोसा था, अथवा उसके दूतों ने शत्रु की संख्या और शक्ति के सम्बन्ध में ग़लत ख़बरें पहुँचाकर भ्रम पैदा कर दिया था, चिनहट की लड़ाई में अंग्रेज़ी सेनाओं को बुरी तरह परास्त होना पड़ा। कुछ घण्टों के संघर्ष के बाद ही अंग्रेज़ी सेना के पाँव उखड़ गये, और उन्होंने गोमती पार करके रेज़ीडेंसी में शरण ली। यदि पहले से ही अंग्रेजों की तोपें गोमती के लोहे के पुल की रक्षा के लिए तैनात न होतीं, तो शायद उनका रेज़ीडेंसी तक पहुँचना भी कठिन हो जाता।

दिन में तो विद्रोही सेनायें पार न पहुँच सकीं, परन्तु रात की अँधियारी में उन्होंने लोहे के पुल के नीचे एक स्थान पर गोमती को पार करके रेज़ीडेंसी पर घेरा डाल लिया। सुबह हुई तो परिस्थिति यह थी कि सब अंग्रेज़ी सेनायें रेज़ीडेंसी में केन्द्रित होकर विद्रोही सेनाओं के घेरे में आ गई थीं। इस प्रकार २६ मई से लखनऊ की रेज़ीडेंसी का वह प्रसिद्ध 'घेरा' आरम्भ हुआ, जिसके उतार-चढ़ाव का इतिहास दिल्ली की लड़ाई से कुछ कम मनोरंजक नहीं है।

दो दिन पीछे १ जुलाई को घेरा डालने वाली सेनाओं की आँख बचाकर, मच्छी भवन की अंग्रेज़ी सेनायें भी रेज़ीडेंसी में ही चली गईं। इस तरह दोनों ओर से लम्बे संघर्ष की तैयारी पूरी हो गई।

अब लखनऊ पर क्रान्तिकारियों का पूरा अधिकार हो गया था। वे लोग शासन की

व्यवस्था करने में लग गये। नवाब वाजिदअली शाह के नाबालिग लड़के ब्रिजिसकुद्र को नवाब के आसन पर बिठाकर उसकी माता बेग़म हजरत महल को संरक्षिका घोषित कर दिया गया। भिन्न-भिन्न पदों पर नई नियुक्तियाँ करके शासन के ढाँचे को तो पूरा कर दिया गया, परन्तु यह सभी लोग जानते थे कि इस सारे दृश्यमान अस्थिपंजर के अन्दर बैठी हुई रूह फैजाबाद के मौलवी अहमदशाह की थी, जो पर्दे के पीछे से इस नाटक के सब पात्रों को अपनी प्रतिभा और वाक्-शक्ति से नचा रहा था। मौलवी अहमदशाह का स्थान सन् सत्तावन की क्रान्ति के नेताओं में बहुत ऊँचा है। मौलवी अहमदशाह उन व्यक्तियों में से था, जिनमें जोश भी होता है, और जोश के अनुसार कर गुजरने की शक्ति भी होती है। साथ ही वह कुशल संगठनकर्ता भी था। जब तक लखनऊ में क्रान्ति का युद्ध जारी रहा, मौलवी उसका जीवन-प्राण बना रहा। वह जोशीले भाषण देकर भारतीय सिपाहियों में उत्साह भरता रहा, पीछे बैठकर दृश्य का संचालन करता रहा, कठिन अभियोगों के शरीयत के अनुसार फ़ैसले करता रहा, और जब सिपाही लोग बेदिल हो गये तब हाथ में तलवार लेकर शत्रुओं से लड़ता रहा। वह तब तक लड़ता रहा, जब तक एक देशद्रोही भारतवासी ने धोखा देकर उसकी प्राणलीला समाप्त न कर दी।

जुलाई की पहली तारीख़ से रेज़ीडेंसी के घेरे का युद्ध प्रारम्भ हुआ। रक्षक-दल संख्या में तो कम था ही, उस पर एक और मुसीबत आ गई। दूसरे ही दिन रक्षा-पंक्तियों का निरीक्षण करते हुए सर हेनरी लॉरेंस बुरी तरह घायल हो गया। नियन्त्रण और धैर्य—दो ही बड़े गुण हैं, जो अंग्रेज़ जाति को सफल बनाते रहे हैं। सर हेनरी लॉरेंस चला गया पर रक्षक दल बेदिल नहीं हुआ। उसके काम दो अफ़सरों में बांट दिये गये। मेजर बैंकस के हाथ में राजनीतिक, और जनरल इंग्लिस के हाथ में सेना-संचालन का काम दे दिया गया। तीन सप्ताह बाद मेजर बैंकस भी मारा गया, तब रेज़ीडेंसी का सारा कार्यभार जनरल इंग्लिस के कन्धों पर डाल दिया गया।

लखनऊ के घेरे के युद्ध को तीन भागों में बाँटा जा सकता है। पहला भाग १ जुलाई से प्रारम्भ होकर २५ सितम्बर को समाप्त हुआ। युद्ध के इस समय में रेज़ीडेंसी पर बाहर से निरन्तर आक्रमण होते रहे। छुटपुटे आक्रमण तो अनेक हुए, पर बड़े आक्रमण तीन हुए, जिनमें बारूद की सुरंगों द्वारा रक्षा की दीवारी को तोड़कर अन्दर घुसने की चेष्टा की गई। रक्षकों की सावधानता और वीरता के कारण तीनों आक्रमण निष्फल हुए। युद्ध के पहले भाग में रक्षा करने वाले लड़ाकों की संख्या २,४०० थी। आक्रमणकारियों की संख्या पूरी तो मालूम नहीं, परन्तु वह २०-२५ सहस्र से कम किसी दशा में भी नहीं थी।

सारी परिस्थिति को देखते हुए यह तो स्पष्ट था कि रक्षक-दल के लिए, स्वयं अपनी शक्ति से, घेरे की बिल के बाहर निकलना सम्भव नहीं था। यद्यपि सर हेनरी की दूर-दर्शिता से रेज़ीडेंसी में रसद, बारूद आदि की पुष्कल सामग्री विद्यमान थी, तो भी वह प्रतिदिन क्षीण होती जा रही थी, अन्त में एक दिन समाप्त होती ही। उन बेचारों को एक ही सहारा था कि कोई सहायक-दल बाहर से आकर उनका उद्धार करता। इस उद्देश्य से

जनरल इंग्लिस ने, १६ अगस्त को, जनरल हैवलौक को अपनी दयनीय दशा का वृत्तान्त लिखते हुए सूचना दी कि "यदि हम लोग आधे पेट खाकर भी निर्वाह करें तो बड़ी कठिनाई से रेज़ीडेंसी की रक्षा को १० सितम्बर तक घसीटा जा सकता है।" उससे पहले एक पत्र द्वारा रेजीडेंसी में यह समाचार पहुँच चुका था कि जनरल हैवलौक एक बड़ी सेना लेकर लखनऊ के उद्धार के लिए आ रहा है, परन्तु जब दिन पर दिन बीतने लगे और हैवलौक के आने की कोई खबर न पहुँची तो रक्षक-दल में निराशा का संचार होने लगा। हैवलौक के आने में विलम्ब का कारण यह हुआ कि कानपुर और कालपी की स्थिति गम्भीर हो जाने के कारण हैवलौक को अपने घोड़े का मुँह लखनऊ से हटाकर कानपुर की ओर मोड़ देना पड़ा।

उस समय इंग्लिस और हैवलौक में जो पत्र-व्यवहार हुआ, उसके कुछ अवशेष लखनऊ की रेज़ीडेंसी में अब भी विद्यमान हैं। उसका एक नमूना निम्नलिखित है। इंग्लिस की निराशाभरी पुकार के उत्तर में हैवलौक ने लिखा था—

"My dear Colonnel,

I have your letter of 1oth instant. I can only say, hold on and do not negotiate but rather perish, sword in hand.

H. Hovelock"

—मेरे प्यारे कर्नल, मुझे तुम्हारा १० ता० का पत्र मिला। मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि मोर्चे पर डटे रहो। शत्रु से सुलह की बात-चीत करने की अपेक्षा तलवार हाथ में लेकर लड़ते-लड़ते मर जाना अच्छा है।—एच. हैवलौक।

यह दृढ़ता थी, जिसने उस समय के अंग्रेजों को विजयी बनाया। जहाँ उन्होंने इस दृढ़ता को छोड़ा वहाँ धोखा खाया, जैसे कानपुर में। हैवलौक की ललकार ने रेज़ीडेंसी के रक्षकों को सावधान कर दिया। वह कमर सीधी करके फिर रक्षा के लिए खड़े हो गये।


जनरल हैवलौक

हैवलौक बड़ी उलझन में पड़ा हुआ था। वह लगभग १,५०० सैनिकों की सेना लेकर इलाहाबाद से चलने ही वाला था कि उसे कानपुर की घटनाओं का समाचार मिला। वहाँ के अंग्रेज़ों के आत्मसमर्पण और सर्वनाश ने परिस्थिति ही बदल दी थी। हैवलौक को कानपुर पर अधिकार करने के लिए जाना पड़ा। हम कानपुर में नाना की पराजय और हैवलौक की जीत की कहानी सुना आये हैं। शहर पर अधिकार करके हैवलौक ने वहाँ की देखरेख का काम जनरल नील को सौंपा और स्वयं फिर लखनऊ

जाने का निश्चय करके गंगा को पार कर लिया।

परन्तु किस्मत का द्वार अभी बन्द था। दूसरे पड़ाव पर उसे समाचार मिला कि बिहार में भी विद्रोह फूट पड़ा है, जिससे कलकत्ते से इलाहाबाद आने का रास्ता रुक गया है। कलकत्ते से कुमुक पहुँचने की जो थोड़ी-बहुत आशा थी, बिहार के विद्रोह से वह नष्ट हो गई। अवध के जिस मार्ग से हैवलौक को गुजरना था उसमें क्रान्ति के अड्डों का जाल बिछा हुआ था। कलकत्ते से सहायता की कोई आशा नहीं थी, और इधर कानपुर की परिस्थिति फिर बिगड़ रही थी। विद्रोहियों के दल दूसरी बार संगठित होने का यत्न कर रहे थे। फलतः हैवलौक को लखनऊ जाने का संकल्प छोड़कर फिर कानपुर वापिस जाना पड़ा।

जिस समय हैवलौक कानपुर में क्रान्तिकारियों का दमन करने के लिए काम में जी-जान से लगा हुआ था, उसे समाचार मिला कि जनरल औटरम को उसके स्थान पर इलाहाबाद के क्षेत्र में काम करने वाली सेनाओं का प्रधान सेनापति बना दिया गया है। जो परिस्थिति नील से ऊपर हैवलौक की नियुक्ति से हुई थी, वही हैवलौक से ऊपर औटरम की नियुक्ति से फिर उत्पन्न हो गई। उस समय भी ब्रिटिश जाति की स्वाभाविक नियन्त्रण की प्रवृत्ति की जीत हुई थी, अब भी हुई। अपने राष्ट्र का हित सामने रखकर औटरम के आने पर हैवलौक ने अधिकार का राजदण्ड उसे सौंप दिया। इस बार नई बात यह हुई कि औटरम ने ज़ाप्ते के अधिकार को लेकर भी ऐसी सुन्दर उदारता का परिचय दिया कि वह एक दृष्टान्त बन गया है। अधिकार ले लेने पर औटरम ने सेना में निम्नलिखित घोषणा प्रचारित की—"जिस वीर ने लखनऊ के घेरे को उठाने के लिए युद्ध को ऐसी वीरता से जारी रखा है, शोभा देता है कि वही उसे पूरा करे। इस कारण, मैंने अपने सेनापतित्व के सब अधिकार तब तक के लिए, जब तक लखनऊ का घेरा उठ जाय, वीर हैवलौक को दे दिये हैं, और मैं सेना का एक साधारण सैनिक बनकर रहूँगा।"

हैवलौक के सतत प्रयत्न से सितम्बर में परिस्थिति इतनी सन्तोषजनक हो गई कि दोनों सेनापतियों ने लखनऊ की यात्रा करना समयोचित समझा। वहाँ से इंग्लिस तकाज़ों पर तकाज़े भेज रहा था। रेज़ीडेंसी से कानपुर और कानपुर से रेज़ीडेंसी तक सन्देश पहुँचाने वाले गुप्त दूत का नाम 'अंगद' था। इस हिन्दुस्तानी दूत की चर्चा बड़ी प्रशंसा के साथ अंग्रेज़ लेखकों ने की है। वह सरकार का एक पेन्शनभोगी भारतवासी था। ख़तरों की धधकती हुई आग में से गुजरकर अंग्रेज़ों के सन्देश पहुँचाने वाले इस दूत का साहस देखकर यही कहने को जी चाहता है कि "काश कि उसकी शक्तियाँ अपने देश की सेवा में लगी होतीं।"

औटरम और हैवलौक द्वारा संचालित सेनायें रास्ते के विघ्नों को पार करती हुई २३ सितम्बर को आलम बाग़ पहुँच गईं। आलम बाग़ रेज़ीडेंसी से ४ मील की दूरी पर था।

दूसरे दिन अंग्रेज़ी सेनाओं ने शहर के बाज़ारों के रास्ते से रेज़ीडेंसी की ओर बढ़ना शुरू किया। क्रान्ति की सेनाओं ने खूब वीरता से और जमकर प्रतिरोध किया, परन्तु कुशल नेता, और दृढ़ युद्धनीति के अभाव से भारतीय सैनिकों की वीरता व्यर्थ गई। अंग्रेज सेना मोर्चे पर मोर्चा जीतती हुई २५ सितम्बर को, सायंकाल के समय, बेली गार्ड गेट पर

अधिकार करके रेज़ीडेंसी में प्रविष्ट हो गई। इस तरह लखनऊ के युद्ध का यह दूसरा अध्याय अंग्रेज़ी सेना की अधूरी सफलता के साथ समाप्त हुआ। सफलता अधूरी इसलिए थी कि लखनऊ पर अब भी क्रान्तिकारियों का अधिकार था, और रेज़ीडेंसी अब भी शत्रु सेनाओं से घिरी हुई थी। केवल रक्षकों की संख्या में और शक्ति में वृद्धि हो गई थी।

अगस्त मास में, सर कौलिन कैम्पबल ने भारत की ब्रिटिश सेना का प्रधान सेनापति पद सँभाला। कुछ समय उसे देश की सैनिक परिस्थिति को समझने, और अपनी सेनाओं की ठीक व्यवस्था करने में लगा। सर कैम्पबल बहुत अनुभवी और कुशल सेनानी था। वह यूरोप, चीन और क्रीमिया के अतिरिक्त पंजाब के रण-क्षेत्रों में यश प्राप्त कर चुका था। लगभग एक साल में उसने दोनों कार्य पूरे कर लिये, और तब यह निश्चय किया कि सबसे आवश्यक काम लखनऊ में फंसी हुई अंग्रेज़ी सेना के उद्धार का है। यों, सामरिक महत्त्व की दृष्टि से पहला नम्बर दिल्ली का था, परन्तु दिल्ली सितम्बर के अन्त तक अंग्रेज़ों के अधिकार में आ चुका था, इस कारण लखनऊ का महत्त्व अन्य सब रण-क्षेत्रों से अधिक हो गया था।

सर कैम्पबल बहुत सी नई सेनायें लेकर कलकत्ते से कानपुर होता हुआ नवम्बर के प्रारम्भ में लखनऊ के प्रमुख मोर्चे आलम बाग़ पर पहुँच गया। जिस समय उसकी सेनाओं ने लखनऊ पर आक्रमण आरम्भ किया, उसके पास ५ हज़ार योद्धा थे। क्रान्तिकारियों की ओर से एक-एक चप्पा भूमि पर रुकावट डाली गई, प्रत्येक गली-कूचे में तलवारों और संगीनों की घनघोर लड़ाई हुई, परन्तु नेतृत्वविहीन सिपाही क्या करते? अंग्रेज़ी सेना दिलकुशा को सर करती और गोमती को पार करती हुई मोतीमहल तक जा पहुँची। १७ नवम्बर को मोतीमहल पर भी अंग्रेज़ों का अधिकार हो गया, और सर कैम्पबल ने अपनी स्थिति को इतना सन्तोषजनक समझा कि सारी सेनाओं को रेज़ीडेंसी के खण्डहरों में से निकलकर आलमबाग़ में छावनी डालने का आदेश दे दिया।

यह अद्भुत संयोग है कि जैसे दिल्ली पर विजय प्राप्त करने से पहले वीर निकलसन धराशायी हो गया था, वैसे ही लखनऊ पर पूरा अधिकार होने से पूर्व ही, २४ नवम्बर को अंग्रेज़ी सरकार के वफ़ादार और बहादुर सिपाही हैवलौक ने युद्धों से जर्जरित शरीर का परित्याग कर दिया था। उसके पश्चात् लखनऊ की सेना का एकच्छत्र नेतृत्व जनरल औटरम के हाथ में आ गया। अंग्रेज़ी सेना के आलम बाग़ में पहुँच जाने पर लखनऊ का युद्ध विशाल रूप में जारी हो गया। उस समय वहाँ अंग्रेज़ों की भरपूर शक्ति एकत्र हो गई थी। प्रायः सभी बड़े-बड़े सेनानायक पहुँच गये थे। प्रधान सेनापति सर कौलिन के अतिरिक्त औटरम, हडसन, होपग्राण्ट, फ्रैंक आदि लब्धप्रतिष्ठ सेनानी तो थे ही, नेपाल का सेनापति जंगबहादुर अपनी गोरखा सिपाहियों, और सिख सूबेदार गोकुल सिंह अपने सिख वीरों के साथ उनकी सहायता के लिए विद्यमान थे।

दूसरी ओर धड़ तो था पर सिर नहीं था। अवध के सभी केन्द्रों से दिल्ली से और मध्य प्रदेश से स्वाधीनता के परवाने जान हथेली पर रखकर लखनऊ पहुँचे हुए थे, परन्तु

उनसे काम लेने वाला कोई नहीं था। उस सेना को अंग्रेज़ लोग पाण्डे फ़ौज कहते थे, क्योंकि उसमें पुरबिये ब्राह्मणों की अधिकता थी। ग्वालियर, कालपी आदि नगरों की ओर के भी बहुत से सैनिक थे। परन्तु दैवयोग की बात थी कि उसका संचालन मौलवियों और मुसलमान ज़मांदारों के हाथ में पड़ गया था। एक नियन्त्रित और सुशासित सेना का मुकाबला लड़ाकों की भीड़ कैसे कर सकती थी ?

सबसे कठोर प्रतिरोध सिकन्दर बाग़ पर हुआ। जब अंग्रेज़ी सेना आक्रमण कर रही थी और विद्रोही सेना रक्षा कर रही थी, सिकन्दर बाग़ की दृढ़ दीवारों ने और उनसे भी दृढ़ भारतीय सैनिकों की छातियों ने यथाशक्ति रुकावट डाली परन्तु जब एक ओर से अंग्रेज़ हाई लैण्डर और दूसरी ओर से सिख सूरमा एक दूसरे से होड लगाकर रक्षकों पर टूट पड़े तो सिकन्दर बाग़ की भित्तियें खड़ी न रह सकीं। अंग्रेज़ सेनाओं के दल कई स्थानों से अन्दर घुस गये, जहाँ खूब घमासान युद्ध हुआ। अंग्रेज़ इतिहास-लेखक मैलिसन ने सिकन्दर बाग की लड़ाई की बाबत लिखा है—

"(सिकन्दर बाग़ के) घेरे के लिए बड़ा ख़ूनी और घोर युद्ध हुआ। विद्रोही लोग निराशा से उत्पन्न होने वाली निर्भीकता से लड़े। जब हमारे आदमी अन्दर घुस गये, तब भी लड़ाई ठंडी नहीं हुई। प्रत्येक कमरे, प्रत्येक सीढ़ी, और मीनार के प्रत्येक कोने पर मुक़ाबला किया गया। न किसी ने दया माँगी, और न किसी ने दी और जब अन्त में आक्रमणकारियों की जीत हो गई तब उनके चारों ओर २,००० लाशें पड़ी हुई थीं। कहा जाता है कि जो लोग स्थान की रक्षा कर रहे थे उनमें से केवल ४ बचे, वस्तुतः यह सन्दिग्ध है कि वह ४ भी बचे या नहीं ?"

लखनऊ की लड़ाई का यह दौर १४ से २३ नवम्बर तक जारी रहा। उसके पश्चात् अंग्रेज़ी सरकार की सेना को साँस लेने के लिए रुकना पड़ा। क्योंकि उत्तर प्रदेश के अन्य इलाकों से विद्रोह के समाचार आ रहे थे। कुछ समय के लिए सर कौलिन ने लखनऊ की सेना का सेनापतित्व फिर जनरल ओटरम को सौंप दिया और स्वयं तांत्या टोपे के आक्रमणों को रोकने के लिए रुहेलखण्ड और अवध के अशान्त केन्द्रों के दमन के लिए प्रयाण किया।

जब ३ मास के पश्चात् मार्च में सर कौलिन ने लखनऊ पर अन्तिम और निर्णायक आक्रमण करने का निश्चय किया, तब अंग्रेज़ी सरकार की सैन्य संख्या ३१ हज़ार सिपाहियों और १६४ तोपों तक पहुँच चुकी थी। चारों ओर निरन्तर सफलता मिलने से उनके दिल भी बढ़ चुके थे, उधर क्रान्तिकारियों में फूट और अव्यवस्था का दौरदौरा हो चुका था। हम देख आये हैं कि चाहे नाम की नवाबी किसी के पास हो, सिपाहियों और जनता में मौलवी अहमद शाह का सिक्का चलता था। उसका प्रभाव इतना बढ़ रहा था कि नवाब की सरकार ने उसे क़ैद करना उचित समझा। इस पर सिपाही बिगड़ उठे, और घर में विद्रोह का खतरा पैदा हो गया, जिससे घबराकर नवाब की सरकार को मौलवी की मुक्ति का हुक्म देना पड़ा। जब अंग्रेज़ी सेना ने लखनऊ पर अधिकार करने के लिए अन्तिम आक्रमण किया, तब शहर की कमान मौलवी के हाथ में थी।

क्रान्ति के सिपाही बार-बार की पराजय से बेदिल हो चुके थे। देश के अन्य स्थानों से आकर जो सिपाही लखनऊ में एकत्र हो गये, वे किसी शृंखला में न बंधे हुए होने के कारण लड़ने के काम के तो थे ही नहीं, उनके कारण रसद की कठिनाइयों में वृद्धि अवश्य हो रही थी।



लखनऊ के मौलवी अहमदशाह

ऐसा वातावरण था जब अंग्रेज़ सेनायें २ मार्च को आलम बाग़ से निकलकर दिलकुशा की ओर बढ़ीं। उन्होंने ७ दिन तक धीरे-धीरे आगे बढ़कर चक्कर कोठी, बादशाह बाग़ और कैसर बाग़ पर अधिकार कर लिया। आगे बढ़ने की धीमी गति से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सब कठिनाइयों के होते हुए भी भारतीय सैनिकों ने ख़ूब डटकर मुक़ाबला किया। मौलवी अहमदशाह अपनी वाणी और तलवार से सिपाहियों में यथाशक्ति उत्साह भरने की चेष्टा करता रहा और एक बार स्वयं बेग़म लड़ाई के मैदान में उतर आई थी।

९ मार्च को सर कौलिन के व्यक्तिगत नेतृत्व में, सारी अंग्रेज़ी सेना ने, लखनऊ के शेष भाग पर धावा बोल दिया। हज़रतगंज इमामबाड़ा आदि सभी बड़ी इमारतों पर भीषण मार-काट हुई, पग-पग पर रास्ता रोकने की चेष्टा की गई, परन्तु अंग्रेज़ी सेना की प्रगति जारी रही। यह युद्ध ५ दिन तक होता रहा। एक-एक ईंट पर लाश गिरी, और रास्तों का चप्पा-चप्पा रक्त से रंजित हुआ। अन्त में १४ मार्च को बढ़ती हुई अंग्रेज़ी सेनाओं ने राजमहलों पर कब्ज़ा कर लिया।

कैसर बाग़ पर अंग्रेज़ों का अधिकार हो जाने के पश्चात् भी चार दिन नगर के कई भागों में संघर्ष जारी रहा। नगर के कई आवश्यक भाग सर कौलिन को दूसरी और तीसरी बार जीतने पड़े। अन्त में १८ तारीख़ को अंग्रेज़ी सेना के केन्द्र-स्थान से यह घोषणा की गई कि सम्पूर्ण लखनऊ पर अंग्रेज़ी सरकार का फिर से अधिकार हो गया है। बचे हुए सहस्रों क्रान्तिकारी सैनिक अंग्रेज़ी सेना के घेरे को तोड़कर बाहर निकल गये, और अवध भर में फैल गये।

अंग्रेज़ी सेना के हाथों से बचकर अवध में फैल जाने वाले क्रान्तिकारियों में मौलवी अहमदशाह भी था। मौलवी का यह संकल्प था कि जब तक जीऊँगा, फिरंगियों के विरुद्ध जिहाद जारी रखूंगा। अंग्रेज़ भी अपने इस सबसे बड़े दुश्मन के पीछे हाथ धोकर पड़ गये। उसके सिर पर ५० हज़ार रुपयों का इनाम घोषित कर दिया। यह देश का दुर्भाग्य था कि उसमें चाँदी के टुकड़े पर धर्म बेचने वाले नराधम विद्यमान थे। जैसे मौलवी ने अवध के अन्य ताल्लुकेदारों को क्रान्ति-युद्ध में सहायता देने के लिए आवाहन किया, वैसे ही उसने पोवन की छोटी-सी रियासत के शासक राजा जगन्नाथसिंह को भी बेग़म के हस्ताक्षरों से प्रमाणित पत्र भेजकर

युद्ध क्षेत्र में उतरने की प्रेरणा दी। राजा ने पत्र का अनुकूल उत्तर देते हुए मौलवी से मिलकर बात-चीत करने की इच्छा प्रकट की, जिस पर मौलवी अहमदशाह हाथी पर सवार होकर और बहुत से सैनिकों को साथ लेकर पोवन के क़िले के द्वार पर पहुँच गया। जब मौलवी का हाथी वहाँ पहुँचा, तो क़िले का द्वार बन्द मिला। मौलवी ने देखा कि मिलकर बात चीत करना तो दूर रहा, राजा जगन्नाथ और उसका भाई मोर्चे पर लड़ाई के लिए तैयार खड़े हैं। शाह को यह देखकर क्रोध आ गया। उसने अपने महावत को हुक्म दिया, कि हाथी को आगे बढ़कर दरवाज़े पर ऐसी टक्कर लगाओ कि वह टूट जाय। इस, पर महावत ने हाथी को अंकुश लगाया ही था कि राजा जगन्नाथसिंह के भाई ने बन्दूक तान कर निशाना लगाया। वह बहुत मशहूर निशानेबाज था। पहली ही गोली मौलवी की छाती को पार कर गई, और उसकी लाश हौदे में गिर गई।

भाइयों ने इतने पर ही सन्तोष नहीं किया। वह दरवाज़ा खोलकर बाहिर आ गये, और अहमदशाह की लाश को उठाकर उसका सिर काट लिया, जिसे लेकर वे अंग्रेज़ी सेना के उपनिवेश में उपस्थित हुए। अंग्रेज़ अफ़सर ने राजा जगन्नाथसिंह को न केवल पीठ पर थपकी देकर संतुष्ट किया, अहमदशाह के सिर के लिए रखा हुआ ५० हज़ार रुपयों का पारितोषिक भी प्रदान कर दिया।

संसार की ऐसी गति है। आज न मौलवी अहमदशाह का शरीर जीवित है, न जगन्नाथसिंह का। दोनों अन्तिम गति को प्राप्त हो गये। भेद इतना ही है कि जहाँ वीर अहमदशाह का नाम देश के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा हुआ है, वहीं जगन्नाथसिंह के नाम के चारों ओर एक काली रेखा खींचकर आगे लिखा हुआ है—'देशद्रोही'।

बहत्तरवाँ अध्याय

बिहार के राजा कुमारसिंह

अब हम, उत्तर प्रदेश से आगे, बिहार में विद्रोह के विस्फोट और दमन का इतिहास सुनाते हैं। वह इतिहास हमारे इस विचार की पुष्टि करता है कि यदि सन् '५७ की क्रान्ति का नेतृत्व किसी एक कुशल, दूरदर्शी और साहसी नेता के हाथ में होता तो स्वाधीनता को भारत में अवतीर्ण होने के लिए लगभग एक शताब्दी तक प्रतीक्षा न करनी पड़ती। क्रान्ति सफल हो जाती और अंग्रेज़ तभी विदा हो जाते। बिहार की घटनाओं ने यह स्पष्ट कर दिया था कि योग्य सेनापति थोड़ी सेना और उससे भी थोड़ी युद्ध-सामग्री के साथ कैसे चमत्कार करके दिखा सकता है?

जब मेरठ में विद्रोह होने का समाचार बिहार की राजधानी पटना में पहुँचा तब वहाँ के कमिश्नर मि० टेलर ने अपने चारों ओर भी दृष्टि डाली। उसने देखा कि उसके अधिकार-क्षेत्र में भी काफ़ी बारूद भरा हुआ है। विशेष रूप से वहाबी सम्प्रदाय के मुसलमानों को अंग्रेज़ी सरकार उन दिनों बहुत सन्देहपूर्ण दृष्टि से देखती थी। पटना में उस सम्प्रदाय का जोश था। मि० टेलर ने परिस्थिति को बिगड़ने से बचाने के लिए २०० सिख सिपाहियों को पटने में बुला लिया, और उनकी सहायता से धर-पकड़ प्रारम्भ कर दी।



बिहार के राजा कुमारसिंह

सबसे पहले तिरहुत के पुलिस जमांदार वारिस अली को सरकार के विरुद्ध षड्यन्त्र बनाने के अपराध में गिरफ़्तार करके फाँसी पर चढ़ाया गया, फिर उसके साथी अली करीम को पकड़ने की योजना बनाई गई, परन्तु जब अंग्रेज़ अफ़सर हाथी पर चढ़कर भागते हुए अली करीम को पकड़ने में समर्थ न हुए तब मि० टेलर ने अपना क्रोध तीन मौलवियों पर निकाला, जिन्हें उसने बातचीत के लिए अपने घर पर बुलाकर धोखे से गिरफ़्तार कर लिया था।

मि० टेलर ने समझा था कि इतने नेताओं को अकस्मात् दबोच लेने से पटना में शान्ति हो जायगी, परन्तु उसे आश्चर्य हुआ जब उसे यह मालूम हुआ कि अनेक व्यक्तियों के पकड़े जाने पर भी विद्रोह का जाल निरन्तर फैल रहा है। जाँच करने पर टेलर को पता लगा

कि पीर अली नाम का एक जिल्दसाज़ षड्यन्त्र का नेता है। रात के समय, सिपाहियों के अगुआ उसके घर पर एकत्र होकर योजनायें बनाते थे। एक बार जिहादियों का एक दल पीर अली के नेतृत्व में 'दीन बोलो, दीन' का नारा लगाता हुआ गिर्जे पर आक्रमण करने जा रहा था कि रास्ते में लायल नाम का अंग्रेज मिल गया। उसे देखते ही पीर अली ने उस पर गोली चलाई, जिससे वह वहीं मर गया। यह समाचार पाकर अंग्रेज़ अफ़सर की कमान में सिखों की एक टुकड़ी वहाँ पहुँच गई, कुछ लोग भाग गये, शेष पकड़े गये, जिनमें पीर अली भी था।

पीर अली पर लायल की हत्या का अभियोग लगाकर उसे मृत्यु-दण्ड दिया गया। पीर अली ने जिस धैर्य और वीरता से मृत्यु का सामना किया, उसे देखकर शत्रु भी आश्चर्य में पड़ गये। जिन लोगों ने उसे फाँसी पर चढ़ते देखा, उन्होंने लिखा है कि वह निर्भय और निश्चल होकर फाँसी के तख्ते पर जा खड़ा हुआ। कहते हैं, अन्त में उसने जो शब्द कहे उनका आशय यह था कि—"तुम मुझे फाँसी पर लटका सकते हो, मेरे जैसे कुछ और लोगों को मार सकते हो, परन्तु तुम हमारी महत्त्वाकांक्षा को नहीं मार सकते। मैं तो मर जाऊँगा, परन्तु मेरे रक्त से हज़ारों ऐसे जांबाज़ पैदा होंगे, जो तुम्हारी सल्तनत का नाश कर देंगे।"

मि० टेलर ने पीर अली के सम्बन्ध में लिखा है—

"पीर अली बहुत ही साहसिक और दृढ़ निश्चय वाला व्यक्ति था। वह देखने में भद्दा था, उसके चेहरे पर क्रूरता और रूखेपन की झलक थी, परन्तु साथ ही वह शान्त और आत्मसंयमी होने के कारण भाषा और आकृति में अत्यन्त रोबदार था। वह उन व्यक्तियों में से था, जिनका अजेय कट्टरपन उन्हें ख़तरनाक दुश्मन बना देता है, और जिनकी कठोर इच्छा-शक्ति उन्हें लोगों के लिए प्रशंसा और आदर का पात्र बना देती है।"

पीर अली की भविष्यवाणी सच्ची सिद्ध हुई। इधर उसका शरीर फाँसी की रस्सी से लटक रहा था, और उधर छावनी में सिपाही विद्रोह का झण्डा खड़ा कर रहे थे।

२५ जुलाई, १८५७ के दिन दानापुर और सिगोवली की सेनाओं ने विद्रोह की घोषणा कर दी, और बे रोक-टोक दो दिशाओं में चल दिये। कुछ सिपाही पटने की ओर रवाना हो गये परन्तु अधिकतर विद्रोहियों ने जगदीशपुर की दिशा में प्रस्थान किया, क्योंकि वहाँ के राजा कुमारसिंह ने अंग्रेजी शासन का पट्टा गले से उतारकर फेंक दिया था। बिहार के क्रान्तिकारियों ने अपने नेतृत्व के लिए उसी का वरण किया।

राजा कुमारसिंह ने जिस राजपूत वंश में जन्म लिया था, वह चिरकाल से जगदीशपुर की रियासत का शासन करता आ रहा था। जब क्रान्तिरूपी अग्नि की ज्वालायें फैलती-फैलती बिहार तक पहुँचीं, तब कुमारसिंह की आयु ८० वर्ष के लगभग थी। ८० वर्ष की आयु को प्रायः मृत्यु की गोद समझा जाता है। यों भी कुमारसिंह का व्यवहार अंग्रेज अफ़सरों से तथा अन्य सभी लोगों से बहुत शिष्टाचारपूर्ण था, इस कारण अंग्रेज़ी सरकार के बड़े अफ़सर उसकी ओर से बहुत-कुछ निश्चिन्त थे। फिर भी जब सिपाहियों में बेचैनी के चिन्ह दिखाई दिये, तब यह सोचकर कि इस शेर को भी पिंजरे में बन्द कर लेने में ही भला है, मि० टेलर ने निमन्त्रण के रूप में एक जाल फेंका। उसने कुमारसिंह को लिखा—

"आप बहुत बूढ़े हो गये, और आपकी सेहत भी अच्छी नहीं, मेरी प्रबल अभिलाषा है कि आपके शेष जीवन में मैं आपके सम्पर्क में रहूँ। मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी यदि आप मेरा आतिथ्य स्वीकार करेंगे। इस आशा के साथ कि आप मेरे निमन्त्रण को अस्वीकार नहीं करेंगे···"

कुमारसिंह कोरा राजपूत नहीं था। उसकी प्रकृति में राजपूती वीरता पर मराठों की-सी चतुराई का पैबन्द लगा हुआ था। उसने उत्तर भेजा—

"बहुत-बहुत धन्यवाद! आपका यह कहना ठीक है कि मेरी सेहत अच्छी नहीं रहती, और इसी कारण मै पटना तक जाने में असमर्थ हूँ। जब मेरा स्वास्थ्य कुछ अच्छा होगा, तब मैं पटने पहुँचने का यत्न करूँगा।···"

राजपूत ने टेलर का निमन्त्रण स्वीकार न करते हुए भी अपने वचन का पालन किया। तैयारी हो जाने पर उसने पटना की ओर प्रस्थान किया—परन्तु टेलर की टेबुल पर भोजन करने या धोखे से कैदी होने के लिए नहीं, अपितु पटने में स्वराज्य की ध्वजा गाड़ने के लिए। ८० वर्ष के बूढ़े योद्धा का ऐसी शक्तिशाली सरकार से टक्कर लेने का संकल्प जितना आश्चर्यजनक था, उतना ही साहसपूर्ण भी था। एक बार तो अंग्रेज़ अफ़सर उससे बड़ी उलझन में पड़ गये, जब अकस्मात् उन्होंने सुना कि राजा कुमारसिंह, रणक्षेत्र में उतर आया है, और क्रान्तिकारियों की सेना के साथ पटने पर चढ़ाई कर रहा है।

पहला मोर्चा आरा में जमा। क्रान्तिकारियों के दल ने जगदीशपुर से आगे बढ़कर आरा पर आक्रमण कर दिया। वहाँ का ख़ज़ाना लूट लिया गया, जेल तोड़ दिये गये, और यूनियन जैक जला दिया गया। आरा में एक छोटा-सा क़िला था, उसमें ५० सिख और २५ अंग्रेज़ सिपाही थे, वे घेरे में आ गये। इस घेरे की एक घटना बहुत मनोरंजक है। क़िला छोटा होने के कारण उसमें पानी का भण्डार भी थोड़ा था। जब वह समाप्त होने पर आया तो गोरे सिपाही बहुत घबराने लगे। तब सिखों ने अपनी प्रबल राजभक्ति और परिश्रमी स्वभाव का परिचय देते हुए २४ घण्टों में एक नया कुआ खोदकर तैयार कर दिया। यह घेरा तीन दिन तक चलता रहा। तीसरे दिन अंग्रेज़ और सिख सिपाहियों के मिले हुए एक दल को लेकर कैप्टेन डनबाट उद्धार के लिए आ पहुँचा। किश्तियों से सोन नदी को पार करके वह दल आमों के एक बाग़ में से होकर आरा की ओर जाने लगा। नदी पार करने पर चारों ओर दृष्टि दौड़ाई तो कैप्टन डनबाट को यह जानकर सन्तोष हुआ कि शत्रु का कोई चिन्ह नहीं है। उसने निश्चिन्त होकर अपने दल को आम्रोद्यान में घुसने की आज्ञा दे दी। दल का आम्रोद्यान में घुसना था कि उसके पेड़ और झुरमुट दनादन गोलियाँ बरसाने लगे। जिस चीज की अंग्रेज़ अफ़सर एक हिन्दुस्तानी से आशा नहीं रखते थे, कुमारसिंह ने उसी का परिचय दिया। वह चीज़ थी युद्ध में नीति का प्रयोग। हिन्दुस्तानी वीर, और विशेषतः राजपूत योद्धा सामने की लड़ाई जानते थे—उसमें दाव-पेच या नीति का प्रयोग कम करते थे। कुमारसिंह उन दोनों में अत्यन्त निपुण था। जब अचानक आम्रवाटिका का प्रत्येक वृक्ष आग बरसाने लगा तो अंग्रेज़ी सेना के छक्के छूट गये। पहली बाढ़ में मरने वालों में

कैप्टेन डनबाट भी था। वे लोग जंगल में से निकलकर सोन की ओर भागे, पर वहाँ भी बच न सके। क्रान्ति के सिपाहियों ने उनका नदी तक पीछा किया। वहाँ पहुँचकर बचे हुए आदमी नौकाओं में बैठकर भागने लगे तो शेष नौकायें रेत में फँस गईं। केवल बची हुई दो नौकाओं की सवारियों को छोड़कर दल के सब सिपाही धराशायी हो गये।

जब आरा में डनबाट के दल का सर्वनाश हो रहा था, तब अंग्रेज़ अफ़सर मेजर आयर आरा के उद्धार के लिए तोपखाने और बहुत से सैनिकों के साथ बक्सर से रवाना हो चुका था। यह अगस्त की दूसरी तारीख़ की घटना है। जनरल आयर बड़ी तेज़ गति से, आरा की ओर बढ़ रहा था, और आशा रखता था कि साँझ तक या दूसरे दिन लक्ष्य पर पहुँचकर घिरी हुई टुकड़ी को छुड़ा लेगा कि कुमारसिंह के सिपाहियों ने उसका रास्ता रोक लिया। ख़ूब जमकर लड़ाई हुई। एक बार तो क्रान्ति दल ने ऐसा धक्का दिया कि अंग्रेज़ी सेना के पाँव उखड़ने लगे। कैप्टेन हेस्टिंग्ज़ ने, जो पैदल सेना का सेनानी था, मेजर को सूचना दी कि हमारे पैदल सिपाहियों को पीछे धकेला जा रहा है। सम्भव है हमें पीछे हटना पड़े। इस पर मेजर आयर ने युद्ध के उस यन्त्र का प्रयोग किया, जिसका उत्तर कम से कम उस समय, भारतीय सेना के पास नहीं था। उसने पूने की पल्टन को हुक्म दिया कि शत्रु पर संगीनों से वार करो। अंग्रेज सिपाहियों द्वारा संगीनों का वार उस समय अमोघ माना जाता था। न जाने क्यों, भारतीय सिपाही जमे हुए पाँव, और तनी हुई छातियों से बढ़ती हुई अंग्रेज़ सेना की नुकीली संगीनों का सामना करने से घबराते थे। न जाने सन् ५७ की कितनी छोटी-छोटी लड़ाइयों में अंग्रेज़ों ने केवल संगीनों की मार से विजय प्राप्त की। जब ५वीं पल्टन, संगीनों की नोकें आगे करके नपे हुए क़दमों से बढ़ने लगी तो कुमारसिंह के सिपाही भी देर तक खड़े न रह सके। वह तितर-बितर हो गये। रास्ता पाकर आयर की सेना ने क़िले में पहुँचकर अपने साथियों का उद्धार कर दिया।

आरा के युद्ध में हारकर भी कुमारसिंह ने हिम्मत नहीं हारी। अपनी बची हुई शक्ति को लेकर वह जगदीशपुर की ओर चला गया, जहाँ वह बहुत सी शक्ति का संग्रह करके युद्ध को जारी रखना चाहता था। उधर आयर भी सचेत था। उसने अपनी जीत से पूरा लाभ उठाया, और क्रान्तिकारियों की बिखरी हुई सेनाओं में से होता हुआ सीधा कुमारसिंह की राजधानी के पास जा पहुँचा। उस समय वीर कुमारसिंह के सामने दो ही मार्ग खुले थे। या तो वह जगदीशपुर में घिरकर लम्बे घेरे और अन्त में पराजय और मृत्यु की प्रतीक्षा करता, या अपने महलों का मोह छोड़कर युद्ध को जारी रखने के लिए खुले क्षेत्र में निकल जाता। यह उस ८० वर्ष के राजपूत युवा की निष्कलंक शूरता और दूरदर्शिता का प्रमाण था कि उसने अपनी राजधानी के मोह को लात मारी, और देश की स्वाधीनता का युद्ध लड़ने के लिए जंगल का रास्ता लिया। राजा कुमारसिंह ने उस समय जो वीरतापूर्ण पग उठाया, वस्तुतः उससे उसका महाराणा प्रताप के सजातीय होने का गौरव, अमिट अक्षरों में इतिहास के पृष्ठों पर अंकित हो गया।

१४ अगस्त को, मेजर आयर ने, जगदीशपुर के खाली महलों पर अधिकार करके

उन पर अंग्रेज़ी सेना का झण्डा फहरा दिया।

कुमारसिंह, अपने भाई अमरसिंह, परिवार के शेष सदस्यों तथा क्रान्ति के उन सिपाहियों को साथ लेकर जिन्होंने अन्त तक पन निभाने की प्रतिज्ञा की, जंगलों में चला गया। वहाँ जाकर उसने गुरिल्ला युद्ध का जाल फैला दिया। अस्सी वर्ष का बूढ़ा राजपूत पच्चीस वर्ष के युवा सैनिक की शक्ति और फुर्ती से लड़ रहा था। अंग्रेज़ सेनापति उससे परेशान थे। क्रान्ति की सेनाओं में एक कुमारसिंह ही ऐसा नेता था, जिसकी युद्ध-नीति और चतुराई की प्रशंसा करने के लिए अंग्रेज़ अफ़सरों को भी बाधित होना पड़ा है। उनके लिए वह कहीं भी नहीं था, और सब जगह था। उन दिनों उस प्रदेश में अंग्रेज़ सेनापतियों को सब झाड़ियों और पेड़ों के पीछे कुमारसिंह की बन्दूकों की नली दिखाई देने लगी थी।

अंग्रेज़ों ने बिहार को कुमारसिंह के आक्रमणों से बचाने की बहुत सन्तोषजनक व्यवस्था करके सन्तोष का साँस लिया ही था कि उन्हें समाचार मिला कि शेर जंगल से बच निकला है, और अवध के शहरों पर झपट रहा है। वह चुपचाप अवध में दूर तक निकल गया। उसका लक्ष्य बहुत विशाल था। वह रास्ते के शहरों को जीतता हुआ बनारस और इलाहाबाद पर पंजे गाड़ना चाहता था। अंग्रेज़ों को उसकी प्रगति की तब ख़बर लगी जब वह आजमगढ़ से २५ मील दूर अतरौलिया पहुँच चुका था।

कुमारसिंह के अतरौलिया पहुँचने का समाचार मिलने पर, पटना से गोरी सेना की एक टुकड़ी, तोपों से सन्नद्ध होकर, उस पर आक्रमण करने के लिए जा पहुँची। यह लड़ाई २२ मार्च, १८५८ के दिन के समय हुई। पहली टक्कर में अंग्रेज़ों को सफलता मिली। उन्होंने कुमारसिंह की सेना के अग्रभाग को शीघ्र ही तोड़-फोड़ दिया। ऐसी सुलभ सफलता पाकर अंग्रेज सिपाहियों की खुशी का ठिकाना न रहा, और वह 'चालाक कुमारसिंह' को पहली ही चोट में पस्त करने की प्रसन्नता मनाने में लग गये।

इतने में कुमारसिंह अपनी मुख्य सेना को लेकर उन पर जा टूटा। उस समय अंग्रेज सेना की बहुत दुर्दशा हुई। कुमारसिंह ने चारों ओर ऐसी मोर्चाबन्दी की थी, कि भागते हुए अंग्रेज सिपाहियों पर ईख के खेतों में से भी गोलियों की बौछार हो रही थी। बहुत से गोरे सिपाही मारे गये। जो थोड़े से बच निकले उन्होंने कोसिला की छावनी में दम लिया। परन्तु वहाँ भी उन्हें चैन न मिला। कुमारसिंह के सिपाही उन्हें खदेड़ते चले आ रहे थे। अन्त में अंग्रेज सेनापति मिलमैन को युद्ध का सब सामान छोड़कर कैम्प से भी भागना पड़ा। अन्त में उसने आजमगढ़ की मज़बूत अंग्रेज़ छावनी में शरण ली।

मिलमैन के भगोड़े गोरों का पीछा करता हुआ कुमारसिंह आजमगढ़ पर जा टूटा। उस समय अंग्रेज़ों पर उस वीर राजपूत का आतंक इस बुरी तरह छा गया था कि क्रान्तिकारियों की सेना से आक्रमण का समाचार सुनते ही वे लोग बोरिया-बदना उठाकर आजमगढ़ से भी निकल भागे। मार्च के अन्त में उस प्रदेश में स्थिति ऐसी बन गई थी कि कुमारसिंह शिकारी बन गया था, जिसके आगे गोरे सिपाही शिकार की भाँति भागते दिखाई देते थे।

कुमारसिंह आजमगढ़ में रुका नहीं। वहाँ घिरे हुए अंग्रेज़ों की देख-भाल के लिए सेना की एक छोटी-सी टुकड़ी छोड़कर वह सीधा बनारस की ओर झपट चला। अब तो गवर्नर-जनरल का भी सिंहासन डोल गया। 'इण्डियन म्यूटिनी' के चौथे भाग में मैलिसन ने लिखा है—"यह जानते हुए कि कुमारसिंह किस तरह का आदमी है, वह कितना साहसी और बहादुर है, और युद्ध में समय का मूल्य जानता है, लार्ड कैनिंग ने एकदम परिस्थिति की गम्भीरता को समझ लिया।" और प्रधान सेनापति मार्क कर को हुक्म दिया कि वह स्वयं कुमारसिंह को दमन करने के लिए आगे बढ़े।

लार्ड कर एक सुसंगठित सेना, और प्रबल तोपख़ाना लेकर शीघ्र ही आजमगढ़ के समीप पहुँच गया। एक ओर ब्रिटिश राज्य का साधनसम्पन्न प्रधान सेनापति, सुनियन्त्रित सेना और तोपख़ाने से सन्नद्ध होकर मैदान में उतर रहा था, और दूसरी ओर ८० वर्ष का बूढ़ा, परन्तु साहस और देशभक्ति के बल से युवाओं से भी अधिक ओजस्वी वीर अनघड़ सिपाहियों की एक विशाल भीड़ को लिये उसके मुक़ाबले के लिए खड़ा था। उसके पास न तोपख़ाने का सहारा और न कुमुक पहुँचने की आशा। केवल अपने अदम्य उत्साह और रण-कुशलता के भरोसे पर कुमारसिंह मार्क कर जैसे क्रिमियन युद्ध के मँजे हुए सेनापति से लोहा लेने के लिए तैयार हो गया।

अंग्रेज़ी सेना ने क्रान्ति के सैन्य पर सीधा आक्रमण किया। कुमारसिंह ने ऐसी चतुराई से व्यूह रचना की कि जहाँ उसकी सेना का एक भाग सामने की ओर जमकर लड़ता रहा, वहाँ मुख्य भाग धीरे-धीरे चुपचाप घेरा डालता हुआ अंग्रेज़ी सेना के बिल्कुल पिछवाड़े पर पहुँच गया। जब मार्क कर को मालूम हुआ कि उसकी सेना पर आगे और पीछे दोनों ओर से गोलियों की बौछार हो रही है, तो वह बड़ी उलझन में पड़ा। अंग्रेज़ी सेना में कुछ हाथी भी थे, पीछे की गोलियों ने उनके होश गुम कर दिये। वह महावतों को लेकर भागे। तोपची यह निश्चय न कर सके कि तोपों का मुँह आगे करें या पीछे। जब परिस्थिति ऐसी विषम हो गई, तब मार्क कर को पता चला कि कुमारसिंह ने अपनी सेना का मुख्य भाग उसके पीछे की ओर पहुँचा दिया है। मार्क कर भी बहुत चतुर सेनानायक था। उसने झट ताड़ लिया कि यदि इस विकट परिस्थिति में जल्दी उद्धार न किया गया तो सारी सेना घिरकर नष्ट हो जायगी। उसने कुमारसिंह की मुख्य सेना की ओर पीठ कर ली, और पूरे वेग से आगे की ओर—अर्थात आजमगढ़ की ओर—बढ़ गया। उधर भारतीय सेना का केवल पर्दा ही शेष था, मुख्य सेना पीछे पहुँच चुकी थी। फलतः मार्क कर कुमारसिंह की मार से बचकर आजमगढ़ पहुँचने में सफल हो गया। वहाँ जाकर उसे न केवल सिर छुपाने को सुरक्षित स्थान मिल गया, घिरे हुए साथियों के उद्धार का अवसर भी प्राप्त हो गया।

अब कुमारसिंह के सामने दो विकल्प थे। या तो वह आजमगढ़ में पहुँचे हुए अंग्रेज़ सैन्य का घेरा डालकर लम्बे थकाने वाले युद्ध का सूत्रपात करता, अथवा किसी ऐसी दिशा में आक्रमण करता, जिसका शत्रु को स्वप्न भी नहीं आ सकता था। कुमारसिंह ने एक अत्यन्त चतुर सेनानायक की भाँति समझ लिया था कि पहला रास्ता संकटपूर्ण है। एक तो यह कि

उसके पास जो सेना थी, वह संख्या में अधिक होती हुई भी नियन्त्रण-सूत्र में न बँधी होने के कारण नियन्त्रित ब्रिटिश सेना का सीधा मुक़ाबला नहीं कर सकती थी। संगीनों की लड़ाई में यह सिद्ध हो चुका था। दूसरी बात यह थी कि अंग्रेज़ी सेना की टुकड़ियाँ देश में चारों ओर फैली हुई थीं, जो आवश्यकतानुसार एक दूसरी की सहायता के लिए पहुँचती रहती थीं। उस समय भी आजमगढ़ के उद्धार के लिए, लुगार्ड की कमान में ब्रिटिश फ़ौज का एक दस्ता बड़ी तेज़ी से आगे बढ़ रहा था। घेरा डालकर शत्रु को नष्ट करने के लिए बड़ी तोपों का होना अनिवार्य था, और उनका कुमारसिंह के पास सर्वथा अभाव था। सबसे बड़ी निर्बलता यह थी कि उसे विद्रोह के किसी अन्य केन्द्र या नेता से किसी प्रकार की सहायता की आशा नहीं थी। क्रान्ति के अन्य सब नेताओं की भाँति वह भी एकाकी अपनी लड़ाई लड़ रहा था। इन कारणों से आजमगढ़ पर घेरा डालने के प्रलोभन का त्याग करके कुमारसिंह ने एक ऐसी चाल चली कि शत्रु भी न केवल 'वाह वाह' पुकार उठा—कम से कम एक बार तो पूरी मात खा गया। उसने बनारस का मार्ग छोड़कर अपनी रियासत की राजधानी जगदीशपुर के उद्धार का संकल्प कर लिया।

उस संकल्प को पूरा करना आसान नहीं था। यह स्पष्ट था कि यदि वह आजमगढ़ के पास से हटता तो लार्ड मार्क कर अपनी सम्पूर्ण शक्ति का प्रयोग करके उसके रास्ते को रोक देता, और लुगार्ड के नेतृत्व में जो सेना आजमगढ़ के उद्धार के लिए आ रही थी, वह उसे घेर कर नष्ट कर देती। जगदीशपुर की ओर झपटने के लिए अनिवार्य था कि अंग्रेजी सेना को एक नम्बर का चकमा दिया जाता। अंग्रेज़ लेखकों ने दाँतों-तले अँगुली दबाकर स्वीकार किया है कि उस वर्ष के बूढ़े राजपूत वीर को, अनुभवी और निसर्ग-धूर्त अंग्रेज़ सेनापतियों को धोखा देने में पूरी सफलता प्राप्त हुई।

आजमगढ़ के पास तानू नाम की नदी बहती है। लुगार्ड की सेना उसके पुल को पार करके शहर में आने का विचार कर रही थी। जब वह पुल के पास आई तो देखा कि दूसरी ओर क्रान्तिकारियों का मोर्चा बना हुआ है। अंग्रेज़ सेनापतियों का यह समझ लेना स्वाभाविक था कि कुमारसिंह तानू के पुल पर लड़कर, अपनी आजमगढ़ की स्थिति को मजबूत बनाना चाहता है। उनका ध्यान पुल की ओर केन्द्रित हो गया। वहाँ घमासान लड़ाई जारी हो गई। शत्रु की इस व्यवस्था से लाभ उठाकर कुमारसिंह ने क्या किया कि अपनी शेष सब सेना को समेटकर चुपके से गाजीपुर की ओर कूच कर दिया। उसकी योजना यह थी कि तीव्र गति से गाजीपुर पहुँचकर गंगा को पार किया जाय, और वहाँ से दौड़ लगाकर शत्रु सेनाओं के पहुँचने के पहले जगदीशपुर पर फिर से अपना झण्डा फहरा दिया जाय। पुल पर लड़ने वाली अपनी सेना को उसने इशारा दे रखा था कि जब शेष सारी सेना काफ़ी दूर निकल जाय, तब सूचना पाकर तुम लोग भी दौड़ लगाकर उसमें आ मिलना। कुमार-सिंह को अपनी योजना पूरी करने में पूरी सफलता मिली। जब लुगार्ड यह समझकर पुल से पार हुआ कि अब शत्रु को चारों ओर से घेरकर नष्ट करने का बहुत अच्छा अवसर मिलेगा, तब वह और मार्क कर दोनों यह जानकर स्तब्ध रह गये कि कुमारसिंह की सेना जगदीशपुर की

दिशा में कोसों दूर तक जा चुकी हैं। अंग्रेज़ इतिहास-लेखक मैलिसन ने लिखा है—"उन लोगों (भारतीय सैनिकों) ने किश्तियों के पुल की जिस दृढ़ता और धैर्य से रक्षा की वह पुराने अनुभवी सैनिकों के योग्य थी और जब तक उन्हें निश्चय न हो गया कि उनके साथी सुरक्षित स्थान पर पहुंच गये हैं, वे पीछे न हटे।" जब पीछे हटे तब अंग्रेज़ सेनापति ने देखा कि चिड़िया उड़कर बदुत दूर जा चुकी है।

परन्तु कुमारसिंह का डांगा की ओर जा सकना अंग्रेज़ों के लिए न केवल सैनिक दृष्टि से खतरनाक था, अपमानजनक भी था। कैप्टन लुगार्ड को आदेश मिला कि वह शत्रु का रास्ता रोकने का यत्न करे। लुगार्ड अपने दस्ते को लेकर १२ मील चला गया, तब भी कुमारसिंह की सेना का कोई निशान न मिला, और जब और आगे जाकर मिला तो भारतीय सेना युद्ध के लिए बिल्कुल तैयार थी। लुगार्ड के लिए उसका रास्ता रोकना तो क्या देर तक सामने खड़े रहना भी सम्भव नहीं था। इस अवसर से लाभ उठाकर कुमारसिंह की सेनायें गंगा के और भी समीप जा पहुँचीं।

अंग्रेज़ सेनापति भी चुप नहीं था। उसने डगलस के नेतृत्व में एक बड़ी सेना रवाना की जिसने गंगा से कुछ दूर भारतीय सेना को रोकना चाहा। उस समय लम्बी लड़ाई में पड़ने का अभिप्राय था, गंगा पार करने में विलम्ब, जो कुमारसिंह की सारी योजना को उलट देता, इस कारण उस चतुर सेनानी ने फिर युद्ध-नीति का ऐसा कुशल प्रयोग किया कि अंग्रेज़ सेनापति चक्कर खा गये। उसने अपनी सेना को दो भागों में बाँटकर पृथक् रास्तों में गंगा की ओर प्रगति जारी रखने का आदेश दिया और अंग्रेज़ी सेना के सामने सिपाहियों का एक ऐसा पर्दा सा बनाये रखा कि वे वहीं उलझे रहे। जब अंग्रेज़ सेना पर्याप्त दूरी पर पीछे रह गई तब भारतीय सेना के दोनों भाग फिर इकट्ठे होकर गंगा की ओर बढ़ने लगे।

१७ अप्रैल की रात को दोनों सेनाओं ने एक-दूसरे के पास ही पास डेरा किया। डगलस का विचार था कि दूसरे दिन प्रभात में ही कुमारसिंह पर छापा मार देगा, परन्तु जब वह छापा मारने की तैयारी करने लगा तो उसे मालूम हुआ कि बूढ़े कुमारसिंह की सेनायें १३ मील दूर जा चुकी हैं। कुमारसिंह ने अंग्रेज़ी फ़ौज की नींद से लाभ उठाकर आधी रात के समय ही कूच बोल दिया था। परिणाम यह हुआ कि उसे घोघरा (Ghogra) नदी पार करके गाज़ीपुर ज़िले में घुसने का खुला अवसर मिल गया। वहाँ उसने मनोहर नाम के गाँव पर पहुँचकर अपनी थकी हुई सेना को थोड़ा-सा विश्राम देने का निश्चय किया।

परन्तु रणक्षेत्र में विश्राम कहाँ? कुमारसिंह के पहुँचने के थोड़ी ही देर बाद डगलस भी 'मनोहर' पर जा धमका, और एकदम लड़ाई छेड़ दी। कुमारसिंह सोया हुआ नहीं था, उसने पहले ही व्यवस्था कर छोड़ी थी। शत्रु का सम्पर्क होते ही भारतीय सेनायें कई टुकड़ियों में बँटकर इधर-उधर फैल गईं। अंग्रेज़ी सेना फिर हवा से लड़ने लगी, और यह जानने के लिए रुक गई कि आखिर शत्रु गया कहाँ? शत्रु की इस क्षणिक दुविधा से लाभ उठाकर कुमारसिंह के सिपाही अनेक रास्तों से होकर गंगातट के समीप एक निश्चित केन्द्र पर एकत्र हो गये, और फिर आगे बढ़ने लगे।

अन्त में कुमारसिंह के सिपाही दौड़ में जीतकर अंग्रेज़ी सेना से कुछ पहले ही गंगा-तट पर पहुँच गये। अब मुख्य प्रश्न था कि गंगा को पार कहाँ, और कैसे किया जाय? शत्रु सिर पर खड़ा हो, ऐसी दशा में गंगा जैसी विशाल नदी को पार करना हँसी-खेल नहीं था। काम बहुत कठिन था, परन्तु उस चतुर और साहसी वृद्ध राजपूत के लिए वह भी आसान हो गया। कुमारसिंह के आदमियों ने ज़िले भर में यह प्रसिद्ध कर दिया था कि नौकायें मिलने में कठिनाई होने के कारण भारतीय सेनायें बलिया के समीप गंगा को हाथियों द्वारा पार करेंगी। डगलस इस समाचार पर विश्वास करके दल-बल सहित बलिया जा पहुंचा, और वहाँ भारतीय सेनाओं की प्रतीक्षा करने लगा।

उधर उसी समय कुमारसिंह के सिपाही, बलिया से ७ मील नीचे, शिवपुरी गाँव के निकट, नौकाओं द्वारा नदी पार कर रहे थे। जब डगलस तक यह समाचार पहुँचा तो वह खिसियानी बिल्ली की तरह झुंझलाकर उधर लपका, परन्तु जब वह वहाँ पहुँचा तो सिवाय एक के बाकी सब नौकायें गंगा में तैर रही थीं, या पार लग चुकी थीं। केवल एक नौका शेष थी, जिस पर कब्जा करके डगलस को सन्तोष कर लेना पड़ा।

गंगा को पार करते समय एक ऐसी रोमांचकारी घटना हुई, जिसने कुमारसिंह के अत्यन्त उज्ज्वल चरित्र को और भी चार चाँद लगा दिये। जिस समय वह नौका, जिसमें राजा कुमारसिंह गंगा को पार कर रहे थे, मध्य धारा में पहुँची, शत्रु के निशानचियों की दृष्टि उन पर पड़ गई। ताककर मारी हुई एक गोली आई और वीर की कलाई में घुस गई। गोली अन्दर हो रह गई, इससे यह भय हुआ कि गोली का विष सारे शरीर में न फैल जाय, इस विचार से अस्सीवर्षीय राजपूत ने दूसरे हाथ में तलवार उठाई, और घायल कलाई को काटकर भगवती भगीरथी के अर्पण कर दिया। कैसा बहुमूल्य और अद्भुत था गंगाभक्त का वह अन्तिम उपहार, जो देशवासियों को दृढ़ता, वीरता और निर्भयता का अमर पाठ पढ़ा गया।

अन्त में कुमारसिंह और उसके साथी शत्रुओं के चक्रव्यूह में से निकलकर अपने जन्म-स्थान के जंगलों में पहुँच गये, जहाँ जगदीशपुर पर आक्रमण करने और उस पर फिर एकबार स्वाधीनता की ध्वजा फहराने में अधिक कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा। आठ मास के पश्चात्, २२ अप्रैल को, कुमारसिंह ने सैन्य सहित अपने महलों में प्रवेश करके सन्तोष का साँस लिया।

परन्तु वह सन्तोष क्षणस्थायी था। शीघ्र ही एक ताज़ा अंग्रेज़ी फ़ौज उसे दण्ड देने के लिए जगदीशपुर के समीप पहुँच गई। जगदीशपुर के चारों ओर घना जंगल था। लार्ड ग्राण्ड के नेतृत्व में अंग्रेज़ी सेना को उसमें से गुजरना पड़ा। वह बड़ी धूमधाम से आगे बढ़ रहा था कि कुमारसिंह की युद्ध-नीति का जाल उसके चारों ओर फैल गया। अंग्रेज़ सेनापति ने अपने आपको चारों ओर से ऐसा घिरा पाया कि जिधर जाय उधर बन्दूकें दिखाई देने लगीं। तब तो अंग्रेज़ी सेना जान बचाने के लिए बुरी तरह भागी। अंग्रेज़ों की उस भगदड़ का वृत्तान्त एक अंग्रेज़ योद्धा के शब्दों में सुनाना ही उचित होगा। चार्ल्स बैल ने भारतीय विद्रोह के इतिहास के दूसरे भाग में लिखा है—

"इसके आगे जो कुछ हुआ, उसे लिखते हुए मुझे लज्जा आती है। हम लोग युद्ध-क्षेत्र को छोड़कर जंगल से भागने लगे—और रास्ते भर शत्रु से मार खाते गये ।···इसके आगे हमारे अपमान की कोई सीमा न रही। आपत्ति का प्याला लबालब भर गया था। हमारे अन्दर लज्जा की भावना ही शेष नहीं रही थी। जिसको जिधर रास्ता मिला, उधर ही भाग निकला। आशायें पाँव-तले रौंद दी गईं। चारों ओर हाहाकार, गाली और आक्रन्दन के सिवा कुछ भी सुनाई नहीं देता था।···दवा भी नहीं मिल रही थी, क्योंकि डिस्पेंसरी पर कुमार-सिंह का कब्जा हो चुका था।···हम जंगल में ऐसे ले जाये गये जैसे जंगल में पशुओं को ले जाया जाता है।"

शत्रुओं की छाती पर कुमारसिंह की तलवार की नोंक द्वारा लिखी हुई प्रशस्ति की ये अन्तिम पंक्तियाँ थीं। आयु और युद्ध की थकान के कारण भारत माता के उस बाँके सुपूत के जीवन-दीप का तेल समाप्त हो चुका था। जगदीशपूर के जंगल में अंग्रेज़ी सेना के माथे पर लज्जाजनक और पूरी हार की काली रेखा खेंचने के तीसरे दिन, अपने महलों में, स्वाधीनता के झण्डे के नीचे, कुमारसिंह ने अपने युद्धों में क्षत-विक्षत यशस्वी शरीर का परि-त्याग करके वीर-लोक को प्रयाण किया।

कुमारसिंह की मृत्यु के पीछे, उसके भाई अमरसिंह ने कुछ समय तक युद्ध को जारी रखा। अमरसिंह भी वीर था, परन्तु एक तो उसमें कुमारसिंह की सी रणकुशलता नहीं थी, और फिर चारों ओर सफलतायें प्राप्त करके अंग्रेज़ों की शक्ति निरन्तर बढ़ रही थी, फलतः कुछ दिनों तक संघर्ष जारी रखने के पश्चात् अमरसिंह को हार मान लेनी पड़ी। अगस्त में अंग्रेज़ी सेनाओं ने सिंह से शून्य सिंह की गुफा पर फिर अधिकार कर लिया।

तेहत्तरवां अध्याय

झाँसी की रानी

हम पहले अध्याय में झाँसी के ब्रिटिश साम्राज्य में विलय का वृत्तान्त सुना चुके हैं। लार्ड डलहौजी ने भारतीय शासकों के दत्तक पुत्र को गोद लेने के अधिकार को स्वीकार न करके जिन राज्यों को आत्मसात् कर लिया था, उनमें से झाँसी का राज्य भी था। प्रचलित प्राचीन पद्धति के अनुसार अधिकारसम्पन्न शासिका रानी लक्ष्मी बाई को गद्दी से उतारकर, अंग्रेज़ी सरकार ने वहाँ अंग्रेज़ हाकिम नियुक्त कर दिया था।



झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई

मेरठ और दिल्ली में उत्पन्न हुई विद्रोह की आग जब अवध और रुहेलखण्ड को पार करती हुई आगे बढ़ने लगी, तो उसकी ज्वालायें बुन्देलखण्ड में भी प्रज्वलित हो उठीं। सन् '५७ के जून मास में बुन्देलखण्ड के अनेक केन्द्रों में अशान्ति के चिन्ह प्रकट होने लगे थे।

जून के आरम्भ से ही झाँसी में विद्यमान सरकारी फ़ौज के भारतीय सैनिकों में विद्रोह की चर्चा आरम्भ हो गई थी। कहा जाता है कि लक्ष्मण राव नाम का एक ब्राह्मण सिपाहियों में विद्रोह के बीज बो रहा था।

५ जून को झाँसी में क्रान्ति आरम्भ हो गई। उस दिन भारतीय सिपाहियों ने शहर से बाहर के दो छोटे-छोटे क़िलों पर अधिकार जमा लिया। ६ जून को छावनी के प्रायः सभी हिन्दुस्तानी सिपाही मैदान में आ गये, उन्होंने अंग्रेज़ अफ़सरों को मार डाला, और जेल को तोड़ दिया। जो थोड़े से अंग्रेज़ बचे थे, वे शहर के बड़े क़िले में इकट्ठे हो गये। विद्रोहियों ने क़िले पर भी आक्रमण कर दिया। क़िले के लोगों ने मोर्चाबन्दी करके अपनी रक्षा का प्रयत्न किया। वह रात इसी खेंचातानी में गुजर गई।

रात भर सोचकर क़िले के लोग इस परिणाम पर पहुँच गये कि अब लड़ना व्यर्थ है, क्योंकि जब तक बाहर से कोई बड़ी सहायता न पहुँचे, तब तक रक्षा का कोई साधन नहीं है। ७ जून को क़िले पर सफेद झण्डा फहरा दिया गया, और तीन प्रतिनिधियों को हथियार रखने की शर्तें तय करने के लिए बाहर भेजा गया। अंग्रेज़ इतिहास-लेखक होलम्स ने 'हिस्टरी ऑव इण्डियन म्यूटिनी' में लिखा है कि जब वे तीनों आदमी रानी के सामने पेश किये गये तो रानी ने कहा कि "मेरा अंग्रेज़ सूअरों से कोई वास्ता नहीं" और आज्ञा दी कि उन्हें

१७वीं घुड़सवार पल्टन के सूबेदार के पास ले जाया जाय। जब वे तीनों दूत बाज़ार में लाये गये, तो चारों ओर से जनता 'मारो फिरंगियों को' चिल्लाती हुई उन पर टूट पड़ी, और उन्हें मार दिया।

प्रतीत होता है कि जब रानी को यह समाचार मिला तो वह प्रसन्न नहीं हुई। दूत का वध उन्हें रुचा नहीं। रानी ने अंग्रेज़ों के पास सन्देश भेजा कि मुझे तुम से मतलब नहीं, मुझे तो क़िला चाहिए। यदि तुम क़िला छोड़ दो तो स्वतन्त्र हो सकते हो। अंग्रेजों ने स्वीकार कर लिया, और क़िला खाली कर दिया।

क़िले से निकलने पर वे लोग सिपाहियों द्वारा शहर में ले जाये गये। कहा जाता है कि उनमें ७५ मर्द, १२ औरतें और २३ बच्चे थे। सिपाही उन्हें पकड़कर और लड़ाई के कैदियों की तरह पंक्ति में बाँधकर 'रिसालदार साहिब' के सामने ले गये। 'रिसालदार साहिब' को उस समय झाँसी का सैनिक शासक समझना चाहिए। रिसालदार ने आज्ञा दी कि इन्हीं लोगों ने हमारी रानी को गद्दी से उतारकर राज्य पर अधिकार जमा लिया था, अतः ये अपराधी हैं इस कारण मृत्यु-दण्ड के योग्य हैं। सिपाहियों ने रिसालदार की आज्ञा का पालन करते हुए एक बाग में ले जाकर उन्हें मृत्यु-दण्ड दे दिया।

अंग्रेज़ लेखकों ने इस हत्याकाण्ड के लिए रानी लक्ष्मीबाई को उत्तरदाता ठहराने का प्रयत्न किया है। उस समय के अंग्रेज लेखकों तथा पीछे के भारतीय लेखकों के लेखों को विवेचनात्मक दृष्टि से पढ़ें तो इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि तीनों दूतों तथा किले से निकले हुए अंग्रेज़ों की हत्या रानी की इच्छा या आज्ञा से हुई। रानी तब तक सिंहासनारूढ़ नहीं हुई थीं। अंग्रेज़ों के हाथ से राजसत्ता छीनने का काम सिपाहियों ने किया था, फलतः हत्याओं के समय सत्ता उन्हीं के हाथ में थी। उन लोगों ने आवेश में आकर जो कार्य किये, उनके लिए रानी लक्ष्मीबाई को जिम्मेवार ठहराना सर्वथा अनुचित और अन्याय-युक्त है।

क़िले पर अधिकार होने के पश्चात् सिपाहियों का रानी लक्ष्मीबाई की सेवा में उपस्थित होकर राज्याधिकार सँभालने की प्रार्थना करना स्वाभाविक ही था। रानी के लिए भी अपने पुत्र दामोदरराव की संरक्षिका के तौर पर राज्याधिकार को स्वीकार करना सर्वथा स्वाभाविक और न्याय-युक्त था। सफल क्रान्तिकारियों के सहस्रों कण्ठों से निकले हुए जय-नाद के मध्य में रानी लक्ष्मीबाई दूसरी बार झाँसी के सिंहासन पर आरूढ़ हो गई। जब अंग्रेज़ी सरकार ने रानी से झाँसी का राज्य छीनना चाहा था, तब रानी ने उत्तर दिया था "झाँसे दे दूं ? नहीं, मैं मेरा झाँसी देंगी नहीं"। वीरांगना ने अपनी वह वीरोक्ति पूरी करदी, और छीना हुआ झाँसी का राज्य एक बार फिर अपने अधिकार में ले लिया।

राजगद्दी पर आसीन होकर रानी लक्ष्मीबाई ने जिस विधि से शासन किया, उसका विस्तृत वर्णन श्री डी. बी. पारसनिस ने 'लाइफ़ ऑव लक्ष्मीबाई' में किया है। वह प्रतिदिन प्रातःकाल ५ बजे उठकर नित्य-कर्म से निवृत्त होती थीं। स्नान के पश्चात् श्वेत वर्ण की चन्देरी साड़ी पहिनकर संध्या के लिए बैठ जाती थीं। संध्या तथा पूजा के अन्त में

बन्दी लोग भगवद्वन्दना के गीत सुनाते थे, और उसके पश्चात् सरदार तथा दरबारी लोग क्रम से आकर रानी को प्रणाम करते थे। उनकी संख्या लगभग साढ़े सात सौ थी। रानी की स्मृति इतनी तेज़ थी कि यदि कोई सरदार एक दिन उपस्थित न होता तो दूसरे दिन वह उससे न आने का कारण और कुशल-मंगल का वृत्तान्त अवश्य पूछती थीं।

दोपहर बाद ३ बजे वह दरबार में जाती थीं। उस समय वह प्रायः पुरुष वेष में रहती थीं। सफेद तंग पायजामा, गहरे नीले रंग का कोट, सिर पर सुन्दर कलगीदार पगड़ी, कमर में तिलई काम का दुपट्टा, जिसमें हीरे से जड़ी हुई मूठ वाली तलवार लटकती थी। यह था रानी का दरबारी वेष जिसमें वह अत्यन्त शोभायमान होती थीं। जब वह दरबार में आती थीं, तब उनके और दरबारियों के बीच में एक पर्दा रहता था, जिस कारण उन पर बाहर वालों की दृष्टि नहीं पड़ती थी। पर्दे के सामने राज्य का दीवान लक्ष्मणराव आवश्यक कागज़-पत्र लेकर खड़ा रहता था। वह कागज़ पढ़कर सुनाता जाता था, और रानी की आज्ञायें अंकित करता था। जिसे रानी अधिक महत्त्वपूर्ण कागज़ समझती थीं, उसे स्वयं पढ़तीं और अपने हाथ से ही उस पर आज्ञा लिख देती थीं।

अपनी प्रजा के प्रति रानी का प्रेम अगाध था। एक बार शहर में से जाते हुए रानी ने कुछ ग़रीब लोगों की भीड़ देखी। दीवान से पूछा कि ये लोग क्यों शोर मचा रहे हैं। दीवान ने बतलाया कि ये लोग बहुत ग़रीब हैं, आजकल कड़ा शीत पड़ रहा है, इनके पास ओढ़ने को कपड़ा नहीं है, इस कारण बहुत दुखी हैं। रानी यह सुनकर बहुत खिन्न हुईं, और आज्ञा दी कि शहर के सब कंगालों को रजाई, टोपी, और चादरें बाँटी जायँ। शहर भर के दर्जी एक दम काम पर लगा दिये गये, और दो-तीन दिन के पश्चात, शहर में एक भी ऐसा कंगाल न रहा जिसके पास गर्म कपड़े न हों।

रानी महालक्ष्मी की उपासिका थीं। जब वह पूजा के लिए महालक्ष्मी के मन्दिर को जाती थीं, तब बड़े ठाठ का जलूस निकलता था। रानी स्वयं प्रायः घोड़े पर सवार होती थी, कभी-कभी पालकी में भी जाती थीं। जलूस के आगे-आगे राज्य की ध्वजा चलती थी, जिसके साथ सैनिक-वाद्य रण का संगीत सुनाता था। रानी के पीछे-पीछे सरदारों और दरबारियों की मण्डलियाँ खूब सज-धज के साथ चलती थीं। जलूस के प्रारम्भ में क़िले का चौघाटा (नक्कारा) गगनभेदी निनाद से आकाश को गुंजा देता था, जिसकी प्रतिध्वनि झाँसी की सीमाओं को पार करके दिग्दिगन्तर में फैल जाती थी।

रानी का न्याय प्रसिद्ध हो गया था। वह प्रत्येक महत्त्वपूर्ण अभियोग का फैसला स्वयं करती थीं, जिससे प्रजा अत्यन्त सन्तुष्ट थी।

झाँसी के स्वतन्त्र होने का सम्पूर्ण बुन्देलखण्ड पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। नवा गंज आदि छावनियों में, और आस-पास के बाँदा आदि स्थानों में स्वतन्त्रता का झंडा खड़ा कर दिया गया।

रानी लक्ष्मीबाई ने लगभग ११ मास तक झाँसी में राज्य किया। इस समय में वह भविष्य में आने वाले संकट से बेख़बर नहीं थीं। वे जानती थीं कि बहुत शीघ्र उन्हें अंग्रेज़ी

सेना के तूफ़ानी आक्रमणों का सामना करना पड़ेगा। उनका सामना करने के लिए नई सेनायें भर्ती की गईं। पुराने क़िले की मरम्मत हुई, और सैनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थानों पर नये किले खड़े किये गये। इन सब भौतिक साधनों से बढ़कर रानी का अपना तेज और जादू-भरा व्यक्तित्व था, जो जनता को उत्साहित कर रहा था। जिस समय वह वीर नारी कमर में तलवार बाँधकर और विशाल सफेद घोड़े की पीठ पर बैठकर मर्दाने वेष में बाहिर आती थी, तब सैनिकों के हृदयों में तो बिजली दौड़ ही जाती थी, साधारण प्रजा में भी क्षात्र-धर्म जागृत हो जाता था।

झाँसी के स्वतन्त्र हो जाने पर कुछ समय के लिए तो अंग्रेज़ी सरकार स्तब्ध-सी रह गई। उस समय सरकार के पख चारों ओर उलझे हुए थे। दिल्ली से लेकर बिहार तक विद्रोह के केन्द्र फैलते जा रहे थे। गवर्नर-जनरल को यह नहीं सूझ रहा था कि पहले किधर कुमुक भेजे।

दिसम्बर के महीने में अंग्रेज़ी सरकार ने भारत भर में क्रान्ति को दबाने की योजना तैयार करली। बुन्देलखण्ड और मध्य प्रान्त के अन्य विद्रोह-केन्द्रों के दमन का काम मेजर जनरल सर ह्यू ग रोज़ के सुपुर्द किया गया। ह्यू ग रोज़ अंग्रेज़ों का बहुत परीक्षित सिपाही था। वह बम्बई की सेना को लेकर दिसम्बर में इन्दौर पहुंच गया। वहाँ से चलकर रथगढ़ सागर आदि को सर करता हुआ वह मार्च के मध्य में झाँसी के समीप जा पहुँचा। उसका मुख्य लक्ष्य झाँसी पर अधिकार करना था।

जब अंग्रेजी सेना का उपनिवेश झाँसी से १४ मील की दूरी पर पहुँच गया, झाँसी में हलचल पैदा हो गई। कुछ लोग रानी को यह परामर्श देने लगे कि लड़कर हारने की अपेक्षा अंग्रेज़ों से सुलह कर लेना अच्छा है। १४ मार्च को रानी ने प्रजा के प्रतिनिधियों को एकत्र करके उनसे इतिकर्तव्यता के बारे में राय माँगी। कुछ लोग झुकने के पक्ष में थे, पर अधिक प्रजा-जन युद्ध के पक्ष में थे। रानी स्वयं अन्त तक युद्ध करने के पक्ष में रहीं। हार मानकर झुक जाना लक्ष्मीबाई के स्वभाव के सर्वथा विरुद्ध था। अन्त में रानी लक्ष्मी-बाई और उसकी झाँसी अन्त तक युद्ध करने के लिए कमर कसकर तैयार हो गई।

युद्ध की तैयारी पूरे ज़ोर से की गई। झाँसी के आस-पास कोसों तक के गाँव और खेत उजाड़ दिये गये, ताकि अंग्रेज़ों को रसद प्राप्त न हो। शहर के चारों ओर मोर्चों पर तोपें लगा दी गईं, और बन्दूकची तैनात कर दिये गये। सबसे बड़ी बात यह थी कि रानी स्वयं घोड़े पर सवार होकर रात-दिन व्यवस्था की देख-भाल करती थीं, जिससे सिपाहियों और अन्य कार्यकर्ताओं का उत्साह सौगुना हो जाता था।

सर रोज़ झाँसी पर चढ़ाई करने की तैयारी में ही था कि प्रधान सेनापति सर Colin का एक नया आज्ञा-पत्र प्राप्त हो गया। उसमें लिखा था कि तुम झाँसी पर चढ़ाई करने से पहले तात्या टोपे के घेरे में आये हुए चरखारी के अंग्रेज़ भक्त राजा के उद्धार का काम पूरा करो। ह्यू ग रोज़ को प्रधान सेनापति की यह आज्ञा बहुत ही बेढंगी लगी। उसने सोचा कि झाँसी के बिल्कुल समीप आकर आधे मार्ग से मुँह मोड़ने का परिणाम यह होगा कि रानी को

अपनी जीत का निश्चय हो जायगा, और बुन्देलखण्ड पर से अंग्रेजों का दबदबा उठ जायगा। सर रोज़ ने प्रधान सेनापति की आज्ञा को उठाकर ताक में रख दिया और झाँसी पर आक्रमण का बिगल बजा दिया।

गर्मी और रसद की कमी की कोई पर्वा न करके अंग्रेज़ी सेना झाँसी की ओर बढ़ने लगी। रसद की कमी को पूरा करने में ग्वालियर के सीन्धिया और आस-पास के कई अन्य अंग्रेज़-भक्त भारतीय शासकों ने ह्यग रोज की भरपूर सहायता की।

झाँसी के पास पहुँचकर रोज़ ने किले का भली प्रकार निरीक्षण किया तो देखा कि तीन ओर से वह लगभग अभेद्य है। मोर्चाबन्दी इतनी ज़बर्दस्त की गई थी कि उसे तोड़कर अन्दर घुसना असम्भव प्रतीत होता था। केवल दक्षिण का पार्श्व कुछ निर्बल था। रोज़ ने घेरा क़िले के चारों ओर डाल लिया, और आक्रमण की तैयारी दक्षिण दिशा से की। चंदेरी से कुमुक पहुँच जाने पर २६ मार्च को अंग्रेज़ी सेना ने झाँसी पर चौतर्फ़ा आक्रमण आरम्भ कर दिया। दोनों ओर से ख़ूब मुस्तैदी से निरन्तर गोलाबारी होने लगी। झाँसी के निवासी अपनी रानी का अनुकरण करते हुए रात और दिन किले की रक्षा कर रहे थे। अंग्रेज़ सिपाही यह देखकर आश्चर्यित होते थे कि भारतीय स्त्रियाँ पुरुषों के कन्धे से कन्धा मिलाकर युद्ध में भाग ले रही थीं। दूसरे दिन तोप के गोलों से एक जगह क़िले की दीवार का कुछ भाग टूट गया। रानी वहाँ क्षण भर में पहुँच गईं, और अंग्रेज़ी सेनाओं के देखते ही देखते दीवार फिर से खड़ी हो गई।

झाँसी की दीवारों पर चढ़ी हुई घन गर्ज और उसकी सहायक तोपें शत्रुओं पर निरन्तर गोलों की वर्षा कर रही थीं। नगर के मन्दिरों में ब्राह्मण लोग विजय के लिए भगवान् से प्रार्थना करने में लगे हुए थे, और असूर्यपश्या नारियाँ बाहर निकलकर मोर्चों पर रसद और बारूद पहुँचाने में मग्न थीं। सारांश यह कि अपनी वीर रानी के ओज से ओजस्वी बनकर झाँसी का प्रत्येक नागरिक स्वाधीनता के युद्ध में भाग ले रहा था।

यह घोर संग्राम ८ दिन तक चलता रहा। दोनों पक्ष जान की बाजी लगाकर लड़ रहे थे। अंग्रेज़ जानते थे कि यदि झाँसी पर विजय प्राप्त न की, तो बुन्देलखण्ड में अंग्रेज़ी राज्य का चिन्ह भी शेष न रहेगा। दूसरी ओर लक्ष्मीबाई इस वीर प्रतिज्ञा का पालन कर रही थीं कि 'मेरा झाँसी देंगी नहीं'। ८वें दिन अंग्रेजी फ़ौजों ने दक्षिण-पार्श्व से सिकन्दर क़िले पर सीधा आक्रमण शुरू कर दिया। अंग्रेज़ों के गोलों से क़िले की दीवार का एक भाग टूट-सा गया, इस पर अंग्रेज़ी सेना के सिपाही हल्ला करके आगे बढ़े तो क्या देखते हैं कि रानी के सिपाहियों ने दीवार के टूटे हुए भाग को फिर खड़ा कर दिया है। इस पर युद्ध का ज़ोर और भी अधिक बढ़ गया। अंग्रेज़ी तोपों ने अपनी प्रगति को बढ़ा दिया, और बन्दूकची निशाने लगा-लगाकर क़िले के रक्षकों को मारने का प्रयत्न करने लगे। सर ह्यग रोज़ घोड़े पर सवार होकर रण-क्षेत्र में इस थकाने वाली लम्बी लड़ाई में से निकलने के उपायों पर विचार कर रहे थे कि एक एडीकांग ने आकर समाचार सुनाया कि पूर्व की दिशा में पहाड़ की चोटी पर जो तार के खम्भे लगाये गये थे, उनके पास हिन्दुस्तानी सेना के झण्डे दिखाई दिये हैं।

एडीकांग ने यह भी बतलाया कि शायद विद्रोही सेनापति तात्या टोपे एक बड़ी सेना लेकर झाँसी की सहायता के लिए आ पहुँचा है। समाचार सुनकर सर ह्यूग रोज़ स्तब्ध रह गया। तात्या टोपे का नाम उसके कानों पर गोली की तरह पड़ा। वह नाम उस समय अंग्रेज़ों के लिए डरावना हो गया था।

सर ह्यूग ने समाचार सुना तो अपने घोड़े का मुँह छावनी की ओर मोड़ दिया। उसे अब यह सोचना था कि इस आने वाली आँधी से अपना बचाव कैसे किया जाय?

चौहत्तरवां अध्याय

तात्या टोपे

तात्या टोपे का नाम इससे पहले भी कई बार आ चुका है। अब समय आ गया है कि उस क्रान्ति के वीर सेनानी का कुछ विस्तृत वृत्तान्त सुनाया जाय। तात्या को हम सन '५७ की रामायण का हनुमान कह सकते हैं। क्रान्ति के मुख्य पात्रों में से कोई बादशाह था तो कोई राजा; कोई नवाब था तो कोई पेशवा। एक तात्या ही ऐसा था जो आदि से अन्त तक क्रान्ति का योद्धा बनकर लड़ता रहा। जिधर संकट देखा, उधर ही लपका। शत्रु के दुर्ग में जहाँ विवर देखा वहीं घुसकर बरबादी करने का यत्न किया। तात्या टोपे क्रान्ति का आदर्श सेवक था।



तात्या टोपे

क्रान्ति के आरम्भ में वह नाना साहिब का अंगरक्षक और लेखक था। जब नाना साहिब ने कानपुर में पराजित होकर खुले क्षेत्र में जाकर लड़ने का निश्चय किया—तब शक्ति-संग्रह का कार्य विश्वासपात्र सेवक तात्या के सुपुर्द किया गया। शक्ति-संग्रह का एक ही उपाय था कि उन हिन्दुस्तानी पल्टनों को अपना सहायक बनाया जाता था, जो अब तक क्रान्ति से अलग खड़ी थीं। उस कार्य में तात्या को अद्भुत सफलता मिली। पहले शिवराजपुर और फिर ग्वालियर के शत्रु-भवन में घुसकर उसने सहस्रों भारतीय सैनिकों को अपने पक्ष में भर्ती कर लिया और एक ऐसी सेना तैयार कर ली, जिसने आगामी कई महीनों तक तात्या टोपे के नेतृत्व में कई अद्भुत कार्य किये। क्रान्ति का वह हनुमान जहाँ खतरा देखता वहीं कूद पड़ता था, जिससे अंग्रेज़ सेनापतियों को अपनी बनी-बनाई सुन्दर सैनिक योजनायें रद्दी की टोकरी में डाल देनी पड़ती थीं।

हम बतला आये हैं कि जब हैवलौक, यह समझकर कि कानपुर पर पूरी तरह अधिकार जमा लिया गया है, लखनऊ की ओर जाने के लिए गंगा को पार कर चुका था, तब तात्या टोपे ने ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी थी, कि हैवलौक को अपनी सेना का मुंह मोड़कर फिर कानपुर वापिस आना पड़ा।

तात्या की युद्ध-शैली कहीं जमकर लड़ने की नहीं थी। वह अपनी सेना को बन्दूक की

तरह कन्धे पर उठाये घूमता था। जहाँ अवसर पाता, शत्रु पर दाग़ देता, और जब उचित समझता, रणक्षेत्र से कोसों दूर चला जाता। एक बार अंग्रेज़ी सेना से पराश्त होकर तात्या को अपनी सारी सेना के साथ तैरकर गंगा को पार करना पड़ा था। इसी तरह भाग-दौड़ की लड़ाई लड़ते-लड़ते अन्त में क्रान्ति के उस निष्काम सिपाही को एक क़िला ऐसा मिल गया, जो सुरक्षा की दृष्टि से आदर्श था। वह कालपी का क़िला था। भौगोलिक स्थिति के कारण वह अंग्रेज़ी सेनाओं से बहुत दूर और दुर्गम था। तात्या टोपे १८४७ के नवम्बर मास में कालपी में अपनी सेनाओं की छावनी जमाकर आसपास के क्षेत्रों की अंग्रेजी सेनाओं को हैरान करने लगा।

२७ नवम्बर के दिन, तात्या की सेना ने, कानपुर के समीप पाण्डु नदी के तट पर अंग्रेज़ सेनापति विंडहम की सेना पर आक्रमण कर दिया। विंडहम भी बहुत साहसी योद्धा था। उसने आगे बढ़कर चोट के जवाब में चोट की। उसे आशा थी कि सामने के आघात से हिन्दुस्तानी सेना भाग खड़ी होगी, परन्तु वैसा नहीं हुआ। मैलीसन ने इण्डियन म्यूटिनी के चौथे भाग में इस युद्ध के सम्बन्ध में लिखा है—

"परन्तु विद्रोही सेना का नेता मूर्ख नहीं था। विंडहम ने जो चोट की, उससे वह डरा नहीं, अपितु उसे ब्रिटिश सेनानी की निर्बलता का पता चल गया। उसने विंडहम की स्थिति की निर्बलता को ऐसे पढ़ लिया, जैसे खुली किताब को पढ़ा जाता है और एक सच्चे सेनानायक की भाँति उससे पूरा लाभ उठाने का निश्चय किया।"

परिणाम यह हुआ कि युद्ध-कला के उस प्रदर्शन में तात्या टोपे की पूरी जीत हुई। अंग्रेज़ी सेना को परास्त होकर बुरी तरह पीछे हटना पड़ा। वे अपनी रसद और युद्ध की सामग्री को भी रण-क्षेत्र से न हटा सके। विंडहम के पिटे हुए सिपाही पाण्डु के तट से जो भागे तो कानपुर में ही आकर दम लिया।

अगले दिन तात्या ने कानपुर पर ही हमला बोल दिया, वहाँ स्वयं सेनापति सर कैम्बल कौलिन विद्यमान था। सर कौलिन युद्ध के सब साधनों से सन्नद्ध था। उसके पास अधिक शिक्षित सेनायें थीं, और संख्या और शक्ति में बढ़ी हुई तोपें थीं। फलतः तात्या को बहुत बलिष्ठ शत्रु का सामना करना पड़ा। युद्ध कई दिन तक होता रहा। अन्त में साधनों की सम्पन्नता की जीत हुई, और तात्या को कानपुर से पीछे हटना पड़ा। सर कौलिन की प्रबल इच्छा थी कि किसी उपाय से या तो तात्या को पकड़ा जाय, या समाप्त कर दिया जाय, परन्तु दो बार घेरे में आकर भी वह मराठा वीर अंग्रेज़ सेनाओं को चकमा देकर साफ़ निकल गया, और थोड़े ही समय में फिर इतना शक्ति-सम्पन्न हो गया कि जब उसे झाँसी पर संकट आने का समाचार मिला, तो वह अपनी फ़ुर्तीली फ़ौजों के साथ, बाज की गति से आगे बढ़कर, झाँसी की समीपस्थ पहाड़ी की चोटी पर, आश्चर्यचकित सर ह्यूग रोज़ को अपशकुन की तरह दिखाई दिया।

हम देख आये हैं कि जब ह्यूग रोज़ झाँसी की ओर बढ़ रहा था, तब उसे कलकत्ते से आदेश मिला था कि पहले तात्या के घेरे से चरखारी के अंग्रेज़ भक्त राजा का उद्धार करो,

तब झाँसी की ओर बढ़ो। परन्तु रोज़ ने झाँसी को जीतना अधिक आवश्यक समझा, और चरखारी को छोड़कर आगे बढ़ गया। फलतः तात्या ने चरखारी के राजा से पूरा दण्ड वसूल किया। उसने राजा से दो दर्जन तोपें और तीन लाख रुपये लेकर झाँसी की रानी की सहायता के लिए प्रयाण कर दिया।

वह रात दोनों सेनाओं ने तैयारी में व्यतीत की। दोनों की संख्या में काफ़ी भेद था। भारतीय सेना में कम से कम २२ सहस्र सैनिक थे और अंग्रेज़ सेना १२ सहस्र सिपाहियों तक परिमित थी। सैनिक दृष्टि से उस समय सर रोज़ की स्थिति बहुत संकटपूर्ण समझी जाती थी। उसके एक ओर तात्या टोपे के ताज़ा सिपाहियों की बाढ़ थी तो दूसरी ओर झाँसी की संगीन दीवारों पर लगी हुई तोपें थीं। झाँसी के प्रहरियों ने जब तात्या की सेना के झण्डे देखे, तब शहर की दीवारों पर से जयकारे का ऐसा निनाद उठा कि दिशायें गूँज गईं। उस जयकारे के उत्तर में तात्या के सैनिकों ने भी तुमुल हर्ष-ध्वनि की।

वह झाँसी के युद्ध का बहुत ही निर्णायक क्षण था। यदि भारतीय सेनायें परिस्थिति से पूरा लाभ उठा सकतीं, और यदि सर ह्यू ग रोज़ असाधारण धैर्य और चतुराई से युद्ध-संचालन न करता तो केवल झाँसी का ही नहीं, शायद सारी क्रान्ति का इतिहास किसी दूसरी तरह लिखा जाता। परन्तु यह सत्य बात है कि क्रान्ति के योद्धा दुर्लभ अवसर का पूरा उपयोग न कर सके, और ह्यू ग रोज़ ने अद्भुत रण-कुशलता का परिचय दिया।

दूसरे दिन प्रातःकाल होते ही रणभेरी बज गई। स्वाभाविक तो यह था कि तात्या टोपे अपनी विशाल सेना को आक्रमण का आदेश देकर पहल करता, परन्तु रोज़ ने अपने सिपाहियों को आज्ञा दे दी थी कि कोई सिपाही रात को वर्दी या हथियार उतारकर न सोये। प्रातःकाल होते ही युद्ध का सूत्र अंग्रेज़ सेनापति ने अपने हाथ में ले लिया। उसकी युद्ध-नीति यह थी कि एक ओर झाँसी पर तोपों द्वारा ऐसी ज़बर्दस्त गोलाबारी जारी रखी जाय कि क़िले की सेना बाहिर निकलकर आक्रमण न कर सके, और दूसरी ओर तात्या टोपे की सेना पर सीधा आक्रमण कर दिया जाय।

आक्रमण तो कर दिया पर जब भारतीय सेना पूरे ज़ोर से आगे बढ़ी तो अंग्रेज़ी सेना में खलबली-सी पड़ गई। प्रतीत होने लगा कि उन्हें पीछे हटना पड़ेगा। उस समय रोज़ ने अत्यन्त कुशलता से रणक्षेत्र का तख्ता पलट दिया। जो सिपाही क्रान्ति की सेना के सामने थे वह लेटकर गोलियों की बाढ़ झोंकने लगे, और उसी समय घुड़सवारों के दो स्क्वाड्रनों ने दायें-बायें से आगे बढ़ती हुई भारतीय सेनाओं पर सरपट आक्रमण कर दिया। तीन ओर से चोट खाकर घिरा हुआ सैनिक समूह घबराकर पीछे हटने लगा, जिसका परिणाम यह हुआ कि सारी सेना में भगदड़ मच गई। अंग्रेज़ी सेनाओं का मार्ग रोकने के लिए रास्ते में पड़ने वाले जंगल को आग लगाती हुई क्रान्तिकारियों की बिखरी हुई सेनायें झाँसी को छोड़कर बेतवा की ओर मुड़ गईं। यह युद्ध १ अप्रैल को हुआ।

अब रानी लक्ष्मीबाई के लिए असली परीक्षा का समय आ गया। रानी ने नौ दिन तक अंग्रेज सेनाओं का कड़ा मुक़ाबला किया, इसका यह आधार समझा जा सकता था कि

उसे तांत्या के आ जाने की आशा थी, अब तो वह भी जाती रही। क्या अब रानी हार मानने को तैयार हो जायगी ?

इस प्रश्न का उत्तर दूसरे दिन झाँसी की तोपों ने दिया। दूसरे दिन झाँसी की दीवारों से गोले उसी प्रकार बरसते रहे, जैसे १ अप्रैल से पहले बरसते थे। रानी हारने के लिए नहीं—जीतने के लिए लड़ रही थी। उसके शरीर में जो रक्त बहता था, वह हारने से मरने को अधिक प्यार करता था। रानी अन्त तक लड़ने का संकल्प करके झाँसी की रक्षा के उद्योग में लग गई।

सर ह्यूग रोज़ ने गर्मागर्म लोहे पर चोट करने का निश्चय किया, और ३ अप्रैल के प्रातःकाल सूर्योदय के साथ ही झाँसी पर चौमुखा आक्रमण कर दिया। दोनों ओर दाँत पीसकर मार-काट हुई। न किसी ने क्षमा माँगी और न किसी ने दी। अंग्रेजी सेना के सिपाही झाँसी की तोपों, सिपाहियों की बन्दूकों और सामने की लड़ाई की पर्वा न करके आगे ही आगे बढ़ते गये। जो सिपाही मरकर गिरा, दूसरा सिपाही उसके शरीर पर पाँव रखकर आगे बढ़े। जो दो अंग्रेज़ अफ़सर पहले-पहल दीवार पर चढ़कर अन्दर कूदे, वे काट डाले गये, पर इससे अंग्रेज़ी सेनाओं की गति नहीं रुकी। मारकाट करती हुई दोपहर तक वह रानी के महलों तक जा पहुँचीं।

रक्षकों की वीरता और दृढ़ता भी अद्भुत थी। उसे देखकर शत्रुओं को भी साधुवाद देना पड़ा है। हरेक गली और हरेक घर के द्वार पर खूनी संघर्ष हुआ। नगर का एक सूई की नोंक जितना स्थान भी युद्ध के बिना नहीं दिया गया। रानी बिजली की तरह चारों ओर दमकती फिरती थी। जब रानी ने मोर्चे पर से देखा कि अंग्रेज शहर में घुसकर महलों की ओर बढ़ रहे हैं तो उसने म्यान में से तलवार निकालकर हाथ में ली, और अपने वीर सिपाहियों को आगे बढ़ने का आदेश देकर घोड़े को एडी लगाई। वह संघर्ष बहुत ही भयंकर हुआ। उस युद्ध का वर्णन हालम्स ने निम्नलिखित शब्दों में किया है—

"तब महलों की ओर जाने वाले रास्ते पर अधिकार जमाने के लिए भयंकर संघर्ष शुरू हुआ। प्रत्येक घर की डटकर रक्षा की गई, और उसे दृढ़ता से जीता गया। कुछ विद्रोहियों ने जब देखा कि उनके लिए पीछे हटना कठिन है तो वे कुओं में कूद गये, परन्तु जोश में भरे गोरों ने उन्हें कुओं में से निकालकर काट डाला। बाज़ार लाशों से भर गये, और दोनों ओर के घर जलने लगे।"

ऐसी भयानकता से वह संग्राम लड़ा गया, कि उसे देखकर अंग्रेज़ इतिहास-लेखक को यह मानना पड़ा था कि रानी लक्ष्मीबाई विद्रोह के सेनापतियों में से सब से अधिक वीर और आदर के योग्य सेनानी थीं।

साँझ होते-होते झाँसी के बडे भाग पर अंग्रेज़ी सेना का अधिकार हो गया। जब दुर्ग की दीवार पर खड़ी हुई लक्ष्मीबाई की दृष्टि बरबाद हुए घरों और महल पर फहराते हुए अंग्रेज़ी झण्डे पर पड़ी तो रानी के हृदय पर असह्य आघात पहुँचा। उस वीरांगना की आँखों में, जो अपनी भुजाओं में सारी ब्रिटिश सेना के वार सहने की हिम्मत रखती थी, आँसू

दिखाई दिये। वह आँसू न निराशा के थे, और न कायरता के, वे उस मन्यु के स्थूल पुंज थे, जो शत्रु की सफलता देखकर रानी के हृदय में प्रज्ज्वलित हो रहा था।

वह स्त्री-हृदय का आवेग उठा, और परिस्थिति की गम्भीरता के प्रभाव से शीघ्र ही शान्त हो गया। रानी ने घिरकर और शत्रुओं द्वारा अपमानित होने की अपेक्षा रण के मैदान में अन्त तक डटे रहने का निश्चय किया। तदनुसार रानी ने वह रूप धारण किया, जिससे चित्रों द्वारा संसार सुपरिचित हो चुका है। रानी ने मर्दाने कपड़े पहिन लिये और शरीर को लोहे के कवच से सुरक्षित कर लिया। उसकी कमर में बँधे हुए दुपट्टे से ढकी हुई पेटी में लम्बी तलवार लटक रही थी, और रेशमी धोती में लिपटा हुआ दामोदरराव पीठ पर बँधा हुआ था। हज़ारों नगरवासियों के कण्ठ से निकले हुए 'हरहर महादेव' के निनाद के मध्य में रानी कुछ थोड़े से अंगरक्षकों के साथ झाँसी से निकल पड़ी और शत्रु के प्रहरियों और सैनिकों को अँगूठा दिखाकर कालपी की ओर रवाना हो गई। रानी के इस प्रकार बच निकलने से अंग्रेज सेनापति को बड़ा दुःख हुआ, क्योंकि सब अंग्रेज़ सेनानियों को यह आदेश मिल चुका था कि जहाँ तक हो सके लक्ष्मीबाई को जिन्दा गिरफ़्तार कर लिया जाय।

रानी लक्ष्मीबाई की झांसी से कालपी तक की यात्रा संसार के प्रसिद्ध वीरोचित कारनामों मे अन्यतम स्थान रखती है। उसका वर्णन करते हुए शत्रु लेखक भी लक्ष्मीबाई के लोकातिशायी साहस का बखान करते हुए नहीं थकते। जब रानी झाँसी से चलीं तभी लैफ़्टिनेंट बोकर को बहुत से गोरे सिपाहियों के साथ उनका रास्ता रोकने के लिए पीछे दौड़ा दिया गया था। आगे-आगे पीठ पर दामोदर का बोझ लिये रानी, और पीछे-पीछे उसका शिकार करने के लिए गोरे सिपाही—यह दौड़ दिन भर जारी रही। रात के समय दोनों दलों ने ही विश्राम किया, और प्रातःकाल फिर दौड़ शुरू हो गई। दूसरे दिन की दौड़ में बोकर का दल कुछ आगे बढ़कर रानी के समीप पहुँच गया। यह देखकर लक्ष्मीबाई ने घोड़े की लगाम थाम ली, और म्यान से तलवार निकालकर शिकारियों पर टूट पड़ी। बोकर तो एक ही वार में धराशायी हो गया, अन्य गोरे सिपाहियों को भी काफ़ी दण्ड मिला, जिससे उनके जोश ठण्डे हो गये, और रानी का अगला मार्ग निष्कंटक हो गया। झाँसी से कालपी की दूरी १०० मील से अधिक थी। थोड़े से विश्राम को छोड़कर रानी लक्ष्मीबाई छोटे से रक्षक दल के साथ घोड़े को निरन्तर सरपट दौड़ाये चली गई, और दूसरे दिन रात के समय जब सारा संसार सो रहा था, रानी ने कालपी में जाकर घोड़े को विश्राम दिया। बेचारे घोड़े के लिए वह विश्राम बहुत लम्बा था। लक्ष्मीबाई को लक्ष्य-स्थान पर पहुँचाकर मानो उसका जीवन-धर्म पूरा हो गया, और वह लेटकर फिर न उठा। रानी की आँखों में उस वफ़ादार सेवक के वियोग से आँसू आ गये, परन्तु वह समय रोने का नहीं था। कठोर कर्तव्य चारों ओर से घिरकर सिर पर आ रहा था—घोड़े की देख-भाल का काम सिपाहियों पर छोड़कर रानी युद्ध की तैयारी में लग गई।

लक्ष्मीबाई झाँसी से चलकर कालपी पहुँची तो वहाँ नाना साहब के भाई रावसाहब और तात्या ने ऐसी बहुमूल्य सहायता का हृदय से स्वागत किया। कालपी का दुर्ग बहुत दृढ़

और सुरक्षित समझा जाता था। उधर अंग्रेज़ सेनायें रात-दिन की लड़ाई और वैशाख की गर्मी से बुरी तरह थक गई थीं। लगभग एक मास तक दोनों ओर तैयारी होती रही। मई मास के तीसरे सप्ताह में काफ़ी कुमुक पहुँच जाने पर कई अंग्रेज़ी सेनाओं ने चारों ओर से आगे बढ़कर कालपी पर धावा बोल दिया। कई छोटी-छोटी झपटों के पश्चात् २३ मई को कालपी पर अन्तिम लड़ाई हुई, जिसमें क्रान्ति की सेनायें परास्त हो गईं, और सर रोज़ के नाम एक और सफलता लिखी गई। कालपी पर अंग्रेजों का पूरा अधिकार हो गया, परन्तु क्रान्ति के सभी सेनानी, जो कालपी में एकत्र हो गये थे, बच निकले।

पचहत्तरवाँ अध्याय

पटाक्षेप

कालपी से हटकर नाना साहब का प्रतिनिधि रावसाहब, झाँसी की रानी और तात्या टोपे गोपालपुर में इकट्ठे हुए। गोपालपुर ग्वालियर से ४६ मील की दूरी पर एक छोटा सा शहर था। वहाँ इकट्ठे होकर तीनों नेता भविष्य की इतिकर्तव्यता पर मन्त्रणा करने लगे।

कालपी पर विजय प्राप्त करके सर ह्यू ग रोज़ ने समझा था कि क्रान्ति का आख़िरी मोर्चा फतह कर लिया और ऊँचे अधिकारियों से प्रार्थना की कि विश्राम द्वारा स्वास्थ्य-लाभ करने के लिए कुछ समय का अवकाश दिया जाय। कलकत्ते में उस प्रार्थना पर विचार हो ही रहा था कि वहाँ एक ऐसा आशातीत समाचार मिला, जिसने अंग्रेज़ी सरकार की सब योजनायें पलटकर रख दीं। समाचार मिला कि कालपी से गये हुए विद्रोही नेताओं ने ग्वालियर पर चढ़ाई करके सीन्धिया को मार भगाया है, और ग्वालियर के दुर्भेद्य दुर्ग पर अधिकार जमा लिया है।

क्रान्ति के नेताओं का यह कार्य जितना साहसिक था, उतना ही महत्त्वपूर्ण था। मई के अन्त में गोपालपुर से चलकर क्रान्तिकारी नेता चुने हुए वीर सैनिकों के साथ ग्वालियर के क़िले के सामने जा पहुँचे। सीन्धिया ब्रिटिश सरकार का वफ़ादार सामन्त बना रहना चाहता था। उसने अपनी सेनाओं को आज्ञा दी कि विद्रोहियों को क़िले में घुसने से रोकें। सैनिकों पर पहले से ही तात्या का जादू चल चुका था। वे लोग क्रान्तिकारियों से जा मिले। जिन थोड़े से सिपाहियों ने सीन्धिया का आदेश मानकर प्रतिरोध किया वे काट डाले गये। प्रतापराव सीन्धिया वस्तु-स्थिति को देखकर चुपके से भाग निकला, और आगरे में स्थित अंग्रेज़ अफ़सर की संरक्षा में जा पहुँचा।

ग्वालियर का दुर्ग बहुत ही संगीन, सुरक्षित और साधनसम्पन्न समझा जाता था। उस पर अधिकार हो जाने से क्रान्ति के नेताओं को पुष्कल युद्ध-सामग्री और प्रभूत धन-राशि तो प्राप्त हुई ही, एक बहुत सुसज्जित सेना भी मिल गई। उनकी शक्ति इतनी बढ़ गई कि अंग्रेज़ी सरकार को अन्य सब चिन्तायें छोड़कर पहले ग्वालियर पर फिर से अधिकार जमाने का काम हाथ में ले लेना पड़ा।

इधर नेताओं ने भी अपने आपको पर्याप्त शक्तिशाली और सुरक्षित समझकर ३ जून को एक विशाल दरबार का आयोजन किया। उस दरबार में बड़ी धूमधाम से नाना के प्रतिनिधि की हैसियत से श्रीमन्तराव साहब को पेशवा घोषित किया गया, और राज्याभिषेक की बहुत सी विधि सम्पन्न की गई। ग्वालियर के क़िले पर महाराष्ट्र की स्वराज्य-ध्वजा फहरा दी गई।

जब ये समाचार अंग्रेज़ी सरकार के केन्द्र में पहुँचे तब बहुत घबराहट फैल गई। सर

ह्यू ग रोज़ और अन्य बहुत से अंग्रेज़ अफ़सरों के नाम शीघ्र से शीघ्र ग्वालियर को जीतने को आदेश जारी कर दिये गये।

सर ह्यू ग रोज़ ने अपनी और सेनाओं की थकान की पर्वा न करके ६ जून को कालपी से ग्वालियर की ओर प्रयाण कर दिया। कठोर गर्मी पड़ रही थी, और रास्ता पथरीला था, इस कारण अंग्रेजी फ़ौजें रात को सफर करतीं, और दिन में आराम करती हुई १२ जून को ग्वालियर के समीप मोरार पर पहुँच गईं।

मोरार पर पहली झपट हुई। उसमें अंग्रेज़ी सेना सफल हो गई। मोरार से वह आगे बढ़ी और तीन ओर से किले पर आक्रमण करने लगी। आक्रमण का अधिक ज़ोर पूर्वीय द्वार की ओर था। उधर से सेनापति स्मिथ के चुने हुए सिपाही बड़ी मुस्तैदी से हमला कर रहे थे। आक्रमण का ज़ोर बढ़ने पर यह प्रश्न हुआ कि उस द्वार की रक्षा कौन करे? रानी लक्ष्मीबाई ने वह कठिन कार्य अपने जिम्मे लिया। रानी अपने सिपाहियाना वेष में घोड़े पर सवार हो गईं, उनकी दो निकट सखियाँ जिनके नाम मन्दर और काशी थे, उनकी अंग-रक्षिका के तौर पर साथ हुईं। तीनों वीरागनाओं ने नंगी तलवारें हाथों में लीं, और शत्रु-दल पर टूट पड़ीं। उनके पीछे-पीछे सैकड़ों सैनिक भी हरहर महादेव की ध्वनि करते हुए रण-क्षेत्र में उतर आये।

वह जनकर्दम बड़ा भयानक हुआ। अंग्रेज़ी सेना ने खूब जमकर युद्ध किया, परन्तु आगे न बढ़ सकी। १७ जून की शाम को यह स्थिति रही कि पूर्वीय द्वार पर रानी की सेनाओं का अधिकार रहा, और स्मिथ की सेनाओं को पीछे हट जाना पड़ा।

दूसरे दिन प्रातःकाल से ही पूर्व का मोर्चा फिर गर्म हो गया। रानी को परास्त करना इतना आवश्यक समझा गया कि उस दिन स्वयं सर ह्यू ग रोज़ उसी मोर्चे पर उपस्थित रहा। रानी पूरे सिपाहियाना ठाठ में रण-क्षेत्र में अवतीर्ण हुईं, और सब योद्धाओं से आगे बढ़-बढ़ कर शत्रुओं पर वार करती रहीं। रानी के आक्रमण के सम्बन्ध में एक अंग्रेज़ लेखक ने लिखा है—

"तत्काल, सौन्दर्यमयी रानी रण-क्षेत्र में उतर आई, और सर ह्यू ग रोज़ की महती सेना से जूझ गई। उसके नेतृत्व में भारतीय सेनाओं ने बार-बार भयंकर आक्रमण किये, यद्यपि उसकी पंक्तियों में दरारें पड़ गई थी, और सिपाही मरते जा रहे थे, तो भी वह सब पंक्तियों से आगे बढ़कर वार कर रही थी, अपने बिखरते हुए सैनिकों को सँभाल रही थी, और शूरता के अद्भुत चमत्कार दिखा रही थी। परन्तु परिणाम कुछ न निकला। सर ह्यू ग ने जब देखा कि परिस्थिति कठिन होती जा रही है तो स्वयं अपने नेतृत्व में ऊँट सवारों की फ़ौज को लड़ाई में झोंक दिया, परन्तु निर्भय और वीर रानी फिर भी पीछे न हटी।"

इधर रानी लक्ष्मीबाई वीरता और साहसिकता के चमत्कार दिखाकर संसार के सामने भारत की वीरांगना का तेजस्वी नमूना उपस्थित कर रही थीं, और उधर गद्दीनशीन पेशवा ग्वालियर छोड़कर किसी सुरक्षित किले की तलाश में दुर्ग से बाहर जा चुका था और तात्या का हाथ भी ढीला पड़ चुका था। लड़ते-लड़ते रानी ने अनुभव किया कि उसके पीछे की ओर भी शत्रु पहुँच गया। अब तो उसके लगभग चारों ओर शत्रु का ऐसा घेरा पड़ गया था, जो निरन्तर तंग होता जा रहा था। उस समय भी रानी ने हिम्मत नहीं छोड़ी, और यह निश्चय

करके कि शत्रु की सेनाओं को चीरकर घेरे से बाहर निकल जाऊँगी, अपने घोड़े के एड़ी लगाई। घोड़ा सरपट चाल से शत्रुसेना में घुस गया। रानी के आस-पास घोर हत्याकाण्ड मच रहा था, और उसकी सखी मन्दर गोली का शिकार बन चुकी थी। जब रानी ने घोड़े से गिरती हुई मन्दर का चीत्कार सुना और क्षण भर के लिए रुककर पीछे की ओर देखा, तो वह गोरा दिखाई दिया, जिसकी गोली से मन्दर गिरी थी। रानी का खड्ग आकाश में चमका, और उस गोरे पर यमदण्ड की तरह पड़ा। इस प्रकार मन्दर की हत्या का परिशोध करके रानी ने फिर घोड़े को एड़ी लगाई, और शत्रुओं की सेना में घुस गई। इतने में सामने एक छोटा-सा पहाड़ी नाला आ गया। रानी ने घोड़े को आगे बढ़ने का इशारा किया, पर रानी का वह सुरक्षित लाडला घोड़ा तो कालपी में मर चुका था, जो अपने सवार की तरह ही साहसी और वीर था, यह नया घोड़ा नाले पर से छलाँग मारने की जगह किनारे पर ही चक्कर काटने लगा। बस, यह कुछ क्षणों की देर घातक सिद्ध हुई। जो गोरे सिपाही अब तक रानी के पास पहुँचने के लाख यत्न करने पर भी सफल नहीं हुए थे, वे चारों ओर से घिर आये, और रानी को लक्ष्य बनाकर तलवारों की वर्षा-सी करने लगे। तो भी लक्ष्मीबाई घबराई नहीं, उसकी तलवार बिजली की तरह चमककर अकेली ही उन सब का उत्तर देने लगी, परन्तु कब तक? एक गोरे ने पीठ-पीछे से रानी के सिर पर वार किया, जिससे आधा सिर कट गया। उसी समय दूसरा वार छाती पर हुआ। लिखा है कि ऐसी घायल होकर भी रानी के हाथ से तलवार नहीं छूटी, और उसने उस गोरे को यम-लोक पहुँचा दिया, जिसने उस पर वार किया था।

इस तरह वह भारत की वीर पुत्री अमर यश कमाकर इस लोक से बिदा हुई। लक्ष्मीबाई के बारे में, रण-क्षेत्र में उसके मुख्य विरोधी सेनापति सर ह्यूग रोज़ ने कहा था कि "वह विद्रोहियों में सबसे श्रेष्ठ और वीरतम नेता थी।" रानी के एक वफ़ादार सेवक रामचन्द राव ने उनकी लाश को उठाकर समीप ही एक स्थान पर लिटा दिया। घास-फूंस इकट्ठा करके चिता बनाई, और अपनी स्वामिनी का दाह-कर्म कर दिया। रानी की यह प्रबल इच्छा थी कि जीते हुए और मरने पर भी उसके शरीर को म्लेच्छ का स्पर्श न हो। उसकी वह इच्छा पूरी हुई। जब गोरे सिपाही वहाँ पहुँचे तो रानी का भौतिक शरीर भस्मसात् हो चुका था।

जिस लड़ाई में रानी लक्ष्मीबाई ने वीर-गति प्राप्त की वह १७ जून को हुई। उसके पश्चात् तीन दिन तक अंग्रेज़ी सेना ग्वालियर के दुर्ग पर निरन्तर आक्रमण करती रही। सर ह्यूग रोज़ की सहायता के लिए स्मिथ नेपियर आदि कई योग्य और अनुभवी सेनानी आ पहुँचे थे। उधर रानी की मृत्यु ने दुर्ग के रक्षकों की हिम्मत तोड़ दी थी। युद्ध अभी चल ही रहा था कि नये पेशवा रावसाहब और तात्या टोपे ग्वालियर से अन्यत्र चले गये थे। फिर भी किले की सेनाओं ने तीन दिन तक आक्रान्ताओं का मुकाबला किया। २० जून को अंग्रेज़ी सेना ने ग्वालियर के क़िले पर ज़ोरदार और निर्णायक आक्रमण कर दिया। दिन भर घनघोर मार-काट होती रही। अन्त में रोज़ को स्वयं आक्रमण में शामिल होना पड़ा।

आगे बढ़कर तात्या को सलामी दी। इस प्रकार झालरा पाटन से तात्या को असम्भावित सहायता मिल गई। ३२ तोपें, १५ लाख रुपये और बहुत से सैनिक प्राप्त हो जाने पर तात्या ने अपनी शक्ति को इस योग्य समझा कि नर्मदा नदी को पार करके दक्षिण में पहुँचे, और वहाँ सम्पूर्ण महाराष्ट्र में क्रान्ति की ज्वाला प्रज्वलित करदे। ऐसी विशाल योजना बनाकर उसने इन्दौर की ओर कूच बोल दिया।

जब अंग्रेज़ हैडक्वार्टर में यह समाचार पहुँचा कि तात्या ने दक्षिण की ओर मुँह मोड़ा है, तो वहाँ फिर खलबली मच गई। जिस शेर के बारे में उनका यह विचार था कि वह अब जंगले में फँस चुका है, वह न केवल जंगले से निकल गया, वह तो अंग्रेज़ी राज्य के उस इलाके की ओर जा रहा है, जिसे सरकार बिल्कुल सुरक्षित समझती थी। जितना समय अंग्रेज़ी सेनाध्यक्षों को जवाबी योजना बनाने में लगा, उतने में शेर पाटन से होता हुआ मालवा में घुस गया और वहाँ रास्ते की सब रुकावटों को रौंदता हुआ रायगढ़ के क़िले के सामने जा खड़ा हुआ।

एक तात्या को रोकने के लिए रौबर्ट्स, होलम्स, पार्क माइकेल, होप लोकहार्ट आदि कई सेनानी भिन्न-भिन्न दिशाओं से घिर रहे थे। उन्हें जब पता चला कि शिकार हाथ से निकल गया तो बहुत झल्लाये और उसे पकड़ने को भागे। तात्या ने फिर अपना रास्ता बदल दिया और नर्वदा की दिशा छोड़कर उत्तर की ओर यात्रा आरम्भ कर दी। तात्या की इस समय की भाग-दौड़ के बारे में एक अंग्रेज़ लेखक ने लिखा है—

"इसके पश्चात् १० मास तक तात्या ने पीछे हटकर लड़ने का ऐसा आश्चर्यजनक क्रम जारी रखा कि उसके सामने पराजय को भी पराजित होना पड़ा, और तात्या का नाम इंग्लैण्ड में बहुत से अंग्रेज़ अफ़सरों से भी अधिक प्रसिद्ध हो गया। उसका कार्य अत्यन्त कठिन था—तो भी वह उस काम को जितनी देर तक पूरा करता रहा, उससे सिद्ध होता है कि उसकी सामरिक योग्यता आसाधारण थी।...यदि कहीं तात्या नर्मदा पार करके दक्षिण में पहुँच जाता तो वह हैदरअली के समान ही प्रभावशाली सिद्ध होता। परन्तु हुआ यह कि जैसे नैपोलियन का मार्ग ब्रिटिश चैनल ने रोक दिया था, वैसे ही तात्या का मार्ग नर्वदा ने रोक दिया" यह बात पहले की थी। अन्त में जो काम नैपोलियन से न हो सका, वह तात्या ने कर लिया। वह इतने शत्रुओं के जाल को तोड़ता हुआ अक्तूबर के अन्त में नर्वदा को पार करने में सफल हो गया।

लन्दन के टाइम्स पत्र ने तात्या का वर्णन निम्नलिखित शब्दों में किया था—

"हमारा प्रख्यात मित्र तात्या टोपे हमारे लिए इतना कष्टदायक हो गया है कि उसकी प्रशंसा करना कठिन है। गत जून के महीने से उसने सारे मध्य भारत में खलबली मचा रखी है। उसने छावनियाँ नष्ट कर दीं, ख़ज़ाने लूट लिये, बारूदघर खाली कर दिये, सेनायें इकट्ठी कीं, उन्हें खो दिया, युद्ध किये, और उनमें हारा, देसी राजाओं से तोपें लीं, और खो दीं, और अधिक तोपें लीं, और फिर खो दीं। उसकी गति बिजली की तरह थी। सप्ताहों तक वह प्रतिदिन ३०-४० मील की यात्रा करता रहा। उसने नर्वदा को कई बार

आर-पार किया। वह आज हमारी फौजों के बीच में था, कल पीछे था तो परसों आगे था।... पर्वतो के ऊपर, नदियों की छाती पर, दर्रों और घाटियों में, और दलदल में वह निश्शंक होकर आगे से पीछे और पीछे से आगे, दायें से बायें और बायें से दायें घूमता हुआ, कभी माल-गाड़ियों पर छापा मारता और कभी बम्बई मेल को लूटता हुआ तो, कभी गाँव पर आक्रमण करता हुआ...परन्तु सदा हवा की तरह अदृश्य घूमता था।"

ऐसा अद्भुत वीर तात्या जब दक्षिण में पहुंचा तो स्थिति ऐसी प्रतिकूल हो चुकी थी, कि उसका सारा यत्न व्यर्थ हो गया। देश भर मे विद्रोह दब चुका था, अंग्रेज़ों की शक्ति बहुत बढ़ चुकी थी, और सारे देश पर अंग्रेज़ी सेना की टुकड़ियाँ छा गई थी। तात्या तो दक्षिण में पहुँच गया, परन्तु उसके पास युद्ध-शक्ति का सर्वथा अभाव हो चुका था। वह नर्वदा के पार ऐसे पहुँचा जैसे जलती हुई आग रेत में जा पड़े। फल कुछ भी हुआ हो परन्तु कार्य इतना चमत्कारपूर्ण था कि अंग्रेज़ इतिहास-लेखक मेलिसन को मुक्त कण्ठ से कहना पड़ा कि "यह असम्भव है कि जिस दृढ़ता के साथ (दक्षिण मे पहुँचने की) योजना को पूरा किया गया है, उसकी प्रशंसा न की जाय।"

तात्या को घेरने और उसका रास्ता रोकने के उद्देश्य से चारों ओर से अंग्रेज़ सेनाओं में फिर नई प्रगति जारी हो गई। उसे नर्वदा के उस पार पिंजरे मे बन्द करके अंग्रेज़ सेनाओं ने सब ओर के मार्ग रोक दिये। उन्हे विश्वास था कि तात्या फिर से नर्वदा को पार करके उत्तर की ओर निकल भागने का यत्न करेगा। उनका विचार ठीक ही था। अब तात्या ने उत्तर की ओर बढ़कर बड़ोदा पर छापा मारने का मनसूबा बाँधा। उसके लिए नर्वदा को पार करना पड़ता, परन्तु नदी के सब ठिकानों पर अंग्रेज़ सेना पहरा दे रही थी। उस पहरे को तरह देकर पूरी युद्ध-सामग्री के साथ नदी को पार करना सम्भव नहीं था, यही सब सोचकर जब अंग्रेज़ अफ़सर एक दूसरे को, तात्या के घिरकर पकड़े जाने पर पेशगी बधाइयाँ दे रहे थे, तब वे यह सुनकर दंग रह गये, कि तोपों को तथा अन्य सब सामान को छोड़कर तात्या कुछ थोड़े-से आदमियों के साथ नदी को तैरकर पार कर गया है, और फिर नर्वदा के उत्तर में जा पहुँचा है।

तात्या श्येन की गति से बड़ौदा की ओर झपटा, परन्तु अंग्रेज़ी सेनायें उधर भी तैयार थीं। बड़ौदा का मार्ग सर्वथा रुका हुआ था। शत्रुओं का जाल चारो ओर से बढ़ता हुआ फिर तात्या को घेरने लगी। इस समय महारानी विक्टोरिया का वह घोषणा-पत्र प्रकाशित हो चुका था, जिसमें देश भर मे क्षमा चाहने वालो को क्षमा कर देने का आश्वासन दिलाया गया था। उस घोषणा-पत्र ने क्रान्ति की भावना पर मानो ठण्डा पानी डाल दिया था। नये साथी मिलने बन्द हो गये। तब तात्या ने समय को टालने के लिए जंगल की शरण ली। दिसम्बर के आरम्भ में वह और रावसाहब एक घने जंगल में घुस गये। अंग्रेज़ों को यह बात पता चल गई, और उन्होंने जंगल को घेरकर केन्द्र की ओर बढ़ना शुरू किया। समीप ही था कि तात्या शिकंजे में फँस जाता कि उसने फिर साहसिकता का एक चमत्कार कर दिखाया। जब देखा कि चारो रास्ते बन्द हैं तो कुछ थोड़े साथियों को लेकर मेजर रौक

की टुकड़ी पर टूट पड़ा। मेजर रौक इन अचानक आघात के लिए तैयार नहीं था। तात्या की मार खाकर उसे रास्ता छोड़ देना पड़ा। शेर जंगल को फिर पार कर गया।

जंगल को पार तो कर गया, परन्तु बाहर भी काँटे ही काँटे थे। सब रास्ते बन्द थे। अन्त में उसने पैरोन के घने जंगलों में सरदार मानसिंह के पास जाकर मोर्चा जमाने का निश्चय किया। सरदार मानसिंह ग्वालियर-नरेश से विद्रोह करके पैरोन के घने और सुरक्षित जंगल में छुपा हुआ था। तात्या ने कुछ समय तक वहाँ रहकर भविष्य की योजना बनाने का संकल्प किया, और पूरे विश्वास के साथ मानसिंह का आतिथ्य स्वीकार कर लिया।

परन्तु मानसिंह विश्वासघाती निकला। वह अंग्रेज़ों के माया-जाल में फँस गया। किये हुए विद्रोह के लिए क्षमा, और भावी पारितोषिक की आशा से वह अंग्रेज़ अफ़सरों से जा मिला। जब तात्या मानसिंह के वचन पर विश्वास करके सोया पड़ा था, उस मित्र-द्रोही ने अपने साथ अंग्रेज सिपाहियों को लाकर उसे गिरफ्तार करवा दिया। जिसे शत्रु के दर्जनों सेनापति प्रभूत युद्ध-सामग्री की सहायता से न बाँध सके, उसे एक भारतवासी के मित्र-द्रोह ने आसानी से बन्दी बना दिया, यह भी भाग्य की विडम्बना ही थी।

इंग्लैण्ड और भारत के अंग्रेज़ पक्षपाती समाचारपत्रों में, और सरकारी हल्कों में जितनी प्रसन्नता तात्या को पकड़े जाने पर मनाई गई, उतनी दिल्ली और लखनऊ के पतन पर भी नहीं मनाई थी।

विद्रोह सन् १८५७ के मई मास के दूसरे सप्ताह में आरम्भ हुआ था। तात्या सन् १८५९ के अप्रैल मास के दूसरे सप्ताह में पकडा गया। शायद इन दो वर्षों मे अंग्रेज़ अधिकारियों को किसी रात ऐसी सुख की नींद न आई होगी, जैसी उस रात आई, जब उन्होंने क्रान्ति के महावीर तात्या टोपे के बन्दी बनाये जाने का समाचार सुना। इंग्लैण्ड और भारत के अंग्रेजी अखबारों ने लिखा कि अंग्रेजी सरकार का सबसे खतरनाक शत्रु पकडा गया, इस कारण अब कहा जा सकता है कि सिपाही-विद्रोह समाप्त हो गया।

अंग्रेज़ी सरकार ने फ़ौजी अदालत द्वारा तात्या टोपे का कोर्ट मार्शल करके उसे मृत्यु-दण्ड दिया। तात्या टोपे सिपाही था, वह अपने देश के लिए सिपाहियों की भाँति लड़ा, और धोखे से पकड़ा गया। किसी भी सभ्य और न्यायपरायण राज्य से यह आशा की जा सकती थी कि ऐसे शूर योद्धा के साथ उदारता का न सही तो मनुष्यता का व्यवहार तो किया जाता, परन्तु अंग्रेजी सरकार ने जो कुछ किया, वह न वीरोचित था, और न मानवोचित। रण-क्षेत्र में सूरमाओं की तरह लड़ने वाले उस देशभक्त के गले में फाँसी की रस्सी डालकर अंग्रेज़ों ने सन् १८५९ में ही उस अन्त की तैयारी कर ली थी, जो सन् १९४७ में हुआ।

हमारी भाषा में एक वीर देशभक्त के प्रति भक्ति-भावना के कारण अत्युक्ति का प्रवेश न हो जाय, इस विचार से क्रान्ति के इस अन्तिम बलिदान का वर्णन एक अंग्रेज़ लेखक के शब्दों में ही करेंगे। वह लिखता है—

"वहाँ (सप्री में) १५ अप्रैल के प्रात.काल अफ़सरों के बंगले में कोर्ट मार्शल की अदालत इकट्ठी हुई। अभियोग के अवसर पर उस (तात्या) की मुद्रा पूर्ण रूप से शान्त थी।

उसने अपनी सफ़ाई में कहा, "मैं कालपी पर अंग्रेजों का अधिकार होने से पूर्व अपने मालिक (नाना साहब) और उसके पश्चात् रावसाहब की आज्ञाओं का पालन करता रहा हूँ। मैं इसके सिवा कुछ भी नहीं कहना चाहता कि मेरा यूरोपियन पुरुषों, स्त्रियों या बच्चों की हत्या से कोई सम्बन्ध नहीं है, और न मैंने किसी समय भी किसी व्यक्ति को फाँसी की आज्ञा दी है।"

तात्या का सारा उपलब्ध इतिहास बतलाता है कि उसने जो बयान दिया वह अक्षरशः सत्य था, तो भी अंग्रेज़ों के न्यायालय ने यह फैसला किया कि वह अपराधी है, इस कारण उसे फाँसी दी जाय। फाँसी देने के लिए उसे सप्री ले जाया गया।

अन्तिम दृश्य का वर्णन भी अंग्रेज़ इतिहास-लेखक के शब्दों में ही सुनिये—

"तीन दिन तक उसने अधीरता से मृत्यु की प्रतीक्षा की। एक बार उसने यह आशा प्रकट की कि सरकार मेरे परिवार के पालन की व्यवस्था करेगी और मेरे कार्यों के लिए उन्हें दण्ड न देगी। १८ की सायंकाल के समय उसे फाँसी देने का निश्चय किया गया था। पाँच बजे अंग्रेज़ सिपाहियों की संरक्षा में क़िले से निकालकर उसे उस स्थान पर पहुँचाया गया, जहाँ वह मरने वाला था। केन्द्र में फाँसी थी, और उसके चारों ओर छावनी की फ़ौजों का घेरा डाल दिया गया था। सारा खाली स्थान दर्शकों से भरा हुआ था। लगभग २० मिनट का विलम्ब हुआ। मेजर मीड ने फ़ौजी अदालत का फैसला पढ़कर सुनाया। ज्योंही फैसला पढ़ा जा चुका, तात्या के पैरों में से बेड़ियाँ निकाल दी गईं। तात्या दृढ़तापूर्वक क़दम उठाता हुआ प्लेटफार्म पर बनी हुई सीढ़ी पर चढ़ गया। वहाँ उसके हाथ-पाँव टिकटिकी से बाँध दिये गये। तब उसने स्वयं ही अपना सिर फंदे में डाल दिया, तब खटका हटा दिया गया, और थोड़ी देर तक छटपटाकर वह मर गया।" (टी० आर० ई० होलम्स)

अधिक भावुक भाषा का प्रयोग न करके हम इतना कह देना आवश्यक समझते हैं कि वीर शत्रु को फांसी का दण्ड देकर अंग्रेज़ी सरकार ने अपने माथे पर कलंक का जो टीका लगाया था, वह अब तक भी मिट नहीं सका।

छिहत्तरवाँ अध्याय

कम्पनी का अन्त और विक्टोरिया का घोषणा-पत्र

जब पहले-पहल मेरठ और दिल्ली के भारतीय सिपाहियों के विद्रोह के समाचार विलायत पहुँचे, तो अंग्रेज़ों के मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि विद्रोह का असली कारण भारतीय सिपाहियों का असन्तोष है। यह मानना अंग्रेज़ों के लिए कठिन था कि उनके अन्याय-युक्त व्यवहार के कारण ही सिपाही असन्तुष्ट हुए हैं, क्योंकि उस समय के सर्वमान्य अंग्रेज़ों का विश्वास था कि आंगल जाति को प्रभु ने संसार का शासन करने के लिए उत्पन्न किया है, और जो अंग्रेज भारत में शासन करने के लिए जाते हैं, वे 'हीरो' हैं, इस कारण वह इसी परिणाम पर पहुँचे कि हिन्दुस्तानी सिपाहियों की बहुत बढ़ी हुई संख्या और छावनियों के कुछेक बडे केन्द्रों में संगठित होना, आदि कारणों से ही विद्रोह ने जन्म लिया है। इस कारण इंग्लैण्ड के समाचारपत्रों और पार्लियामेण्ट में 'बंगाल आर्मी' के सुधार और नये संगठन का आन्दोलन आरम्भ हो गया। बहुत से ऊँचे दर्जे के अंग्रेज़ सैनिक अफ़सरों ने—जिनमें मुख्य एक समय भारत के प्रधान सेनापति लेफ़्टिनेंट सर चार्ल्स जेम्स नैपियर और उनके अनुयायी थे—'बंगाल आर्मी' के सुधार का आन्दोलन कार्य कर दिया, क्योंकि सन् '५७ के विस्फोट को मुख्य रूप से 'म्यूटिनी ऑव दि इण्डियन आर्मी' भारतीय सेना का विद्रोह मान लिया गया था।

मेरठ में जो आग छोटी-सी चिनगारी के रूप में प्रकट हुई थी, दो-तीन महीनों में ही वह देश के अनेक केन्द्रों में फैल गई, जिसमें बहुत से ऐसे भारतीय नरेश भी सम्मिलित हो गये, जिन्हें विद्रोह के पहले पन्द्रह-बीस वर्षों में अधिकारच्युत कर दिया गया था। अवध के नवाब-परिवार, नाना साहिब धू धू पन्त, रानी लक्ष्मीबाई, राजा कुमारसिंह आदि प्रभावशाली नेताओं के शामिल हो जाने से वह चिनगारी भयंकर अग्निकाण्ड के रूप में परिणत हो गई, जिसका असर इंग्लैण्ड-निवासियों पर यह पड़ा कि कम्पनी की सरकार और विशेष रूप से पहले के गवर्नर-जनरल लार्ड डलहौज़ी ने 'लैप्स' के आधार पर जो रियासतों की छीना-झपटी की थी, वही विस्फोट का मुख्य कारण हुई। विद्रोह के इस दूसरे दौर में इंग्लैण्ड के निवासियों का कोप लार्ड डलहौज़ी और उसके सहयोगियों पर टूटने लगा। सैनिक नीति गौण हो गई, राजनीति मुख्य बन गई।

परन्तु विद्रोह केवल सिपाहियों तथा पदच्युत नरेशों तक ही परिमित नहीं रहा। बहुत शीघ्र विद्रोह से प्रभावित प्रदेशों की जनता भी उसमें जी-जान से शामिल हो गई। दिल्ली, लखनऊ, कानपुर, झाँसी आदि स्थानों पर और समान रूप से अवध, बिहार और बुन्देलखण्ड के देहातों में क्रान्ति का जो अद्भुत चमत्कार दिखाई दिया, वह केवल सिपाहियों या कुछ विशेष व्यक्तियों की सीमा से बहुत आगे बढ़ा हुआ था। उसमें देश की साधारण प्रजा

का भी हाथ था। प्रजा के सहयोग ने ही सन् '५७ के विद्रोह को क्रान्ति के रूप में परिणत कर दिया था।

जनता के सहयोग ने इंग्लैण्ड के विचारकों के सामने एक गहरी समस्या उपस्थित कर दी। उनकी समझ में आने लगा कि यह व्यापक भाग न केवल सिपाहियों के असन्तोष का परिणाम हो सकती है, और न कुछेक पदच्युत नरेशों की नाराजगी का। इसका तो कोई अन्य ही मूल कारण होना चाहिए। वह कारण कौन सा है ?

इंग्लैण्ड में बहुत समय से विचारकों का एक ऐसा दल चला आता था, जो ईस्ट इण्डिया कम्पनी की राजनीतिक सत्ता का विरोधी था। वह दल चाहता था कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी को समाप्त कर दिया जाय और ब्रिटेन की सरकार भारत के शासन को अपने हाथ में ले ले। ब्रिटिश पार्लियामेण्ट हर दसवें साल भारत के शासन की समस्या पर पुनर्विचार करती थी, और इण्डिया ऐक्ट में समयोचित परिवर्तन कर देती थी। उन परिवर्तनों में एक विशेष बात यह रहती थी कि हर दसवें साल भारत के शासन पर ब्रिटिश सरकार का नियन्त्रण अधिकाधिक कड़ा होता जा रहा था। कम्पनी के रहते हुए भी, १८५७ से पूर्व, भारत के सम्बन्ध में नीति का निर्धारण, ऊँचे दर्जे की नियुक्तियाँ और सब महत्त्वपूर्ण परिवर्तन ब्रिटिश सरकार की स्वीकृति से ही किये जाते थे। कम्पनी का बोर्ड तो केवल सरकार की आज्ञाओं के पालन करने वाला था।

जब सिपाहियों का स्थानिक विद्रोह देशव्यापी दावानल के रूप में आकर 'क्रान्ति' बन गया, और कुछ दिनों तक यह भान होने लगा कि शायद अंग्रेज़ों को भारत से विदा होना पड़े, तो इंग्लैण्ड में कम्पनी-विरोधी दल का ज़ोर बढ़ गया। इतने बड़े उत्पात के लिए किसी न किसी को उत्तरदायी ठहराकर बलिदान का बकरा बनाना आवश्यक था। इंग्लैण्ड के लोकमत ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी को ही बलिवेदी पर खड़ा करना उचित समझा, फलत: पार्लियामेण्ट के सामने उस समय का मन्त्रिमण्डल यह प्रस्ताव ले आया कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी को समाप्त कर दिया जाय, और भारत के शासन को इंग्लैण्ड की महारानी स्वयं अपने हाथ में ले ले। इंग्लैण्ड में उस समय महारानी विक्टोरिया राज्य कर रही थीं।

जब कम्पनी को तोड़ने का प्रस्ताव पार्लियामेण्ट के सामने आया तो ईस्ट इण्डिया कम्पनी की ओर से एक बहुत लम्बा-चौड़ा आवेदन पत्र पेश किया गया। वह आवेदन-पत्र इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध लेखक जॉन स्टुअर्ट मिल ने तैयार किया था। उसमें कहा गया था कि कम्पनी ने भारत में इतना बड़ा राज्य स्थापित करके अपनी जाति की जो महती सेवा की है, उसका यह पारितोषिक न होना चाहिए कि अब उसकी सत्ता को ही मिटा दिया जाय। आवेदन-पत्र में यह भी बतलाया गया था कि पिछले वर्षों में यदि कोई शासन सम्बन्धी भूलें हुई हैं, तो उनके लिए ब्रिटिश सरकार की भी उतनी ही जिम्मेवारी है, जितनी कम्पनी की, क्योंकि भारत का राजनीतिक शासन तो बहुत वर्षों से ब्रिटिश सरकार की इच्छानुसार ही हो रहा है।

कम्पनी की एक न सुनी गई, और पार्लियामेण्ट में इस आशय का राजनियम स्वीकार कर लिया गया कि भविष्य में भारत का शासन सीधा इंग्लैण्ड के बादशाह—अर्थात् ब्रिटेन की

सरकार के हाथ में रहेगा।

भारत में इस परिवर्तन की सूचना १ नवम्बर, १८५८ के दिन इलाहाबाद में भारत के उस समय के गवर्नर-जनरल लार्ड कैनिंग ने एक विशेष दरबार में दी। उसमें दो घोषणायें की गई। पहली घोषणा में यह बतलाया गया कि भारत के शासन की बागडोर आज से स्वयं महारानी विक्टोरिया ने सँभाल ली है, और दूसरी घोषणा में भारत के सम्बन्ध में महारानी विक्टोरिया के मुंह से ब्रिटिश सरकार की नीति का उल्लेख किया गया।

पहली घोषणा के मुख्य-मुख्य अंग निम्नलिखित है—

भारत के शासन की दृष्टि से ईस्ट इण्डिया कम्पनी समाप्त हो गई, यद्यपि आखिरी हिसाब-किताब करने के लिए वह १८७४ तक साँस लेती रही। शासन पूर्णरूप से विक्टोरिया के हाथ में—अर्थात् इंग्लैण्ड की सरकार के हाथ में—आ गया। १८५३ के चार्टर ने, गवर्नर-जनरल की सहायता के लिए १२ सदस्यों की एक कौंसिल बनाई थी। १८६१ में जो इण्डिया कौंसिल एक्ट पास हुआ उसमें गवर्नर-जनरल की पाँच सदस्यों की एक कार्यकारिणी और १५ सदस्यों की एक व्यवस्थापिका सभा नियुक्त की गई। रानी का प्रतिनिधि होने के कारण, गवर्नर-जनरल को 'वायसराय' का अतिरिक्त पद प्रदान किया गया। ब्रिटेन में भारत के लिए एक नया सेक्रेटरी ऑव स्टेट नियुक्त किया गया, जिसका अपना और उसके सहायकों का वेतन भारत के कोष में से दिये जाने का निश्चय घोषित किया गया। इस प्रकार के वैधानिक परिवर्तनों के अतिरिक्त शेष सारी व्यवस्था जैसी पहले थी, वैसी ही क़ायम रखी गई। कम्पनी के समय में जो सन्धियाँ हुई थी, और सरकारी पदों पर जो नियुक्तियाँ हुई थीं, उन्हें सम्पुष्ट करते हुए आशा दिलाई गई कि सरकार के अधिकारियों और कर्मचारियों के वर्तमान पदों और अधिकारों की पूरी तरह संरक्षा की जायगी।

इस वैधानिक घोषणा के साथ ही महारानी विक्टोरिया की एक महत्त्वपूर्ण घोषणा भी पढ़ी गई। कहा जाता है कि उस घोषणा के तैयार करने में विक्टोरिया का अपना हाथ था। महारानी विक्टोरिया ईश्वर भक्ति और हृदय की विशालता के लिए विख्यात थीं। जब सरकार की ओर से एक घोषणा-पत्र तैयार करके महारानी के पास हस्ताक्षरों के लिए भेजा गया तो उसे वापिस करते हुए महारानी ने कहलाया था कि जो घोषणा-पत्र मेरी ओर से निकाला जाय उसमें उदारता, हृदय की विशालता और धार्मिक सहिष्णुता की झलक होनी चाहिए। फलतः घोषणा-पत्र में उचित परिवर्तन कर दिये गये। जो घोषणा-पत्र अन्तिम रूप से भारतवासियों के सामने आया, वह वस्तुतः एक प्रभावशाली और सुन्दर अधिकार-पत्र था। देश भर में उसने जादू का सा असर किया।



महारानी विक्टोरिया

पढ़े-लिखे और अनपढ़ों में समान रूप से उसे अपने लिए सुरक्षा, सुख और समृद्धि का सन्देश समझा।

घोषणा-पत्र की मुख्य-मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—

"देशी राजाओं के साथ जो इकरारनामे या सन्धि-पत्र किये जा चुके हैं—उनका पूर्ण-रूप से पालन किया जायगा। समस्त भारतवासियों और नरेशों के अधिकारों और रीति-रिवाजों का संरक्षण राज्य का कर्तव्य होगा। हमारी सरकार राज्य की सीमाओं को बढ़ाने की नीति के विरुद्ध रहेगी। विद्रोह के उन सब अपराधियों को, जिन्होंने ब्रिटिश प्रजा की हत्या में सीधा भाग नहीं लिया, क्षमा कर दिया जायगा। हमारी सरकार भारतीय प्रजा के प्रत्येक व्यक्ति को समान दृष्टि से देखेगी। धर्म, राजनीति आदि के भेद के कारण नौकरी अथवा अधिकारों के प्राप्त करने मे कोई बाधा न डाली जायगी। नौकरियाँ या उच्च पद देते हुए केवल योग्यता की परख की जायगी। सरकार भारतवासियों को पूरी धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान करेगी, किसी के धार्मिक विश्वासों में हस्तक्षेप न करेगी।"

घोषणा-पत्र के अन्तिम शब्द ये थे—

"हमारी प्रार्थना है कि सर्वशक्तिमान परमात्मा हमे और हमारे कर्मचारियों को यह शक्ति प्रदान करे कि हम अपनी प्रजा-हित की अभिलाषाओं को पूरा कर सकें।"

देश के साधारण निवासियों पर उस समय वैधानिक परिवर्तनों का उतना प्रभाव नहीं पड़ा, जितना महारानी के घोषणा-पत्र का। उससे पहले के अनेक वर्षों में कम्पनी की सरकार ने जिस प्रकार भारत का शोषण किया था, और राज्य की सीमाओं को बढ़ाने के लिए जैसी छीना-झपटी मचाई थी, उससे भारत की साधारण और समृद्ध प्रजा में घबराहट और आतंक का राज्य हो गया था। विद्रोह की घटनाओं ने कटे पर नमक का काम दिया। विक्टोरिया के घोषणा-पत्र के शब्द भारत की प्रजा के घावों पर मरहम की तरह लगे। यद्यपि उस घोषणा-पत्र में भारतवासियों को कोई विशेष राजनीतिक अधिकार देने का वायदा नहीं किया गया, फिर भी न्याय और दया को अभिव्यक्त करने वाले शब्दों और आश्वासनों के कारण उनका अपूर्व प्रभाव हुआ। भारत की विश्वासी प्रजा सदा से आशुतोष रही है। घोषणा-पत्र के मानवता और उदारता से पूर्ण शब्दों ने उन्हें बहुत शान्ति प्रदान की। क्रान्ति को समाप्त करने का जितना श्रेय अंग्रेज़ अफ़सरों या सैनिकों को दिया जा सकता है, यदि उससे अधिक नहीं, तो, उसके समान ही श्रेय विक्टोरिया के घोषणा-पत्र को भी देना पड़ेगा।

घोषणा-पत्र में साधारण उपद्रवियों को क्षमा की आशा दिलाई थी। उस आशा ने बचे-खुचे विद्रोही सरदारों में से बहुतों को तोड़ दिया। उन्होंने सरकार के सामने हथियार रखकर अपनी प्राण-रक्षा कर ली। तात्या टोपे को धोखा देकर अंग्रेज़ों के हाथ में सौंपने वाला मानसिंह घोषणा का ही शिकार हुआ था। उसने तात्या से जो विश्वासघात किया, उसका उद्देश्य घोषणा-पत्र से लाभ उठाकर अपनी रियासत को प्राप्त करना था।

इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं कि १८५८ के नवम्बर मास में लार्ड कैनिंग द्वारा ब्रिटिश सरकार ने भारत के शासन-विधान में जो क्रान्तिकारी परिवर्तन किया, और महारानी

विक्टोरिया ने जो सुन्दर घोषणा-पत्र प्रकाशित किया, वे दोनों सन् '५७ की क्रान्ति के सीधे परिणाम थे। उनका मुख्य उद्देश्य उस समय भारत को शान्त करके ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा करना था।

इस घोषणा के पश्चात् देश में धीरे-धीरे शान्ति स्थापित होती गई। १८५६ के अप्रैल मास में तात्या टोपे का बलिदान हुआ। उसके बाद विद्रोह की आशा सर्वथा बुझ गई। न कोई नेता रहा, और न अनुयायी। प्रमुख नेता या तो मर गये थे या सरकार के बन्दी बन गये थे शेष विद्रोही सिपाही हथियार फेंक-फेंक कर अपने घरों को चले गये, और खेती बाड़ी या कारोबार में लग गये। जो लोग अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त कर चुके थे, वे विक्टोरिया के घोषणा-पत्र का गम्भीर अध्ययन करके यह जानने का प्रयत्न करने लगे कि उसमें भारतवासियों के लिए कौन-कौन से अधिकारों और सुख-साधनों का आश्वासन दिया गया है। १८५६ का मध्य आते-आते देश से विद्रोह के चिन्ह बहुत कुछ मिट चुके थे।

सन् '५७ के विद्रोह के बड़े अभिनेताओं में से, जिसके साथ मन में विशेष सहानुभूति का भाव उत्पन्न होता है वह बूढ़ा बादशाह बहादुरशाह था। वह बेचारा अपनी इच्छा के विरुद्ध विद्रोह का मोहरा बन गया था। अन्त में उसने दिल्ली से भाग कर युद्ध जारी रखने की जगह अंग्रेज़ों की शरण में जाना उचित समझा। उस पर लाल क़िले में अभियोग चलाया गया। फ़ौजी न्यायालय ने उसे अपराधी घोषित किया। सरकार ने उस पर इतनी कृपा की कि मृत्यु-दण्ड न देकर उसे मांडले के क़िले में बन्दी बनाकर जीवित रखा।

मांडले में बहादुरशाह के साथ जो व्यवहार किया गया, वह न महारानी विक्टोरिया के घोषणा-पत्र की भावनाओं के अनुकूल था, और न एक सभ्य सरकार की शान के योग्य। बेचारे भाग्यों की चोट खाये हुए मुग़ल बादशाह को जिस कमरे में बन्द रखा गया, और उसके साथ जैसा भद्दा व्यवहार हुआ, वह ब्रिटिश राज्य की शोभा को बढ़ाने वाला नहीं था। बन्दी बनने के पश्चात् बहादुरशाह के शायराना हृदय की जो अनुभूतियाँ थीं, वह उसकी एक प्रसिद्ध कविता के निम्नलिखित पदों से सूचित होती हैं। उसने अपने बारे में कहा था —

"न किसी की आंख का नूर हूँ,
न किसी के दिल का करार हूँ।
जो किसी के काम न आ सके,
वो मैं एक मुश्ते ग़ुबार हूँ॥"

नामानुक्रमणिका